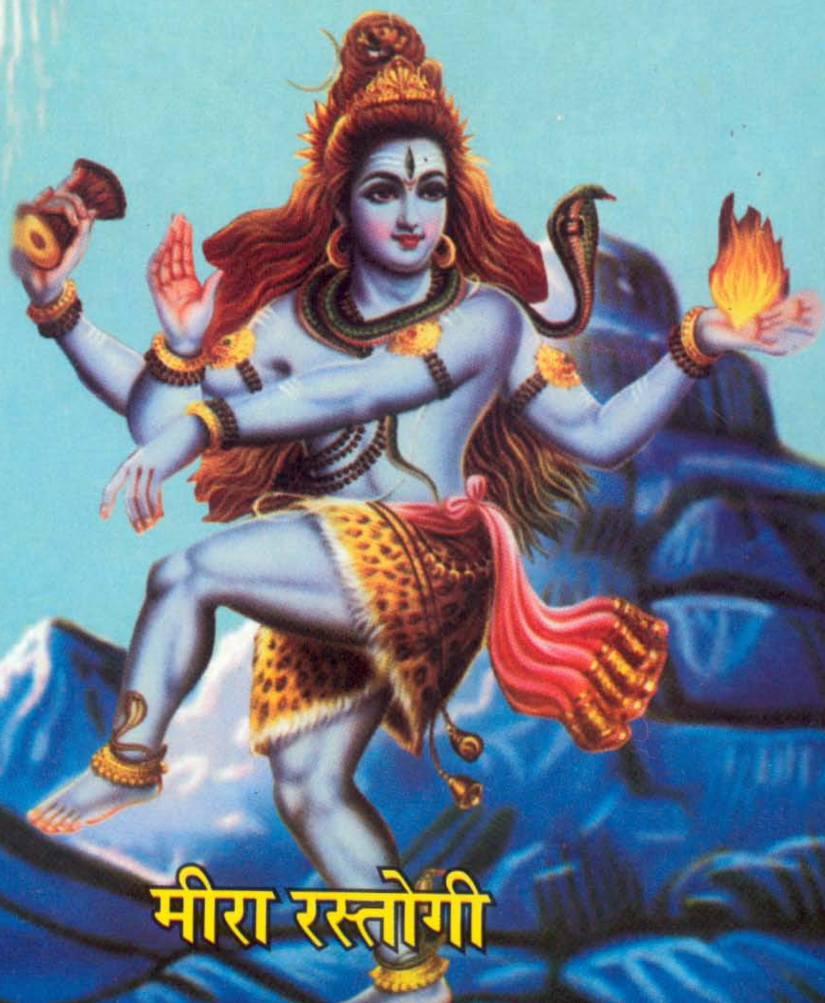
तांत्रिक शिवाद्वयवाद में इच्छा, स्वातंत्र्य तथा नियमनवाद

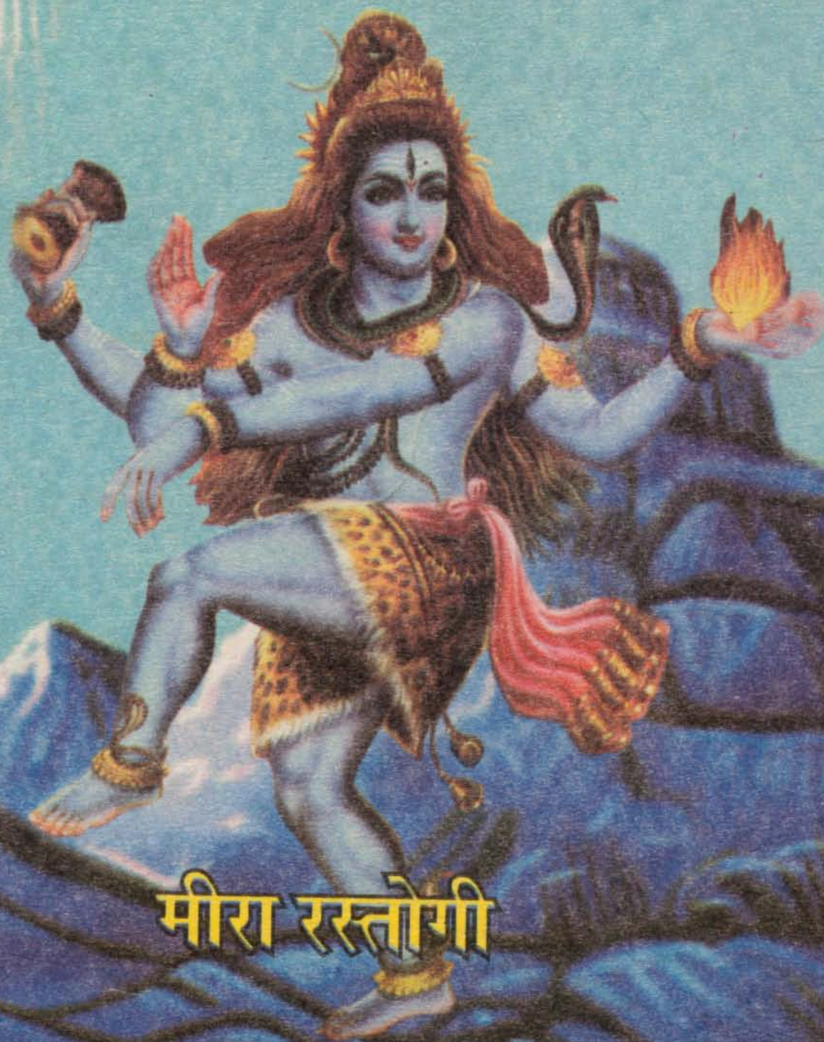
FREE WILL AND DETERMINISM IN TANTRIC SAIVA MONISM



मीरा रस्तोगी

तांत्रिक शिवाद्वयवाद में इच्छा, स्वातंत्र्य तथा नियमनवाद

FREE WILL AND DETERMINISM IN TANTRIC SAIVA MONISM



मीरा रस्तोगी

तांत्रिक शिवाद्वयवाद
में
इच्छास्वातन्त्र्य तथा नियमनवाद

(भारतीय तत्त्वमीमांसा के आलोक में)

FREEWILL AND DETERMINISM IN TANTRIC ŚAIVA MONISM

अतश्चित्राचित्रक्रमतदितरादिस्थितिजुषो
विभोः शक्तिः शश्वद् व्रजति न विभेदं कथमपि।
तदेतस्यां भूमावकुलमिति ते यत्किलपदम्
तदेकाग्रीभूयान्मम हृदयभूर्भैरव विभो।।
अमुष्मात् सम्पूर्णात् वत रसमहोल्लाससरसा–
न्निजां शक्तिं भेदं गमयसि निजेच्छाप्रसरतः।
अनर्घं स्वातंत्र्यं तव तदिदमत्यदभुतमयीम्
भवच्छक्तिं स्तुन्वन् विगलितभयोऽहं शिवमयः।। 12 ।। क्रम स्तोत्र

तांत्रिक शिवाद्वयवाद
में
इच्छास्वातन्त्र्य तथा नियमनवाद

(भारतीय तत्त्वमीमांसा के आलोक में)

FREEWILL AND DETERMINISM (IN TANTRIC ŚAIVA MONISM)

मीरा रस्तोगी
संस्कृत विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ

क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
नई दिल्ली-110015

- ISBN 81-7054-431-9
- प्रथम संस्करण 2006

- प्रकाशक :
  बी.के. तनेजा
  क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
  28, शापिंग सेन्टर, करमपुरा
  नई दिल्ली–110015
- लेजर कम्पोजिंग
  मानक ग्राफिक्स
  ओ–9 एक्स., गीता एन्कलेव,
  वाणी विहार, उत्तम नगर,
  नई दिल्ली–110059
- मूल्य : रु 800.00
- मुद्रक
  ज्ञान आफसैट प्रिन्ट्र
  इन्द्र लोक, नई दिल्ली–110015

भूमिका

इच्छा–स्वातन्त्र्य और नियमनवाद की समस्या वैश्विक तत्त्वचिन्तन की तत्तत् विश्वदृष्टियों से कहीं गहरे स्तर पर जुड़ती है। भारतीय दर्शन में भी इस समस्या पर सन्दर्भ भेद से गहरा मन्थन हुआ है। इस जागतिक और भारतीय परिप्रेक्ष्य में अनुगुण विश्वदृष्टियों के रूपायन में काश्मीर शिवाद्वयवाद, जिससे हमारा परिचय अपेक्षाकृत काफी नया है, के मनीषियों की स्थापनाओं के उपस्थापन और विश्लेषण की दिशा में प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी भाषा में किया गया गंभीर प्रयास है। जहां तक मुझे ज्ञात है किसी अन्य भाषा में भी काश्मीर शैवदर्शन पर इस समस्या को लेकर इतने व्यापक और गंभीर ढंग से ऐसा प्रयास नहीं हुआ है। अतः विदुषी लेखिका ने मुझसे जब इसका उपोद्घात लिखने के लिए कहा तो मुझे थोड़ी कठिनाई हुई क्योंकि मुझे कुछ वक्तव्य शेष नहीं लग रहा था और प्रतिपादित विषय के पिष्टपेषण से मैं बचना चाहता था।

इच्छा–स्वातन्त्र्य और नियमनवाद इन दोनों अवधारणाओं की पारस्परिक गहरी असंगति पहली ही दृष्टि में नज़र आने लगती है। लेखिका ने बड़ी स्पष्टता से मौलिक समस्या को रेखांकित किया है: नैतिकता, उत्तरदायित्व और क्रमविकास की संभानाएँ नियमन को मानने पर कैसे संभव हैं। देखा जाए तो कर्मसिद्धान्त और मोक्ष की धारणाओं के प्रतीयमान अंतर्विरोध से ही भारतीय दर्शन का प्रारम्भ होता है। अतः मूल्य–, तत्त्व– और आचार–परक मीमांसाओं का प्रवृत्तिनिमित्त रहा है कि इन दोनों का पारस्परिक यौक्तिक अनुकूलन कैसे किया जाए? क्योंकि वे दर्शन जो वस्तु और चेतना में भेद करते हैं या वे जो सत्ता को खंडों में विभाजित पाते हैं उनके लिए स्वातन्त्र्य और नियमन में समन्वयन दुःस्वप्न है, और वे दर्शन जिनके लिए सत्ता अखंड और अविभाज्य है या जिनके लिए चेतना और सत्त्व नामभेद मात्र हैं, फलतः पार्यन्तिक बोध और आनुभाविक जगत् एक ही सत्ता के दो छोर मात्र रहते हैं, के लिए समस्या या तो उठती ही नहीं या नकार दी जाती है। ऐसी स्थिति में वे सारे अनुषङ्गिक प्रत्यय जिनका संबंध व्यवस्था या समन्वय से हैं, चाहें उनका क्षेत्र आध्यात्मिक अनुशीलन हो, चाहें प्रेक्षापूर्व अन्वीक्षण, चाहें अनुभव जगत् का पदार्थ–व्यवस्थापन और चाहें आचारगत मर्यादा–विधान, भ्रम, आरोप, अध्यास या बुद्धिनिर्माण आदि में से किसी न किसी व्याज का आश्रय लेकर अवमूल्यित कर दिए जाते हैं। इस पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में काश्मीर शैवदर्शन, जो

अपना परिचय घोर महाद्वैत या पूर्णाद्वैत के पोषक सम्प्रदाय के रूप में देता है, की दृष्टि का अनुसंधान फलप्रद होगा।

त्रिक, प्रत्यभिज्ञा या शिवाद्वैतवाद की स्वोपज्ञ संज्ञाओं से आसूत्रित एवं प्रचारित काश्मीरी शिवाद्वयवाद काश्मीर की घाटी में आज से लगभग बारह–तेरह सौ वर्ष पूर्व पनपा। भोगौलिक दुर्गमता के कारण भारतीय दर्शन की मुख्य धारा में अपेक्षाकृत अल्प छाप वाला यह दर्शन आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में अधिदर्शन/महादर्शन (metaphilosophy) से लेकर दार्शनिक ईश्वरमीमांसा (philosophical theology) तक की विविध सरणिगत भंगिमाओं में उन्मिषित होता है। इस प्रकार यह वैष्णव दर्शन जैसी विशुद्ध ईश्वर मीमांसाओं और मीमांसा जैसे कठोर दर्शनों दोनों से परे जाता है। यहाँ समग्र सत्ता एकल होकर भी जटिल व आत्म–संश्लिष्ट है। वह चिद्रूप है और उसे परम शिव कहा गया है। अपने ही स्पन्दन से वह निरन्तर क्रियाशील है। यही उसकी पूर्णता है कि वह अपनी भवनक्रिया (becoming) से विरोधी खंड प्रत्ययों के उद्‌भव और परिहारपूर्वक संश्लेषण द्वारा अपने अन्तर्सत्त्व (content) का निर्माण करने में स्वतन्त्र और समर्थ है। इस दृष्टि से कृति, क्रिया और कर्ता की एकता है। चिन्मय की यह क्रिया चिन्मयी होने के कारण विमर्श रूप में पर्यवसित होती है। पूर्णता–बोध ही चरम मूल्य और उपेय है और पूर्ण का अपना अपूर्णतया या खंडतया आकलन व्यष्टि सत्ताओं तथा खंड प्रतीतियों का उत्स है और आत्म–प्रतिबिम्बतया स्थित आनुभविक संसार का भी। पारिभाषिक शब्दावली में यह प्रकाशविमर्शमय परमेश्वर है, वही एक मात्र कर्ता है और निखिल भासनात्मक समग्रता उसका ऐश्वर्य है। यही उसकी चिन्मयी इच्छा है, यही उसका अन्वर्थ देवत्व है।

काश्मीर शैवदर्शन की विशेषता जो उसे अन्य दर्शनों से भिन्न करती है वह है उसकी विश्वदृष्टि की सौन्दर्यप्रवणता जिसके कारण संदर्भ निरपेक्ष रूप से उसे प्रत्येक प्रत्ययात्मक संरचना में एक आधारभूत सौन्दर्य का प्रत्यक्ष होता है। यही कारण है कि इच्छास्वातन्त्र्य और नियमनवाद के व्यापकतर संदर्भ में अन्यदर्शनों की कारणता–मीमांसाएं अभिनवगुप्त के मूल्याङ्कन में 'सूखी' या 'रसहीन' ठहरती हैं। उनकी दृष्टि में कर्तृता और आत्मस्वातन्त्र्य का परस्परान्वयन ही रस है और जो व्याख्याएं इस आधारभूत तथ्य की अनदेखी करती हैं वे वस्तुतः शुष्क हैं – *"शुष्कः कर्तृतात्मस्वातन्त्र्यलक्षणोभयमेलनात्मकरसशून्यः"*।[1] ऐसा नहीं है कि स्वातन्त्र्य के प्रत्यय की परिकल्पना पूर्वतर चिन्तन परम्पराओं में थी ही नही। सामान्य दार्शनिक सम्प्रदायों में वैयाकरण दर्शन और विशेष या स्वयूथ्य दार्शनिक सम्प्रदायों में सिद्धान्तशैवमत के नाम अपने आप सामने आते हैं।[2] इसका सहज परिणाम हुआ है कि कारण की धारणा का

1. ई.प्र.वि.वि, भा. 3 पृ. 234; जयरथ एक अनाम स्रोत को उद्‌धृत करते हुए भुवन, तत्त्व और कला तीनों अध्वों को चिद्रस का घनतापादन, आश्यानीभवन मानते हैं –

   आश्यानं चिद्रसस्यौघ साकारत्वमुपागतम्।
   जगद्रूपतया वन्दे प्रत्यक्षं भैरवं वपुः।। – *त.वि., 4, पृ. 1352*

2. स्वातन्त्र्य ही चिद्रस है। दे. *त.* 9.2

पर्यवसान कर्ता की अवधारणा में होता है और कारणता या कारणव्यापार का कर्तृत्व या कर्तृता में और तज्जन्मा कार्य का कर्म या कृति में। कारण की दृष्टि से कार्यकारणभाव का निष्कर्षण (reduction) कर्तृकर्मभाव के रूप में होता है और कार्य की दृष्टि से कारण से कार्य तक की यात्रा को आभासन या प्रतिबिम्बन कहा जाता है।

काश्मीर शैवदर्शन में इस प्रकरण पर विचार विभिन्न सन्दर्भों में हुआ है। *ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिकाओं* में उत्पलदेव और उसपर अपनी *लघु* तथा *बृहती–विमर्शिनी* नामक टीकाओं में अभिनवगुप्त सम्बन्ध के प्रत्यय के अंतर्गत कार्यकारणभाव की गवेषणा जहाँ क्रियाधिकार में करते हैं, वहीं तत्त्व–प्रविभाग की चर्चा आगमाधिकार में अनुभव–विषयों या आभासों के पार्यन्तिक कोटि–प्रकल्पन और रूप–संग्रह की दृष्टि से।[1] इससे विपरीत *तंत्रालोक* में अभिनवगुप्त तत्त्व–प्रविभाग या पदार्थों के निर्धारक तत्त्व के रूप में इच्छास्वातन्त्र्य और कार्यकारणभाव की चर्चा करते हैं।[2] क्रियाधिकार में शैव मनीषियों का प्रेरणा–स्रोत है व्याकरण दर्शन, जहाँ कर्तृ–स्वातन्त्र्य (*स्वतन्त्रः कर्ता–पा.*) के अंतर्गत क्रियाकारकभाव के रूप में विभिन्न घटनाओं या भावों का समन्वय किया जाता है।[3] शिवाद्वैतियों की प्रेरणा के दूसरे स्रोत के दो छोर हैं – एक ओर बौद्ध मत है और दूसरी ओर सांख्य। इन दोनों की आलोचना द्वारा पदार्थ–निर्णय की पूर्वपीठिका प्रशस्त होती है। दोनों को एक साथ लक्ष्य बनाने के पीछे योजना यह बताने की है कि सत् के अखंड प्रवाह और खंड–प्रवाह पर आश्रित दोनों प्रकार की दार्शनिक संरचनाओं में प्रमातृनिरपेक्षता और जड़ता के आधार पर अर्थात् इच्छा–स्वातन्त्र्य के अभाव में नियमन के प्रतीक कार्यकारणभाव की युक्तिसह परिकल्पना संभव नहीं है। प्रेरणा के तीसरे स्रोत का संकेतन अभिनवगुप्त *तंत्रालोक* में करते हैं। वह है काश्मीर का ही सिद्धान्ती शैवों का द्वैतवाद।[4] इससे मूल प्रेरणा लेते हुए भी उसका प्रत्याख्यान करते हुए अभिनवगुप्त *मालिनीविजयोत्तर* का आश्रय लेते हैं।[5] कार्यकारणभाव योजना में मौलिक तत्त्वगत संरचना की दृष्टि से इस

---

1. क्रिया नाम विश्वपदार्थावभासनलक्षणा।.....के च ते विश्वे पदार्था; इति। तत्राभासरूपा एव जडचेतनलक्षणाः पदार्थास्ते च कियता रूपेण संगृह्यन्ते... इति ... शिवादिधरणीप्रान्तम् एकैकाभासरूपतात्मकं... प्रत्येकतस्तत्त्वग्रामं दर्शयति। – *ई.प्र.वि.*, 2, पृ. 212–214
2. तदेवमवस्थिते कार्यकारणभावात्मा तत्त्वानां प्रतिभागो वक्तव्यः, इत्याह ...... कार्यकारणभावो यः शिवेच्छापरिकल्पितः। – *तं. 9.7 तं. वि.*, 4, पृ. 1641
3. क्रियाकारकभावलक्षणः स एव तत्तद्भावानां समन्वयो नान्यः शुष्कः कश्चित्। – *ई.प्र.वि.*, 2, 192. ध्यान दें, यहाँ पर भी जोर "नान्यः शुष्कः" पर है।
4. श्रीमन्मतङ्गशास्त्रादौ तदुक्तं परमेशिना।। – *तं* 9.6
5. कार्यकारणभावीये तत्त्वे इत्थं व्यवस्थिते।
   श्री पूर्वशास्त्रे कथितां वच्मः कारणकल्पनाम्।। 7 – *तं* 9.4.8–49

   अभिनवगुप्त की गुरुपरम्परा में *सिद्धयोगीश्वरीमत* और उस पर आश्रित मालिनीविजयोत्तर तंत्र, जिसकी श्रीपूर्वशास्त्र संज्ञा अभिनवगुप्त को बहुत प्रिय है, त्रिकदर्शन का आदिम आगम–प्रमाण है। परन्तु आज के विद्वान उसका मूलस्वर द्वैतवादी ही मानते हैं। यदि यह बात मानी जाए तो द्वैतवाद का प्रभाव और भी उजागर हो जाता है। *श्रीपूर्वशास्त्र* की द्वैतनिष्ठा या अद्वैतनिष्ठा के प्रश्न पर विचार प्रकृत उद्यम का अङ्ग नही है।

बात का बहुत महत्त्व है। यह इस बात का संकेत है कि कार्यकारणभाव की त्रिक संकल्पना का मूल स्रोत उनकी अपनी निज की परम्परा में है। इस प्रकार शिवाद्वयवाद व्याकरण दर्शन के कर्तृ-स्वातन्त्र्य और क्रियाकारक भाव का अपने मे समाहार करता है और फिर उससे आगे जाता है, बौद्ध-न्याय और विज्ञानवाद को मान्य सत् की विज्ञानरूपता और क्षणों से निर्मित अनुभव जगत् में प्रतीत्य-समुत्पादरूपता पर आश्रित नियमन की विकल्परूपता का समाहार करता है, फिर उससे परे जाता है, सांख्य से सत् के सातत्य और अखंड प्रवाहधर्मत्व के प्रतिपादक सत्कार्यवाद के रूप में व्यवस्था प्रकृति के स्वभाव का अङ्गभूत है, इस मान्यता का समाहार करता है, फिर उससे भी परे जाता है, शैवसिद्धान्तियों के पारमेश्वर इच्छा-स्वातन्त्र्य, कार्यकारणभाव में उसका अनुविध ाायित्व और कार्यों में व्याप्ति का समाहार करता है, फिर उससे परे जाता है। यह परे जाना ही काश्मीरी शिवाद्वयवाद को अतिरिक्त विशिष्टता प्रदान करता है।

जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है कि इस सम्प्रदाय में प्रस्तुत समस्या पर विचार संबंध की अवधारणा के अंतर्गत हुआ है। सम्बन्ध का प्रश्न इस दर्शन के, सच पूछा जाए तो अद्वैतवाद मात्र के, मूल प्रश्न से जुड़ा हुआ है। यों तो पूर्वपक्ष के रूप में यह प्रश्न बौद्धों की ओर से दिखाया गया है पर यह यों भी सामान्यतः उठता ही है। अद्वैतवाद की समस्या है एक और अनेक के मौलिक विरोध की: एक का अनेक होकर वर्तन कैसे संभव है। काश्मीरी शिवाद्वयवाद का आरम्भबिन्दु है: एक की अनेकता का स्रोत परम सत्-चित् की स्वरूपभूत क्रिया है। उस क्रिया का क्रमिक प्रवाह ही उसका वैविध्य-भासन है। इस स्थापना के अङ्गतया प्रस्तावित प्रतिसमाधान के चार अंश हैं:

1. चिदात्म सत् दर्पण जैसा है। दर्पण में प्रतिबिम्बों की अनेकता होने पर भी दर्पण की एकता का भंजन नहीं होता अतः एकता और अनेकता में मौलिक विरोध नहीं है। उसी प्रकार सारे पदार्थों का सारभूत चिदात्मतत्त्व भी विरोधी स्वभाव-भेदों को अपना ही अङ्ग बनाकर भासित करता है।
2. पारस्परिक परिहारपूर्वक क्रमरूप से भासित होते हुए ये भिन्न भिन्न स्वभाव क्रिया के एक ही आश्रय का संपादन करते हैं। क्रियाश्रय की इस एकता का बीज है, आधार दर्पण और उसमें भासमान प्रतिबिम्बों की भांति, चिदाकार क्रियाश्रय और उसमें (उसी के द्वारा) भासमान पदार्थों के बीच एकता की अबाधित प्रत्यभिज्ञा।
3. सम्बन्ध आदि सारे व्यवस्थामूलक प्रत्ययों की सिद्धि की यही मौलिक प्रकारता है।[1]
4. दृष्टान्त दर्पण और दार्ष्टान्तिक परम चित् में केवल एक ही अंतर है–

1 ई. प्र. वि., 2, पृ. 9, 196; ई. प्र. वि. वि., 3, पृ. 2

परमेश्वर में उस प्रकार होने की इच्छा है और दर्पण में वह इच्छा नहीं है।[1]

चौथा बिन्दु महत्त्वपूर्ण है, कई कारणों से। ईश्वर–मीमांसा की प्रकृति के अनुरूप होने के अतिरिक्त इससे पारगामी दार्शनिक महत्त्व के कतिपय निष्कर्ष भी निकलते हैं। अभिनव के लिए सीधा सा फलागम है कि इससे क्रियाशक्ति की द्विरूपता सिद्ध होती है। यह द्विरूपता है – (अ) क्रमरूप क्रिया के निर्माण की सामर्थ्य और (आ) क्रमरूप क्रिया का उपरागयोग अर्थात् उपराग से संबंध। दर्पण में जहाँ क्रिया की क्रमरूपता से उपरंजनमात्र है जैसे बहती हुई नदी में लहरे उठती हैं, चित् में क्रिया की ये दोनों वर्तनियां सुलभ हैं। इनमें से प्रथम प्रकार पारमेश्वरी क्रिया का प्रातिस्विक स्वभाव है। क्रियानिर्माण की यह सामर्थ्य इच्छारूप है। इस प्रकार इच्छा ही क्रिया है। इसका प्रारंभिक छोर है परमेश्वर में आत्मविश्रान्तिरूप अनन्योन्मुखता, जहाँ स्पन्दनात्मकता क्रम का रूप धारण कर लेती है। निष्कर्ष की तार्किक परिणति के तौर पर कहा जा सकता है कि जहाँ पार्यन्तिक एकता का उपलक्षण है इच्छा, वहीं भासमान अनेकता उपरागमयी क्रिया का। अतः क्रिया का एकानेकरूपता के रूप में भावन साम्प्रदायिक चिन्तन–पद्धति का तर्कानुगत निगमन है। स्वातन्त्र्य इसी इच्छा का अपोद्धृत रूप (abstract) हैं और व्यवस्थागत नियमन के प्रतीक सम्बन्ध आदि के प्रत्यय इसी के यौक्तिक अनुषङ्ग के रूप में एकानेकरूप क्रिया के।

इस प्रसङ्ग में काश्मीर शिवाद्वयवाद कुछ और आधारभूत घोषणाएं करता है। अंतरङ्ग विश्लेषण से इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यहाँ दो प्रकार के पदार्थों की परिकल्पना हुई है: एक, जो सृष्टि–प्रक्रिया में समागत तत्त्व हैं जिन्हें पारिभाषिक तौर पर, 'आभास' और जिनकी नियमानुप्राणित वर्गीकृत अवस्थिति को 'तत्त्व' कहा गया है।[2] और दूसरे, जो इन आभासों और आभास–समूहों के व्यवस्थापक पदार्थ हैं, जिनकी पारिभाषिक संज्ञा 'बुद्धि' है। प्रथम की वस्तुसत्ता या तात्त्विक सत्ता (ontic existence) है। दूसरे वर्ग के पदार्थ की सत्ता बुद्धिगत है और इस अर्थ में वे विकल्परूप या अनुव्यवसायरूप है। प्रो. पांडेय के शब्दों में उन्हें ज्ञान की आश्रित या सापेक्ष कोटि (dependent category of knowledge) कहा जा सकता है। इनमें क्रिया (शाब्दिकों में समादृत), संबंध, जाति, द्रव्य दिक् और काल के प्रत्यय आते हैं। इनमें भी संबंध[3] का प्रत्यय मूलभूत प्रत्यय है।[4] अंतःकरण द्वारा किये जाने वाले निश्चयात्मक अनुव्यवसाय द्वारा ज्ञान की इन सापेक्ष कोटियों का संपादन होता है। यहां प्रमाता का अंतःकरणात्मक व्यापार एकत्व और अनेकत्व के संयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः

1. अत्र च केवलं दर्पणस्य तथा इच्छा नास्ति, परमेश्वरस्य तु सा अस्ति। – ई. प्र. वि. 2, पृ. 27
2. इनमें पृथ्वी से लेकर शिवपर्यन्त तत्त्वों की गणना होती है। तत्त्वाध्व या छत्तीस तत्त्वों से घटित इस तत्त्व–प्रतिभाग को कार्यकारणभावात्मक माना गया है।
3. जिसके अंतर्गत कार्यकारणभाव, ज्ञाप्यज्ञापकभाव, भाव्यभावक आदि की गणना होती है।
4. क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः, तत्रापि संबंध एव मूलभूतः। – ई.प्र.वि., 2, पृ. 47

इस निश्चय का मौलिक रूप है प्रत्यभिज्ञानात्मक अनुव्यवसाय जिसका भासन 'वही यह है' *(स एवायम्)* का आकार धारण करता है – जहाँ अनेकता भासित तो होती है पर एकता को छोड़े बगैर, उसे लिए हुए।[1] समझने की सुविधा के लिए उसे हम तत्त्व के स्थान पर तथ्य कह सकते हैं। निश्चयात्मक होने के कारण यह विकल्प भी सामान्य तौर पर गृहीत 'आंटोलॉजिकल' या अस्तित्वपरक (existential) अर्थ में सत् न होकर, सत्यता या वस्तुभूतता (reality) के अर्थों में सत् है। 'चेतना में प्रकाशित होना या तद्गत विमर्श की अनुवृत्ति का बना रहना ही वस्तुता की परिभाषा है– *प्रकाशतैव वस्तुत्वम्*[2]। अस्तित्व या सत्ता धर्म से युक्त होना वस्तुता की शर्त नहीं है। इस परिभाषा में विज्ञानवाद की अनुगूंज स्पष्ट सुनाई देती है। इन निश्चय–विकल्पों की वस्तुसत्ता व्यवस्था और व्यवहार की नियामक है, क्योंकि निश्चयानुवृत्ति के कारण इनमें स्थिरता है[3] और अर्थक्रिया के परितोष की 'क्षमता' है। इन्हीं दो मानकों के आधार पर ये सत्य हैं।[4] इस 'एकानेकरूपक्रियातत्त्वालम्बनबुद्धि'[5] में एकत्व और अनेकत्व के विरोध के परिहार का बीज छिपा है और नियमाश्रयी व्यवहार का भी। एक की अनेकता विषयभेद से उपपन्न होती है। उत्पल का मानना है कि अनुवर्तमान आन्तर तत्त्व एक ही है, वही जब देश, काल और स्वभाव (यहीं, अभी या तभी, दुबला या मोटा) के स्पर्श से इन्द्रियों का विषय बनता है तभी अनेक बनता है।[6] उत्पल इसी स्थल पर स्वाभिमत कार्यकारणभाव का भी आसूत्रण कर देते हैं। अखिल विश्व आन्तर भाव में एक और सत् है। देश, काल, स्वभाव आदि आभासान्तरों से अमिश्रित सामान्य अवस्था में वह एकमात्र अंतःकरण का विषय होकर अपनी चिन्मात्रता को बनाए रखता है, वही जब उपर्युक्त भिन्न–भिन्न आभासों से मिश्रित होकर विशेष अवस्था में अंतः बाह्य दोनों इन्द्रियों का विषय बनता है उसकी एकता अनेकता में परिणत हो जाती है और वह चित् से अतिरिक्त रूप में भासित होने लगता है। दोनों के मूल में विषयभेद स्फुट है। आंतरावस्था ही कारण है और इन्द्रियवेद्य वाह्य अवस्था ही कार्य। यह निश्चय एकानेकत्व या भेदाभेद के प्रत्यभिज्ञानात्मक परामर्श से होता है। यहाँ पर प्रत्यभिज्ञा का व्यापार *(तस्यैव च तथात्वम्)* द्विचरणात्मक है– एक, एक ही बीज अङ्कुर के प्रति कारण है पर घट का कारण नहीं (अकारण) है; दो, मिट्टी घट का उपादान कारण है पर अङ्कुर का सहकारी कारण है। यहाँ पर ध्यान

---

1 'स एवऽयम्' इति एकरूपताम् अपरित्यजन्नैव निर्भासते।' – *वही*, पृ. 33, यदा तु गाढप्रत्यभिज्ञाप्रकाशबलात् ... न भेदः, – *वही*, पृ. 17

2 ई.प्र.वि., 2, पृ. 44; अध्यवसाय आदि को भी इसी अर्थ में 'वस्तुसत्' माना जाता है– *'अध्यवसायस्यापि आभासमानविषयत्वम्'*

3 बौद्ध मत से यह विभेदक प्रत्यय है।

4 क्रियासंबंधसामान्यद्रव्यदिक्कालबुद्धयः।
सत्याः स्थैर्योपयोगाभ्यामेकानेकाश्रया मताः॥ – *ई.प्र.का.* 2.2.1

5 ई.प्र.वि., 2, पृ. 35

6 ई.प्र.का. 2.2.2

देने की बात है कि ज्ञानात्मक और क्रियात्मक दोनों प्रकार के संदर्भों में अभिनवगुप्त के उपपादन में पद्धतिगत एकसूत्रता है। ज्ञानों का मेलन जहाँ प्रत्यभिज्ञान को परिभाषित करता है वहीं आभासों का मेलन कार्यकारणभाव को।

शिवाद्वयवाद में कारणताविचार के आगमिक स्रोतों के दोहन और विश्लेषणात्मक पल्लवन में काश्मीर के ही शैवसिद्धान्तियों का बड़ा योगदान रहा है। इस ओर ऊपर इंगित किया जा चुका है। शैव सिद्धान्त और शिवाद्वयवाद में कारणता की चर्चा एक जैसे सन्दर्भ में हुई है। वह सन्दर्भ है ईश्वर की चरम कर्ता के रूप में प्रतिष्ठा। आगमिक परम्परा में क्रिया और शक्ति को प्रायः एक माना गया है और उसे शिव का एक प्रकार से स्वरूप या स्वभाव बताया गया है। शैव सिद्धान्त इस मान्यता को स्वीकार करता है। कारण–श्रंखला में बंधे हुए छत्तीस तत्त्व मूल आगमिक परम्परा की देन है जो शिव से प्रारंभ होते हैं। शिव जगत् का स्रष्टा है, क्योंकि सृष्टि का संपादन उसकी शक्ति द्वारा होता है।

शैव द्वैतवाद इस जगत् की सद्रूपता में विश्वास करता है, असत् न होने के कारण जगत की उत्पत्ति या आरंभ नहीं होता। कारणात्मक संबंध में अभाव किसी भी रूप में संबंधी नहीं बनता। जगत् की प्रदत्त सत्ता जिसकी अभिव्यक्ति और लय होता है आवश्यक रूप से एक चेतन कर्ता की ओर इशारा करती है जो इन प्रक्रियाओं का प्रवर्तक भी है और अधिष्ठान भी: क्योंकि जो कुछ भी है वह बिना इच्छा–कारणता, जिसे पारिभाषिक तौर पर निमित्त कारणता कहा गया है, के अस्तित्व में नहीं आता।[1] दूसरे शब्दों में कारण अर्थात् निमित्त कारण है विश्वोत्तीर्ण चित् तत्त्व। यह विश्वोत्तीर्ण चित् विश्वोत्तीर्ण इच्छा से एकरूप है। यह इच्छा वैश्विक कृत्यों का अपरिहार्य उपाय अर्थात् कारण या सहकारी कारण है। परम अधिष्ठान के रूप में, जहाँ से सारी विश्व–प्रक्रिया का उदय और जहाँ लय होता है, शब्द के गंभीर अर्थों में वह उपादान कारण भी है। परिवर्तन को उद्रिक्त करने वाली शक्ति के रूप में कारण को कार्य का अतिक्रामी मानना ही होगा। कारण प्रक्रिया स्वतः स्फूर्त नहीं होती, चेतन कर्ता के स्वतः स्फूर्त संकल्प से उसका उन्मेष होता है। कारणता के प्रचलित प्रारूपों में शैव सिद्धान्त सत्कार्यवाद का अनुगमन करता है। इसके तीन फलित हैं। एक उत्पत्ति का अर्थ है कार्य का कारण में अव्यक्त रूप से वर्तमान होना, कारण प्रक्रिया का अर्थ है अव्यक्त कार्य का व्यक्तीकरण। इस व्यक्तीकरण के लिए कर्ता या कर्तृव्यापार की अपेक्षा है। दो, कार्य–विशेष के आविर्भाव के लिए आवश्यक शर्त है उपादान का कार्य के अनुरूप या उपयुक्त होना। तंतु से पट उत्पन्न होता है, बालू से नहीं। तीन, परिणाम या भवन का अर्थ है स्व–परिणाम या आत्म–भवन। परिवर्तन आकारों या रूपों में होता है, जब कि आश्रय धर्मी परिवर्तन

1 सिद्धान्त शैव दर्शन का प्रकृत उपस्थापन मुख्यतः के. शिवरमन् के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ *Saivism in Philosophical Perspective* (पृ. 69–99) पर आश्रित है।

से परे हैं। कारण ओर कार्य के नैरन्तर्य का अर्थ है परिवर्तमान रूपों का भेदाभेद संबंध से और स्थायी आधार का अभेद संबंध से विद्यमान होना।

द्वैती कार्यकारणभाव के प्राथमिक प्रारूप में जगत् को कार्य माना गया है। कार्य बिना कारण नहीं होता अतः उसका उपादान कारण होना चाहिए। वह उपादान माया है। शैव सिद्धान्त यहां प्रथम कारण की समस्या को भी उठाता है। माया जगत् का प्रथम कारण है और सत्कार्यवाद को मानने का अर्थ है कि जगत् माया में पूर्वशः स्थित है। यहां माया अचिद्रूपिणी है। अतः कार्यस्थानी अव्यक्त जगत् को अस्तित्व में लाने के लिए चेतन कर्ता की आवश्यकता है। यह भूमिका शिव निभाता है। शिव की भूमिका निमित्त कारण की है अर्थात् जगत् शिव का कर्म नहीं है, अपितु जगत् के उदय और प्रलय की प्रक्रिया का संचालक है शिव। कार्य की उत्पत्ति के लिए कर्ता स्वतन्त्र है, कार्य को उत्पन्न करना उसकी बाध्यता नहीं है। उसका यह स्वातन्त्र्य उसकी इच्छा, चिकीर्षा, में मुखरित होता है। फलतः शिव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से उपादान माया को व्यापारित करता है। यह इच्छा ही शिव की शक्ति है, अतः शक्ति कार्य के उत्पादन में सहकारी कारण है। इस प्रकार निमित्त, उपादान तथा सहकारी मिलकर कार्योत्पत्ति में कारण बनते हैं। सिद्धान्त शैवों के द्वारा शक्ति के सहकारित्व का अभ्युपगम उनके करणत्व–विचार का फल है। न्याय में असाधारणकारण या व्यापार के रूप में तीनों कारणों से पृथक्तया करण की परिकल्पना की गयी है। सिद्धान्त शैवमत इससे सहमत नहीं है। उसकी दृष्टि में एक तत्त्व के रूप में शक्ति या दाहकता अग्नि के दाहव्यापार का सक्रिय कारण है। अतः शक्ति कारण में और कारणतया अंतर्लीन है। शक्ति का व्यक्ति में परिणमन ही उत्पादन या कार्यता का अभिप्राय है। अर्थात् इच्छा द्वारा अपने अंतःस्थ विषय (content) को स्वयं उपस्थापित करना कार्यता है।[1] कारणत्व को विचार के स्तर पर कर्ता से भिन्न समझना होगा अस्तित्व के स्तर पर नहीं, क्योंकि करणत्व का अर्थ है कर्ता के व्यापार की अंतरात्मा होना। चूँकि कर्तृत्व की अवधारणा का, कर्तृत्व के अर्थ के रूप में, करणत्व अङ्ग नहीं है, शक्ति की चिद्रूपता और चित्तत्त्व से उसके तादात्म्य को मानना होगा। 'समवेत' की व्याख्या 'तदात्मक' की शब्दावली में करनी होगी। शक्ति एक प्रकार की एकता है जो उपाधिवशात् अनेक हो जाती है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया – ये शक्ति के अंदर घटित भेद नहीं हैं, अपितु कृत्यविशेषों की दृष्टि से उसकी प्रतीकात्मक अवस्थितियाँ या प्रकारताएं हैं।

शिव जगत् का निमित्त कारण है इससे शिव की विश्वोत्तीर्णता रेखाङ्कित होती है, अन्यथा वह उपादान कारण होता निमित्त नहीं। चित् शक्ति शिव का करण है। करण ही सहकारी कारण है। विश्वातीत होते हुए भी अपनी शक्ति के माध्यम से वह माया और जगत् में व्याप्त है। इस 'व्याप्ति' के कारण वह 'उपचारतः' उपादान भी कहा

1. ".....the will positing its content". पृ. 96.

जा सकता है। कार्य में कारण की व्याप्ति दो प्रकार से कल्पनीय है – एक संकल्प द्वारा और दूसरे उपादान के रूपान्तरण द्वारा। कुम्हार की इच्छा उसकी सृष्टि को व्याप्त करती है अन्यथा घट के सारे अङ्ग यथामाप अस्तित्व में न आते। कार्य में इच्छा का ही विकास होने के कारण – कारणकार्य की निरन्तरता बनी रहती है। फलतः निमित्त (शिव/कुम्हार); उपादान (माया/मिट्टी) में अंतर्भूत कहा जा सकता है। निमित्त चूंकि कार्योत्तीर्ण है (अर्थात् शिव विश्वोत्तीर्ण है), शिव (निमित्त) में विकारशीलता नहीं है। संकोच और विकास अवस्थाएँ केवल माया (उपादान) पर आरोपित होती हैं। जगत् में शिव की अंतर्यामिता या अंतर्व्याप्ति का एक प्रयोजन भी है, वह है इस अंतर्व्याप्ति के द्वारा आत्माओं को अनुगृहीत करना। अर्थक्रिया की तुष्टि कुंभकार का भी प्रयोजन कहा जा सकता है। कुम्हार की सृष्टि और जागतिक सृष्टि का धरातल समकक्ष नहीं है क्योंकि कुम्हार स्वयं शिव की सृष्टि है अतः शिव की इच्छा से ही कार्य संपादन होता है। अतः जैसा कि शिवरमन कहते हैं, निमित्त कारण एक कारणपरम्परा में केवल एक कारण मात्र नहीं है अपितु कारणकार्य की संपूर्ण श्रृंखला का कारण है– "The prima causa as well as the ultima substantia"[1] विषय का थोड़ा अतिदेशन करते हुए कहा जा सकता है कि न केवल सृष्टि और अनुग्रह कृत्यों में अपितु स्थिति, संहार और तिरोधान के साथ सभी पंचकृत्य जहाँ एक ओर समग्र सृष्टि–प्रक्रिया में शिव की व्यापारशीलता और सक्रिय भागीदारी को रूपायित करते हैं वहीं जगत् के साथ इन सभी कृत्यों के माध्यम से उसकी निमित्तता अक्षुण्ण बनी रहती है।

काश्मीरी शिवाद्वयवाद भी जगत् को षट्त्रिंशत्तत्त्वमय मानता है। तत्त्वों के विशिष्ट संदर्भ में कारणता का घटक प्रत्यय के रूप में अभ्युपगम द्वैतवाद का साक्षात् प्रभाव है। तत्त्व का प्राण है 'तनन' अर्थात् विकास, विभवन।[2] यह तनन दो प्रकार का है– (1) कारणतामूलक और (2) गुणसादृश्यमूलक। गुणसादृश्यमूलक तनन क्षैतिज या समविस्तारी (horizontal) और स्वभाव में सामान्य या जाति जैसा है जब कि कारणतामूलक तनन आनुपूर्वी में विकसित होता हुआ अपने कार्यों को व्याप्त करता है। अतः इसे व्याप्तृभावात्मक कहा गया है। अर्थात् प्रत्येक तत्त्व अपने में एक व्यवस्थित समष्टि है और सारी सृष्टि इन समष्टियों की तारतम्यमयी व्यवस्था है जिनमें प्रत्येक ऊर्ध्वतर अपने से निम्नतर सभी समष्टियों में व्याप्त है। प्रत्येक निम्नतर अपने से उच्चतर का इस अर्थ में कार्य है कि उच्चतर समष्टि व्यापन–व्यापार की वास्तविक कर्त्री है। तत्त्वमीमांसात्मक शब्दावली में उच्चतर समष्टि उच्चतर अतिक्रामिता (transcendence) को द्योतित करती है और सभी भविष्यत् समष्टियों का पूर्वसंभावन (anticipation)

---

1. वही. पृ. 84
2. स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे।।
   आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद्व्याप्तृभावतः।।
   तत्तत्त्वं .... – त. 9 4–5

करती है। इस प्रकार सृष्टि ऊर्ध्वोर्ध्व अतिक्रामिताओं का तारतम्यमूलक समन्वय है जो शिव में विश्रान्त होता है। इसलिए शिव का व्याप्तृभाव सर्वात्मक है और शिवेतर तत्त्वों का व्याप्तृभाव बहुत्वात्मक।[1] शिव से प्रारम्भ होकर पृथ्वी पर्यन्त व्याप्तृता की यह अवरोहण–प्रक्रिया अनवरत चलती है। इसी अर्थ में सारा तत्त्वप्रविभाग कार्यकारणभावात्मक है। कारण की कार्य को व्याप्त करने की यही पद्धति है। इसे कारणता के प्रारूपों में ढालें तो यह बहुत कुछ सत्कार्यवाद जैसी दिखाई देती है। पर यहां तकनीकी तौर पर कार्य की दृष्टि से आभासवाद और कारण की दृष्टि से स्वातन्त्र्यवाद की स्वीकृति हुई है जिसे कारणता की भाषा में कर्तृकर्मवाद के रूप से प्रस्तुत किया गया है। इस पर हम आगे विचार करेंगे। परन्तु जैसे कि *महार्थमंजरी* के यशस्वी प्रणेता महेश्वरानंद ने संकेत किया है, तत्त्व–प्रक्रिया में सत्कार्यवाद यहां भी मान्य हुआ है। पर यह मान्यता आंशिक है क्योंकि कार्य की कारण में पूर्वस्थिति को मानकर भी कार्य को परिणाम नहीं माना गया है बल्कि आभास या प्रतिबिम्ब की शब्दावली में उसे व्यक्त किया गया है। सत्कार्यवाद के अद्वयवाद में आगमन का एक मार्ग और भी रहा है, वह है सांख्य। उस पर आगे चर्चा होगी। सत्कार्यवाद का अत्यन्त सूक्ष्म प्रभाव सम्प्रदाय में मान्य *'सर्वं सर्वात्मकम्'* जो अद्वैतवाद की मान्यता की अनिवार्य परिणति है, की धारणा में दिखाई देता है। सूक्ष्म इसलिए कि तत्त्वों की पारस्परिक अन्तर्व्याप्ति दोहरी है। इसका अर्थ है कि जहाँ ऊपर के तत्त्वों की नीचे के तत्त्वों में यथाक्रम व्याप्ति विभवनात्मक है, वहीं नीचे के तत्त्व ऊपर के तत्त्वों में यथाक्रम शक्तिरूप (potency) से अवस्थित हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता का यह महत्त्वपूर्ण उपकरण है।

ईश्वर (शिव) को चरम कारण मानने की बात शैव अद्वैतियों ने यद्यपि शैव द्वैतियों से ली है पर अद्वयवादी उसे एक मात्र कारण मानकर अपने को अलग कर लेते हैं। शिव चरम व एक मात्र कारण है। अतः शिव ही एकमात्र कारण है। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद अद्वैती मुख्यावृत्ति से मानते हैं, अतः सृष्टि का कारण चित्तत्त्व या उसकी इच्छा को ही माना जा सकता है। इस दृष्टि से सृष्टि को निरुपादाना या अधिक से अधिक इच्छोपादाना कहा जा सकता है। शिव कार्य में व्याप्त ही नहीं है वह उससे एकरूप है, वस्तुतः शिव ही कार्य है अतः उसकी निमित्तकारणता का कोई अर्थ नहीं रहता। या उपचार से, कहना चाहें, तो अद्वैत वेदान्त की भांति इसे अभिन्ननिमित्तोपादाना कहा जा सकता है। माया, जो सिद्धान्तियों के लिए शिव से भिन्न है और जगत् का उपादान है, को शैव अद्वैती शिव के स्वातन्त्र्य का ही उन्मेष मानते हैं। फलतः शिव से भिन्न अस्तित्व न रह जाने के कारण उसका तथाकथित उपादानत्व शिव में ही विश्रान्त होता है। परिमित प्रमाता, जिसे पारिभाषिक तौर पर पशु या जीव कहा गया है, भी शिव का ही स्वरूप–परिसीमन या अणूभवन है, उसकी कर्तृता भी मूलतः शिव की ही कर्तृता

---

1. जयरथ का संकेत है– शिवः–तस्यैव ह्ययं स्फारो...अतएव तनोति सर्वमिति "तत्" परं रूपं, तस्य भावः तत्त्वमित्यर्थः तथा 'यद्रूपं पृथिवीतत्त्वादि अनेकैः प्रकारैरंनुगामि' – तं. वि., 4 पृ. 1636–37

है। इस प्रकार शिव ही वास्तविक अर्थों में, द्वैत शैवियों की भांति उपचारतः नहीं, कारण है अतः उपादान, निमित्त और सहकारी शिव में एकाकार हो जाते हैं। आनुभाविक प्रमाता के सन्दर्भ में भी ये भेद स्वतन्त्रतया मान्य न होकर कारण–सामग्री की धारणा में विश्रान्ति पाते हैं। किसी भी कार्य की कारणता एक कारण–सामग्री में निविष्ट होती है न कि पृथक् पृथक् कारणों में। देखा जाए तो यहाँ सत्ता (being) और भवन (becoming) की धारणाएं शिव के प्रत्यय में एकीभूत हैं, न तो पृथक् हैं ओर न ही भ्रमरूप। शिव के सहज स्पन्दन के रूप में अपने ही स्वाभाविक, न कि आरोपित, संकोचविकास से सृष्टि के उदय और प्रलय का अर्थ है कार्य या सृष्टि को स्वतः स्फूर्त मानना। शिव के आत्मशरीर में होने वाला स्वाभाविक स्पन्दन किसी प्रयोजन की विवशता के अभाव में लीला या आत्मक्रीडा के रूप में उभरता है। इस प्रकार शिवाद्वयवाद वेदान्त की भांति सत्कारणवादी और सांख्य की भांति सत्कार्यवादी दोनों ही अन्वर्थतः है।

यहाँ पर विकसित कार्यकारणभाव की आंतरिक संरचना पर व्याकरण दर्शन का प्रभाव गहराई तक परिलक्षित होता है। क्रिया, संबंध, फलतः तदन्तर्गत कारणता–संबंध, की बुद्धि की सापेक्ष कोटि के रूप में परिकल्पना इसका दृष्टान्त प्रस्तुत करती है। व्याकरण में कारणता के प्रत्यय पर विचार प्रायः साधनविचार का अङ्ग बना है। साधन वस्तुतः बौद्धिक है। भर्तृहरि शब्दार्थ और वस्त्वर्थ अर्थात् शब्दों द्वारा अभिव्यक्त अर्थों और बाह्य जगत् में उपलब्ध वस्तुओं में अंतर करते हैं। क्रिया की निष्पत्ति में मूर्त द्रव्यों को साधन कहा जाता है। इसका अर्थ यह लिया जाता है कि वह अपनी अनेक शक्तियों या क्षमताओं में से किसी न किसी क्रिया का संपादन करने में समर्थ है। अर्थात् साधन स्वयं वस्तु न होकर वस्तु की शक्ति है, जो वक्ता के ज्ञान और विवक्षा के अनुसार कभी कर्ता, कभी कारण, कभी अधिकरण बनती है। वस्तु तो शक्तियों का समाहार है पर कर्ता के स्वातन्त्र्य के द्वारा विशेष सन्दर्भ में विशेष शक्ति पर ज़ोर दिए जाने के कारण तद्रूप में उसका ग्रहण उसे शब्दों या बुद्धि के संसार से जोड़ता है।[1] जो बुद्धि में आता है वह शब्दार्थ है न कि वस्त्वर्थ – *बुद्धिप्रतिभास्येव ह्याकारो शब्दार्थो न वस्त्वर्थः।*[2]

वाक्यगम्य क्रिया साध्य है और उस की निष्पत्ति में सहायक सारे साधन कारक कहलाते हैं। कारक शब्द से द्रव्य और शक्ति दोनों का ग्रहण होता है। प्रातिपदिक द्रव्य को बताता है और विभक्तियां उसकी शक्ति को।[3] इसलिए वाक्य में शब्दशः न कही जाकर भी विभक्तियां कारकों को व्यक्त करती हैं।[4] सारे कारक अपने अपने विशेष

1. साधनव्यवहारश्च बुद्ध्यवस्थानिबन्धनः।
सन्नसन् वार्थरूपेषु भेदो बुद्ध्या प्रकल्प्यते।। – *वाक्य.* 3.1, पृ. 233, 1.10–11 (*भर्तृहरि, अय्यर द्वारा उद्धृत, पृ. 312*)
2. उपर्युक्त पृ. 236, 1.18 (वही, पृ. 314 पर उद्धृत)
3. 'कारकम्' इति द्रव्य शक्तिश्च। – ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 61
4. तथा च प्रातिपदिकेन द्रव्येऽभिहिते शक्तौ कृतबन्धा विभक्तिः प्रवर्तते। – *वाक्य,* 3.1, पृ 244, 1.2 (अय्यर द्वारा उद्धृत, पृ. 318)

व्यापारों का निष्पादन करते हुए वाक्यगम्य क्रियापदवाच्य मुख्य क्रिया– प्रधान साध्य की सिद्धि करते हैं। इस अर्थ में वे सभी कर्ता बन जाते हैं। सारे अवान्तर मुख्य क्रिया की दृष्टि से सामान्य अर्थ में कारक तथा विशिष्ट अर्थ में कर्म, करण आदि के नाम से पहचाने जाते हैं।[1] इस दृष्टि से प्रत्येक कारक अपने अवान्तर व्यापार में स्वतन्त्रता बनाए रखता है पर यह स्वतन्त्रता प्रधान कर्ता के प्रति परतन्त्रता या गौणरूपता धारण कर लेती है। इसीलिए सारे कारक कर्ता होते हुए भी कर्ता नहीं कहे जाते। इनका स्वातन्त्र्य सापेक्षिक और परतन्त्रता का स्पर्श लिए है अतः निरेपक्ष स्वातन्त्र्य का स्वामी होने के कारण मुख्य कर्ता को ही कर्ता कहा जाता है।[2]

यहाँ पर कुछ बातें ध्यान देने की है। सारे अवान्तर व्यापार कर्ता में समन्वित होते है जो व्यापाराश्रय है। इस प्रकार साध्य – वाक्यगम्य मुख्य क्रियार्थ– की सिद्धि का भी वही आश्रय है। यह बात एक और दिशा से भी प्रतिफलित होती है। वास्तविक कर्ता उसे कहते हैं जो दूसरे साधनों को प्रवृत्त करे। इस प्रकार प्रत्येक प्रयोजक, जिस सीमा तक वह प्रवृत्त करता है, कर्ता है। चरम प्रयोजक इस अर्थ में चरम या एक मात्र कर्ता है क्योंकि प्रधान क्रिया के निर्वर्तक होने के नाते सारे व्यापारों को वह परम्परया प्रायोजित करता है अतः उसका ही कर्तृत्व अवशिष्ट रहता है। कार्यकारणभाव विशेषतः सत्कार्यवाद के संबंध में प्रयोजकप्रयोज्यभाव का प्रयोग इसी को दर्शाता है। यदि यह विश्लेषण सही है तो सारे विशिष्ट या गौण कारक, विशिष्ट व्यापार के निष्पादक होने पर भी प्रयोज्य होने के नाते, प्रधान कर्ता के कर्म ही ठहरते हैं। इससे सहज ही यह अर्थ निकाला जा सकता है कि सारे अवान्तर व्यापारों और प्रधान व्यापार का फल एक है और यह भी कि इन व्यापारों का समन्वय कर्ता में होता है। यह प्रतिपत्ति हमें फल और व्यापार की एकता की ओर ले जाती है। काश्मीर शिवाद्वयवादी इसकी तार्किक परिणति थोड़ा आगे जाकर कर्ता और क्रिया, जो वस्तुतः कर्तृत्व का रूप लेती है, की एकता में ले जाकर देखते हैं और अपने कारणतासिद्धान्त को कर्तृकर्मभाव के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

कर्म व्यापार भी है और विषय भी। कर्ता का जो क्रिया के द्वारा अभीष्टतम प्राप्य है वह कर्म है। इस अर्थ में वह क्रियाफल का साक्षात् विषय है इसलिए पाणिनि इसे 'ईप्सिततम'[3] कहते हैं। यह ईप्सा ही वस्तुतः प्रयोजक व्यापार है और कारणव्यापार की आंतरिक प्रेरणा होने के नाते, प्रधान व्यापार के साक्षात् और अवान्तर व्यापारों के परम्परया आश्रय रूप में, कर्ता की भूमिका की व्याख्या करती है। प्रत्यभिज्ञासम्मत संश्लेषणात्मक क्रिया की अवधारणा में कर्ता का यह प्रयोजक स्वातन्त्र्य, कर्तृकर्मभाव के

---

1. निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके।
   व्यापारभेदापेक्षाया करणत्वादिसंभवः।। – *वही*, पृ. 246, 1.1–2 (वही, पृ. 3 ; 9 पर उद्धृत)
2. कारकाधिकाल्लब्धे स्वातन्त्र्ये स्वतन्त्रः कर्तेति पुनः श्रुतिः पारतन्त्र्यानाच्छुरितस्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थेति मुख्य एव स्वतंत्रे कर्तृसंज्ञावतिष्ठते। –वही, पृ. 249, 1.7–8 (वहीं पर उद्धृत पृ. 321)
3. कर्तुरीप्सिततमं कर्म। – पा. 1/4/49

आनुभविक सन्दर्भ में 'चिकीर्षा' के रूप में और पारमार्थिक सन्दर्भ में 'सिसृक्षा' के रूप में हेतुता के प्रत्यय के अपोद्धरण (abstraction) का मार्ग प्रशस्त करता है। प्रत्येक कर्मस्थ भात होने वाली क्रिया प्रकाशनव्यापार का अनन्य अङ्ग बनकर कर्ता के प्रत्यभिज्ञानात्मक समन्वय के द्वारा कर्ता या प्रमाता में विश्रान्त होती है। शिवाद्वयवाद में क्रमातीत यह चरम क्रिया अर्थात् कर्तृत्व ही कर्ता या शिव है। व्याकरण दर्शन में हमें ऐसा समीकरण दिखाई नहीं पड़ता।

व्याकरण दर्शन में साधन (कारक) के अतिरिक्त कारणता और तदनुषङ्गी प्रत्ययों पर विचार हेतु, लक्षण, करण तथा तादर्थ्य के प्रसङ्ग से भी हुआ है।[1] पर प्रकृत चर्चा में हमारे लिए उनका विशेष सैद्धान्तिक प्रयोजन नहीं है। अय्यर के अनुसार कारक विभिन्न रूप ग्रहण करते हुए क्रिया की सिद्धि में सहायक हैं, जो सामान्यतः सहायता करते हैं। वे कारण या हेतु हैं ओर जो दूसरे के ज्ञापक हैं वे लिङ्ग (लक्षण) हैं। इस प्रकार हेतुता का अर्थ है सामान्य कारणता। चिकीर्षा की व्याख्या करते हुए उत्पल ने अपनी कारिका में इसी अर्थ में हेतुता का प्रयोग किया है।[2] यहाँ जो बात प्रासंगिक है और जिसका प्रभाव काश्मीर शिवाद्वयवाद पर पड़ा है वह है सकृद्दर्शन से भी व्याप्ति का ग्रहण। जैसा कि हमने देखा कि ज्ञापक हेतु को लक्षण कहा गया है। महाभाष्य की दृष्टि में लक्षण में हेतु अन्तर्भूत होता है। बौद्धों और अनके आलोक में शिवाद्वैतमत में ज्ञापकज्ञाप्यभाव का आधार स्वभावहेतु या सांप्रदायिक पदावली में तादात्म्य नियम माना गया है।[3] यह बात वैयाकरणों से प्रभावित जान पड़ती है। कभी–कभी हम दो वस्तुओं में कार्यकारण भाव एक बार के पौर्वापर्य को देखकर निश्चय कर लेते हैं।[4] इसका एकमात्र यही कारण है कि यदि कोई वस्तु कारण नहीं है तो उससे कार्य की उत्पत्ति एक बार भी सभव नहीं है। किसी दूसरे हेतु की कल्पना या आशंका कार्य–कारणभाव की मर्यादा को ही ध्वस्त कर देगी। क्रिया की सिद्धि मे प्रकृष्टतम उपकारक करण माना गया है। कारक के सामान्य रूप से भिन्न उसी के अन्तर्गत यह कारक की विशिष्ट विधा है। चूंकि क्रिया प्रधान है और करण उसका गुणीभूत इसलिए वह प्रकृष्ट होते हुए भी सर्वथा अपरिहार्य नहीं है। निर्धारित करण की अनुपलब्धता की स्थिति में उसके स्थान में सदृशकार्यकारी अन्य का प्रयोग किया जा सकता है काश्मीर शिवाद्वयवाद मे करण को असाधारण कारण या व्यापार के रूप में मान्यता नहीं मिली है, वह कारण सामग्री का अङ्ग बनकर ही आ पाता है। इसको थोड़ा दूसरे ढग से भी समझा जा सकता है। करण को क्रिया की सिद्धि में साधकतम साधन मानने का अर्थ है उसे 'कर्म' में होने वाले 'फल' का

---

1. भर्तृहरि, पृ 321–325
2. हेतुता कर्तृता क्रिया। – *ई.प्र.का. 2.4.2।*
3. योगिसृष्टि को छोड़कर
4. सकृद्दर्शनादपि हेतुभावोऽवगम्यते। यस्य हि यज्जनकं न भवति तस्मात् (सकृदपि तत्र जायते)। – *वाक्य. 3.1, पृ. 252, 1.7–8* (वही, अय्यर द्वारा उद्धृत, पृ. 323)

सर्वाधिक निर्वर्तक मानना। अभिनवगुप्त की व्याख्या में वास्तविक क्रिया वाक्यगम्य अर्थ है, न कि केवल धातुवाच्य। शैवों के प्रत्ययवादी कर्तृत्वात्मक वाक्य–विश्लेषण में कर्ता प्रधान क्रियाव्यापार, जिसमें कारकों के गौण व्यापार समाहित हैं, का आश्रय है वही कारण को कार्य से जोड़ता है, अतः वही वास्तविक कारण है।[1] इस दृष्टि से साधकतमता या प्रकृष्टता कर्तृविश्रान्त होकर ही सध पाती है करणविश्रान्त होकर नहीं। तादर्थ्य का प्रत्यय अवश्य पूरी तरह से कारणता के विकसित रूप या उपादान कारण का प्रतीक बनता है, पर यह भी यहाँ कारण सामग्री का ही अंग बनता है। उपादान कारण की पृथक् परिकल्पना नहीं की जाती। यदि किसी एक को कारण कहना ही है तो वह मात्र कर्ता की इच्छा है।

कारणता की वैयाकरणिक अवधारणा का प्रभाव शिवाद्वैतियों के एक अन्य अभ्युपगम पर भी दिखाई पड़ता है। सम्बन्ध की व्यापक कोटि की ही एकप्रकारता होने के कारण कार्यकारणभाव को भेदाभेदमय माना गया है। भर्तृहरि भी प्रश्न उठाते हैं कि क्रिया की निष्पत्ति में सहायक होने के कारण शक्तिरूप कारक स्वरूपतः एक है या अनेक। सामान्य तौर पर भर्तृहरि का उत्तर है कि वस्तुस्थित्या कारकशक्ति एक है पर कार्यों की विविधता के कारण इसकी प्रकारता अनेकविध है। यदि उसे द्रव्य से नितान्त भिन्न कहा जाए तो शक्ति के अभाव में द्रव्यों का कोई स्वरूप नहीं रहेगा और यदि नितान्त अभिन्न मान जाए तो कार्यों की विविधता के समर्थन में हमारे पास कोई युक्ति नहीं होगी। अतः अभेद भेद से एकान्तरूप में पृथक् नहीं माना जा सकता। भेद और अभेद एक ही तत्त्व के प्रकाशन की दो सरणियाँ हैं।[2] शिवाद्वैती भर्तृहरि के इस मन्तव्य से सहमत हैं। इस भेदाभेद को वह दो प्रकार से समझाते हैं। एक पद्धति में वह भर्तृहरि का पूरा अनुकरण करते हैं। भर्तृहरि की दृष्टि में सारा जगत् आंतर परमतत्त्व का बाह्य प्रकाशन है, अतः आंतर और बाह्य एक सातत्य हैं, उनमें भेद नहीं है। इसी से स्वर मिलाते हुए शिवाद्वैती मानते हैं कि प्रमाता या कर्ता की आत्मसंवित् से एकरूप वस्तु का मनोवेद्य आंतर रूप कारण और अन्तः बाह्य दोनों ज्ञानेन्द्रियों से ग्राह्य बाह्य रूप कार्य है। आन्तर का बाह्य आभासन ही कार्यकारणभाव है।[3] दूसरा समाधान हमारा परिचित है जो क्रिया के संदर्भ में दिया गया है। क्रिया का अपने विषय और कर्ता की दृष्टि से जो भेद है और एक कर्ता में विश्रान्ति तथा सारे कारकों की फलगत एकता के कारण जो अभेद है वही कार्यकारणभाव

---

1. काष्ठैः स्थाल्यामोदनं चैत्रः पचतीति वाक्यगम्योऽर्थः, सा तत्त्वतः क्रिया, तत एव आख्यातशब्दो वाक्यमिति उच्यते अत्रभवता। तत्र च काष्ठगतं ज्वलनादि, स्थालीगतं सन्तपनादि, तण्डुलगतं विचटनादि च यत् तत् एव पाकरूपम् इत्येवं भेदेन आमर्शे स्फुरत्यपि चैत्रचेतनस्वातन्त्र्यविश्रान्त्याम् अभेद एव पर्यवस्यति।
– ई. प्र. वि. वि., 3, पृ. 62; तुलना कीजिए वाक्यपदीय, 3.8.19
2. एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्य. पृथक्त्वेनेव वर्तते। – *वाक्य. 1.2.*
3. ई. प्र. का. 2.4.4

तथा संबंधमात्र का प्राण है।[1]

हमने अभी देखा कि व्याकरण दर्शन कारक और क्रिया के समन्वय की आधारपीठिका के रूप में कर्तृस्वातन्त्र्य की अवधारणा को प्रस्तुत करता है। इस आधारभूत समीकरण से अनुस्रवित संभावनाओं, तज्जन्य शिवाद्वयवाद की उपजीव्यता और उससे फलित दोनों सम्प्रदायों के वैचारिक सादृश्य का आकलन भी करने का हमने यहाँ प्रयत्न किया। इस प्रयत्न को करते समय दो बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि कर्तृस्वातन्त्र्य की संरम्भपूर्वक घोषणा के बावजूद भी व्याकरण का मुख्य साध्य क्रिया है। उस दृष्टि से व्याकरण दर्शन में कर्ता का उतना ही अवमूल्यन हुआ है जितना अन्य कारकों का। क्योंकि कर्ता, भले ही हम उसे आदिकारक क्यों न कहें, कारक होने के नाते अन्य कारकों की ही भांति साध्य–क्रिया–की निष्पत्ति का साधन है। शिवाद्वयवाद, इसके विपरीत, इस अवमूल्यन को उलट देता है। क्रिया केवल आनुभविक संदर्भों में साध्य कही जा सकती है अन्यथा वह 'आदिसिद्ध' कर्ता, जिसका स्वरूप है आत्म संवित्, का कर्तृत्व है। इस अर्थ में वह भी पर्यन्ततः सिद्ध है। इसीलिए चिकीर्षा जो संवित् या परम तत्त्व या कारणता–संदर्भों में कर्ता– का स्वरूपभूत व्यापार है उसकी फल के साथ एकता प्रतिपादित कर और व्यापाराश्रय (अर्थात् फिर स्वयं कर्त्ता) में विश्रान्ति द्वारा अर्थात् फल=व्यापार=आश्रय के एकत्वापादन द्वारा क्रिया या कारणता के रूप में प्रतिफलित होती है। अतः क्रिया के कर्तृता के रूप में ऊर्ध्वतर पुनर्मूल्याकंन द्वारा शिवाद्वयवाद वैयाकरण दर्शन को तार्किक परिणति तक लाता है। दूसरे, विशुद्ध पारतात्त्विक परिप्रेक्ष्य म स्वातन्त्र्य परमतत्त्व का स्वरूप बताया गया है। यही वास्तविक कर्तृत्वरूपता है। व्याकरणदर्शन में यह स्वातन्त्र्य कालशक्ति का स्वरूपभूत धर्म है।[2] कालशक्ति का स्वातन्त्र्य सृष्टिगत क्रम की व्याख्या करता है। कालशक्ति ब्रह्म की साक्षात् शक्ति न होकर अविद्या की शक्ति है।[3] सारा जगत् मूर्त्तिक्रियाविवर्तरूप है। क्रियाविवर्त साध्य है और मूर्त्तिविवर्त सिद्ध। इसी में सारा विश्व बंटा है। दिक्शक्ति मूर्त्तिविवर्त का कारण है और कालशक्ति क्रियाविवर्त का। ये दोनों अविद्या की शक्तियाँ हैं।[4] अर्थात् यह स्वातन्त्र्य ब्रह्म का औपचारिक स्वातन्त्र्य है।[5] यदि यह व्याख्या सही है तो

1. एवं क्रियायाः स्वलक्षणापेक्षया आदिकारकापेक्षया च यो भेदो, यश्च एककर्तृविश्रान्त्या आदिकारकापेक्षया च यो भेदो, यश्च एककर्तृविश्रान्त्या फलैक्येन च अभेदः, स एव समस्तसम्बन्धजीवितभूतः। - *ई. प्र. वि. वि., 3, पृ. 61*
2. कालाख्येन स्वातन्त्र्येण ... । – वाक्य 1, पृ. 18, 1.3 (उद्धृत भर्तृहरि, पृ. 112/438)
3. अक्रमे ब्रह्मणि भेदावभासनमविद्याकृतम्। तत्रैव क्रमाभासन कालाख्यस्वातन्त्र्यशक्तिकृतम। – वाक्य पृ. 178, 1.15–16, वही उद्धृत पृ. 126/446
4. कालशक्त्यवच्छिन्नो हि क्रियाविवर्तः दिक्शक्त्यवच्छिन्नश्च मूर्तिविवर्त इति मूर्तिक्रियाविवर्तरूप विश्व प्रतिपादितम। – वाक्य 3, 1 पृ. 117; 1.4–5, 8–11 (वही पर उद्धृत, पृ. 125/446.
5. कालाख्या स्वातन्त्र्यशक्तिर्ब्रह्मण इति तत्रभवद्भर्तृहरेरभिप्राय।
वाक्य 3.3.1–8 (वही पर उद्धृत, पृ. 112–438)

स्वातन्त्र्य की अवधारणा का भी व्याकरण दर्शन में अवमूल्यन होता है। शैव दर्शन का फिर यह काम रह जाता है कि वह पुनर्मूल्याङ्कन करते हुए स्वातन्त्र्य को ब्रह्म या शिव के एकमात्र स्वरूपतया प्रस्तुत करे।[1] शैव दर्शन ठीक यही करता है। इस दृष्टि से स्वातन्त्र्य और कारणता के समीकरण को बल मिलता है और उपचरित स्वातन्त्र्य के स्थान पर वास्तविक स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा होती है।

कर्तृत्व, कारणता और स्वातन्त्र्य के इस समीकरण के साथ हम काश्मीर शैव दर्शन में प्रवेश करते हैं। प्रवेश के साथ ही हम कई प्रश्नों से टकराते हैं। पहले तो एक सीधा सा प्रश्न यही उठता है कि कर्ता को कर्ता ही रहने देने में क्या आपत्ति है जो उसे कारण के रूप में प्रस्तुत किया जाए। यह तो एक तरह से कारणता सिद्धान्त को प्रकारान्तर से नकार देना है। यह प्रश्न जयरथ ने *(तं. 9/9-10 पर विवेक)* उठाया भी है।[2] जयरथ का कहना है कि हर प्रश्न का उत्तर उसके संदर्भ के अंतर्गत ही दिया जा सकता है। संदर्भगत वैशिष्ट्य के कारण ही 'कर्ता' को 'कारण' पुकारते हैं, अर्थात् जब हम कार्यकारण भाव की समस्या पर विचार कर रहे होते हैं तभी कर्ता को कारण की संज्ञा दी जाती है अन्यथा वह कर्ता ही है। कर्ता होकर ही कारण कारण बन सकता है। दूसरा प्रश्न उपर्युक्त समीकरण की प्रकल्पना के पीछे शैवों की मनोवृत्ति को लेकर उठता है। शिवाद्वयवाद के दार्शनिक ईश्वरवाद के रूप में भावन के मूल में परम तत्त्व के इस स्वातन्त्र्य को शिव या ईश्वर की लीला या क्रीडा के रूप में देखी जाने की प्रवृत्ति रही है। ऐसा नहीं है कि काश्मीर शैव मत इस दृष्टि से पहला सम्प्रदाय हो। सृष्टि की ईश्वरवादी या देवत्ववादी (theistic or deistic) व्याख्या में माया (अद्वैतवेदान्त की नहीं), लीला, शक्ति, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, भगवत्ता की परिकल्पना पहले भी रही है और अद्वैतेतर सभी वेदान्त सम्प्रदायों में इसका प्रभूत विकास हुआ है। प्रश्न है कि ऐश्वर्य, पारमैश्वर्य, भगवत्स्वातन्त्र्य कहकर यह ईश्वरमीमांसापरक (theological) व्याख्या कारणता की यौक्तिक व्याख्या का प्रयास है या उससे कतराने का। अपनी व्याख्या के बारे में शैव निश्शंक हैं। उपासना की आगमिक पृष्ठभूमि को अपनाते हुए भी उनका दृष्टिकोण घोर दार्शनिक है और कारणता के प्रत्यय का स्वातन्त्र्यमूलक निगमन उनकी दृष्टि में सर्वाधिक युक्तिसंगत व्याख्या देने का संबल प्रदान करता है। कठिनाई यह है (विदुषी लेखिका ने इस ओर संकेतन भी किया है) कि स्वातन्त्र्य की पारम्परिक समझ – *कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम्*– जिसे सम्प्रदाय में भी मान्यता मिली है, कार्यकारणभाव के विरोध में जाती दीख पड़ती है। कर्तुम् और अकर्तुम् की संगति कारणता के साथ अन्वय और व्यतिरेक पद्धति से तो समंजस बैठ जाती है, पर 'अन्यथाकर्तुम् जहाँ स्वातन्त्र्य का

---

1. उपर्युक्त विवेचन में विवेचन भेद या व्याख्या-भेद के अवसर पर प्रो. अय्यर के निर्णयों को मानकर निष्कर्ष निकाले गए हैं। व्याकरण दर्शन की सामान्य अवधारणाओं के लिए भी उन्हीं का विवेचन आधार रहा है। संभावनाएं, निष्कर्ष, समीकरण और सामान्यीकरण का उत्तरदायित्त्व मेरा है।
2. तं. 9. 9-10 पर विवेक

व्यावर्तक धर्म है वहीं वह कारणता का बाधन करते हुए उसके लिए स्थान नहीं छोड़ता। कारणता का सार है वस्तुओं का परिघटनात्मक नियमन या व्यवस्थापन, जब कि अन्यथाकरण इस व्यवस्थापन के मूल पर ही प्रहार करता है। यदि स्वातन्त्र्य को स्वात्म–नियमन कहा जाए तो आत्म–भरित व्यवस्था से अन्यत्र इसका कोई अर्थ नहीं है क्योंकि अन्यथा–भवन मात्र वस्तु का नहीं अपितु दो पदार्थ जिस संबंध में परस्पर व्यवस्थित हैं उसका ही अन्यथाकरण है। यह तब 'स्वात्मना नियमनम्' मात्र न होकर 'स्वात्मना स्वात्मनि स्वात्मनः नियमनम्' होगा। इस अर्थ में यह नियमनोत्तीर्ण प्रत्यय होगा। और, यदि स्वात्मनियमन नहीं है तो कारणात्मक व्यवस्था के अपलाप के कारण अन्यथाकर्तुम् का अर्थ होगा अराजकता। अतः काश्मीरी शैव परमतत्त्व की प्रकल्पना आत्मव्यवस्थापनात्मक समग्र के रूप में करते हैं और स्वातन्त्र्य की स्वतः गतिशील पूर्णता के रूप में। उसी समग्र की जब हम चिद्घन ईश्वर या शिव के रूप में भावना करते हैं तो यह स्वातन्त्र्य इच्छा की शब्दावली में व्यक्त किया जाता है। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी* में अभिनवगुप्त इस विषय में कोई संदेह नहीं रहने देते– *"स्वातन्त्र्यमिच्छाशक्तिलक्षणमेव ।"*[1] चेतन कर्ता की इच्छा ही परम कारणता या कर्तृता है। यदि इच्छा और स्वातन्त्र्य दोनों एकार्थक और एकाकार प्रत्यय हैं तो इच्छा स्वातन्त्र्य का क्या अर्थ होगा। इच्छा का स्वातन्त्र्य *(इच्छायाः स्वातन्त्र्यम्)* – ऐसे व्युत्पादन से दोनों की एकता के भंग होने का प्रसंग उठ खड़ा होगा। एकता को तभी बचाया जा सकेगा यदि *'राहोः शिरः'* (राहु का शिर')[2] की भाँति उपचार से षष्ठी का अर्थ लिया जाए। ऐसी स्थिति में स्वातन्त्र्य और इच्छा अपनी पार्यन्तिक अवस्था में समपरिणामी (symmetrical) या समान्तक (conterminus) अवधारणाएँ हैं, उन्हें विषमपरिणामी या विषमान्तक (asymmetrical) संभवतः तभी कहा जा सकेगा जब हम इच्छा को सर्वहारी स्वातन्त्र्य के अर्थ में नहीं अपितु चिदानन्दानुपाती इच्छा आदि के रूप में ग्रहण करें, तब स्वातन्त्र्य के प्रत्यय में इच्छा शक्ति आदि का अंतर्भाव किया जा सकेगा।

कारणता के विश्लेषण में शैवों ने भारतीय चिन्तन की प्रधानधारा से हटकर नई अंतर्दृष्टियाँ विकसित की है[3] और इस प्रक्रिया में नयी पारिभाषिक शब्दावली, नयी वैचारिक संरचनाएँ और नए संदर्भ–क्षेत्रों में यौक्तिक निष्कर्षों के अतिदेशन का उपक्रम हुआ है। फलतः प्रायः सभी दर्शन सम्प्रदायों में प्रकारता–भेद से सामान्यतः समादृत कारणता की सत्तापरक (ontological) या अस्तित्वपरक (existential) संघटना

---

1. ई.प्र.वि.वि., 2, पृ. 13
2. राहु स्वयं शिर है अतः यहाँ षष्ठी निरर्थक है।
3. कारणता के प्रत्यय का तात्त्विक और तार्किक समीक्षण *ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका, वृत्ति, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, बृहती–विमर्शिनी* तथा तत्रालोक में प्रधान रूप से मिलता है। पहले दो ग्रन्थ उत्पलदेव के हैं और अतिम तीन अभिनवगुप्त के। इनमें तंत्रालोक पर जयरथ की विवेक टीका को भी जोड़ना उचित होगा और कुछ मौलिक टिप्पणियों के लिए महेश्वरानन्द की स्वोपज्ञ *परिमल* टीका के साथ महार्थमंजरी को भी।

(formulation) में उनकी आस्था नहीं है। उसके स्थान पर वे मानसिक या तार्किक – आन्तरत्व और बाह्यत्व – कोटियों के माध्यम से कारणता का पुनर्घटन करते हैं। इसी प्रक्रिया के दूसरे चरण में वह दो प्रकार – प्रमाणतामूलक या अवगमनात्मक (अंतबर्हिष्करणवेद्यतापादान) और क्रियाकर्तृतामूलक (कर्तृकर्मभाव) – की परिघटना का आश्रय लेकर उन यौक्तिक कोटियों की व्याख्या करते हैं। तीसरे चरण में स्वातन्त्र्य और नियमन के आपातिक विरोध का शमन करते हुए कार्यकारणभाव की सोपानद्वयात्मक (नियत्यनुवर्ती और नियत्युल्लंघी) उद्‌भावना और तज्जनित तार्किक संभावनाओं का परमार्थ भूमि और कलाजगत् में विनियोजन करते हैं।

विमर्शिनी के क्रियाधिकार में अभिनवगुप्त ने कार्यकारणभाव के विश्लेषण को निम्न सोपानों में बांटकर पल्लवित किया है;

1. कर्तृकर्मभाव ही कार्यकारणभाव है।
2. जड़ पदार्थ कारण नहीं बन सकता।
3. कारणता कर्तृतारूप है। इसकी दो शर्तें हैं– एक, यह कर्तृता चेतना की हो और दूसरे, वह चेतन ईश्वर हो अर्थात् उसमें ऐश्वर्य या स्वातन्त्र्य हो।
4. विशुद्ध पौर्वापर्य या आनन्तर्य कार्यकारणभाव नहीं हो सकता, नियतिशक्ति कृत नियमन का उपजीवन करती हुई ही कारणता संभव है।
5. इस कार्यकारणभाव के बौद्ध प्रारूप की उपपन्नता उपर्युक्त मत का अवलम्बन करके ही सम्भव हैं।
6. चेतन की कर्तृता ही भेद और अभेद की वस्तुता और उनके वास्तविक सामंजस्य का आधार प्रस्तुत करती है।
7. व्यतिरेक मुख से यदि कहा जाए तो चेतन की कर्तृता को माने बिना और कर्ता (चेतन) की ईश्वरता माने बिना कार्यकारणभाव के सांख्य, न्याय (आर वेदान्त) गत अन्य प्रारूप भी उपपन्न नहीं हो सकते।
8. फलतः चिकीर्षा या इच्छा, कारणता, कर्तृता और क्रिया का वास्तविक समीकरण निष्पन्न होता है।

कार्य का अर्थ नई उत्पत्ति नहीं है, अपितु पहले से ही स्थित का प्रकाशन है। यह सत्कार्यवाद की शैली में कारण में अव्यक्त रूप से शक्तितया वर्तमान पदार्थ की अभिव्यक्ति नहीं है और न अस्फुट का स्फुट होना है अपितु जिस प्रकार से आनुभाविक प्रमाता की इच्छा में विषय अभिन्नतया वर्तमान रहता है और उत्तरकालीन क्रिया केवल उसको स्थूल दर्शन या वेदन का विषय बनाती है, उस प्रकार से अभिन्न, अविच्छिन्न वतंन है। एक कदम आगे बढ़कर कहा जा सकता है कि शक्तितया अवस्थिति की वर्तनी में जिस गुणात्मक भेद की बात कही जा रही है वह वस्तुतः उस वर्तनी की प्रकारता का वैशिष्ट्य नहीं है अपितु उसका वैशिष्ट्य है जिसकी वह शक्ति है। जड़ कारण में अनभिव्यक्त पदार्थ अपने शक्य (potential) स्वरूप में रहता है और चेतन कारण में

अपने से एकाकार शक्ति (power) के रूप में। यदि विज्ञानवादी अद्वयवाद में ईश्वर की कल्पना को जोड़ा जा सके (शिवाद्वयवादी वस्तुतः वही करते हैं) और दार्शनिक भाषा की निर्मम निर्वैयक्तिकता में ईश्वरवाद के कारण मानुषाकारता (anthropomorphic form) के स्पर्श से परहेज़ न किया जाए तो चेतन कारण अर्थात् प्रमाता की इच्छा जो निर्विकल्प, अक्रम और प्रमाता से अविच्छिन्न है उससे विषय का तदात्मतया वर्तमान होना ही शक्तितया, स्वात्मतया वर्तमान होना है। अभिनव इसी आधार पर अन्य सारी कारणता–व्याख्याओं को शुष्क कहते हैं, यह हम ऊपर देख चुके हैं।

काश्मीर शिवाद्वयवाद का मानना है कि सत् और असत् की शब्दावली में, या दूसरे शब्दों में सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद की परिचित वचोभंगिमा में, कार्य को कारणव्यापार (अर्थात् उत्पत्ति–/अभिव्यक्ति–/स्फुटत्व–व्यापार) के पूर्व कारण में सत् या असत् मान कर या उसी प्रकार कारण को कारणव्यापार के अनन्तर सत् या असत् मानकर कार्यकारण भाव की युक्तिसह व्याख्या संभव नहीं है।[1] क्योंकि जैसा उत्पल अपनी *वृत्ति* में कहते हैं कि असत् को सत् नहीं बनाया जा सकता और सत् की सत्स्वभावता स्वतः सिद्ध है, उसे असत् नहीं बनाया जा सकता। अतः सत्ता के आधार पर कार्यकारणभाव की परिकल्पना में या तो अंतर्विरोध का सामना करना पड़ेगा या प्रयत्न की निष्फलता का।[2] शैवों की दृष्टि में कार्यकारणभाव के दोनों प्रसिद्ध प्रतिदर्शों (models) – बीज से अंकुर और कुम्हार द्वारा मिट्टी से घड़ा – में जहाँ एक मौलिक अन्तर है (एक विशुद्ध जड़ पदार्थों के बीच है और दूसरे में चेतन का प्रवेश है), ज्ञात व्याख्याओं के आधार पर उनके कुशलक्षेम में विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि चेतन भी यहाँ कारणसामग्री का अंग नहीं बनता अपितु कारणसामग्री से परे रह कर ही कारणव्यापार का निर्वर्तन करता है और उसका निर्वर्तनात्मक व्यापार भी उस कारणसामग्री के अधीन ही रहता है। शिवाद्वैती को अचेतन बीज में ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं दीखती जिससे वह अंकुर को, चाहे उसे सत् माना जाए या चाहे असत्, दिखाई पड़ने वाली अर्थात् अनुभवगोचर सत्ता से जोड़ सके। बीज से अंकुर पैदा न होने में अंकुर की भी कोई महिमा नहीं है क्योंकि अंकुर का अस्तित्व ही नहीं है और न बीज की ही कोई महिमा है क्योंकि वह अंकुर से नितान्त भिन्न है। कार्य शब्द का (कृ धातु से अर्हतावाची ण्यत् प्रत्यय से योग के कारण) व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है किए जाने के योग्य, शक्य अर्थात् कियासामर्थ्य (क्रियाशक्ति) द्वारा भास्यमान कर्म। अर्थात्, आभासन क्रिया का विषय ही कार्य है और जो उसे अपने समर्थ अर्थात् प्रेरणा रूप आचरण से करा सके वह है कारण। ऐसा कारण चेतन कर्त्ता में ही आकर विश्रान्त होता है। अतः कर्तृकर्मता ही कार्यकारणता है। फलतः यह अपेक्षा स्वाभाविक होगी कि शिवाद्वयवाद उस तथ्य के

---

1. असतः सत्स्वभावता विरुद्धा सतश्च सिद्धा। – ई.प्र.का. 2.4.3–4 पर *वृत्ति*
2. ननु एवं सूत्रेऽपि विरोध एवं वक्तव्यो न निष्प्रयोजनत्वम्। सत्यमभ्युपगमवादेन तु सूत्रं मा भूद्विरोधस्तथापि नैरर्थक्यमिति। – ई.प्र.वि.वि., पृ. 188

समर्थन में कार्यकारणभाव का नया सांचा खोजे और स्थापित करे।

इससे स्पष्ट है कि शैवों ने कारणता की अवधारणा ही बदल दी है। कारणव्यापार (causation) उत्पादन (producation) नहीं है, वह सर्जन या निर्माण (creation) है।[1] कारण को कर्ता कहने का अर्थ है कि वह निर्माता है। चूंकि व्यवहार और लोकव्यवस्था के आधार रूप में कार्यकारणभाव जनमानस में प्रतिष्ठित है, कारण के इस निर्माणात्मक आयाम या निर्मातृता–पक्ष की व्याख्या आवश्यक है। शैवों की शब्दावली में निर्माण है बाह्यता का आभासन। शैवेतर भाषा में आभासन के स्थान पर आपादन भी कह सकते हैं। अंदर आभासित होने वाले का, अपने आंतरिक रूप को छोड़े बिना लेकिन उससे भिन्नतया, बाह्य आभासन निर्माण है।[2] यहाँ निर्माण व्यापारार्थक भी है और फलार्थक भी अर्थात् आभासित होना (फल) और आभासित करना (व्यापार) दोनों यहाँ गतार्थ हैं। अन्दर और बाहर ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं अतः प्रमाता के संदर्भ में वे अर्थवत्ता ग्रहण करते हैं।[3] संविद्रूप प्रमाता की अपेक्षा से जो अन्तराभासी पदार्थ हैं वही, उसी प्रमाता की अपेक्षा से, बाह्याभासी बनते हैं, अतः उसी प्रमाता के द्वारा बहिष्करण रूप आभासन उचित कहा जाएगा।

अंतः के बहिष्करण को समझने या समझाने का वह सांचा है आन्तर पदार्थ का अन्तःकरण और बाह्य ज्ञानेन्द्रियों का वेद्य बनना। यहाँ आन्तरिक वर्तमानता है कारण (ता) और उभयेन्द्रियवेद्यता है कार्य (ता)। जैसा कि हम संकेतन कर चुके हैं कार्यकारणभाव के प्रति शैव दार्शनिक एक नितान्त नयी दृष्टि अपनाता है जो अपनी संरचना में सत्तामूलक न होकर ज्ञानमूलक है। देखा जाए तो हर प्रमाता का एक संविन्मय आंतरिक संसार है। कुम्हार के हृदय में निर्माण के पहले सारे पदार्थ विचार (परामर्श) रूप में चेतना से अभिन्न सामान्याकारतया और चेतना से भिन्न विशेषाकारतया स्फुरित होते हुए भी चेतना से एकाकार रहते हैं। निर्माण के संकल्प के उदय के साथ ही वे इच्छाद्वार से अंतःकरण के विषय बनते हैं। इच्छारूप में यह वर्तन आंतरिक है, उत्तरक्रिया के द्वारा वे विषय (सुख आदि को लेकर) जब अन्तःकरण और (घट आदि को लेकर) अंतःकरण और बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान के विषय बनते हैं तब ये बाह्य हैं। उभयेन्द्रियवेद्यता या अंतःकरणवेद्यता बाह्यता का उपलक्षण है।[4] कुम्हार की चेतना एक उच्चतर चेतना का अंग बनकर ही चेतना कहलाती है अन्यथा देह, प्राण, बुद्धि, इन रूपों में तो कुम्हार भी

1. शैवों की यह मौलिक दृष्टि है। इस दृष्टि के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तांत्रिक और कलाशास्त्रीय निहितार्थ हैं। उनकी चर्चा का यह अवसर नहीं है। यह दृष्टि शैवों की दार्शनिक चिन्तन–पद्धति की शास्त्रान्तरसमन्वयी आत्मसंगति की परिचायक है।
2. अन्तराभासमानस्य तथारूपापरित्यागेनैव बहिराभासनं निर्माणम्। – ई.प्र.वि., 2, पृ. 161
3. बहिस्तस्यैव तत्कार्यं यदन्तर्यदपेक्षया।
   प्रमात्रपेक्षया चोक्ता द्वयी बाह्यान्तरस्थितिः।। – ई.प्र.का. 2.4.6
4. ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 187; ई.प्र.वि., 2, पृ. 156–157

जड़ ही है।[1] वास्तविक कर्त्री तो संवित् है जो अपनी ही विविध शक्तियों के रूप में समग्र विश्व को प्रमाता के हृदय में भासित करती है। अभिनवगुप्त आगाह करते हैं कि सत् और असत् को लेकर जो प्रश्न उठाए गए थे उनके दायरे में इन्द्रियवेद्यता को नहीं लाना चाहिए[2] क्योंकि उभयेन्द्रियवेद्यता ज्ञान की कोटि है, सत्ता की नहीं। उसे अभिनव प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से समझाते हैं। जैसे दर्पण में 'यह घड़ा कुम्हार बना रहा है' इस आभासन में दर्पण की ही महिमा रहती है (कुम्हार की नहीं) या स्वप्न और संकल्प आदि में हमारी मनोमयी संवित् की, वैसे ही अनुभव जगत् में कुम्हारगत घट निर्माण के आभासन में संवित् की ही महिमा रहती है। इतना ही नहीं दण्ड, चक्र, मिट्टी आदि के होने पर कुम्हार के इस अभिमान – 'मैं घड़ा बना रहा हूँ' – में भी संवित् का ही माहात्म्य रहता है। कारण सामग्री का अंग होने पर भी जड़ता के कारण मिट्टी आदि में यह अभिमान भी नहीं पैदा होने पाता। अतः संवित्स्वभावी कुम्हार में ही (गौण/अभिमानित) कर्तृत्व का व्यवस्थापन होता है। इस दृष्टान्त से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि 'कार्य' को प्रतिबिम्ब मान लिया जाए। देखा जाए तो यह स्वच्छता का प्रभाव है कि वह अपने से विलक्षण रूप को दर्शाता हुआ भी उस रूप की उपाधि से अछूता रहता है, प्रतिबिम्ब के स्वयं में सारहीन होने के कारण यहाँ प्रतिबिम्बत्व का कुछ भी योगदान नहीं है। इस बिन्दु पर अभिनवगुप्त एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक, प्रतिबिम्बन और कारणता, दोनों में यद्यपि एक समानता है कि दोनों में अपने से विलक्षण अन्य रूप का भासन होता है तथापि दोनों में मौलिक अंतर इस कारण से है कि जब अपने से भिन्न अन्यरूप के भासन में किसी अन्य के सादृश्य की अपेक्षा रहती है तब उसे प्रतिबिम्ब कहते हैं और जब अपने से अतिरिक्त कोई दूसरा सदृश (समर्पक) नहीं होता तब उसे 'निर्मेय' (निर्माण क्रिया का विषय) अर्थात् कार्य कहते हैं। वह ज़ोर देकर कहते हैं कि कार्य को प्रतिबिम्ब के रूप में (प्रतिबिंबत्वेन) नहीं, अपितु प्रतिबिम्ब की तर्ज (प्रतिबिंबन्यायेन) पर समझना चाहिए।[3]

अंतःकरणवेद्यता या उभयेन्द्रियवेद्यता और कार्यता के उत्पल प्रतिपादित इस समीकरण के एक प्रासंगिक लक्ष्यार्थ की ओर भी अभिनवगुप्त ने ध्यान आकर्षित किया है। कार्यकारणभाव का संबंध व्यवहार जगत् से है। व्यवहार जगत् में कार्य या निर्मेय की सत्ता आभासविशेष, जिसे यहां की शब्दावली में स्वलक्षणाभास कहते हैं, के रूप में होती है। आभास का एक अनिवार्य घटक है उसकी अनुभवविषयता या प्रमेयता। उभयेन्द्रियवेद्यता

---

1. कार्यकारणता लोके सान्तर्विपरिवर्तिनः।
उभयेन्द्रियवेद्यत्वं तस्य कस्यापि शक्तितः।। – *ई.प्र.का. 2.4.4*
2. न च वाच्यम् उभयेन्द्रियवेद्यत्वमपि सदसद्वा इति। *ई.प्र.वि.*, 2, पृ. 157–158
3. तत्तु स्वविलक्षणं रूपं यदन्यत्, तत्सादृश्यमपेक्ष्य आदर्शनीयम्, तदा प्रतिबिम्बव्यवहारः, समर्पकान्तराभावे तु निर्मेयव्यवहारः। अतएव प्रतिबिम्बत्वेनेति न उक्तमपितु प्रतिबिम्बन्यायेनेति। – *ई.प्र.वि.वि.*, 3, पृ. 238

इसी प्रमेयता को समेटती हुई उपलक्षित करती है कि उभयेन्द्रियवेद्यता है विषयता का वह
रूप जिसकी अर्थक्रियासामर्थ्य पूरी तरह से अभिव्यक्त हो गयी है।[1] यह बात देखा जाए
तो क्रिया, संबंध आदि की सत्यता के विनिश्चय में स्थैर्य और उपयोग के जो दो आधार
दिए गए हैं उनमें से दूसरे आधार उपयोग से निकलती है। स्थैर्य रूप आधार की चर्चा
अभिनव दूसरे प्रसंग (योगि–सृष्टि) में करते हैं। शैव दार्शनिकों का मन्तव्य यह जान
पड़ता है कि केवल सम्बन्ध अर्थात् कारणता आदि की अवधारणा ही नहीं; अपितु उनके
व्यावहारिक निःष्यन्द भी उसी प्रकार सत्य हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पलदेव के
मौलिक उपस्थापन में 'उत्पादन' एक प्रकार से उपचरित उत्पादन है क्योंकि यह 'सिद्ध
का (न कि 'साध्य' का), अर्थात् अपनी चेतना में पहले से ही स्थित (वस्तुतः सदा स्थित)
पदार्थ का, ईश्वर के द्वारा आन्तरिक और बाह्य ज्ञानकरणों के ज्ञान का विषय बना दिया
जाना (निर्माण) है– *"सिद्धस्यैव अन्तर्बाह्यान्तःकरणद्वयीवेद्यतापादनम् उत्पादनम्।"*[2]

इस मान्यता का बीज शैवों की इस अवधारणा में छिपा है कि कारण और
कार्य एक अन्विति, एक एकता हैं। एकता स्वरूपगत भी है और आश्रयगत भी। स्वरूपतः
आन्तर संविद्रूप से लेकर इन्द्रियगोचरता रूप बाह्य पर्यन्त जो आभासनरूपा स्थिति है
वही क्रिया है। वेद्यता रूप बाह्यता के कारण वह क्रमवती है और कर्ता और कर्म, (चेतन)
कारण और कार्य रूप आश्रय के साथ अभिन्नाकार होने के कारण एक है। क्रिया
कर्तृनिष्ठ है और कर्मनिष्ठ भी, दोनों ही स्थितियों में वह आंतर और बाह्य दोनों आकारों
को सह लेती है क्योंकि दोनों में परामर्श की एकता अक्षुण्ण रहती है।[3] भिन्न आभासों में
कर्ता का जो अनुसन्धान रूप अनुव्यवसाय है वही परामर्श है[4]। निर्माण क्रिया यद्यपि कर्म
अर्थात् कार्य में विशेषता का आधान करती है, तब भी चूँकि उसका स्वरूप और
व्यक्तित्व कर्ता की संवित् पर ही आश्रित रहता है अतः क्रिया को कर्तृस्थ और कर्मस्थ
समान भाव से कहा जाता है। निहितार्थ है कि चाहे कर्म को क्रिया का आश्रय मानें, चाहे
कर्ता को, निष्क्रम आंतर और सक्रम बाह्य में कोई विरोध नहीं होता। परमार्थ मीमांसा में
इसकी व्याख्या परम तत्त्व की प्रकाशविमर्शमयता की शब्दावली में की जाती है। प्रकाश,
जिसका स्वरूपघटक है स्वच्छता, के कारण आभासनों की आंतरिकता और विमर्श,
जिसका स्वरूप घटक है स्वाच्छन्द्य या स्वातन्त्र्य, के कारण बाह्यता संभव हो पाती है।[5]
संभवतः यही कारण है कि उत्पलदेव आगमाधिकार में शिव तत्त्व, आदितत्त्व, की चर्चा

1. उभयेन्द्रियवेद्यत्वेन स्फुटमर्थक्रियाकार्याभासरूपं लक्षितमिति सूत्रार्थः। – उपर्युक्त, पृ. 187; और भी
देखिए – *ई.प्र.वि.*, 2, पृ. 159
2. ई.प्र.का. 2.4.3–5 पर उत्पल की वृत्ति।
3. एवमेका क्रिया सैषा सक्रमान्तर्बहिः स्थिति।
एकस्यैवोभयाकारसहिष्णोरुपपादिता ।। – *ई.प्र.का.* 2.4.5; *विवृतिविमर्शिनी* 'एकस्य' की व्याख्या करती
है– 'एकस्य' इति कर्तुः कर्मणश्च। – ई.प्र.वि.वि., 3, 189; पृ. 258 भी।
4. परामर्शश्च कर्तुरेव अनुव्यवसाययोगेन भिन्नानामाभासानामनुसन्धानलक्षण इति। – 3, पृ. 190
5. चैक आश्रय संविद्रूपत्वेन स्वच्छत्वस्वतन्त्राभ्यामुभयमप्यन्तर्बहीरूपं सहत इति। – ई.प्र.वि., 2, पृ.160

नामतः न कर प्रमाता की ही आंतरिक और बाह्य क्रिया की अविच्छिन्नता की भाषा में करते हैं।[1]

ईवर की ही एकमात्र कारणता मानने की तार्किक परिणति इस निष्कर्ष में होती है कि ईश्वर के अतिरिक्त किसी जड़ पदार्थ की कर्तृता या कारणता नहीं मानी जा सकती। न्याय आदि[2] वे दार्शनिक विचारधाराएँ जो बुद्धिमान् ईश्वर को निमित्त कारण मानती हैं इस तार्किक निष्कर्ष से मुंह मोड़ लेने के कारण दो प्रकार की कठिनाई से ग्रस्त दिखाई पड़ती हैं। एक ओर तो उनकी निमित्तकारणता क्रिया विभाग आदि के क्रम में परमाणु की कारणता के अधीन रहती है और दूसरी ओर उसके (ईश्वर के) अतिरिक्त मिट्टी, चाक, दण्ड आदि को भी कारण कहना पड़ता है। ये बातें शिवाद्वैती के मूल तर्क के आलोक में टिक नहीं पातीं। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि 'ईश्वर की कारणता एकमात्र कारणता है– वह निमित्त, उपादान, सहकारी सभी का अतिक्रमण या अन्तर्भावन कर कारण के रूप में उभरती है। शैवों की विशिष्ट शब्दावली में ईश्वर ही बीज, भूमि, जल के आभासों के साथ अंकुररूप से भासित होता है – *"ततश्चेश्वर एव बीजभूमिजलाभाससाहित्येन अङ्कुरात्मना भासते इतीयानत्र परमार्थः"*[3]

कार्यकारणभाव के विवेचन में शिवाद्वयवादियों का केन्द्र मूल कारणता पर है। कर्ता से इतर कारणता के जड घटकों की कार्यकारिता आगंतुक (contingent) है बिना निमित्त के वे कार्यकारी नहीं होते। चेतन की प्रेरणा ही वह निमित्त है जो उन्हें गतिशील बनाती है। इसलिए घटनिर्माण आदि जैसे स्थलों में चेतन कुम्हार ही ईश्वर है, क्योंकि वही मिट्टी, दण्ड और चाक के क्रमशः गूंथने, सीधा खड़ा करने और घुमाने जैसे संस्कार करके ही शिविक, स्तूपक आदि के द्वारा क्रमशः घट को उत्पन्न करता है। यही नियम है। ईश्वर के प्रत्यय का अपोद्धरण करते हुए उत्पल उसे व्यवस्था का पर्याय मानते हैं। स्वचालित स्वनियन्त्रित वैश्विक व्यवस्था है ईश्वर, इसलिए कारणता इस व्यवस्था का अङ्ग है। यदि ऐसा न माना जाए तो अचेतन मिट्टी और डंडा कुम्हार की घड़ा बनाने की इच्छा का और धागे जुलाहे की कपड़ा बनाने की इच्छा का आदर न करें,

---

1. इस प्रसंग में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आंतरिकता और बाह्यता कालिक या दैशिक प्रत्यय नहीं है। प्रमातृभाग से पृथक्तया भान बाह्यता है और एकाकार भान आन्तर्य है– *प्रमात्रैकात्म्यमान्तर्यं ततो भेदो हि बाह्यता।* (–ई.प्र.का. 1.8.8)। इसीलिए सुखादि प्रत्यय भी बाह्य हैं और कुम्हार की चिकीर्षा मे अवस्थित घट आन्तरिक। अतः बाह्यता में भी आन्तरत्व अखंडित रहता है यह शिवाद्वैतवादियों का निरपवाद नियम है– *बाह्यतायामपि आन्तरत्वमत्रुटितम् इति नियमग्रहणम्।* – ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 191
2. सिद्धान्त शैव, जैसा देख चुके हैं, भी ईश्वर को निमित्त कारण मानते हैं, पर इस प्रसङ्ग मे अद्वैती दार्शनिक उनका नामतः उल्लेख नहीं करते। इसका कारण संभवतः यह जान पड़ता है कि वे चेतन की प्रेरणा को, न्याय के ईश्वर के निमित्त व्यापार से कहीं अधिक, दूरान्वयी और दूरगामी मानते हैं। इसीलिए वहाँ निमित्त होने पर भी ईश्वर की उपचरित उपादानता और सहकारिता की बात की जाती है। शिवाद्वयवादियों में तत्त्वत्रय की पृथक्ताजन्य इस विवशता को तिरस्कृत कर शैवसिद्धान्तियों की मूल दार्शनिक दिशा का यौक्तिक निष्कर्षण दिखाई देता है।
3. ई.प्र.वि., 2, पृ. 164; और भी द्र. ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 194

यही नहीं यह भी संभावना है कि धागे और मिट्टी कपड़ा क्यों न बनाने लग जाएँ।[1] अतः अपने निर्माण को लेकर कुम्हार भी एक व्यवस्था है और अचेतन कारण घटकों को लेकर वह उच्चतर व्यवस्था का अङ्ग है, इसलिए सारी कारणता ईश्वरीय व्यवस्था के अप्रतिहत प्रवाह का अङ्ग है। इसे ही शैवों की साम्प्रदायिक शब्दावली में नियति– नियमन अर्थात् व्यवस्थापन– शक्ति कहा गया है। कुम्हार के संप्रश्नात्मक संकल्प (मैं घड़ा बनाऊँ या न बनाऊँ, अभी बनाऊँ या रुककर बनाऊँ आदि) से लेकर कर्तृत्वाभिमान (मैंने घड़ा बनाया, मैं घड़ा बना रहा हूँ) तक जड पदार्थों के उपयोग की इच्छा (मिट्टी से चाक, डंडे के साथ घड़ा बनाऊँ) से लेकर उपयोजन व्यापार (बनाया या बना रहा हूँ) तक सब कुछ उसी व्यवस्था से आहरित है।[2] इसलिए ईश्वर का कर्तृत्व सर्वत्र है, केवल परिसीमित क्षेत्र में ही नही अपितु सर्वत्र। चूंकि प्रश्न मूल कारणता का है अतः अभिनवगुप्त अपनी परमार्थमीमांसा के मौलिक समीकरण की याद दिला देते हैं कि यह ईश्वर मैं, स्वात्मा, स्वयं हूँ अर्थात् सर्वत्र स्वात्मा रूप ईश्वर की कारणता है।[3] यह अनुस्मारण अद्वयवाद की मूल प्रतिपत्ति का अनुस्मारण है।

कारणता की अपनी व्याख्या को लेकर अभिनवगुप्त ने एक प्रश्न उठाया है। कार्यकारणता की दो परिभाषाएँ शैवों ने की हैं– एक, यह कर्तृकर्मता है और दूसरे, यह आन्तरिक और बाह्य आभासनगत क्रम के परामर्श की मूलभूत कर्तृता है (*कारणत्वमन्तर्बहिराभासक्रमपरामर्शपरमार्थकर्तृत्वसारम्*)[4]। सारतः दोनों एक हैं, पर विश्लेषणतः दोनों पूरक है। दूसरी परिभाषा में उल्लिखित कर्तृता की *तंत्रालोक* द्वारा प्रस्तावित व्याख्या है 'तथामात्रावभासन'।[5] जयरथ के अनुसार इसका अर्थ है 'विविध प्रकार से प्रमाता और प्रमेय रूप अंशों को अतिरिक्ततया प्रथित करना'।[6] प्रश्न है कि कार्यकारणभाव समेत जब सारे पदार्थ ईश्वर द्वारा अपनी इच्छा से ही अवभासित किए गए हैं तो कुछ ही स्थलों पर कार्यकारणभाव का प्रयोग क्यों किया जाता है। इसके उत्तर

---

1. इस सिद्धान्त की व्याप्ति केवल असत्कार्यवाद या आरंभवाद में ही नहीं होती बल्कि सत्कार्यवाद आदि में भी होती है जो निमित्त न मानकर चेतन की सहकारिता मानते हैं और कार्यविशेष को शक्त कारण विशेष से ही उत्पन्न मानते हैं।
2. तथाहि कुम्भकारोऽसावैश्वर्येव व्यवस्थया।
तत्तन्मृदादिसंस्कारक्रमेण जनयेद् घटम्।।' *ई.प्र.का.* 2.4.9

इस कारिका की वृत्ति में उत्पल का एक सुचिन्तित वक्तव्य है कि घट के द्वारा मिट्टी आदि के संस्कार की अपेक्षा किया जाना घट का अर्थात् वस्तु का स्वभाव नहीं है अपितु ईश्वर की नियति संज्ञक मर्यादा के कारण है – *"कुंभकाररूपे प्रमातरि कारणे स्थितेऽपि मृदादिसंस्कारापेक्षा घटस्येश्वरकृतनियतिसंज्ञमर्यादया न स्वभावेन।–"*
3. तस्मात् वस्तुत 'ईश्वर एक सर्वत्र कर्ता, अहं च स एव' इति न परिमिते कर्ता, अपितु तु सर्वत्र कर्ता इति। –*ई.प्र.वि.*, 2, पृ. 169–170
4. ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 193
5. तं 9.22
6. तं. वि., 4, पृ. 1663

में अभिनवगुप्त साम्प्रदायिक पद्धति से हटकर पारम्परिक दार्शनिक शब्दावली का आश्रय लेकर कारणता की एक नई परिभाषा करते हैं– जो जिससे आकार या रूपविशेष की अन्विितिपूर्वक नियमतः भासित होता है वह उसका कारण है।[1] यहाँ कारणता के दो घटक बताए गए हैं – (1) *'नियमेन आनन्तर्यभान'* अर्थात् दो पदार्थों में नियम से आनन्तर्य का बोध। नियम है विपर्यय या बाधाशून्यता और विशेष रूप से दिखाई पड़ना। (2) 'रूपान्वयाधिक्य' अर्थात् एक से आकार या रूपविशेष का दूसरे में अनुवर्तन या अनुगमन। भित्ति प्रत्यय होने के नाते अभिनवगुप्त नियम की नयी परिभाषा गढ़ते हैं जिनमें इन दोनों घटकों का समन्वय है। नियम है उस प्रकार के रूप का आभासन मात्र होना *(नियमश्च तथारूपभासनामात्रसारकः)*।[2] रूपान्वय से उपकृत पौर्वापर्य रूप नियम की अवधारणा से कई सिद्धियों के द्वार खुल जाते हैं। कृत्तिका और रोहिणी में, दिन और रात में, नियत पौर्वापर्य तो है पर किसी धर्म या रूपविशेष की अनुयायिता नहीं है अतः इनमें कार्यकारणभाव नहीं है। रूपान्वय द्वारा किये जाने वाले उपकार को उपादान कारण के अर्थ में लेने में शिवाद्वैती को संकोच है क्योंकि योगिसृष्टि जैसी, उपादानशून्य कारणता (जहाँ अङ्कुर बीज से नहीं अपितु योगी की इच्छा से उत्पन्न होता है) या स्वप्नसृष्टि जैसी, साङ्कल्पिक कारणता (जहाँ मानस कल्पना या संस्कार से अंकुर उत्पन्न होता है) में भी कारणता का यह लक्षण लागू होता है। पहली सृष्टि भ्रम नहीं है क्योंकि योगीच्छा से उत्पन्न अङ्कुर भी अर्थक्रिया का निष्पादन करता है। दूसरी सृष्टि में रूपान्वय होने पर भी पौर्वापर्यनियम की व्याप्ति स्वप्नावधिसापेक्ष है या अवस्थान्तरोदयपर्यन्त है, अतः अभिनवगुप्त अपने लक्षण का परिष्कार करते हैं कि बिना बाधा के जिस सीमा तक जिस रूप से अन्विति होती है उस सीमा तक उसी रूप से कार्यकारणभाव की दृढ़ प्रसक्ति मानी जाती हैं।[3]

इस प्रकार के विश्लेषण से शिवाद्वैती हमें जिस अपरिहार्य तार्किक निगमन तक लाता है वह है कि रूपान्वयाधिक्य के आधार पर लोक और शैवेतर दर्शनों में मान्य सहकारी और उपादान जैसे कारण भेद उपपन्न नहीं हो पाते और अतिव्याप्त होने के कारण मात्र अन्वयव्यतिरेकानुविधान को कारणता का निर्धारक तत्त्व नहीं माना जा सकता। प्रश्न है कि इस स्थिति में कारण किसे कहा जाए। शिवाद्वैती की दृष्टि में घट की उत्पत्ति में मिट्टी (उपादान), दण्ड, चाक (सहकारी) आदि कारण नहीं है अपितु कारण–सामग्री (जिसमें कुम्हार की इच्छा, व्यापार से लेकर मिट्टी, दण्ड, चाक आदि तक सम्मिलित हैं) है। देखा जाए तो यहाँ कुम्हार की इच्छा भी एक प्रकार से सहकारी कारण ठहरती है क्योंकि मूलकारण संवित् की इच्छा है। यह सही है कि दण्ड और चाक

---

1. अतो यन्नियमेनैव यस्माद्भात्यनन्तरम्।
   तत्तस्य कारण ब्रूमः सतिरूपान्वयेऽधिके।। – त 924
2. उपर्युक्त 9.25
3. ततो यावति याद्रूप्यान्नियमो बाधवर्जितः।
   भाति तावति ताद्रूप्याददृढहेतुफलात्मता।। – त. 9.28

को संवित् के साथ एक तुला पर नहीं रखा जा सकता क्योंकि कुम्हार में कर्तृताभिमान है
जब कि अचेतन चाक आदि में वह नहीं है, फिर भी इससे स्थिति में कोई निश्चायक
अंतर नहीं पड़ता क्योंकि दण्ड और चाक आदि भी ईश्वर की नियति शक्ति से
परिचालित होकर कारण–व्यवस्था या कारण–समष्टि के अङ्ग बनते हैं। कारणतत्त्वों
की समग्रता का नाम है सामग्री और उसका निर्धारक तत्त्व है उनका एक प्रमाता में
विश्रान्त होना। यह बात शैवों को बौद्धों से इस अर्थ में अलग करती है कि बौद्ध
रूपश्लेष या रूपसन्निकर्ष को न मानकर देश–, काल–सन्निकर्ष को स्वीकार करते हैं
जो एक ओर परस्पर व्यावर्तक नहीं हैं, अतिव्यापी हैं और दूसरी ओर प्रमातृनिरपेक्ष होने
के कारण कार्य का संबंध भ्रान्ति सिद्ध होता है। अतः एक ही प्रमाता के संदर्भ–क्षेत्र में
रूपान्वय, कारण सामग्री का निर्धारक हो पाता है। अंतिम विश्लेषण में यह शिव ही है जो
समस्त हेतुओं के संयोजन और वियोजन के लिए उत्तरदायी है।

रूपान्वयाधिक्य की अवधारणा का दूरगामी फलितार्थ शिवाद्वैती के इस
विश्वास में देखा जा सकता है कि एक कार्य के अनेक कारण हो सकते हैं।[1] दूसरे शब्दों
में शिवाद्वैती एककारणसामग्रीवादी होकर भी कारणबहुत्ववादी कहे जा सकते हैं। एक
बिच्छू का जन्म गोबर से हो सकता है और बिच्छू, इच्छा, स्वप्न, योगीच्छा, द्रव्य और
मन्त्र इत्यादि इनमें भी किसी एक से। 'लेकिन जहाँ तक रूपान्वय के कारण सभी प्रकार
के बिच्छुओं को बिच्छू कहा जाता है उनके जन्म के कारणों में अंतर हो सकता है।
शिवाद्वैती के यहाँ कार्य या विषय की एकता समान पद के प्रयोग (शब्दसाधारण्य) से
निर्धारित नहीं होती,[2] अपितु भिन्न–भिन्न प्रमाताओं के एक जैसे परामर्श (परामशैंक्य)
से निर्धारित होती है।[3] अतः सिद्धान्त रूप से यह निष्कर्षण असंगत न होगा कि हेतु–अंश
में यह शिवैक्य या संविदैक्य है और कार्यांश में यह परामशैंक्य है जो 'यह बिच्छू है' इस
प्रकार के प्रत्यय की अनुगामिता के लिए उत्तरदायी है। कारण–बहुत्व से कार्य के एकत्व
के निगमन का बीज काश्मीर शिवाद्वयवाद में एक प्रत्यवमर्श पर आश्रित आभास के
एकत्व की अवधारणा है।[4]

कारण–बहुत्व और कार्यैक्य के साधारण से दिखाई पड़ने वाले समन्वित
पारस्पर्य से शैवाद्वैती कई प्रयोजनों को साधता है। एक ओर यह प्रत्यय सृष्टि प्रक्रिया में

---

1. सामग्री च समग्राणां यद्येकं नेष्यते वपुः।।
हेतुभेदान्न भेदः स्यात् फले तच्चासमञ्जसम्।–तं. 9.30–31
2. न चान्त्यभेदे वस्तुनोः शब्दसाधारण्यमात्रेणैवैकत्वं न्याय्यम्...।– तं.वि., 4, पृ. 1676
3. अन्य एव स चेत् कामं कुतश्चित्स्वविशेषतः।।
स तु सर्वत्र तुल्यस्तत्परामशैंक्यमस्ति तु।– तं. 9.43–44
इस बात को दुहराना उचित होगा कि परामर्श की एकता दार्शनिकों का अत्यन्त प्रभावी यौत्तिक
अस्त्र है। चिकीर्षा, कर्तृता, क्रिया और हेतुता के अभदीकरण में इसी परामर्श की एकता का सहारा लिया
गया है।
4. अतश्चैकस्यापि कार्यस्यानेककारणत्वे न कश्चिद्दोषः, आभासमात्रपरमार्थों हि कार्यकारणभाव इति
परिस्थापितम्।– तं.वि., 4, पृ. 1678

अनुस्यूत क्रियाशक्ति की भेदाभेदनात्मक प्रक्रिया का सामनन्तर्य प्रस्तुत करता है, दूसरी और कार्य पक्ष में आभासवाद और कारण पक्ष में स्वातन्त्र्यवाद का विनियोग करता है और तीसरी ओर, जो सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है, योगिसृष्टि के प्रवेश की पृष्ठभूमि तैयार करता है। भारतीय दर्शन में सामान्यतः[1], किन्तु काश्मीरी शैव मत में विशेषतः, योगी को परम सत्ता के, लोक में उपलब्ध, प्रतिदर्श के रूप में देखा गया है। निरुपादाना या शब्दान्तर से इच्छामयी सृष्टि के दृष्टान्त के रूप में योगिसृष्टि और चिन्मयी सत्ता के मूर्त विग्रह के रूप में योगी की भावना की गयी है।[2] यही नहीं ऐश्वरी सृष्टि, योगि–सृष्टि और कारणकार्यभाव में प्रक्रियागत (अन्तःस्थ का बहिराभासन रूप या कर्तृकर्मरूप) विलक्षण साम्य भी है। योगी अपने अप्रतिहत संकल्प से मिट्टी और बीज के बिना ही घट, अंकुर आदि को उत्पन्न करने में समर्थ है।[3] उत्पल के अनुसार योगीच्छाजन्य ये घट और अङ्कुर स्थिर भाव पदार्थ हैं और अपनी अपनी विशिष्ट अर्थक्रिया के संपादन में समर्थ हैं।[4] अभिनवगुप्त स्थिर को केवल कार्य से न जोड़कर अर्थक्रिया से भी जोड़ते हैं। उनके अनुसार एक अर्थक्रिया दूसरी अर्थक्रिया को जन्म देती है और इस प्रकार योगी अपनी इच्छा से अर्थक्रिया–श्रृंखला को संभव बनाता है।[5] इसका निहितार्थ है कि योगी की इच्छा में ऐश्वरी सृष्टि की अर्थक्रिया के तुल्य योगक्षेम वाली सृष्टि की पूरी सामर्थ्य है। यह जानना और भी रोचक होगा कि पुनर्निर्माण (और लक्षणया अनिर्माण और अन्यथानिर्माण) रूप स्वातन्त्र्य के लोकप्रसिद्ध – कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम्– आवर्ती सांचे (paradigm) को अभिनव अपनी मान्यता के अनुगुण 'नियति[6] के अनुवर्तन और उल्लङ्घन' के नए सांचे में ढालते हैं।[7] इससे स्वातन्त्र्य की

1. भारतीय दर्शन के अवान्तर सम्प्रदायों में योगी और उसकी सृष्टि को लेकर विविध मान्यताएँ मिलती हैं। कहीं तो वह सूक्ष्य द्रष्टा है, कहीं सर्वज्ञ है, कहीं व्यापार का प्रेरक है और कहीं सर्वकर्ता है। उसकी सृष्टि भी अपने स्वरूप के अनुसार अनेक प्रकार की है।
2. चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः।
   योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।। – *ई.प्र.का.* 1.5.7
3. योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन तत्।
   घटादि जायते तत्तत्स्थिरस्वार्थक्रियाकरम्।। – *ई.प्र.का.* 2.4.10
4. मृदाद्यनपेक्ष्य योगिनामिच्छामात्रेण घटादेः स्थिरस्य घटाद्यर्थक्रियाकारिणश्च निर्वृत्तिः। – *उपर्युक्त पर वृत्ति*
5. स्थिरं च अर्थक्रियाकरं चेति योजना वृत्तिकृता कृता। तां तां विविधाकारा स्थिरामर्थक्रियान्तरानुबन्धिनी स्वामर्थक्रियां हेतुतच्छीलानुलोमत्वायोगेन करोतीति समासेऽपि न कश्चिद्दोषः। – *ई.प्र.वि.वि.*, 3, पृ. 194–195
6. शैवों ने नियतिशक्ति और नियति तत्त्व में अंतर किया है। नियति तत्त्व मायाप्रमाता के किंचित् स्वातन्त्र्य का उपोद्बलक कंचुक है जो वस्तु विशेष में उसके अभिष्वङ्ग का निर्धारण करता है और तत्त्व होने के कारण वेद्य तथा आभाससामान्य रूप है। नियतिशक्ति परमशिव का स्वातन्त्र्य या शक्ति है जो वैश्विक व्यवस्था की सूत्रधार है। इन पंक्तियों में नियति का जहाँ भी प्रयोग हुआ है वह इसी नियमन–स्वातंत्र्य या मर्यादन–शक्ति के रूप में हुआ है।
7. भगवान् भूरिभर्गो महादेवो नियत्यनुवर्तनोल्लंघनघनतरस्वातन्त्र्य इत्यत्र पक्षे नियत्यनुवर्तिन लौकिके प्रसिद्धे कार्यकारणभावे स्वातन्त्र्य, तदुल्लंघनमाद्रियमाणस्य तु योगिप्रायप्रसिद्धे लोकोत्तरे- इति न कश्चित् विरोधः। इयाश्च लोक एव। – *ई.प्र.वि.*, 2, पृ. 173

दो विधाएँ आकार ग्रहण करती हैं – नियत्यनुवर्ती स्वातन्त्र्य और नियत्युल्लङ्घी स्वातन्त्र्य। लौकिक अर्थात् आनुभविक जगत् का कार्यकारणभाव प्रथम प्रकार के स्वातन्त्र्य की भूमि है और लोकोत्तर अर्थात् योगी या परमेश्वर का जो कार्यकारणभाव है वह दूसरे प्रकार की भूमि है और दोनों में कोई विरोध नहीं है। बल्कि इससे स्वातन्त्र्य का घनतरीकरण होता है। सच बात यह है कि यह विभाजन भी लौकिक दृष्टि से किए गए विश्लेषण का परिणाम है।[1]

शैवों के लिए कारण–बहुत्व के द्वार से योगिसृष्टि का अंतः प्रवेश कारणता–विचार की आधारभूत पद्धति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सुचिन्तित पहलू है। पर इस विचार में जो कठिनाई आती है उस पर हम पहले नज़र डाल लें। कारणकार्य को जहाँ हम व्यवस्था का प्रतीक कहते हैं वहीं योगिसृष्टि उस नियमन की जड़ पर ही चोट करती है। यदि प्रसिद्ध कारण को छोड़कर दूसरे कारण/कारणों से तज्जन्य कार्य के समान कुलशील वाले कार्य उत्पन्न हो सकते हैं तो अनुमान के द्वारा किसी भी निर्णय पर निश्चयपूर्वक पहुंचने का हमारा आधार ही समाप्त हो जाएगा। शैवों ने यहाँ बौद्धों की आपत्ति के निस्तारण पूर्वक अपने मत का पोषण किया है। बौद्धों के यहाँ दो वस्तुओं के मध्य दो मूलभूत नियम माने गए हैं– तादात्म्य और तदुत्पत्ति। क्रमशः इन्हें स्वभाव– और जनक–कारणता कहा जा सकता है। शीशम होने के कारण ही शीशम का पेड़, पेड़ कहलाता है और धुएं को जन्म दे सकने के कारण अग्नि, अग्नि। अनुमान का प्राण व्याप्ति, हेतु और साध्य का अव्यभिचरित अविनाभूत संबंध, इन्हीं पर आश्रित है। परन्तु नियत्युल्लंघी कार्यकारणभाव में योगीच्छा से शीशम अपने वृक्षस्वभाव से वंचित हो जाएगी और अग्नि या तो धूम को पैदा नहीं करेगी या अग्नि के बिना ही धूम उत्पन्न होने लगेगा। ऐसी स्थिति में अनुमानात्मक नियमनरूप मर्यादा खंडित हो जाएगी। अभिनवगुप्त की दृष्टि में यह भय निराधार है। वह इसमें, अव्यवस्था का कोई कारण नहीं पाते।

उत्पल और अभिनवगुप्त प्रतिपक्षी, विशेषतः बौद्ध नैयायिकों, की आपत्ति का अपने पक्ष में अनुकूलन करते हुए धर्मकीर्ति की भांति कार्य (धूमादि) या स्वभाव (शिंशपात्व आदि) को हेतु न मानकर हेत्वाभास मानते हैं कि यदि इस निश्चय का अभाव हो कि यह योगी का निर्माण या सृष्टि है। इसका निहितार्थ यह है कि नियत्यनुजीवी सृष्टि में ही कार्य या स्वभाव हेतु हो सकता है, इसके लिए आवश्यक पूर्वदशा है यह निश्चित कर लेना कि यह नियत्युल्लंघी सृष्टि का कार्य या स्वभाव नहीं है। ऐसी स्थिति में अनुमान की कहानी बिखरेगी नहीं।

---

1 अभिनवगुप्त में सन्दर्भ के औचित्य की चेतना बड़ी प्रखर है। उनके अनुसार कारणता विचार पारमार्थिक चिन्तन दृष्टि के लिए अप्राकरणिक है। पारमार्थिक दृष्टि से यह परम शिव की अनवरत घटित होने वाली, आगमिक शब्दावली में, पंचकृत्यकारिता है या आत्मदर्पण में पदार्थों का आत्मकृत प्रतिबिम्बवद् आभासन है। इस प्रसंग में काश्मीरी शैवों में नारायणकण्ठ का यह श्लोक बहुत प्रिय रहा है–

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।। – *स्तवचिन्तामणि श्लोक 9*

बौद्धों की आपत्ति और सदाशयता की परीक्षा करते हुए शैव दार्शनिक इस तर्क का विस्तार करते हैं। इनके अनुसार स्वभाव हेतु को दो वर्गों में बांटा जा सकता है[1] (1) एक वह जिसमें कार्यकारणभाव अंदर छिपा हुआ है और (2) दूसरा जिसमें ऐसा नहीं है। *'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'* पहले का उदाहरण है और *'अनित्योऽयं कृतकत्वात्'* दूसरे का। पहले की जड़ में कार्यकारणभाव है। यहाँ एक स्वभाव दूसरे स्वभाव में नियत होकर उत्पन्न होता है। अतः 'वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्' ही नहीं "बह्निमानयं पर्वतो धूमवत्त्वात्" भी इसी के अंतर्गत आ जाता है। नियत्युपजीवी सृष्टि में यह हेतु है, शर्त यह है कि यह योगिजन्य न हो तो। स्वभाव हेतु का दूसरा भेद, जहाँ कार्य–कारणभाव का स्पर्श नहीं है, युक्तितः अकिंचित्कर और निष्कर्षतः असिद्ध है क्योंकि हेतु और साध्य के मध्य यदि कार्यकारणभाव का अभाव है तो दोनों में अभेद होगा। फलतः हेतु की सिद्धि से ही साध्य की सिद्धि हो जाएगी, अत यहाँ अनुमान अप्रसक्त और अर्थहीन होगा। यदि दोनों को भिन्न माना जाए तो कार्यकारणभाव को लाना पड़ेगा।[2] बौद्ध यहाँ अपने प्रसिद्ध तर्क का आश्रय ले सकते हैं कि स्वभावहेतु से मात्र व्यवहार की सिद्धि होती है[3], वस्तु की नहीं, प्रश्न है कि व्यवहार क्या है। शैव दार्शनिक की दृष्टि में व्यवहार भी ज्ञान और अभिधानरूप कार्य ही है।[4] अभिनवगुप्त वस्तुसाधन, वस्तुव्यवहारसाधन और शब्दव्यवहारसाधन में अंतर करते हैं। व्यवहार यहाँ शब्दव्यवहाररूप मात्र है। ऐसी स्थिति में 'तरुरयं वृक्षत्वात्' आदि में स्वभावहेतु शब्दव्यवहाररूप कार्य का साधन है। शब्दव्यवहार की सांकेतिकता की नियतता के कारण[5] यहाँ भी नियतिशक्ति को अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना बौद्ध नैयायिक की विवशता है अन्यथा व्यवहारसाङ्कर्य को बचाना संभव नहीं होगा अर्थात् व्यवहार का क्षेत्र भी नियत्युपजीवी ही होकर सध पाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध दार्शनिकों के यहाँ स्वभावहेतु पर आश्रित अनुमान (हेतु और साध्य में आभास अर्थात् स्वरूप भेद के न होने के कारण) वास्तविक और नवीन ज्ञान नहीं दे पाता अतः हेतु हेत्वाभास और साध्य साध्याभास बनकर रह जाता है।[6] शैवों की स्थिति इससे विपरीत है। इस प्रसंग में वस्तु–संघटना की

---

1. इह द्विविधे हि स्वभावहेतुरन्तर्लीनकार्यकारणभावस्तद्विपरीतश्च। – *ई.प्र.वि.*, 2 पृ. 179
2. स्वभावोऽपि स्वभावान्तरनियतो यो जातस्तत्र उत्पत्तिरेव कार्यकारणभावात्मा मूलम्। – *ई.प्र.वि.वि.*,3, पृ. 1.197
3. तुलना कीजिए – 'तदयमर्थः वृक्षव्यवहारोऽयम् शिंशपाव्यवहारयोग्यत्वात्। – न्या.वि.टी., 2, पृ. 106
4. व्यवहारश्च ज्ञानाभिधानात्मा कार्य एव, तत्र च नियतिशक्तिरङ्गीकृता भवतापि। – *ई.प्र.वि.* 2, पृ 180
5. न इदं वस्तुनो, नापि वस्तुव्यवहारस्य साधनमपितु शब्दव्यवहारस्य; तदर्थं मात्रपद, शब्दव्यवहारश्च नियत्यपेक्ष इति किमत्र चित्रं साङ्केतिकत्वेन अस्य प्रसिद्धेः। – *ई.प्र.वि.वि.* 3 पृ. 213
6. तस्मात् सर्वेषु स्वभावहेतुषु आभासभेदं बिना व्यवहारमात्रसाधनमेव, हेत्वाभासमयत्वादेव अनधिको हि तत्र साध्याभासः, व्यावृत्तीनामेषैव वार्ता, सामान्यानामियमेव सरणि। – *ई.प्र.वि.*, 2, पृ. 180

आधारभूत प्रक्रिया को लेकर शैवों और बौद्धों में आकाश–पाताल का अंतर है। शैव भी स्वभावहेतु को स्वीकार करते हैं और इसके समर्थन में आभासनिकुरुम्बात्मकस्वलक्षणवाद का आश्रय लेते हैं और बौद्धों के मत को निरंशस्वलक्षणवाद का नाम देकर अपनी प्रक्रियागत विलक्षणता स्थापित करते हैं और इस बात की स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं कि आभासनिकुरुम्बात्मकस्वलक्षणवाद के मूल में नियत्युपजीवी कार्यकारणभाव है।[1] शैवों के यहाँ स्वभावहेतु के अङ्गीकरण का आधार है उसकी वस्तुसाधनता और अपूर्व ज्ञान को उत्पन्न कर सकने की क्षमता। यहाँ वृक्षत्व और शिंशपात्व दो भिन्न स्वतंत्र आभास हैं जो ईश्वर की नियतिशक्ति द्वारा अपने अपने में सामान्याधिकरण्य संबंध में नियत किए गए हैं। इस प्रकार स्वभावहेतु निश्चित रूप से वास्तविक और नवीन ज्ञान को जन्म देते हैं, यदि यह सिद्ध हो जाए कि यह स्वभावहेतु योगिसृष्टि से संबद्ध नहीं है। योगी सृष्टि का विनिश्चय कैसे होता है इसकी चर्चा शैव दार्शनिकों ने सविस्तर की है, पर उन सबका आकलन हमारे लिए सांप्रतिक नहीं है। हमारे प्रयत्न की कृतकार्यता शैवों के कारणता संबंधी चिन्तन की मौलिकता और उसके व्यापक फलक को उजागर करने तक सीमित है।

हमने ऊपर संकेत किया था कि शैवाद्वैती कार्यकारण भाव का कर्तृकर्मभाव और योगिसृष्टि का नियत्युल्लंघी कारणता के रूप में निष्कर्षण कर अपने सुचिन्तित निहितार्थों को व्यापक दार्शनिक आधार दे देते हैं। काव्य की अवधारणा में इन दोनों प्रत्ययों का समन्वय हुआ है। इस कृति के रूप में काव्य का भावन कवि के निर्माण या निर्मिति के रूप में हुआ है, पर यह निर्मिति नियति के नियमों को लांघकर होती है। मम्मट अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ *काव्यप्रकाश* का मंगलाचरण हीं इस प्रस्तावना के साथ करते हैं–

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।

अपनी वृत्ति में मम्मट यह स्पष्ट कर देते हैं कि कविसृष्टि के लोकसृष्टि से वैलक्षण्य का आपादक तत्त्व कवि–भारती द्वारा लौकिक कारणता का अतिक्रमण है।[2] यही नहीं, काव्य और नाट्य को कर्तृकर्म के उपमान पर कविकर्म और नटकर्म की आख्या दी गयी है। चित्रकर्म में कर्ता के स्वरूप का उन्मीलन तो नहीं होता पर उसकी कृति या कर्मरूपता को लेकर संशय नहीं रहता। ऐसा नहीं है कि काव्यशास्त्र में काव्य को कविकर्म मानने की परम्परा स्वतन्त्र रूप से नहीं मिलती। स्वयं अभिनवगुप्त के गुरु भट्ट तौत का

1. तत्र च नियत्युपजीवी कार्यकारणभाव एव मूलमिति आभासनिकुरुम्बात्मकस्वलक्षणवादेन स्वमतेन स्वभावहेतुः समर्थितः। अधुना निरंशस्वलक्षणवादेऽपि अङ्गीकृते स्वभावहेतौ कार्यकारणभाव उपजीवितव्य इति। – *ई.प्र.वि.वि.*, 3, पृ. 201
2. एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः। – *का.प्र.वृत्ति*, झलकीकर, पृ. 6

प्रसिद्ध वाक्य है *'तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्'।* परन्तु इसको एक यौक्तिक दार्शनिक पीठिका देना शिवाद्वयवादियों का ही काम था। कविकर्म कहने का अभिप्राय है कि कवि की चेतना यथाप्रदत्त विषयजगत् को प्रतिबिंबित नहीं करती अपितु अपनी स्वतंत्र शक्ति से, यदि गोविंदचन्द्र पांडे के शब्दों में कहा जाए, "प्रतिभासलब्ध सामग्री को अर्थरूप में रचती है।" प्रतिभासलब्ध सामग्री ही अंतःस्थ कलावस्तु है जिसका बाह्य भासन ही सर्जन है। अर्थ की रचना प्रतिबिम्बन नहीं है, बाह्य आभासन है जिसे कला संदर्भों में हम अभिव्यञ्जन कहते हैं। अभिनव की उस मूल प्रतिपत्ति का यह अन्वर्थ अनुवाद है जब वह कहते हैं अर्थ की रचना प्रतिबिंब नहीं है, प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से उसको केवल समझा जा सकता है। स्वयं वाक् जिसके माध्यम से कवि कर्म सधता है और काव्य की निष्पत्ति होती है वस्तुतः अर्थ–निर्माण की शक्ति है। *'वक्ति विश्वमभिलपति इति च वाक्'* इस निरुक्ति के द्वारा शैव दार्शनिक वाक् को समग्र अर्थ–सृष्टि की निर्मात्री बना देता है और 'शब्दार्थक्रिया' की शब्दावली में अर्थ को शब्द की सर्जना के रूप में प्रस्तुत कर मम्मट द्वारा संकेतित कलासृष्टि की स्वायत्तता को प्रतिष्ठित करता है। रोचक बात यह है कि यद्यपि अभिनव अपनी कलाशास्त्रीय मान्यताओं में योगी की सिद्धिगत या महायोगी की परब्रह्मविषयक आध्यात्मिक अनुभूति को रसानुभूति से विलक्षण मानते हैं पर नियत्युल्लंघी स्वातन्त्र्य को आधार बनाकर रस की निष्पत्तिगत और अनुभूतिगत दोनों प्रक्रियाओं की कारणतोत्तीर्ण लोकोत्तरता पर सुदीर्घ चर्चा करते हैं। रस की निष्पत्ति में कारणवाची शब्दावली का शब्दशः तिरस्कार और उसके स्थान पर कारणवैलक्षण्याधायी विभावादि की शब्दावली का अङ्गीकरण इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।[1] इसी प्रकार ध्वनि की शब्दशक्ति या वृत्ति के रूप में परिकल्पना काव्यार्थ या नाट्यार्थ की अभिव्यक्ति और संप्रेषण में इस नियत्युल्लंघी स्वातन्त्र्य की वाङ्मयी विधा है। वाच्यवाचकभाव जहाँ शब्द और अर्थ के मध्य संकेत रूप नियत शब्दयोजना पर पलता है, जो वस्तुतः लोकव्यवहार रूप व्यवस्था या नियमन रूप नियतिशक्ति का उपजीव्य है, ध्वनि नियत अर्थ के उत्तरण और अतिरेचन की शक्ति है और इसलिए इसमें निरन्तर नवोन्मेष और अनन्त प्रकारता की संभावनाएँ छिपी रहती हैं। ध्वनि की इस अवधारणा में कारणता की नियत्युल्लंघी विधा का अनुप्रवेश तो है ही, शैव कारणता का प्रत्यय वाक् की 'चरम अभिलापात्मक कर्तृता'– के रूप में परिभाषा द्वारा भी प्रवेश करता है जिसके अनुसार अर्थ, शब्दराश्यात्मक संवित् का कर्म है, शब्दन व्यापार का गलित फल है। दोनों ही प्रकार से कविभारती की

---

1. देखिए = (1) सा च रसना न प्रमाणव्यापारः न कारकव्यापारः।
(2 अतएव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो.... न ज्ञप्तिहेतवः रसस्य।
(3) कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः
अतएव अलौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भि – ना. शा. 6.31 पर अभिनवभारती

असीम सर्जना–सामर्थ्य और उसकी स्वायत्तता चरितार्थ होते दिखती है।

इस भूमिका का प्रयोजन विदुषी लेखिका के अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमण करना नहीं है। इसका एकमात्र प्रयोजन सह–चिन्तन का है। कतिपय बिन्दु जिन पर लगा कि स्पष्टीकरण के तौर पर या फिर भङ्गिमा भेद से कुछ कहा जा सकता है उनकी चर्चा एक पूरक प्रयत्न के रूप में की गयी है। जैसा कि मैंने प्रारम्भ में कहा था लेखिका ने एक महत्त्वपूर्ण और अछूते क्षेत्र में भारतीय दर्शन के व्यापकतर संदर्भ में काश्मीर शैवदर्शन की आधारभूत समस्या का दार्शनिक विश्लेषण गंभीरतापूर्वक किया है। मुझे विश्वास है विद्वानों के अध्ययन से मेरी यह आशंसा प्रमाणित होगी।

नवजीवन रस्तोगी

प्राक्कथन

मनुष्य को आदिकाल से ही यह प्रश्न परेशान करता रहा है कि क्या उसके चारों ओर का यह जगत् ही एकमात्र सत्य है और वह इसकी एक घटनामात्र है अथवा इसके रूपायन में उसका भी कुछ योगदान है। क्या उसकी इच्छा जागतिक घटनाओं के अन्यथाभाव में समर्थ है अथवा उसका जीवन मात्र परिस्थितियों का परिणाम है। ये ही प्रश्न जन्म देते है कारणतासिद्धान्त या नियमनवाद और इच्छा स्वातन्त्र्य की धारणा को और ऐसा प्रतीत होता है कि पूरा भौतिक व मानसिक जगत् इन्हीं दो धुरियों पर घूम रहा है। अब इनमें समन्वय-स्थापन की समस्या सम्मुख आती है क्योंकि उसी में जगत् की व्याख्या का मूल रहस्य निहित है।

इच्छा स्वातन्त्र्य और नियमनवाद दो ऐसी धारणायें प्रतीत होती है जिनसे यह सारा भौतिक व मानसिक जगत् नियमित है। ये ही प्रत्यय सारी व्यवस्था का मूल भी है व आकस्मिकताओं का स्रोत भी। व्यक्ति व जगत् के मध्य की समस्त क्रिया-प्रतिक्रिया की व्याख्या भी इन्हीं दो प्रत्ययों में अनुस्यूत है। पर इनके पारस्परिक सन्दर्भ का यौक्तिक निरूपण अत्यन्त जटिल कार्य है। प्रायः भौतिक विज्ञान इस विषय में निरन्तर सचेष्ट रहे हैं कि इनके मध्य किसी सेतु की स्थापना कर सकें परन्तु कारण के अनुसंधान को समर्पित सम्पूर्ण विज्ञान-विधा उस अन्तिम व पूर्ण कारण की स्थापना में अन्ततः अपने को असमर्थ पाती है जो कार्य के सम्पूर्ण स्वरूप की व्याख्या में पूर्णतया समर्थ हो। तब उसे भी उस आकस्मिकता, संयोग अथवा इच्छा स्वातन्त्र्य के प्रत्यय का किसी न किसी रूप में आश्रय लेना पड़ता है। समाजविज्ञानों में जहाँ मानवीय परिप्रेक्ष्य प्रधान है वहीं वैयक्तिक चयन स्वातन्त्र्य की परिकल्पना के सन्दर्भ में इस कारणबद्ध जगत की व्याख्या मुख्य लक्ष्य है। यहाँ वैयक्तिक स्वायत्तता को बनाये रखते हुए एक नियमित सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण मुख्य उद्देश्य है फलतः व्यक्ति व समाज के मध्य क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम से इन दोनों मूलभूत धारणाओं में समन्वय बिठाने का प्रयास किया जाता है। दर्शन जो भौतिक विज्ञानों व समाज विज्ञानों के मध्य की कड़ी है, भी इन दोनों विरोधी धारणाओं को लेकर जगत् व जीवन के सत्य का अनुसंधान करता है। वस्तुतः ये दोनों धारणायें उन दो विचार वर्गों की प्रतिनिधि है जो प्रत्येक जागतिक घटना की व्याख्या दो प्रकार से प्रस्तुत करते है पर इनके मध्य समन्वय स्थापित करके ही इस जगत की पूर्ण

व्याख्या की जा सकती है। इसी कारण विज्ञान हो या दर्शन अथवा समाजविज्ञान सभी ने इन दोनों धारणाओं की चर्चा अपने–अपने ढंग से की है।

पश्चिम में ये दोनों प्रत्यय प्रारम्भ से ही विशेष चर्चा का विषय रहे हैं। किसी भी सिद्धान्त का रूपायन करते समय उसके घटक तत्त्वों में कुछ अंश व्याख्येय व कुछ अव्याख्येय रूप में उपलब्ध होता है जिनकी चर्चा नामान्तर से कारणबद्ध व आकस्मिक रूप से ही की जा सकती है अतः वहाँ इन दोनों धारणाओं को लेकर अनेक दृष्टियों से अनेक ग्रंथ लिखे गये। वहाँ दार्शनिकों ने भी इन समस्याओं के स्वतन्त्र अध्ययन का विशेष प्रयास किया। 'एन इन्क्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीज़न', 'डर फ्रेई विल', 'डिटर्मिनिज़्म, फ्रीविल एण्ड रिसपॉन्सिबिलिटी', डिटर्मिनिज़्म एण्ड फ्रीडम इन द एज़ ऑफ मॉडर्न साइंस' आदि ग्रंथ इस संदर्भ में साक्षात् प्रमाण हैं कि मूल जागतिक प्रश्नों के समाधान हेतु इन प्रत्ययों की स्वतंत्र गवेषणा कितनी आवश्यक है। भारतीय चिन्तक भी इस विषय में निरन्तर जागरूक रहे हैं। ऋग्वेद काल से ही ऋत व काम/ संकल्प के महत्त्व को पहचान कर सृष्टि की व्याख्या में उन्हें यथोचित स्थान दिया गया है। उत्तरवर्ती ग्रंथों में भी इनको कहीं अनदेखा नहीं किया जा सका है। यथास्थान इनका विवेचन वहाँ भी उपलब्ध है। भारतीय दर्शन के प्रायः सभी सम्प्रदाय इस जगत् की व्याख्या करते समय कारणता के किसी न किसी प्ररूप का प्रतिपादन अवश्य करते हैं साथ ही जीवन की व्याख्या करते समय इच्छा स्वातन्त्र्य को सार्वभौमिक स्वीकृति देते है क्योंकि व्यक्ति के क्रम विकास की संभावना का मूल आधार यही इच्छा स्वातन्त्र्य की धारणा है। पर मूल समस्या आती है इन दोनों स्थितियों के मध्य सम्बन्ध स्थापन की। इस प्रश्न पर सारे दार्शनिक सम्प्रदाय एक मत नहीं है। अतः उनकी मूल दृष्टि का अनुसंधान कर इन मूल प्रश्नों के सन्दर्भ में उपलब्ध उनकी विविध मान्यताओं का विश्लेषण प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

इन समस्याओं की दृष्टि से भारतीय दर्शनविधा का अनुसंधान अभी भी अपनी शैशवावस्था में है। अभी तक किये गये अध्ययनों का सर्वेक्षण करने पर हम पाते है कि प्रायः जो अध्ययन किये गये हैं वे इस समस्या के किसी एक पक्ष विशेष को ही आधार बना कर चलते हैं, सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में इनकी प्रस्तुति का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए बी0के0 भट्टाचार्य ने 'कॉजैलिटी इन साइंस एण्ड फिलॉसफी' में अपनी दृष्टि केवल कारणता पर केन्द्रित की है, कालिदास भट्टाचार्य ने भी 'अवर हेरिटेज' में तीन खण्डों में प्रकाशित अपने बृहद् शोधलेख में कारणता की धारणा का ही भारतीय व पाश्चात्य दोनों दर्शनों के सन्दर्भ में गहन विश्लेषण करन का प्रयास किया है। इसी प्रकार दर्शन विशेष को आधार बनाकर भी कारणता की समस्या के विश्लेषण का प्रयास किया गया है जैसे डेविड जे0 कलुपहन ने अपने ग्रंथ 'कॉजेशनः सेन्ट्रल फिलॉसफी आफ बुद्धिज्म' में बौद्ध मत में कारणता सिद्धान्त का अध्ययन प्रस्तुत किया है या शान्ति चतुर्वेदी ने न्याय दर्शन के अन्तर्गत कारणता सिद्धान्त

की विशेष चर्चा की है। यों तो भारतीय दर्शन के विविध इतिहास ग्रंथों में भी विविध सम्प्रदायों में चर्चित कारणता सिद्धान्त को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है पर पाश्चात्य जगत् में उपलब्ध विशिष्ट विश्लेषण जैसा अध्ययन अभी तक गिने चुने भारतीय विद्वानों ने ही किया है। कारणता के द्वितीय पक्ष कर्म सिद्धान्त को लेकर भी कुछ कार्य किया गया है जैसे जे. एम. कुमारप्पा का "कर्म एज़ ए थ्योरी ऑफ कॉज़ेशन" नामक लेख, डॉ. मैसूर हिरियन्ना कृत लेख, डॉ. राधाकृष्णन कृत "कर्म एण्ड फ्रीविल" नामक लेख, डॉ. हेलमुथ वान ग्लासनेथकृत "दि डाक्ट्रिन ऑफ कर्म इन जैन फिलासफी" लेख , कौशल्यावल्ली कृत लेख "थ्योरी ऑफ कर्मन इन इन्डियन फिलासफी" आदि। कुछ विद्वानों ने इच्छा स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में भी इस समस्या को समझने की चेष्टा की है जैसे डॉ. राधाकृष्णन और मैसूर हिरियन्ना ने। कुछ विद्वानों ने स्वतन्त्र रूप से भी इच्छा स्वातंत्र्य की समस्या के अध्ययन का प्रयास किया जैसे श्रमणेर जीवक ने अपने लेख "ए बुद्धिस्ट एप्रोच टु फ्रीविल" में बौद्ध मत के सन्दर्भ में इस समस्या के विवेचन का प्रयास किया। श्री राजेन्द्र प्रसाद ने अपने लेख "स्वतन्त्रता का स्वरूप" में स्वतन्त्रता की धारणा के सामान्य सन्दर्भ को रेखाकिंत करने का प्रयास किया। एस. एन. सूर्य नारायण शास्त्री ने अद्वैत तत्त्व के सन्दर्भ में कारणता व मानवीय स्वातन्त्र्य के समन्वयन की संभावना के अनुसंधान की चेष्टा की। इसी प्रकार शुभ–अशुभ, पाप–पुण्य व पुनर्जन्म की समस्याओं को आधार बनाकर भी इन धारणाओं के विवेचन का प्रयास किया गया। (इसके अलावा भी अध्ययन किये गये हैं जिनका विवरण सन्दर्भ ग्रंथ सूची में 'अतिरिक्त पठनीय सामग्री' शीर्षक से संग्रहीत है। पर यहाँ मुख्य–मुख्य का ही उल्लेख है।) यद्यपि पाश्चात्य विद्वान कार्ल एच. पॉटर ने अपने लेख में भारतीय सन्दर्भ में इन फ्रीडम व डिटर्मिनिज़्म के प्रत्ययों के अनुसंधान का प्रयास किया, इसी प्रकार भारतीय विद्वान जे. पी. आत्रेय ने भी भारतीय चिन्तन में इन दोनों धारणाओं के विश्लेषण की चेष्टा अपने लेख में की।[1] परन्तु भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में इच्छा स्वातन्त्र्य व नियमनवाद सम्बन्धी दृष्टि तथा इन के समन्वयन की संभावनाओं को लेकर एक समग्र व विस्तृत विवेचन का प्रयास अभी भी अपेक्षित रह गया जहाँ पूरे भारतीय दर्शन–वैदिक व आगमिक की विशिष्ट दृष्टि को प्रस्तुत किया गया हो और पाश्चात्य सन्दर्भों में जिन प्रश्नों को उठा कर उत्तरित करने का प्रयास किया गया है, उन्हें भारतीय संदर्भ में देखने का प्रयास किया गया हो। यह पुस्तक इसी अपेक्षित दिशा में एक कदम है।

भारतीय दर्शनों में सामान्य दृष्टि से इन समस्याओं के अध्ययन के अतिरिक्त काश्मीर शिवाद्वयवाद की विशिष्ट दृष्टि को प्रस्तुत करना इस ग्रंथ का मुख्य प्रयोजन है। आगमिक संस्कृति व्यष्टि व समष्टि के भेद को मिटाकर एक ऐसी समग्रतावादी दृष्टि की नियोजक है जहाँ सारा जगत एक ही आत्मतत्त्व का प्रसार है अतः यहाँ जीवन व जगत्

1. यहाँ उल्लिखित समस्त ग्रंथों व लेखों का विवरण सन्दर्भग्रंथसूची में दिया गया है।

के मध्य की भेदक रेखा का विलय हो कर ऐसे तत्त्वचिन्तन का विकास होता है जिसमें आत्मतत्त्व ही जगत का नियन्ता बनता है, सारे नियमों का स्रोत होता है। अब सारे नियम, सारी कारणता उसके स्वभाव से ही प्रतिस्पन्दित होती है अतः जिस पर्याप्त व अन्तिम कारण की तलाश पाश्चात्य चिन्तक को थी वह इस आगमिक संस्कृति में आकर परिपक्व रूप में उपलब्ध होता है। यही जीवनदर्शन इस चिन्तन परम्परा के साधक को स्वात्मछन्दन का ऐसा अलौकिक आनन्द प्रदान करता है कि वह आत्मविभोर हो सारे जगत को अपना ही प्रसार समझता है। अतः इस सम्प्रदाय की इस विशिष्ट दृष्टि के विश्लेषण का प्रयास अत्यन्त आवश्यक है, व्यष्टि व समष्टि की एकता की पृष्ठभूमि में कौन से सिद्धान्त काम कर रहे है, उस अविनाशी आनन्द का उत्स कहाँ है जिसे पाने का यहाँ विविध मार्गो से निरन्तर प्रयास किया जाता है आदि प्रश्न गवेषणीय है। अभी तक इस सम्प्रदाय के संदर्भ में जो भी अध्ययन किये गये है उनमें "स्वातन्त्र्य" और "कारणता" का विवरण तो मिलता है पर इन सिद्धान्तों के पोषण के पीछे इस चिन्तनविधा का क्या प्रयोजन निहित है या इनके समन्वयन की क्या संभावनायें हैं इन प्रश्नों पर कोई विशेष विचार नहीं किया गया है। अतः इन सभी प्रश्नों का उत्तर देना अपेक्षित हो जाता है। प्रस्तुत पुस्तक इन्हीं प्रश्नों के विश्लेषण का एक प्रयास है।

यह पुस्तक "इच्छास्वातन्त्र्य तथा कार्यकारणभावः भारतीय तत्वमीमांसा में काश्मीर शिवाद्वयवाद के अन्तर्गत एक विशेष अध्ययन" शीर्षक से पी.एच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का ही संशोधित रूप है। इस पुस्तक को तैयार करने में जिन लोगों का प्रभूत सहयोग प्राप्त हुआ है इनके प्रति लेखिका हृदय से कृतज्ञ है। उनमें प्रमुख है भारती विद्या के अधिकारी विद्वान स्व. डॉ. हर्ष नारायण (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय तथा शिलांग विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग में प्रवक्ता) जिन्होंने विविध प्रकार से विचार विनिमय कर इस शोध विषय के संदर्भ में संभव विविध प्रश्नचिह्नित समस्याओं व उनके संभव समाधानों की गहनता में अन्तर्दृष्टि उत्पन्न कराकर शोध कार्य को एक नई दिशा प्रदान की। इसी प्रकार बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में ही कार्यरत डॉ. लक्ष्मीनिधि शर्मा तथा डॉ. कमलाकर मिश्र जी के भी सुझावों से इस शोधकार्य की प्रगति में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। अतः लेखिका इन सभी के प्रति हृदय से कृतज्ञ है। बनारसवासी, काश्मीर शिवाद्वयवाद के ख्यातिलब्ध विद्वान् स्व. डॉ. जयदेव सिंह (भूतपूर्व प्रधानाचार्य, युवराजदत्त कालेज, लखीमपुर खीरी) के भी सुझावों के लिये लेखिका उनकी अत्यन्त आभारी है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के योगतन्त्र-विभाग के प्राध्यापक (अब अवकाश प्राप्त) श्री ब्रजवल्लभ द्विवेदी जी का सहयोग भी ग्रंथ को पूरा करने में सहायक रहा। उन्होंने काश्मीर शिवाद्वयवाद के मूल ग्रंथों के गूढ़ अंशों को समझने में लेखिका की पर्याप्त सहायता की। इसके लिये वह द्विवेदी जी की हृदय से कृतज्ञ है। इसके अतिरिक्त उस समय काशीविद्यापीठ में संस्कृत विभाग में प्राध्यापक और सम्प्रति केन्द्रीय तिब्बती

अध्ययन संस्थान, सारनाथ में शब्दविद्या संकाय के अधिष्ठाता प्रो. कामेश्वर नाथ मिश्र जी के विविध सहयोगार्थ लेखिका उनकी भी हृदय से कृतज्ञ है।

लेखिका सर्वाधिक कृतज्ञ है डॉ. नवजीवन रस्तोगी, भूतपूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय तथा भूतपूर्व अवैतनिक निदेशक, अभिनवगुप्तसंस्थान, स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय एवं शैव दार्शनिक की जिन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण अमूल्य निर्देशन व सहयोग के द्वारा सर्वदा लेखिका का मार्ग प्रशस्त किया। वे हर क्षण लेखिका के लिये प्रेरणा का स्रोत रहे। इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त के दर्शन के जगत्प्रसिद्ध प्रतिष्ठापक स्व. डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन यहाँ आवश्यक है जिन्होंने परोक्ष रूप से अपनी कृतियों के द्वारा लेखिका के शोध कार्य में मदद की। उनके द्वारा स्थापित "अभिनवगुप्त संस्थान, स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय एवं शैव दार्शनिक" में अपेक्षित दुर्लभ पुस्तकों को सरलता से प्राप्त कर यह शोधकार्य सम्पन्न हो सका। इसके अतिरिक्त अपने सहपाठियों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन आवश्यक है जिनसे बातचीत में कई बार समस्याओं में अन्तर्दृष्टि उपजती है जो शोध को आगे ले जाने में सहायक होती है।

यह ग्रंथ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त जूनियर रिसर्च फेलोशिप के अन्तर्गत लिखा गया अतः उसके प्रति भी कृतज्ञता अनिवार्य है। अन्ततः अपने परिवारजनों के प्रति भी लेखिका हृदय से कृतज्ञ है जिन्होंने अपनी परेशानी के बावजूद इस शोध को तैयार करने व वर्तमान रूप तक पहुँचाने में लेखिका को पूरा सहयोग दिया।

इसी के साथ लेखिका अपना कथ्य समाप्त करती है। पुस्तक अब विद्वानों के समक्ष है। वे ही प्रमाण होगें कि पुस्तक अपने प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन में, उन अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर खोजने में किस सीमा तक समर्थ हो सकी है।

सर्वमस्यपरमस्ति न किंचिद्
वस्त्ववस्तु यदि वेति महत्या
प्रज्ञया व्यवस्थितोअत्र यथैव
त्वं तथैव भव सुप्रकटो मे। शि स्तो. 4/9

मीरा रस्तोगी
अक्षय तृतीया
लखनऊ

विषयानुक्रमणिका

शब्द–संक्षेप

अणुभा.टी.	अणुभाष्यटीका
अथ.वे.	अथर्ववेद
अ.दी.टी.	अनुमिति–दीधिति–टीका
अ.प्र.सि.	अजडप्रमातृसिद्धि
अभि.को.	अभिधर्मकोश
अभि.समु.	अभिधर्मसमुच्चय
अ.प्र.सि.वृ.	अजडप्रमातृसिद्धिवृत्ति
अहि.सं.	अहिर्बुध्न्यसंहिता
ई.प्र.का.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका
ई.प्र.वि.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा–विमर्शिनी
ई.प्र.वि.वि.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति–विमर्शिनी
ई.सि.	ईश्वरसिद्धि
ई.सि.वृ.	ईश्वरसिद्धि–वृत्ति
ईश उप.	ईश उपनिषद्
ऋ.वे.	ऋग्वेद
ऐ.उ.	ऐतरेय उपनिषद्
कठ उप.	कठोपनिषद्
का.	कारिकावली
का.मु.	कारिकावली मुक्तावली
क्रि.स.आ.इ.फि.	ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसफी
कौ.उप.	कौषीतकि उपनिषद्
गी.	श्रीमद्‌भगवद्‌गीता
छां.उप.	छान्दोग्य उपनिषद्
ज.म.वि.	जन्ममरणविचार
त.प्र.	तत्त्वप्रकाश
त.भा.	तर्कभाषा
त.सं.	तत्त्वसंग्रह
त.सं.प.	तत्त्वसंग्रह–पञ्जिका
तै.ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
त.वै.	तत्त्ववैशारदी टीका, योगसूत्र

तै.उप.	तैत्तिरीय उपनिषद्
तं.सा.	तंत्रसार
तं.व.धा.	तंत्रवट्धानिका
तं.आ.	तंत्रालोक
तं.आ.वि.	तंत्रालोक–विवेक
द्र.	द्रष्टव्य
दा.त्रै.	दार्शनिक त्रैमासिक
ध्व.	ध्वन्यालोक
ध्व.लो.लो.	ध्वन्यालोक–लोचन
न्याय.बि.	न्यायबिन्दु
न्या.कु.	न्यायकुसुमाञ्जलि
न्या.कु.बो.	न्यायकुसुमाञ्जलि–बोधिनी
न्या.मं.	न्यायमंजरी
न्या.वै.मे.	स्टडीज् इन न्याय वैशेषिक मेटाफिज़िक्स
न्या.वृ.	न्याय–वृत्ति
न्या.वृ.ता.टी.	न्यायवृत्तितात्पर्यटीका
न्या.सि.मु.	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
न्या.सु.	न्यायसुधा
प.च.वि.	परमार्थचर्चा–विवृत्ति
प.सा.	परमार्थसार
प.सा.वृ.	परमार्थसार–वृत्ति
प्र.क.मा.	प्रमेयकमलमार्तण्ड
प्र.का.वृ.	प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति
प्र.च.	प्रमाण–चन्द्रिका
प्र.पं.	प्रकरणपञ्जिका
प्र.भा.	प्रशस्तपादभाष्य
प्र.वा.	प्रमाणवार्तिक
प्रश्न उप.	प्रश्न उपनिषद्
प्र.हृ.	प्रत्यभिज्ञाहृदय
प्र.हृ.सू.	प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र
प्र.हृ.सू.वृ.	प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्रवृत्ति
पा.यो.द.	पातञ्जल योगदर्शन
पा.यो.सू.	पातञ्जल योगसूत्र
फिलॉसफी	फिलॉसफी : एन इन्ट्रोडक्टरी स्टडी ऑफ फ़न्डामेन्टल

	प्राब्लम्स एण्ड एटीच्यूड्स
बृ.उप.	बृहदारण्यक उपनिषद्
बो.पं.द.	बोध–पञ्चदशिका
बौ.न्या.	बौद्ध न्याय
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्र
ब्र.सू.शां.भा.	ब्रह्मसूत्र–शाङ्कर भाष्य
भा.	भास्करी
भा.द.	भारतीय दर्शन
भा.प.	भाषा–परिच्छेद
भा.पु.	भागवत पुराण
भा.भा.	भास्कर भाष्य
मनु.	मनुस्मृति
म.भा.	महाभारत
म.मं.	महार्थमञ्जरी
म.मं.प.	महार्थमञ्जरी–परिमल
मा.वि.वा.	मालिनीविजयवार्तिक
मां.का.	माण्डूक्य–कारिका
मा.मे.र.श्लो.वा	मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक
मा.का.वृ.	माध्यमिककारिका–वृत्ति
मानमे.द.	मानमेयोदय
मुं.उप.	मुण्डक उपनिषद्
यो.सू.	योगसूत्र
रा.भा.	रामानुज भाष्य
रा.ग्रं.मा.	रामानुज ग्रंथमाला
वा.वृ.	वाक्यवृत्ति
वि.चू.	विवेक–चूडामणि
वि.त्तो.टी.	विद्वत्तोषिणीटीका
वि.भै.	विज्ञान–भैरव
वे.कौ.	वेदान्तकौस्तुभ, ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्य
वे.कौ.प्र.	वेदान्तकौस्तुभ–प्रभा, ब्रह्मसूत्र–निम्बार्कभाष्य
वे.प.	वेदान्तपरिभाषा
वे.पा.सौ.	वेदान्तपारिजातसौरभ, ब्रह्मसूत्र–निम्बार्कभाष्य
वे.स.	वेदार्थसंग्रह
वे.सि.सू.मं.	वेदान्तसिद्धान्तसूक्तिमञ्जरी

वै.सू.	वैशेषिकसूत्र
वै.सि.कौ.	वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (विभक्त्यर्थप्रकरण)
व्या.भा.	व्यास–भाष्य
स.द.सं.	सर्वदर्शनसंग्रह
सा.बो.टी.	सारबोधिनी टीका
सां.का.	सांख्य–कारिका
सां.त.कौ.	सांख्यतत्त्वकौमुदी
सां.प्र.भा.	सांख्यप्रवचनभाष्य
सां.सू.	सांख्य–सूत्र
सि.त्र.	सिद्धित्रयी
सि.मु.	सिद्धान्त–मुक्तावली
सि.ले.सं.	सिद्धान्तलेशसंग्रह
सं.शा.	संक्षेप–शारीरक
स्प.का.	स्पन्दकारिका
स्प.का.वि.	स्पन्दकारिका विवृति
स्प.नि.	स्पन्दनिर्णय
स्प.सं.	स्पन्दसन्दोह
स्व.तं.	स्वच्छन्दतन्त्र
श.क.	शब्दकल्पद्रुम
शां.भा., छां.उप.	शांकर भाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्
शा.प.	शान्तिपर्व, महाभारत
शा.मी.भा	शारीरकमीमांसा भाष्य
शा.दी.	शास्त्रदीपिका
शि.दृ.	शिवदृष्टि
शि.दृ.वृ.	शिवदृष्टि–वृत्ति
श्वेत.उप.	श्वेताश्वतर उपनिषद्
श्लो.वा.	श्लोकवार्तिक
हि.ऑफ इं.फि.	हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी
हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी	हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफ़ी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न

1

इच्छा तथा इसका स्वातन्त्र्य

यह जगत् आत्मिक–मानसिक[1] व भौतिक इकाइयों का समग्र है। इन द्विविध इकाइयों में आत्मिक–मानसिक इकाइयाँ प्रधान हैं क्योंकि ये ही भौतिक इकाइयों को संचालित करती हैं। इस आत्मिक–मानसिक वर्ग के तीन स्तर माने जाते हैं–ज्ञानात्मक, भावात्मक व ऐच्छिक। इन्हें ही दार्शनिक शब्दावली में ज्ञान[2], अनुभूति व इच्छा का क्षेत्र कह सकते हैं। इनमें से ज्ञान का चिह्न है विषयत्वापादन (objectification), अनुभूति का चिह्न है विषयिरूपता (subjectivity) तथा इच्छा का चिह्न है विषय का विषयित्वापादन (subjectification)[3]। किसी भी क्रिया में ये तीनों प्रत्यय गुँथे रहते हैं। शारीरिक क्रियाओं[4] का आधार प्रायः इन्हीं तीनों के होने से वहाँ भी इनकी अन्विति दृष्ट होती है क्योंकि किसी भी शारीरिक या मानसिक क्रिया हेतु इच्छा की पूर्वकल्पना अनिवार्य है और वह इच्छा अपना विषय उसी ज्ञान से प्राप्त करती है जो अनुभूति के रूप में विषयीकृत है।

इस प्रकार की यह इच्छा एक विषयिगत धारणा है जिसका सामान्य रूप कार्योत्पादन हेतु प्रवृत्ति रूप में बताया जा सकता है। यों तो इच्छा मानसिक प्रत्यय होने से मनोविज्ञान की ही एक प्रमुख समस्या है, पर वस्तुतः सभी प्रक्रियाओं के मूल में निहित रहने से उन समस्त विज्ञानों के लिये भी विवेचनीय है जो कि मानवीय व्यवहार से सम्बद्ध हैं। यह एक अति व्यापक धारणा है, फलतः विविध सन्दर्भों में इसके विविध पर्याय उपलब्ध होते हैं– इच्छा, कामना, वासना, लालसा आदि, पर इन सभी में अभिप्राय की दृष्टि से सूक्ष्म भेद है। दार्शनिक सन्दर्भों में प्रयुक्त इच्छा इन सभी का संयुक्त रूप हैं

---

1. यह आत्मिक–मानसिक की धारणा आत्मजगत् व मानसिक जगत् के सभी प्रत्ययों को अपने में समेटे हुये है। भारतीय दर्शन अध्यात्मवादी दृष्टि के पोषक हैं अतः यहाँ पाश्चात्य दृष्टिवत् मात्र शारीरिक क्रियाओं के मूल में मानसिक क्रियाओं को न माना जाकर उनका भी मूल आत्मजगत् माना जाता है। इसी आत्मिक जगत को कुछ दर्शन सम्प्रदाय अपनी विशिष्ट शब्दावली में 'विज्ञान' या 'प्रत्यय' कहते हैं।
2. यह ज्ञान का प्रत्यय उस बुद्धिजन्य ज्ञान से विशिष्ट है जो कि इच्छा के बाद घटित होता है। यहाँ ज्ञान का अर्थ मात्र पदार्थों की अस्तिता से है। इसके सम्बन्ध में बुद्धि को होने वाला ज्ञान तो उससे भिन्न ही है जो कि उत्तरकाल में घटित होता है क्योंकि इच्छा जिस ज्ञान से अपने विषय को प्राप्त करती है वह बुद्धिज ज्ञान नहीं है। बुद्धिज ज्ञान तो स्वयं एक क्रिया है अतः इच्छा के बाद ही घटित होता है।
3. टर्नर, जी.एल., विश एण्ड विल, पृ. 4
4. यहाँ शारीरिक क्रियाओं में सहज व मूलप्रवृत्तिजन्य क्रियाओं को अन्तर्भूत नहीं किया गया है क्योंकि उनमें इच्छा की प्रत्यक्षकारणता दृष्ट नहीं होती।

इच्छा का अभिप्राय है किसी विषय की कामना करना। यह कामना निरुद्देश्य न होकर प्रयोजनपरक होती है तथा वह प्रयोजन ज्ञानपरक भी हो सकता है व क्रियापरक भी, फलतः या तो उस विषय को जानने की इच्छा होती है या करने की। ये जानना और करना क्रिया के ही विशिष्ट रूप हैं पर इच्छा के प्रत्यय में संश्लिष्ट रहने से उसका जीवन सिद्ध होते हैं। यद्यपि इस क्रिया में स्थूल कर्तृत्व का अभाव है। इस आधार पर इच्छा के दो स्तर बताये जा सकते हैं।

1. प्रथम स्तर में मात्र अनभिव्यक्त विषय के प्रति उत्सुकता मात्र होती है या यह कह सकते हें कि इसमें किसी अभाव की चेतना व उसके निवारण की उत्कंठा मात्र होती है। यहाँ किसी निश्चित विषय के प्रति एक निश्चित व्यापार द्वारा उन्मुखता का पूर्ण अभाव रहता है अतः औन्मुख्य मात्र की स्थिति रहती है। यह स्थिति न पूर्ण निष्क्रियता की स्थिति है और न पूर्ण सक्रियता की क्योंकि यहाँ उत्कण्ठा रूप में उस अभाव के निवारणार्थ अपेक्षित व्यापार के प्रति पूर्ण तत्परता विद्यमान रहती है, यद्यपि वह व्यापार प्रारम्भ नहीं होता। फलतः यह सक्रियता व निष्क्रियता इन दोनों के मध्य की स्थिति है। इसे ही अंग्रेजी भाषा में डिज़ायर (desire) तथा विश (wish) कहा जाता है।

2. यह द्वितीय स्तर प्रथम का ही विकसित रूप है। यहाँ वह विषय पूर्णतया अभिव्यक्त हो जाता है और वह प्रवर्तनेच्छा नियत विषय से नियमित होकर विद्यमान रहती है। इसे इच्छा का सर्जनात्मक पक्ष कहते हैं क्योंकि इसमें उस विषय की प्राप्ति हेतु क्रियमाण व्यापार की चेतना भी विद्यमान रहती है, साथ ही उस विषयनिष्ठ विषयिगत प्रयोजन का भी स्फुट संस्पर्श रहता है। इस स्तर के अंग्रेजी पर्याय विल (will) व वालीशन (volition) हैं।[1]

ये दोनों स्तर मिलकर ही इच्छा के प्रत्यय का निर्माण करते हैं, यद्यपि विषयोन्मुख प्रवृत्ति दोनों में समान रूप से रहती है पर प्रथम स्तर पर जहाँ उस विषय की चेतना अस्फुट होती है, मात्र अपूर्णता या उत्सुकता की स्थिति रहती है वहीं द्वितीय स्तर पर वह विषय पूर्ण निश्चित रूप में भासित होता है। इच्छा का प्रथम स्तर सामान्य औन्मुख्य की अवस्था है व द्वितीय स्तर उस उन्मुखता को नियत विषय की ओर उन्मुख करने व पूर्ण परिपक्वता प्राप्त कराने के लिये उत्तरदायी है। इन दोनों स्तरों का विभेद दर्शाने के लिये प्रथम स्तर औन्मुख्य व द्वितीय संकल्प रूप से अभिहित किया जा सकता है। इस प्रथम स्तर को अक्सर इच्छा भी कहा जाता है पर तब इच्छा शब्द जो इन दोनों की समग्र स्थिति का अभिधायक है, कैसे उस इच्छा से भिन्न किया जा सकेगा अतः इस

1 (अ) इस संदर्भ मे कोई नियम नही बनाया जा सकता क्योंकि कई विद्वानों ने अपनी–अपनी विचारधारा के अनुसार इन पर्यायों का अपने–अपने अभिप्रायो मे प्रयोग किया है। कहीं विल (will) विश (wish) के अर्थ मे भी प्रयुक्त है तथा डिजायर (desire) वालीशन (volition) के अर्थ में भी। वस्तुत तो इच्छा की पूर्ण धारणा इन दोनो स्थितियो का समग्र रूप है फलत एक शब्द का दूसरे के अर्थ में प्रयोग कोई विसंगति नही उत्पन्न करता।

(आ) द्रष्टव्य, टर्नर, जी.एल. विश एण्ड विल, पृ. 7

भ्रान्ति से बचने के लिये प्रथम स्तर को औन्मुख्य कहना ही अधिक श्रेयस्कर है। पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट संभवतः इसी कारण इच्छा के द्विविध स्तरों के निदर्शन हेतु उन्हें भिन्न–भिन्न संज्ञाओं–विलकुड (willkuhr) तथा विले (wille) से अभिहित करता है।[1] द्वितीय स्तर की उपयुक्त संज्ञा संकल्प ही है।

इच्छा चेतना की अभिव्यक्ति का एक प्रकार है। ज्ञान सदैव इच्छा का पूर्ववर्ती है क्योंकि इसी ज्ञान से इच्छा अपने विषय को ग्रहण करती है। उस विषय की तो इच्छा ही नहीं संभव है जिसका कि पूर्वज्ञान न हो। ये ज्ञान, इच्छा आदि चेतना के ही विविध विवर्तन हैं पर ज्ञान जहाँ आत्मसंकुल रहता है वहीं इच्छा में आत्मशरीरोत्तीर्णता रहती है क्योंकि ज्ञान निर्विषयक भी हो सकता है पर इच्छा निर्विषया नहीं हो सकती है। यह ज्ञान प्रायः किसी न किसी अनुभूति–सुखात्मक या दुःखात्मक से संलग्न रहता है। इस प्रकार इस इच्छा के उदय के लिये प्रायः दो प्रकार की दशाओं में से एक उत्तरदायी है–या तो विषय की यथार्थ अनुभूति अथवा एक संभावित पदार्थ का अर्द्धचेतन स्तर पर स्पष्ट विचार। इच्छा व अनुभूति का तो इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इनके समग्र को प्रायः इच्छा के पर्याय रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जिज्ञासा, अभिलाषा आदि पर्याय इसी स्थिति के द्योतक हैं।

इच्छा समस्त मानसिक प्रक्रियाओं में सबसे प्रधान है। वस्तुतः मन विविध शक्तियों का आधार है। इनमें से कुछ शक्तियाँ सक्रिय हैं व कुछ निष्क्रिय। ज्ञान मन की एक सक्रिय शक्ति है और अनुभूति निष्क्रिय; इच्छा न निष्क्रिय है व न स्फुटरूपेण सक्रिय, वरन् उसमें व्यापारोन्मुखता सदैव अन्तर्निहित रहती है, यही उसे निष्क्रियत्व से अलग करती है पर वह उन्मुखता स्फुट क्रिया रूप में परिणत नहीं होती, इसी कारण यह पूर्णतः सक्रिय नहीं है।

यद्यपि समस्त जागतिक क्रियायें इच्छोपजीवी हैं पर कुछ क्रियायें ऐसी भी हैं जिनमें इस प्रत्यय का अभाव रहता है। इस वर्ग में शरीर की सहज क्रियायें आती हैं। यहाँ उद्दीपक की उपस्थिति तुरन्त तत्सम्बन्धी प्रतिक्रिया को जन्म दे देती है, मध्यवर्ती किसी अनुभूति की उपस्थिति नहीं होती। कई ऐसी भी क्रियायें हैं जो पुनरावृत्ति होते–होते आदत बन जाती है और तब ये क्रियायें पूर्णतया यांत्रिक लगती है, यद्यपि वहाँ भी इच्छा की नियामकता को खोजा जा सकता है। वस्तुतः किसी भी क्रिंया को ऐच्छिक कहने का अभिप्राय है कि उसका नियमन व्यक्ति के अन्दर से होता है, बाह्य प्रभावों से नहीं।

ये इच्छायें तो अनन्त हैं पर यहाँ यह विचारणीय है कि क्या एक समय में एक ही इच्छा अवस्थित रहती है या कई इच्छायें एक साथ स्थित हो सकती हैं। वस्तुतः एक

1. कान्ट के मत में इच्छा के प्रथम स्तर मे कोई चयन नहीं रहता अतः वहाँ नाना वासनाओ की स्थिति है जबकि द्वितीय स्तर में चयन हो जाने से वह व्यवसायात्मक है फलतः वह एक ही है। इस स्थिति को सकल्प ही कहा जा सकता है। छायाराय, नीतिमत्ता की कसौटी गीता की बुद्धि तथा कान्ट का संकल्प, दा.त्रै., वर्ष 22, अंक 1, पृ. 3

ही विषय से सम्बद्ध कई इच्छायें एक साथ स्थित रह सकती हैं या कई विषयों से सम्बद्ध कई इच्छायें भी एक साथ रह सकती हैं पर इनमें से कुछ इच्छायें कमजोर होती हैं व कुछ दृढ़। वे दृढ़ इच्छायें ही कमजोर इच्छाओं को दबाकर प्रधान भाव से उदित होती हुई क्रियारूपता को प्राप्त होती हैं। एक ही विषय के सन्दर्भ में कई इच्छाओं का होना या एक साथ कई विषयों की इच्छाओं का होना ही मन के चयन व्यापार को प्रेरित करता है। फलतः इच्छाओं के क्रिया द्वारा अनुप्राणित होने पर भी समस्त इच्छायें क्रिया रूप में परिनिष्ठित नहीं होतीं वरन् मन द्वारा निश्चित कुछ इच्छायें ही क्रियारूपता को प्राप्त करती हैं। ये इच्छायें जिस विषय से उद्बुद्ध होती हैं उसके नष्ट हो जाने पर स्वयं भी नष्ट हो जाती हैं।[1] कुछ इच्छायें पूर्णतः परिपक्वता को प्राप्त हुये बिना इसलिये भी नष्ट हो जाती हैं क्योंकि उनके विषय की प्राप्ति असंभव होती है, साथ ही उनके उदय व पूर्ति के मध्य एक लम्बा कालक्षेप रहता है, फलतः वे धुँधली होती जाती हैं या आत्मनियंत्रण के द्वारा उन इच्छाओं को अवरुद्ध करके अपेक्षाकृत अधिक रुचिकर इच्छाओं की परिपक्वता को स्थान मिल जाता है।

इन इच्छाओं का विविध प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकताहै। प्रथम तो इन्हें भावात्मक (positive) व अभावात्मक (negative) रूप दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। जो इच्छायें आनन्द की अनुभूति से संयुक्त रहती हैं वे भावात्मक तथा जो पीड़ादायक अनुभूतियों से संयुक्त रहती हैं वे अभावात्मक इच्छायें कही जाती हैं। अभावात्मक व भावात्मक इच्छायें प्रायः मिश्रित रूप में ही उपलब्ध होती हैं क्योंकि अभावात्मक इच्छा में पीड़ादायक स्थिति के निवारण के साथ–साथ आनन्ददायक स्थिति की प्राप्ति की इच्छा भी विद्यमान रहती है तथा भावात्मक इच्छा में उस आनन्दात्मिका स्थिति को बनाये रखने के प्रयास में पीड़ादायक स्थितियों का निरोध भी अनुस्यूत रहता है। इनका पुनः द्विविध वर्गीकरण किया जा सकता है :

(1) विषयिगत वर्गीकरण।

(2) विषयगत वर्गीकरण।

विषयिगत वर्गीकरण को भी अनुभूत विषय तथा अनुभूति की द्विविधता के आधार पर पुनः द्विविध रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं। भावात्मक इच्छाओं के वे द्विविध प्ररूप निम्न हैं :

1. इसके अन्दर वे इच्छायें आती हैं जिनमें आनन्दात्मक विषय संभावित रहता है, वर्तमान नहीं। इसको विषयिगत प्रसार (subjective expansion) कह सकते हैं।

---

1. प्रायः विषय दो स्तरों पर रहता है–बाह्य व आन्तरिक। बाह्य विषय के नष्ट हो जाने पर भी जब तक आन्तरिक स्त पर विषय बना रहता है तब तक उससे सम्बद्ध इच्छा भी बनी रहती है और उसके नष्ट हो जाने पर तत्सम्बन्धी इच्छ भी नष्ट हो जाती है।

2. इसमें आनन्दात्मक विषय वर्तमान रहता है। यहाँ उसे बनाये रखने की इच्छा रहती है। इसको विषयिगत संधारण (subjective retention) कह सकते हैं।

इसी प्रकार अभावात्मक इच्छायें भी द्विविध हैं :

1. इसके अन्तर्गत भविष्य में संभावित पीड़ादायक विषय के निवारण की इच्छा रहती है। इसे विषयिगत अपकर्षण (subjective retraction) कह सकते हैं।
2. इसके अन्तर्गत वर्तमान पीड़ादायक विषयों के निवारण की इच्छायें निहित हैं।

विषयगत वर्गीकरण में तीन प्रकार की इच्छायें आती हैं :

(क) शारीरिक इच्छायें–शरीर सम्बन्धी भावात्मक व अभावात्मक अनुभूतियों से उत्पन्न इच्छायें इसके अन्तर्गत आती हैं :

(अ) **भावात्मक शारीरिक इच्छायें**–इसके अन्तर्गत शरीर की किसी पीड़ादायक स्थिति का निवारण निहित न होकर शरीर के लिये अधिक आरामदायक स्थिति की प्राप्ति की इच्छायें आती हैं। जैसे ठंड में गरम वातावरण में विश्राम की इच्छा या स्वस्थ व्यक्ति में व्यायाम की इच्छा आदि।

(ब) **अभावात्मक शारीरिक इच्छायें**–इसमें शरीर की पीड़ादायक स्थितियों के निवारण की इच्छायें आती हैं क्योंकि उन शारीरिक स्थितियों से एक असन्तोष का भाव या बेचैनी की स्थिति उत्पन्न होती है जैसे कि ठंड की स्थिति के कष्टदायक होने पर उस कष्टदायक स्थिति को दूर करने की इच्छा उत्पन्न होती है या अत्यधिक गर्मी से बचने के लिये उस गर्मी को दूर करने की इच्छा उत्पन्न होती है। ये इच्छायें कभी व्यक्ति के पूरे जैविक संगठन के सन्दर्भ में उद्बुद्ध होती हैं व कभी विशिष्ट आंगिक संरचना के सन्दर्भ में। जैसे भूखप्यास का सम्बन्ध मात्र शरीर के एक अंग पेट से है जबकि गर्मी या ठंड का पूरे शरीर से। इसी प्रकार शरीर के किसी भी अवयव में उत्पन्न विकार से उदित असहजता की स्थिति भी उसके निवारण की इच्छा को जन्म देती है जो कि अभावात्मक ही है।

(ख) रागात्मक इच्छायें–इसके अन्तर्गत वे इच्छायें आती हैं जो हमारे मन के भावात्मक पक्ष से सम्बद्ध हैं। ये इच्छायें मानसिक आनन्द या पीड़ा की अनुभूतियों से प्रेरित होती हैं। इसी आधार पर इन्हें भावात्मक व अभावात्मक दो रूपों में वर्गीकृत करते हैं। इसमें प्रायः सौन्दर्यपरक इच्छायें आती हैं। इस सन्दर्भ में अभावात्मक इच्छायें हैं–कुरूप, भोंडे आदि की प्रतीति के निवारण की इच्छा व भावात्मक इच्छायें हैं सुन्दर, सुरूप की प्राप्ति की इच्छा। ईश्वर–रति, तत् सान्निध्य आदि की प्राप्ति की इच्छा भी इसी वर्ग में आती है।

(ग) पूर्ण बौद्धिक इच्छायें–इसके अन्तर्गत वे इच्छायें आती हैं जो हमारी बुद्धि से संचालित होती हैं। वस्तुतः कर्तव्याकर्तव्य की चेतना सम्बन्धी, मूल्य सम्बन्धी, नैतिकता सम्बन्धी आदि सभी इच्छायें इसी वर्ग में आती हैं। इन इच्छाओं के मूल में बुद्धि का अर्जनात्मक व तर्कणात्मक व्यापार रहता है। ज्ञान और सत्य सम्बन्धी इच्छायें भी इसी के क्षेत्र में आती हैं। ये इच्छायें भी भावात्मक व अभावात्मक द्विविध प्रकार की होती हैं। उनका निषेधात्मक पक्ष अभावात्मकता को बताता है व विध्यात्मक पक्ष भावात्मकता को[1]।

इस प्रकार इन विविध इच्छाओं के द्वारा ही सम्पूर्ण जागतिक व्यापारों की निष्पत्ति होती है। पर इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि इन इच्छाओं का आधार क्या है ? कुछ के अनुसार आत्मा स्वयं इच्छा व्यापार का कर्ता है व कुछ अन्तःकरण को ही इसका आधार मानते हैं और आत्मा को इन समस्त मनोशारीरिक व्यापारों से उत्तीर्ण सिद्ध करते हैं[2]। पर इस सन्दर्भ में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि सभी अपनी–अपनी मीमांसाओं के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं। वस्तुतः तो दार्शनिक सन्दर्भ में इच्छा का यह आधार विभिन्न रूपों में प्रतिपादित है जिसका विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा। वैसे दार्शनिक सन्दर्भ में इच्छा के द्विविध क्षेत्र उपलब्ध होते हैं–(क) परम प्रमाता का क्षेत्र (ख) सीमित प्रमाता का क्षेत्र। दोनों की इच्छाओं में भेद मात्र इतना है कि जहाँ परम प्रमाता की इच्छा अप्रतिहत है वहीं जीव प्रमाता की इच्छा एक सीमित क्षेत्र में ही समर्थ है अन्यत्र तो वह बाधित हो सकती है।

भारतीय दर्शनों में यह इच्छा की धारणा विशिष्ट रूप में वर्णित है। यहाँ इच्छा जागतिक व वैयक्तिक दो स्तरों पर चर्चित है। जागतिक स्तर पर यह समस्त जगत् का मूल बतलाई गई है (यद्यपि सभी दर्शन सम्प्रदाय इस सन्दर्भ में एकमत नहीं हैं) तथा वैयक्तिक स्तर पर इसकी चर्चा प्रायः नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में सम्मुख आती है। कुछ दर्शन सम्प्रदाय इसे आत्मा का स्वभाव मानते हैं तो कुछ आगन्तुक गुण। जहाँ चार्वाक, न्याय वैशेषिक, सांख्ययोग, जैन, वेदान्त, मीमांसा आदि इसे आगन्तुक गुण मानते हैं, वहीं काश्मीर शिवाद्वयवाद इसे आत्मा का स्वभाव मानता है। बौद्ध दर्शन आत्मा जैसा कोई स्थिर तत्त्व नहीं मानता अतः यहाँ पञ्च स्कन्धों व षडायतनों की धारा में ही इस इच्छा तत्त्व की स्थिति मानी जाती है। जागतिक सन्दर्भ में जहाँ यह जागतिक क्यों तथा

---

1. (अ) दार्शनिक दृष्टि से इन अन्तिम दो इच्छा प्रकारों का विशिष्ट महत्त्व है।
(आ) यह सारा वर्गीकरण जी.एल. टर्नर कृत 'विश एण्ड विल' पुस्तक में पृ. 20–31 पर उपलब्ध विवरण पर आधारित है। यद्यपि इस पुस्तक में विषयगत वर्ग को पांच वर्गों में बाँटा गया है पर यहाँ केवल तीन उपवर्ग ही स्वीकृत किये गये हैं–शारीरिक, रागात्मक व पूर्ण बौद्धिक। अन्य दो नैतिक इच्छाओं व धार्मिक इच्छाओं के उपवर्गों में से प्रथम का अन्तर्भाव पूर्ण बौद्धिक इच्छाओं में तथा द्वितीय का रागात्मक इच्छाओं में ही हो सकता है। अतः केवल तीन उपवर्ग ही स्वीकरणीय सिद्ध होते हैं।

2. इसके विपरीत वैज्ञानिक दृष्टि आत्मा जैसी किसी अदृश्य सत्ता को न मान कर इच्छा को मस्तिष्क का ही एक व्यापार मानती है।

कब की व्याख्या करती है वहीं वैयक्तिक सन्दर्भ में जागतिक वैषम्य की समस्या का समाधान प्रस्तुत करती है। जागतिक स्तर पर यह विश्वात्मा से सम्बद्ध है जिसे कहीं ईश्वर, कहीं ब्रह्म, कहीं कृष्ण, कहीं वासुदेव व कहीं शिव कहा गया है और वैयक्तिक स्तर पर जीवात्मा से संयुक्त है।

इच्छा के सन्दर्भ में स्वातन्त्र्य का अभिप्राय–मानव जीवन के सन्दर्भ में स्वातन्त्र्य का प्रत्यय अति महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जगत् में प्रायः सभी प्राणी स्वतन्त्र रहना चांहते हैं[1]। यही स्वातन्त्र्य ही आनन्द है। जो जितना अधिक स्वतन्त्र है वह उतना ही सुखी है। इस स्वातन्त्र्य का अभिप्राय है सब कुछ अपने अधीन रहना[2] और अपने का अभिप्राय है 'अपनी इच्छा' फलतः स्वातन्त्र्य व इच्छा के प्रत्यय परस्पर लिपटे हुये दृष्ट होते हैं। स्वातन्त्र्य कहने का अभिप्राय है इच्छा की स्वतन्त्रता व ऐच्छिक क्रिया कहने का अभिप्राय है स्वतन्त्र क्रिया। इच्छा बिना स्वातन्त्र्य के प्रत्यय के नहीं रह सकती व स्वातन्त्र्य बिना इच्छा के नहीं रह सकता। इस प्रकार स्वातन्त्र्य व इच्छा की ये धारणायें यद्यपि कहीं इतनी अन्तर्ग्रथित दृष्ट होती हैं कि इनका समानार्थक प्रयोग भी संभव लगता है पर कहीं दोनों के मध्य उपजीव्य–उपजीवक रूप भाव से भेद भी किया जा सकता है। वस्तुतः तो स्वातन्त्र्य व इच्छा की धारणाओं के मध्य मूल भेद यही है कि स्वातन्त्र्य जहाँ समग्रतापरक प्रत्यय है वहीं इच्छा अपूर्णता के अंश से मिश्रित है। स्वतन्त्र इच्छा की धारणा इन दोनों प्रत्ययों का समवाय प्रस्तुत करती है जिसके अधिकार क्षेत्र में नाना विकल्प रहने से उसका स्वातन्त्र्य भी है व किञ्चित् प्राप्ति की आकांक्षावश अपूर्णता का अंश भी है। वस्तुतः तो स्वातन्त्र्य के बिना इच्छा विषय शून्य होगी व इच्छा के बिना स्वातन्त्र्य का अभिव्यक्तीकरण किसी प्रकार संभव नहीं होगा फलतः एक के अभाव में दूसरे का वर्णन दुष्कर है। अतः इन दोनों को इच्छा स्वातन्त्र्य के समन्वित रूप में ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

यह इच्छा ही समस्त ज्ञानात्मक व क्रियात्मक व्यापारों के मूल में अवस्थित है अतः उसको स्वतन्त्र कहने से इन दोनों ही क्षेत्रों का स्वातन्त्र्य अभिव्यक्त हो जाता है। यह भी कह सकते हैं कि स्वातन्त्र्य दो रूपों में घटित होता है–इच्छा व क्रिया। इच्छा जहाँ उसका ज्ञानात्मक पक्ष है वहीं क्रिया उसका व्यापारपरक पक्ष।

व्युत्पत्तिमूलक दृष्टि से यह स्वातन्त्र्य का प्रत्यय अधिकार को बताता है पर गत्यात्मकता को द्योतित नहीं करता। इसी दृष्टि से इसके एक अन्य पर्याय 'स्वच्छन्द' का

---

1. यो तो चेतन पदार्थ ही स्वतन्त्र कहे जा सकते हैं पर लोक व्यवहार में अचेतन पदार्थों या घटनाओं के स्वातन्त्र्य के कथन भी उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः तो इनके स्वातन्त्र्य की व्याख्या भिन्नतया ही की जा सकती है कि वे या तो इसलिये स्वतन्त्र हैं कि व्यावहारिक रूप से उनका उन प्राप्त आधारों पर पूर्वकथन नहीं किया जा सकता अथवा इसलिये स्वतन्त्र हैं कि उनकी पृष्ठभूमि में कोई नियमन नहीं है।
2. स्वस्मिन् तंत्रे विद्यमानः इति स्वतन्त्रः तस्य भावः स्वातन्त्र्यम्। अथवा
स्वेन तंत्रेण विद्यमानः इति स्वतन्त्रः तस्य भावः स्वातन्त्र्यम्। अथवा
स्वस्य तंत्रे विद्यमानः इति स्वतन्त्रः तस्य भावः स्वातन्त्र्यम्।

प्रयोग किया जाता है जिसका कि अभिप्राय है अपने स्वातन्त्र्य के कारण छन्दन या गतिशीलता। यह गति यद्यपि क्रिया रूप प्रतीत होती है पर क्रिया ज्ञान से भिन्न नहीं है अतः कुछ जानने व कुछ करने का स्वातन्त्र्य रखने वाला व्यक्ति ही स्वतन्त्र कहा जाता है। वह स्वतन्त्र तत्त्व जीव भी हो सकता है व परतत्त्व भी।

इस स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में उन बन्धनों का स्वरूप भी दर्शनीय हो जाता है जिनसे कि मुक्ति ही इस प्रत्यय की उत्प्रेरिका है। ये बन्धन दो प्रकार के हो सकते हैं– (क) किसी कार्य को करना चाहने पर भी करने से रोक दिया जाये। (ख) कोई कार्य न चाहने पर भी जबर्दस्ती करवाया जाये। इन दोनों ही प्रकारों में पर के अधीन होकर व्यापार क्रियमाण है फलतः इनकी स्थिति पारतन्त्र्य की नियोजिका होगी। अतः स्वतन्त्र वही है जो इन दोनों बन्धनों से मुक्त हो अर्थात् न तो उसे अनिच्छित कर्म में नियुक्त किया जा सके और न इच्छित कर्म करने से रोका जा सके। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र शब्द की व्याख्या एक अन्य ढंग से भी की जा सकती है–

(क) अपने कार्य में बिना असफल हुये अपने लक्ष्य की प्राप्ति।

(ख) बिना किसी अन्य प्रेरक के अपने कार्य का सफल निष्पादन।

वस्तुतः तो स्वतन्त्र एक सापेक्ष शब्द है अतः परतन्त्र की बात तुरन्त आ उपस्थित होती है। यह 'पर' कुछ भी हो सकता है–हमारा बाह्य परिवेश, वंशानुक्रम, प्रकृति में व्याप्त सार्वभौमिक नियम, नियति के क्रूरबन्धन आदि और स्वातन्त्र्य है ऐसी किसी भी बाह्य शक्ति के द्वारा आरोपित अनिवार्यता, अवरोध अथवा बलात्कार का अभाव। यद्यपि प्रकृति में दृष्ट सर्वव्यापक नियमों के अवलोकन से यही शंका उत्पन्न होती है कि जब सभी मानवीय या जैविक क्रियायें इन नियमों से पूर्णतया नियंत्रित रहती हैं तो वे पूर्वपरिस्थितियों की ही उपज मात्र है फलतः उनके स्वातन्त्र्य की बात कहना तो पूर्ण प्रलाप मात्र होगा। पर स्वातन्त्र्यवादी का मत है कि यद्यपि व्यक्ति अपने चयन में उन नियमों, अपनी शिक्षा, परम्पराओं तथा सामाजिक रीति–रिवाजों से प्रभावित रहता है किन्तु उसका अन्तिम निर्धारण उनके द्वारा नहीं होता, वरन् वह विचार–विमर्श कर कई विकल्पों में से एक निश्चित विकल्प का ही चयन करता है। यह चयन सामर्थ्य ही उसका स्वातन्त्र्य है। इस प्रकार संकल्प को एक निश्चित दिशा प्रदान करने की दृष्टि से ही वह स्वतन्त्र है।

इसी प्रकार प्रकृति के नियम भी प्रायः पूर्ण नियमनवादी दृष्टि के समर्थक समझे जाते हैं जहाँ कि स्वातन्त्र्य के लिये जरा भी स्थान नहीं है पर वस्तुतः प्रकृति में व्याप्त नियम भी नियामक नहीं हैं, मात्र निर्धारक हैं। वे पदार्थों को तद्रूप में घटित होने के लिये विवश नहीं करते, वे तो मात्र प्रकृति में व्याप्त एकरूपताओं के आधार पर कृत सामान्यीकरण हैं जिनका अर्थ अनिवार्यता नहीं है, मात्र एकरूपता का निदर्शन है।

इस प्रकार स्वातन्त्र्य का अभिप्राय मात्र इतना है कि हमारे वर्तमान संकल्प हमारी अपनी इच्छाओं के परिणाम हैं न कि किसी ऐसी बाह्य शक्ति के जो कि हमें उस

संकल्प हेतु विवश करे।[1] इस स्वातन्त्र्य का परिचय उस स्वतन्त्र तत्त्व द्वारा निष्पादित कर्मों से ही उपलब्ध होता है। जगत् में विविधकोटिक कर्म दृष्ट होते हैं जिन्हें हम दो कोटियों में विभक्त कर सकते हैं–

(क) ऐच्छिक कर्म (voluntary action)

(ख) स्वाभाविक कर्म (spontaneous action)

इस द्वितीय वर्ग की दो अन्य श्रेणियाँ भी निर्धारित की जा सकती हैं–

(क) पूर्ण यांत्रिक कर्म (pure mechanical or conditioned action)

(ख) अयांत्रिक कर्म (non-mechanical or unconditioned action)

इनमें पूर्ण यांत्रिक कर्मों के अन्तर्गत मनुष्य की सहज क्रियायें (reflex action) तथा मनोग्रस्तता बाध्यता प्रतिक्रियायें (obsessive-compulsive activities) आदि आती हैं और अयांत्रिक कर्म वे हैं जो स्वभावतः घटित होने पर भी बुद्धि से नियंत्रित रहते हैं। परतत्त्व के द्वारा कृत कर्म (सर्जन कर्म) की प्रकृति निर्धारित करना थोड़ा दुष्कर है। कुछ उसे स्वाभाविक या यांत्रिक मानते हैं, तो कुछ ऐच्छिक तथा कुछ स्वाभाविक व ऐच्छिक का मिश्रित रूप बताते हैं। इसके अतिरिक्त इसे कुछ आगन्तुक भी मानते हैं।

लौकिक प्राणी का यह स्वातन्त्र्य दो प्रकार का हो सकता है–

(क) स्वतः स्फूर्त स्वातन्त्र्य (spontaneous freedom)

(ख) भेदाभेदन का स्वातन्त्र्य (freedom of differenciation)

पाश्चात्य दर्शन में इस स्वातन्त्र्य के प्रत्यय का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। विलियम जेम्स स्पष्टतः इस स्वातन्त्र्य के प्रत्यय का समर्थन करते हैं व स्वतन्त्र संकल्प का अर्थ वास्तविक नवीनता से लेते हैं[2]। उनके मतानुसार इस जगत् में नियतता व आकस्मिकता दोनों के लिये पर्याप्त अवकाश है। बर्गसाँ के मतानुसार स्वातन्त्र्य चेतना का ही स्वरूप है, प्रकृति या पुद्गल का नहीं। यह स्वातन्त्र्य यहाँ स्वतः चालन, आत्माभिव्यक्ति, परिवर्तन या सर्जन रूप है[3]। डेविड ह्यूम के मतानुसार स्वातन्त्र्य का अभिप्राय है इच्छा के निर्धारणों के अनुसार कार्य करने या न करने की सामर्थ्य। फलतः यहाँ किसी दबाव का अभाव ही स्वातन्त्र्य के अभिप्राय रूप में व्यञ्जित होता है[4]। मार्टिज शिलक का मत भी कुछ ऐसा ही है[5]। जेम्स मार्टिनो इसे बाह्य दबाव का अभाव न मान कर एक वैयक्तिक शक्ति रूप

---

1. There is freedom whenever a decision is wholly an act of mine . .i.e. is completely conditioned by me, by my nature, my way of thinking, my inclinations, my reflections etc......
एन.ओ. लास्की के 'फ्रीडम'. पृ. 23 से एन इंक्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीज़न, पृ. 11 पर उद्धृत।
2. Free will pragmatically means novelties in the world, the right to expect that in its deepest elements as well as in its surface phenomena, the future may not identically repeat and imitate the past. पैगमेटिज़्म पृ. 118-19 से एन इन्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीजन, पृ. 92 पर उद्धृत
3. दृष्टव्य हेराल्ड ऑफस्टाड, एन इन्क्वायरी इन टु फ्रीडम, पृ. 99
4. लिबर्टी एण्ड नेसेसिटी, पृ. 99, से एन इन्क्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीज़न, पृ. 5 पर उद्धृत
5. Freedom means the opposite of compulsion. a man is free if he does not act under compulsion, and he is compelled or unfree when he is hindered from without in the realization of his natural desires.....
प्राब्लम्स पृ. 152 से एन इन्क्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीज़न, पृ. 8 पर उद्धृत

ही मानते हैं[1]। निकोलाई हार्टमन इस स्वातन्त्र्य के 'किसी से स्वातन्त्र्य' रूप अर्थ को एक मिथ्या प्रत्यय मानते है। उनके अनुसार स्वतन्त्र इच्छा का अभिप्राय अनियमित इच्छा नहीं है वरन् वह नियमित है व स्वेच्छा से चयन करती है[2]। लीबनीज़ का कहना है कि स्वातन्त्र्य मानसिक क्षेत्र में निहित है और शारीरिक स्वातन्त्र्य इसी के द्वारा प्रेरित होता है[3]। कान्ट का मत है कि इच्छा चेतन तत्त्व की ही कारणता है व स्वातन्त्र्य है बिना बाह्य कारणों पर निर्भर हुये मात्र स्वात्ममात्र की कारणता[4]। उनके अनुसार स्वतन्त्र इच्छा के प्रत्यय में नियमनवाद व अनियमनवाद दोनों निहित रहते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वान इसका अभिप्राय आत्मप्रकाशन से लेते हैं तो कुछ प्रेक्षावृत्ति या युक्त्यनुसारिता (rationality) से।

पाश्चात्य विचारधारा में स्वातन्त्र्य शब्द का प्रायः छह अर्थों में प्रयोग किया गया है[5]—

1. स्वातन्त्र्य–किसी विवशता का अभाव (Lack of compulsion)
2. स्वातन्त्र्य–अनियमन (Indeterminacy)
3. स्वातन्त्र्य–नवीनता (Novelty)
4. स्वातन्त्र्य–आत्मप्रकाशन (Self-expression)
5. स्वातन्त्र्य–युक्तता या श्रेयस् (Rationality or Virtue)
6. स्वातन्त्र्य–शक्ति (Power)

1. स्वातन्त्र्य–किसी विवशता का अभाव (lack of compulsion)—सामान्यतः स्वातन्त्र्य का अभिप्राय इसी अर्थ में समझा जाता है, साथ ही स्वातन्त्र्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी यही द्योतित करता है। इसके अनुसार स्वतन्त्र वह है जो सभी प्रकार की विवशताओं से मुक्त होकर कार्य करता है। ये विवशतायें द्विविध हैं–भौतिक व मानसिक। भौतिक विवशतायें भौतिक वस्तुओं व पर्यावरण से जन्य विवशतायें हैं तथा मानसिक विवशताओं में मनोजन्य विवशतायें आती हैं। इन्हीं द्विविध विवशताओं को बाह्य व आन्तरिक विवशतायें भी कहा जा सकता है। भौतिक विवशतायें भी दो प्रकार की हैं–प्रथम तो वे जो मात्र हमारे क्रियास्वातन्त्र्य की अवरोधक हैं, वे हमारी मनःस्थितियों को प्रभावित नहीं करतीं तथा द्वितीय वे हैं जो कि हमारी

---

1. टाइप्स 2, पृ. 43 से, एन इन्क्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीजन, पृ.9 पर उद्धृत.
2. Free will is not undetermined will but precisely a will that is determined and chooses determinately- एथिक्स 3, पृ. 49 से एन इन्क्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीजन, पृ. 43 पर उद्धृत.
3. द्रष्टव्य, एन इन्क्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीजन, पृ.9
4. The will is a kind of causality of living beings in so far as they are rational: freedom then would be that property of such causality by which it can become operative without being dependent on foreign causes, determining it..... वही, पृ. 9 पर उद्धृत.
5. यह विवरण प्रमुखतः हेराल्ड ऑफस्टाड कृत 'एन इक्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीजन' नामक पुस्तक में उल्लिखित विवरणों पर आधारित है जो कि मूलतः पाश्चात्य दृष्टि को ही मूल में लेकर चली है।

मन:स्थितियों को प्रभावित कर हमारी चयन सामर्थ्य को भी निर्धारित करती हैं। मानसिक या आन्तरिक विवशताओं में आन्तरिक मूल प्रवृत्तियों, प्रेरणाओं, अभिवृत्तियों आदि से सम्बद्ध विवशताओं को रखा जा सकता है। पर इन विवशताओं से भी स्वतन्त्र को ही स्वतन्त्र कहने पर तो व्यक्ति को स्वतन्त्र कभी नहीं कहा जा सकेगा क्योंकि इच्छा जो कि एक मनोशारीरिक प्रत्यय है, उन मन:स्थितियों से अप्रभावित नहीं रहतीं क्योंकि वह सदैव किसी विषय व तत्सम्बन्धी सुखद या दु:खद अनुभूति से ही जन्म लेती है। अत: यहाँ विवशता का अभिप्राय भौतिक विवशताओं से ही लिया जाना चाहिये अथवा अन्तरिक विवशताओं में से उन परिस्थितियों को भी इनमें अन्तर्भूत कर सकते हैं जहाँ कि किसी बाह्य विवशता द्वारा मन किसी विशेष चयन के लिये प्रेरित किया जाता है। इस प्रकार आन्तरिक मन:स्थितियों के द्वारा डाली गयी विवशताओं से यहाँ मुक्ति अभीष्ट नहीं है अत: उनके द्वारा कृत निर्धारण स्वातन्त्र्य ह्रास के आपादक नहीं है।

इस अभिप्राय में स्वातन्त्र्य शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अरस्तू ने किया था। उसने ऐच्छिक व अनैच्छिक क्रियाओं के विवेचन के सन्दर्भ में इस समस्या पर विचार किया था। उसके अनुसार वे क्रियायें अनैच्छिक हैं जो कि किसी दबाव के अन्दर घटित होती हैं या कारणों के अज्ञान के कारण कारणशून्य रूप में घटित प्रतीत होती हैं और वे क्रियायें पूर्णतया अनिवार्य हैं जिसमें व्यक्ति स्वयं कुछ चुनने का अधिकारी नहीं होता। इस प्रकार ऐच्छिक क्रियायें इन विवशताओं का अभाव ही सिद्ध होती हैं। आधुनिक काल में ह्यूम तथा हॉब्स ने भी इस मत का समर्थन किया है व शिलक भी यही दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। जॉन लेयर्ड, रसेल आदि का भी यही मत है।[1]

2. स्वातन्त्र्य–नियमन (indeterminacy)–यहाँ स्वातन्त्र्य का अभिप्राय नियमन का अभाव माना गया है और उस नियमन का अभिप्राय कारणतापरक सिद्ध किया गया है। यद्यपि नियमनवाद का अभिप्राय यूँ तो मात्र यह बताता है कि प्रकृति की सभी घटनायें प्रकृति के नियमों के द्वारा परस्पर बँधी हुई हैं पर यहाँ नियमन का अभिप्राय कारणबद्धता से है। अत: अनियमनवाद का अभिप्राय है कि स्वातन्त्र्य वहाँ है जहाँ पर घटनायें व क्रियायें कारण रहित हैं अर्थात् जैसा हम चाहें वैसा कर सकते हैं, किसी कारण के द्वारा नियमित होकर कार्य नहीं करना है। पाश्चात्य विद्वानों में एपीक्यूरस आदि ने इस मत को माना है, पर कुछ विद्वानों ने कारणरहित क्रियाओं की सत्ता स्वीकारने से इंकार किया है पर उन्हें भी उत्तरदायित्व के प्रत्यय की सिद्धि हेतु स्वातन्त्र्य के किसी न किसी प्ररूप की स्वीकृति मानव स्वभाव में अनिवार्यत: माननी पड़ती है[2]। प्लोटिनस का मत है जीवात्मा जब बिना शरीर के होती है तब अपने

---

1. देखिये, एन इन्क्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीजन, पृ. 36
2. जैसे क्रिसिप्पस यद्यपि क्रियाओं व घटनाओं को अकारण नहीं मानता पर कारण के दो भेद कर मुख्य कारणो को व्यक्ति के अधीन मानता है व अन्य प्रभावकारी कारणों को सहकारी मानकर बाह्य बताता है। कार्निडीज भी कहता है कि कारण का अभाव कहने का अर्थ मात्र बाह्य व पूर्ववर्ती कारणो का अभाव है, सभी प्रकार के कारणो का अभाव नहीं अत: स्वात्ममात्र की कारणता तो स्वातन्त्र्य की स्थिति में भी रहती है। वही, पृ. 42.

पूरे नियंत्रण में रहती है स्वतन्त्र है तथा कारणता के सर्वव्यापक बन्धनों से मुक्त है लेकिन जब शरीर रूप को धारण कर लेती है तब यह नियमन में बँध जाती है व स्वातन्त्र्य से च्युत हो जाती है।

स्पिनोजा, लॉके, ह्यूम, हॉब्स आदि के मत में इच्छा अकारण नहीं हो सकती अतः उसके स्वातन्त्र्य को इन अर्थों में नहीं बताया जा सकता। लीबनीज् भी स्वतन्त्रता की व्याख्या इस प्रकार करता है कि हम इस अर्थ में स्वतन्त्र है कि हम भावी इच्छाओं पर नियंत्रण रखते हैं। उनके अनुसार कारणता दो प्रकार की हो सकती है–अनिवार्य व आकस्मिक। इसमें से हमारी इच्छायें आकस्मिक रूप से ही कारण से नियमित हैं, अनिवार्यतः नहीं। कान्ट सम्मत स्वातन्त्र्य की धारणा अति व्यापक है। उसके मत में तो इन्द्रियज ज्ञान के सन्दर्भ में मनुष्य कारणता का विषय है पर एक सर्जनकर्ता के रूप में या स्वयं अपने आप में वह स्वतन्त्र है।

3. स्वातन्त्र्य–नवीनता (freedom as novelty)–स्वातन्त्र्य का अभिप्राय नवीनता से भी लिया जाता है क्योंकि एक नियत नियमनवाद को मानने पर उन्हीं घटनाओं की सदैव पुनरावृत्ति होगी पर प्रतिक्षण परिवर्तमान जगत् में कुछ भी भूतकालिक अनुगत या घटित नहीं होता या घटित होता भी है तो उसमें नवीनता का अंश भी मिश्रित रहता है[1]। इस प्रकार नवीनता का अर्थ है एक संयोग या आकस्मिक प्रक्रिया का घटित होना अर्थात् एक ऐसे तथ्य की उत्पत्ति जो पहले उस पदार्थ में नहीं थी।

(4) स्वातन्त्र्य–आत्मप्रकाशन (freedom as self expression)–यहाँ स्वातन्त्र्य को आत्मा का स्वभाव सिद्ध करते हुये आत्मा के ऐश्वर्यमय यथार्थ स्वरूप के प्रकाशन रूप में स्वातन्त्र्य की व्याख्या की गयी है। भारतीय दर्शनों में तो यह सिद्धान्त सारभूत ही है। इसी आधार पर स्वातन्त्र्य का अर्थ आत्मनियमन किया जाता है। पाश्चात्य दार्शनिक बर्गसाँ ने इसकी काफी अच्छी व्याख्या की है। उनका मत है कि जब हमारी क्रियायें हमारे व्यक्तित्व से निःसृत होती हैं और उसको अभिव्यक्त करती हैं, तभी वे स्वतन्त्र हैं। इसका सादृश्य एक कलाकार व उसकी रचना के उदाहरण से प्रस्तुत किया जा सकता है[2]। एपीक्यूरस, प्लोटिनस, एक्विनस, ग्रीन आदि भी आत्मा से स्वातन्त्र्य का तादात्म्य स्थापित करते हैं। प्रायः इसी अभिप्राय में भारतीय दर्शनों में

---

1. इस सन्दर्भ में विलियम जेम्स का ऐसा ही मत है। उन्हीं के शब्दों में–

   Free will pragmatically means novelties in the world, the right to expect that in its deepest elements as well as in its first surface phenomena, the future may not identically repeat and initiate the past.....

   प्रैगमेटिज्म पृ. 489, एन इन्क्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीजन, पृ. 92

2. In short we are free when our acts spring from our whole personality. When they express it, when they have that indefinable resemblance to it which one sometimes finds between the artist and his work......

   एन इन्क्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीज़न, पृ. 99 पर उद्धत।

स्वातन्त्र्य का प्रत्यय स्वीकृत है। यद्यपि कुछ भारतीय मत इसके अपवाद भी हैं।

(5) स्वातन्त्र्य–युक्तता या श्रेयस् (freedom as rationality or virtue)–स्वतन्त्र का अभिप्राय यहाँ युक्तता से लिया जाता है। इसके अनुसार स्वतन्त्र व्यक्ति रागात्मक वृत्तियों से संचालित न होकर अपनी बुद्धि के नियंत्रण में रहता है। मनुष्य का बौद्धिक पक्ष ही उसका यथार्थ आत्मतत्त्व है। स्वातन्त्र्य का यह अभिप्राय आत्मप्रकाशन अर्थ का ही पूरक है। युक्तता का अभिप्राय है युक्तिपूर्वक कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय की सामर्थ्य[1]। वह निर्णय सदैव शुभ के प्रति होता है इसीलिये इसे श्रेयस् रूप भी कहते हैं। सुकरात, प्लेटो, स्पिनोजा आदि इसी अर्थ के समर्थक हैं। कान्ट का भी मत है कि स्वतन्त्र का अर्थ है शुद्ध प्रज्ञा (pure reason) द्वारा नियमित होना।

(6) स्वातन्त्र्य–शक्ति (freedom as power) यह धारणा बतलाती है कि स्वातन्त्र्य एक सामर्थ्य है जो कि आत्मतत्त्व का ही स्वभाव है। इस सामर्थ्य में ज्ञानात्मक व क्रियात्मक दोनों पक्षों का समवेत रूप उपस्थित होता है। यह अभिप्राय स्वातन्त्र्य के भावात्मक पक्ष को प्रस्तुत करता है तथा अन्य सभी अभिप्रायों से अधिक व्यापक है, यहाँ तक कि वे अभिप्राय भी इसकी विस्तृत परिधि में सिमट जाते हैं क्योंकि जब स्वातन्त्र्य की व्याख्या किसी विवशता के अभाव रूप में की जाती है तब भी वह शक्ति मूल में रहती है जिसके प्रसार में वह विवशता बाधक है, या जब स्वतन्त्र की व्याख्या कारण–मुक्त रूप में की जाती है तब भी इसी सामर्थ्य की स्थिति को बनाये रखने का विचार मूल में निहित रहता है। इसी प्रकार आत्मप्रकाशन रूप में परिभाषित करने में या युक्तता (rational) या श्रेयस् (virtuous) रूप होने में भी यही प्रश्न रहता है कि क्या आत्मप्रकाशन करना या युक्त्यनुसारी होना अथवा श्रेयोऽनुसारिता हमारी सामर्थ्य में निहित है। उपनिषदों में प्रायः इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है पर वहाँ इस स्वातन्त्र्य की अनुभूति के लिये आवश्यक है कि जीव का आत्मतत्त्व के साथ ऐक्य हो। कार्निडीज ने समस्त ऐच्छिक क्रियाओं का अधिकार क्षेत्र इसी शक्ति का माना है। जो कुछ हमारी शक्ति के अधीन है, हमारे सामर्थ्य में है वह हमारे स्वातन्त्र्य का क्षेत्र है। वस्तुतः तो अन्य विभिन्न दार्शनिक जो कि स्वतन्त्र के अन्य अर्थों को मानते हैं, भी अन्ततः इसी अभिप्राय को सर्वव्यापक प्रत्यय के रूप में स्वीकारते हैं। कान्ट व स्पिनोजा जो कि प्रारम्भ में स्वातन्त्र्य का अभिप्राय युक्त्यनुसारिता से लेते हैं, अन्ततः इसी शक्ति

---

1. Man acts from Judgement, because by his apprehensive power, he judges that something should be avoided or sought. But because this judgement in the case of some particular act, is not from a natural instinct, but from some act of comparison in the reason, therefore he acts from free judgement and retains the power of being inclined to various things.
एन इन्क्वायरी इन टु फ्रीडम ऑफ डिसीज़न, पृ. 139–140 पर उद्धत।

रूप में उस स्वातन्त्र्य को परिभाषित करते हैं। शॉपेनहावर[1], जे.एस. मिल, मुअर, हार्ट मैन आदि भी इस मत का पोषण करते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विविध अर्थों में स्वातन्त्र्य शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है[2]। ये सभी अर्थ परस्पर विरोधाभासात्मक न होकर एक दूसरे के पूरक रूप में ही लिये जाने चाहिये तभी स्वातन्त्र्य शब्द का यथार्थ अभिप्राय समझा जा सकता है। इन छह अर्थों को सम्मिलित रूप से स्वातन्त्र्य की परिभाषा में इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है कि स्वातन्त्र्य आत्मतत्त्व की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह बिना किसी बाह्य विवशता व अनिवार्य कारणता के नियमों में बद्ध हुये कई विकल्पों में से एक का चयन करता है। आत्मतत्त्व की समस्त संभावनायें इसी स्वातन्त्र्य रूप में अभिव्यक्त होती हैं। कुछ दार्शनिकों ने संसार व परमार्थ के सीमा विभाजन द्वारा स्वातन्त्र्य को समझाया है। उनकी दृष्टि में परमार्थ का क्षेत्र पूर्ण स्वातन्त्र्य का क्षेत्र है जबकि जागतिक क्षेत्र में बद्ध स्वातन्त्र्य ही उपलब्ध होता है। जो कुछ जागतिक क्षेत्र में दृष्ट है वह सब उसी स्वतन्त्र इच्छा द्वारा पूर्व नियमित है अतः परतत्व की दृष्टि से तो जगत् की बद्धता है पर जीव की दृष्टि से कुछ क्षेत्रों में उसका सीमित स्वातन्त्र्य भी है।

यद्यपि भारतीय दर्शनों में उपलब्ध स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विविध सन्दर्भों का मूल्यांकन इन छह अभिप्रायों की छाया में करना संभव नहीं है क्योंकि पाश्चात्य व भारतीय मूल्यों में प्राप्त भेद उन दोनों दर्शन पद्धतियों की विचारधारा में पर्याप्त वैषम्य ला देता है पर फिर भी इन छह अभिप्रायों की इन दर्शनों के साथ येन केन प्रकारेण संगति बिठाने पर निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

भारतीय दर्शनों में 'किसी विवशता का अभाव' तो स्वातन्त्र्य का सर्वसम्मत अर्थ है पर बाकी अभिप्रायों में से किसी एक को ही विविध दर्शन सम्प्रदायों ने स्वीकारा है। स्वातन्त्र्य का नवीनता तथा अनियमन रूप अभिप्राय प्रायः किसी सम्प्रदाय को नहीं स्वीकृत है। हाँ, उसको आत्मप्रकाशन रूप में अवश्य काश्मीर शिवाद्वयवाद व वैयाकरण दर्शन प्रस्तुत करते हैं। यहाँ शक्ति रूप में भी इसे प्रस्तुत किया गया है। अन्य दर्शनों के सन्दर्भ में इसके आधार पर निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है।

भारतीय दर्शनों की स्वातन्त्र्य चर्चा को अन्य प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं।

---

1. शापेनहॉवर द्वारा प्रतिपादित स्वातन्त्र्यवाद औपनिषदिक स्वातन्त्र्य की धारणा से काफी साम्य प्रस्तुत करता है जहाँ कि संकल्प को ही सबके मूल मे स्थित बतलाया गया है। (छां.उ. 7/4/2) पर दोनो मे मात्र इतना ही भेद है कि जहाँ औपनिषदिक स्वातन्त्र्य चेतन का सार है वहीं शापेनहावर के मत में यह जड मन का ही कर्तृत्व है।
2. पर भारतीय दर्शनों में इस स्वातन्त्र्य की धारणा का विशिष्ट प्रयोग उपलब्ध होता है। यहाँ यह परमपुरुषार्थ 'मोक्ष' का भी पर्याय है जो कि कहीं अभावात्मक सन्दर्भों मे प्रयुक्त है व कहीं भावात्मक अभिप्राय को द्योतित करता है, अतः बन्धनों का अभाव जहाँ इसका लक्ष्य है, वहीं ईश्वरोचित ऐश्वर्यों की प्राप्ति भी कहीं-कहीं इसका प्रतिपाद्य है। ऊपर वर्णित इन छह अभिप्रायों के समग्र को ही भारतीय 'मोक्ष' के प्रत्यय के रूप मे प्रस्तुत कर सकते है। यद्यपि भारतीय दर्शन के अवान्तर वर्गों में इस सन्दर्भ मे पर्याप्त मत वैविध्य मिलता है।

यहाँ स्वातन्त्र्य चर्चा को परमार्थ स्तर पर लेकर इसके चार वर्ग किये जा सकते हैं जिनमें कि समस्त प्रमुख दर्शन–पद्धतियों को अन्तर्भूत किया जा सकता है। वे वर्ग हैं–

(क) स्वाभाविक–ऐच्छिक

(ख) स्वाभाविक–यांत्रिक

(ग) स्वाभाविक–यौक्तिक

(घ) आगन्तुक

स्वाभाविक–ऐच्छिक वर्ग जहाँ स्वातन्त्र्य को परमसत् का स्वभाव मानते हुये भी उसे ऐच्छिक सिद्ध करता है वहीं स्वाभाविक–यांत्रिक वर्ग में स्वातन्त्र्य यांत्रिक रूप में ही सिद्ध किया गया है। स्वाभाविक–यौक्तिक वर्ग में यह स्वातन्त्र्य आपाततः न होकर तर्कशः ही परमसत् का स्वभाव सिद्ध किया जाता है तथा आगन्तुक वर्ग में यह विशिष्ट परिस्थितियों में आगन्तुक रूप से घटित होता है। काश्मीर शिवाद्वयवाद तथा वैयाकरण दर्शन प्रथम वर्ग में, सांख्ययोग द्वितीय वर्ग में, वेदान्त तृतीय वर्ग में तथा न्यायवैशेषिक, मीमांसा व चार्वाक चतुर्थ वर्ग में आते हैं। बौद्ध व जैन किसी नित्य सृष्टिकर्ता की सत्ता मानने से इंकार करते हैं। अतः वे इन किसी भी वर्ग में अन्तर्भूत नहीं होते। ईश्वरवादी वेदान्त के सभी वर्ग–रामानुज, मध्व व निम्बार्क प्रायः प्रथम वर्ग के ही प्रतिपादक हैं।

साथ ही यह स्वातन्त्र्य यहाँ कहीं आत्मप्रकाशन रूप है, कहीं आत्मविलोपन रूप (काश्मीर शिवाद्वयवाद), कहीं मायाकृत आवरण व विक्षेप रूप है (अद्वैत वेदान्त) तो कहीं अणुओं का संयोजन रूप (न्यायवैशेषिक), कहीं मात्र अचेतन सक्रियता रूप है (सांख्य–योग), तो कहीं चिद्–अचिद् का नियमन रूप (रामानुज वेदान्त)।

इसके अतिरिक्त यहाँ स्वातन्त्र्य की चर्चा परम पुरुषार्थ रूप में भी उपलब्ध होती है जिसके सन्दर्भ में भी पर्याप्त मत वैभिन्य है[1]।

सामान्य सन्दर्भ में तो सम्पूर्ण प्रकृति[2] ही इस कारणता के अनुभवातीत सिद्धान्त से आबद्ध है और जो प्रकृति का अंश नहीं है वही इस कारणता से मुक्त है। कान्ट के मत में हमारे निर्णय आभास रूप में तो बद्ध हैं पर स्वयं अपने स्वरूपनिष्ठ रूप में स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक व्यक्ति में एक लोकोत्तीर्ण शक्तिकेन्द्र है जिसे दार्शनिक भाषा में प्रज्ञा कहा जा सकता है, वही पूर्ण स्वातन्त्र्य से अभिषिक्त है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र सर्वत्र बन्धन हैं क्योंकि मानवीय संकल्प भी कई तथ्यों–वातावरणजन्य प्रभाव, निर्धारित मापदण्ड (norms), मूल्य, विश्वास, इच्छाओं, अवधान की मात्रा, संकल्प के प्रयत्न आदि का परिणाम है।

यह स्वातन्त्र्य का प्रत्यय इच्छा की धारणा का सारतत्त्व ही है क्योंकि 'इच्छा' शब्द अपने सामान्य रूप में कई संभावनाओं को एक साथ उपस्थित करता है यद्यपि

1. इसकी चर्चा यथास्थान आगे की जायेगी।

2. यह प्रकृति शब्द किसी दर्शन विशेष की पारिभाषिक संज्ञा के अर्थ में यहाँ नहीं प्रयुक्त है वरन मात्र जगत के निर्माता उस पदार्थ का द्योतक है जिसे आधुनिक विज्ञान मैटर (matter) या अणु कहता है।

'संकल्प' एक नियत संभावना को ही बताता है। या यह इच्छा अंत:कारणता को भी बताती हैं और वह 'अन्तः' और कुछ न होकर स्वातन्त्र्य के पूर्ण वैभव से युक्त आत्मतत्त्व या प्रज्ञा तत्त्व ही है। इच्छा का विशेष क्षेत्र भी स्वातन्त्र्य के क्षेत्र से नियमित होता है। फलत: जिसका जितना स्वातन्त्र्य है वह उतने ही क्षेत्र में इच्छा भी कर सकता है। या यह भी कह सकते हैं कि जो जितना स्वतन्त्र है, उतना ही स्वच्छन्द है। इसी दृष्टि से जीवों में विविधस्तरीय स्वातन्त्र्य की उपलब्धि होती है। कोई कम स्वतन्त्र है तो कोई ज्यादा, कोई किसी विशिष्ट सन्दर्भ में स्वतन्त्र है तो कोई किसी विशिष्ट सन्दर्भ में। यही परिमाणात्मक भेद बढ़ते बढ़ते गुणात्मक परिवर्तनों को जन्म देकर मुक्त व बद्ध की स्थितियों को संभव बनाता है।

यद्यपि यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इच्छा का प्रत्यय जहाँ अपूर्णता के भाव को द्योतित करता है वहीं स्वातन्त्र्य पूर्णता की स्थिति का संकेतक है अत: तब इन धारणाओं को एकीकृत रूप में किस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है? तो इस सन्दर्भ में यही कह सकते हैं कि इच्छा वस्तुतः स्वातन्त्र्य से ही जीवन प्राप्त करती है क्योंकि अपना विषय उसे स्वातन्त्र्य से ही मिलता है। यों सामान्य सन्दर्भ में इच्छा स्वातन्त्र्य की धारणा इच्छा की विविध संभावनाओं का संकेतन है। इस इच्छा स्वातन्त्र्य के समग्र प्रत्यय को ही प्रायः चयन सामर्थ्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है जोकि अपने व्यापक सन्दर्भ में दो प्रमुख रूपों में घटित होता है–

(क) **ज्ञानात्मक स्वातन्त्र्य**–इसके अन्तर्गत समस्त ज्ञानात्मक क्रियाओं का स्वातन्त्र्य आता है।

(ख) **क्रियात्मक स्वातन्त्र्य**–इसके अन्तर्गत समस्त क्रियानिष्पादन सम्बन्धी स्वातन्त्र्य आता है।

यह चयन स्वातन्त्र्य तीन रूपों में घटित हो सकता है–

(क) कुछ निश्चित विकल्पों में से किसी एक को चुनना जैसे बोलें य चुप रहें, में से एक का चयन। (liberatas specificationis)

(ख) एक ही पदार्थ के सन्दर्भ में दो विरोधी विकल्पों में से एक को चुनना जैसे 'अ' को चुनें या न चुनें, इनमें से एक विकल्प का चयन। (liberatas contradictionis)

(ग) दो विरोधी चीजों में से एक को चुनना जैसे पाप या पुण्य–दो में से एक को चुनना (liberatas contrarietatis)[1]।

इस प्रकार इच्छा–स्वातन्त्र्य मात्र चयन सामर्थ्य का ही पर्याय नहीं है। वरन् इसके व्यापक सन्दर्भ में ज्ञान व क्रिया के पक्ष भी आ जाते हैं क्योंकि इच्छा ही सभी व्यापारों के मूल में रहती है।

---

1. द्रष्टव्य शॉपेनहावर, डर फ्रेई वील, पृ. 38

इस प्रकार का यह स्वातन्त्र्य दो प्रकार से घटित हो सकता है–भावात्मक अर्थों में (positive freedom) व अभावात्मक अर्थों में (negative freedom) अर्थात् प्रथम में जहाँ स्वातन्त्र्य कुछ कर्तृत्व के अधिकार को भी प्रस्तुत करता है वहीं दूसरे में मात्र पारतन्त्र्य के अभाव को बताता है। इन्हीं दो स्थितियों को कार्ल एच. पाटर 'के लिये मुक्ति' (freedom to) तथा 'से मुक्ति' (freedom from) की शब्दावली में प्रस्तुत करते हैं[1]।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि स्वातन्त्र्य की इन संभावनाओं का घटक स्थल कौन है–जीव का अन्तःकरण, आत्मा या परतत्त्व। प्रायः सामान्य भाषा में समस्त संकल्पों–विकल्पों का कर्तृत्व मन को ही सौंपा जाता है और उसके इसी स्वातन्त्र्य को प्रायः उसकी वायु से भी तीव्र गति के मुहावरेदार ढंग से बताया जाता है पर दार्शनिक शब्दावली में मन का प्रत्यय सामान्य मन से भिन्न है। यहाँ मानसिक व्यापार को तीन स्तरों में बाँटा गया है–बुद्धि अहंकार व मन। सामान्य भाषा का मन इन तीनों का समग्र रूप है। दार्शनिक स्थिति में यह इच्छा स्वातन्त्र्य इन तीनों के समग्र रूप की ही उपज है। यद्यपि शुद्ध इच्छा (wish) तो मन का कर्तृत्व है पर उसके नियत क्रियोन्मुख रूप (will or volition) की स्थिति बुद्धि के व्यवसायात्मक व्यापार का फल है। अहंकार के द्वारा वह संकल्प अस्मिता से जुड़कर भासित होता है। फलतः स्वातन्त्र्य का घटक–स्थल यह अन्तःकरण समग्र ही सिद्ध होता है। पर अधिकांश दर्शन इससे भी ऊपर एक चित्तत्त्व की स्थिति स्वीकारते हें (जिसे कोई निराकार आत्मतत्त्व (ब्रह्म) व कोई साकार ईश्वर कहता है व कोई इसे प्रज्ञा का क्षेत्र कह कर परिभाषित करता है) और इसी को यथार्थ स्वातन्त्र्य का घटक–स्थल कहते हैं। फलतः इच्छा स्वातन्त्र्य के द्विविध सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं–

(क) जागतिक सन्दर्भ।
(ख) वैयक्तिक सन्दर्भ।

जागतिक स्तर पर इसका घटक स्थल वह चित्–तत्त्व है जबकि वैयक्तिक स्तर पर अन्तःकरण समग्र है। चित्तत्त्व की सर्वसामान्यता व अन्तःकरण की प्रतिव्यक्तिविशिष्टता ही इन दोनों स्वातन्त्र्यों के क्षेत्र की परिधि को निर्धारित करती है।

भारतीय दर्शनों में इच्छा–स्वातन्त्र्य की धारणा के सन्दर्भ में स्वतन्त्र विचार अल्प ही मिलते हैं। वस्तुतः तो यह पाश्चात्य प्रत्यय है पर भारतीय दर्शन इस धारणा से अपरिचित नहीं है। वैदिक काल से ही इस धारणा के संकेत उपलब्ध होते रहे हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में उपलब्ध संकल्प–प्रशस्ति इसी स्थिति की द्योतक है। उसके बाद का महाकाव्य काल भी संकल्प की मूलभूतता से इंकार नही करता तथा परवर्ती काल में उपलब्ध विविध दार्शनिक पद्धतियाँ सृष्टि के क्यों की व्याख्या करती हुई अक्सर इसी

1. द्रष्टव्य, कार्ल एच. पॉटर, प्रिसपोजीशन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 48

इच्छा–स्वातन्त्र्य को समाधान रूप में प्रस्तुत करती है, हाँ उनकी शब्दावली में भेद उपलब्ध है। कोई इसे माया कहता है, कोई लीला और कोई केवल स्वातन्त्र्य। वैयक्तिक स्तर पर तो इसकी स्थिति सर्वसम्मत ही है। जो दर्शन जागतिक व्याख्या हेतु इस इच्छा स्वातन्त्र्य की धारणा का आश्रय नहीं लेते, वे भी इस स्तर पर इसकी स्थिति स्वीकारते हैं क्योंकि इसके अभाव में तो सारी नैतिक चर्चा व्यर्थ होगी, साथ ही समस्त दर्शनों के चरम प्राप्तव्य 'मोक्ष' की संभावना का भी ह्रास होगा। साथ ही जो दर्शन किसी स्थिर आत्मतत्त्व का निषेध करते हैं वे भी इस इच्छा स्वातन्त्र्य की स्थिति किसी न किसी रूप में स्वीकारते अवश्य हैं।

इस प्रकार इच्छा–स्वातन्त्र्य की चर्चा तो प्रायः सभी समाज विज्ञानों में उपलब्ध होती है पर इसके स्वयं के अस्तित्व की संभावना काफी विवाद का विषय है। अतः उसका विवेचन आवश्यक है।

इच्छास्वातन्त्र्य–भ्रम या वास्तविकता–यद्यपि पारतात्त्विक सन्दर्भ में इच्छा स्वातन्त्र्य एक सर्वसम्मत धारणा है पर जैविक सन्दर्भ में यह प्राचीन काल से ही काफी विवादास्पद रही है[1]। क्योंकि इच्छा–स्वातन्त्र्य का लक्ष्यार्थ 'अन्यथा कर सकने की सामर्थ्य' (power to act otherwise) है और जागतिक क्षेत्र जो कि कारणता की शृंखला में सतत आबद्ध है, में इस 'अन्यथा–सामर्थ्य' का अवकाश खोजना अति जटिल कार्य है। यों तो सामान्यतः सभी इच्छा स्वातन्त्र्य की बात करते हैं और अपनी इच्छा को विविध सन्दर्भों में स्वतन्त्र ही मानते हैं पर उनके कथनों का तार्किक विश्लेषण करने पर अन्ततः सर्वत्र बद्धता की स्थिति ही दृष्ट होती है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शॉपेनहावर ने एक व्यक्ति का उदाहरण देकर इस प्रत्यय को समझाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि यदि कोई व्यक्ति यह मानता है कि वह जो चाहे कर सकता है, तो वस्तुतः यह संभव नहीं है क्योंकि ऐसा कहते हुये भी वह नियत ढंग से ही बात कह रहा है, अर्थात् सब कुछ चाहते हुये भी एक नियत कार्य को करने के लिये ही तत्पर हो रहा है और यही उसकी बद्धता है। वस्तुतः तो वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर सब कुछ प्रकृति के नियमों में बँधा हुआ ही दृष्ट होता है तब जीव ही कैसे उन नियमों से मुक्त रह सकता है। और यदि वह बद्ध ही

---

1. प्रायः इस सन्दर्भ में चार मान्यतायें उपलब्ध होती हैं--
(क) सब कुछ कर्म सिद्धान्त से संचालित है (पर तब आत्मा के क्रमविकास की स्पष्ट व्याख्या संभव नहीं है)।
(ख) सब कुछ विज्ञान का ही विजृम्भण है (इस दृष्टि से भी जीव का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है)।
(ग) जीवात्मा विश्वविकास की प्रक्रिया में एक स्थिर तत्त्व है जिसमें कि सारे विश्व का बीज निहित है। वर्तमान भूतकालिक भाव व कर्म का परिणाम है, अतः हम जैसा बनना चाहें वैसा कर्म करके भविष्य में तदनुरूप बन सकते हैं।
(घ) सर्वोत्तीर्ण परतत्त्व ही असीम स्वातन्त्र्य से मंडित है वही सारे कर्मों व विज्ञान का मूल है। इसी स्थिति की प्राप्ति होने पर जीवात्मा परमात्मा से एकाकार हो जाता है और उस असीम स्वातन्त्र्य का भागी बनता है।
विविध दृष्टियाँ इन्हीं में से किसी एक मत का अवलम्बन लेकर जीवगत स्वातन्त्र्य की व्याख्या करती है।
द. अरविन्द, पुनर्जन्म और क्रमविकास, पृ. 80.

है तो नैतिकता, उत्तरदायित्व व क्रमविकास की समस्त संभावनायें समाप्त हो जायेंगी। संभवतः इन्हीं कठिनाइयों को देखते हुये कान्ट ने कहा था कि शुद्ध प्रज्ञा स्वातन्त्र्य को एक अनिवार्य प्रकल्पना रूप में प्रस्तुत करती है पर तर्क इसकी व्याख्या में असमर्थ ही सिद्ध होता है।

इच्छा-स्वातन्त्र्य की संभावना के दो आधार हैं–

(क) समस्त प्रकार के नियमों का अभाव

(ख) पर्याप्त व पूर्ण कारण विद्यमान होने पर भी कार्योत्पत्ति का निरोध।

पर ये स्थितियाँ तार्किक दृष्टि से संभव नहीं है क्योंकि यदि सर्वत्र नियम कार्यरत हैं तो कुछ विशेष स्थितियाँ ही नियमों से मुक्त कैसे रह सकती हैं। वस्तुतः तो प्रकृति का ही क्षेत्र नहीं वरन् मानसिक क्षेत्र भी कारणात्मक नियमों में आबद्ध है। यद्यपि स्वातन्त्र्य के समर्थक वहाँ ऐसी किसी यांत्रिक कारणता का अभाव मानते हैं पर वहाँ भी प्रेरणाओं, संभव लक्ष्यों, रुचियों आदि की कारणता संभव है। अतः प्रत्येक इच्छा का भी एक कारण अवश्य है फलतः वह उसी अनिवार्यता से उत्पन्न होती है जैसे कि जगत् की अन्य कोई घटना। साथ ही द्वितीय स्थिति भी संभव नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हो सके कि पूर्ण व पर्याप्त कारण के रहने पर भी कार्योत्पत्ति न हो तो कारण की पूर्णता व पर्याप्तता संदिग्ध हो जाती है। कुछ दार्शनिक व धार्मिक चिन्तकों का मत है कि यदि जीवगत इच्छा स्वातन्त्र्य एक तथ्य है तो ईश्वर स्वयं भविष्य का पूर्वज्ञान नहीं कर सकता अतः उनकी दृष्टि में दैवी सर्वज्ञता की सिद्धि हेतु इच्छा स्वातन्त्र्य का निषेध आवश्यक है। इसी प्रकार इच्छा-स्वातन्त्र्य की सत्यता की रक्षा करते हुये सांख्यकीय विद्वानों के आंकड़ों की भी सत्यता नहीं बताई जा सकती, साथ ही वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी असंभव होगा।

पर इस प्रकार यदि इच्छा-स्वातन्त्र्य की कहीं संभावना न हो तो फिर प्रश्न उठता है कि तब जीव को स्वातन्त्र्य की अनुभूति कैसे होती है। इसके उत्तर में स्पिनोजा का मत है कि वस्तुतः जीव को अपनी इच्छाओं के कारणों का या किसी निश्चित संकल्प के लिये उत्तरदायी कारणों का ज्ञान नहीं रहता है फलतः उसे मिथ्या स्वातन्त्र्य की चेतना होती है। अन्यथा तो वह संकल्प विशेष भी कुछ विशिष्ट पूर्वपरिस्थितियों का परिणाम है। वे पूर्व परिस्थितियाँ आनुवांशिकता व परिवेश का समग्र ही है। यद्यपि कुछ के मतानुसार स्वात्मनियमन ही स्वातन्त्र्य का अभिप्राय है अतः वह संकल्प की स्थिति स्वातन्त्र्य की ही स्थिति कही जा सकती है पर वस्तुतः वह स्वातन्त्र्य यथार्थ नहीं है क्योंकि यहाँ का 'आत्म' आत्मतत्त्व का पर्याय न होकर देह, प्राण, मन आदि के पुञ्ज का ही प्रतिनिधि है और ये सब पूर्व परिस्थितियों व कर्म के द्वारा ही नियमित होते हैं। फलतः उनके द्वारा नियमित पदार्थ या घटनायें यथार्थ स्वातन्त्र्य की अभिव्यञ्जक नहीं हो सकती। इसी प्रकार मानव इच्छा भी पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वह परिवेश से ही निर्धारित है। क्योंकि जो चीजें हमारे किसी भी प्रकार के ज्ञान का विषय बनती हैं, वे ही इच्छा का विषय बनती हैं, अन्य अज्ञात वस्तुयें नहीं[1]।

---

1. नवजात शिशु में उपलब्ध प्रथम बार दुग्धपान की इच्छा तक भी स्वतन्त्र नहीं कही जा सकती क्योंकि वहाँ भी पूर्वजन्म के संस्कारों की ही कारणता सिद्ध होती है।

यहीं इच्छा स्वातन्त्र्य के समर्थक भी तर्क देते हैं कि यदि इच्छा–स्वातन्त्र्य तथ्य नहीं है, मात्र नियमनवाद ही सत्य है तो फिर एक व्यक्ति जो दो समान रूप से प्रबल प्रेरकों से प्रेरित है, कैसे एक निर्णय पर पहुँच सकेगा। इस सन्दर्भ में लॉस्की ने एक गधे का उदाहरण प्रस्तुत किया है जो कि पूर्ण रूप से समान दो भूसे के ढेरों के बीच खड़ा हो और यह निर्णय नहीं कर पा रहा हो कि किस ढेर की ओर बढ़े। पर लीबनीज़ का मत है कि ऐसी दो पूर्णतया समान प्रेरणायें ही नहीं संभव हैं क्योंकि यह तभी संभव है जब कि जगत् दो भागों में विभक्त हो जाये पर यह स्थिति असंभव है[1]।

इच्छा–स्वातन्त्र्य एक यथार्थ तथ्य है या मात्र कपोलकल्पना–इस विषय पर पाश्चात्य दर्शन में काफी विस्तार से चर्चा की गयी है जिनमें कुछ दार्शनिक इसकी यथार्थता को स्वीकारते हैं (अरस्तू, ह्यूम, मार्टिज शिलक आदि) तो कुछ इसे भ्रम रूप मानकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं (निकोलाई हॉर्टमन) और कुछ इन दोनों के मध्य की सरणि अपना कर इन दोनों ही स्थितियों का सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं। भारतीय दर्शन में यद्यपि इस धारणा का स्वतन्त्र विवेचन उपलब्ध नहीं होता पर समस्त दर्शनों की मुक्ति–मीमांसा जिस आचार शास्त्र की नींव पर आरूढ़ है वह इस इच्छा–स्वातन्त्र्य की संभावना को ही स्वीकृत करती प्रतीत होती है।

इस प्रकार विविध विश्लेषणों से इच्छा स्वातन्त्र्य की प्रतीति एक भ्रम सिद्ध होती है पर इस प्रत्यय के अभाव में नैतिकता व उत्तरदायित्व की समस्याओं को सुलझाना अति दुष्कर होगा अतः इसकी स्थिति किसी न किसी स्तर पर अनिवार्यतया स्वीकरणीय है। अतः स्वात्मनियमन को स्वातन्त्र्य के पर्याय रूप में प्रस्तुत करना अनिवार्य हो जाता है। यद्यपि इसकी नियतता को बताने के लिये उसे सीमित स्वातन्त्र्य ही कह सकते हैं[2] इस प्रकार यदि व्यक्ति किसी विवशता के कारण क्रियाशील है तब तो वह नियतिवाद का विषय है और यदि नहीं है तो वह स्वतन्त्र है। इस प्रकार किसी विवशता का अभाव ही उसे अन्यथा कर सकने की सामर्थ्य से युक्त बनाता है। एक व्यक्ति यदि अपने स्वभाव में परिवर्तन कर किसी कार्य को अन्यथा कर सकने की सामर्थ्य से युक्त है तो वह विवश नहीं है पर स्वभाव तो वंशानुक्रम से प्राप्त होता है तब उसमें अपनी इच्छा से परिवर्तन कैसे संभव है। इस दृष्टि से देखने पर स्वभाव के दो पक्ष किये जा सकते हैं–(1) आनुवंशिक शील गुण (2) अर्जित शीलगुण। इनमें से प्रथम पक्ष पर कोई नियंत्रण नहीं संभव है अतः उससे नियमित कर्मों के लिये कोई उत्तरदायित्व भी नहीं

1. एन.ओ.लॉस्की, फ्रीडम ऑफ विल, पृ. 21–22.

2. पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट जीव मे इच्छा–स्वातन्त्र्य को स्वीकारते हुये इसकी विशेष व्याख्या करता है। उसके अनुसार वह जगत् के सदस्य के रूप में तो अपने व्यवहार में बद्ध है पर परमार्थ स्तर पर स्वतन्त्र ही है। इस प्रकार इच्छा–स्वातन्त्र्य एक स्थल पर भ्रम है व दूसरी जगह वास्तविकता। पर कान्ट के इस कथन की तुलना एक ऐसे कैदी की स्थिति से संभव है जिससे कहा जाये कि जेल के बाहर स्वातन्त्र्य है। भारतीय दर्शनों में वेदान्त दृष्टि भी कुछ ऐसी ही है पर इसमे जागतिक क्षेत्र में भी जीव का सीमित स्वातन्त्र्य स्वीकृत है।

बताया जा सकता पर द्वितीय पर नियंत्रण संभव है अतः उसी विषय में जीवस्वातन्त्र्य की संभावना है। जहाँ नियतिवाद व्यक्तित्व के आनुवंशिक पक्ष पर बल देता है वहीं इच्छा स्वातन्त्र्य अर्जित पक्ष पर।

इच्छास्वातन्त्र्य, नैतिकता व उत्तरदायित्व–प्रायः सभी विद्वान इन तीनों प्रत्ययों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध पाते हैं। नैतिकता व उत्तरदायित्व का क्षेत्र तो इसी संकल्प–स्वातन्त्र्य की धुरी पर टिका हुआ है क्योंकि कोई स्वतन्त्र व्यक्ति ही अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी कहा जा सकता है। स्वतन्त्र से अभिप्राय है व्यक्ति का चयन स्वातन्त्र्य अन्यथा तो वह नियति के बन्धनों में ही जकड़ा रहने से अपने अच्छे बुरे कर्मों के लिये उत्तरदायी नहीं होगा फलतः संभूत परिणामों का भी भोक्ता उसे नहीं ठहराया जा सकता। यदि उसके सम्मुख कई विकल्प हैं और उनमें से वह किसी एक को चुनता है (चाहें उसका वह चयन उसकी पूर्वधारणाओं, मानसिक अभिवृत्तियों आदि से प्रेरित क्यों न हो) तो इस चयन सामर्थ्य के कारण ही वह उस कार्य को करने का उत्तरदायी हो जाता है। इसी उत्तरदायित्व के प्रत्यय पर ही कर्म का सिद्धान्त टिका हुआ है। ये कर्म ही संचित होते हुये भाग्य का निर्माण करते हैं और उसके भविष्य के निर्धारक बन जाते हैं और इसी दृष्टि से जीव के क्रम विकास की संभावनायें उद्‌भूत होती हैं।

उत्तरदायित्व का प्रत्यय कारणता का विरोधी है। यदि एक व्यक्ति का संकल्प कारणबद्ध हैं तो उसके लिये उसकी निन्दा नहीं की जा सकती है। यह कारण कोई विवशता, वंशानुक्रम का प्रभाव या तात्कालिक परिस्थिति आदि किसी भी रूप में हो सकता है या ईश्वर की इच्छा ही यदि सबकी नियामिका है तो वह अपने इच्छित ढंग से प्राणियों को संचालित करेगी तब प्राणी अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी नहीं कहे जा सकते। अतः चयन स्वातन्त्र्य को स्वीकारने पर ही यह उत्तरदायित्व की बात की जा सकती है।

पर यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इच्छा स्वातन्त्र्य की स्थिति उत्तरदायित्व की धारणा के लिये अपरिहार्य होने पर भी कारणाभाव को नहीं बताती क्योंकि वही व्यक्ति अपने कार्यों के लिये पूर्ण उत्तरदायी कहा जा सकता है जिसके कार्य के प्रति एक निश्चित प्रेरक विद्यमान हो। अचेतन रूप से किये गये कार्य के लिये उसका उत्तरदायित्व नहीं बनता फलतः उत्तरदायित्व के लिये नियमन व स्वातन्त्र्य दोनों पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं, मात्र नियमन का अर्थ यहाँ विशिष्ट है जो कि एक निश्चित प्रयोजन की प्रयोजकता को ही ध्वनित करता है।

ये उत्तरदायित्व तीन प्रकार के संभव हैं–

(क) नैतिक उत्तरदायित्व (moral responsibility)

(ख) कानूनी उत्तरदायित्व (legal responsibility)

(ग) प्रयोजनपरक उत्तरदायित्व (etiological responsibility)

यह उत्तरदायित्व की धारणा ही नैतिकता के क्षेत्र को संभव बनाती है नैतिकता का क्षेत्र पाप–पुण्य, शुभ–अशुभ, कर्तव्य–अकर्तव्य की धारणाओं से संचालित है और ये सभी विचार तभी संभव है जब इनकी पृष्ठभूमि में जीव का चेतन अभिप्राय (conscious-intention) निहित हो, साथ ही इनको करने में जीव के पास चयन स्वातन्त्र्य हो। कहीं–कहीं तो इनके मध्य इतना ज्यादा घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकृत है कि इच्छा को विशुद्ध नैतिक क्रिया के रूप में ही समझा जाता है। नैतिक क्रिया का अभिप्राय है एक आदर्श के पक्ष में निर्णय करना अर्थात् यहाँ स्वाभाविक पक्ष की बजाय आदर्शात्मक पक्ष की प्रधानता रहती है। स्वातन्त्र्य के समर्थकों के मतानुसार तो समस्त तथ्यों व घटनाओं की पृष्ठभूमि में 'आदर्श' व 'चाहिये' का शासन निहित है। इस प्रकार कर्तव्याकर्तव्य आदि की धारणायें इसी संकल्प–स्वातन्त्र्य को मूल में लेकर प्रस्तुत होती है[1]।

इच्छास्वातन्त्र्य तथा पूर्वकथन–इच्छा–स्वातन्त्र्य की धारणा के साथ सत्य पूर्वकथनों की स्थिति की संभावना सिद्ध करना अति जटिल कार्य है। परन्तु जगत् में पूर्वकथनों की संभावना को अनिवार्यतया स्वीकारा जाता है अतः इन दोनों स्थितियों के मध्य की विवादास्पद स्थिति को सुलझाना अति आवश्यक है। पूर्वकथनों की संभावनायें प्रायः भविष्य विज्ञान की विविध विधाओं का मूल है तथा विज्ञान भी अक्सर कुछ पूर्वकथन करता हैं यद्यपि उतनी निश्चितता को नहीं स्वीकारता पर सांख्यकीय आँकड़े तो पूर्ण नियतवाद को ही प्रस्तुत करते हैं, अतः इस सन्दर्भ में किये गये पूर्वकथनों की असंदिग्धता निश्चित है। जैसे दो व दो मिलकर चार होते हैं, यह हर स्थिति में सच है अतः कभी भी किसी भी स्थिति में उसकी सत्यता ज्ञापन हेतु पूर्वकथन किया जा सकता है। पर इच्छा–स्वातन्त्र्य की स्थिति सदैव कुछ ऐसे अंश का संकेतन करती है जिसमें कि उस पूर्वकथन का अपलाप भी हो सकता है। ऐसी स्थिति के लिये निम्न तथ्य ही उत्तरदायी हो सकते हैं–

(1) या तो पूर्वकथन के समय उन समस्त दशाओं का ज्ञान नहीं हो सका था जिनके कि वर्तमान रहने पर ही वह नियत पूर्वकथन घट सकता है।

(2) या कालान्तर में उन दशाओं में कोई ऐसा परिवर्तन घट गया जिसके कारण उस पूर्वकथन की सत्यता विघटित हो गयी।

अतः पूर्वकथन तभी सच हो सकते हैं जबकि समस्त पूर्ववर्ती दशाओं का पूर्व ज्ञान हो, पर इच्छा स्वातन्त्र्य इसका पूर्ण विलोम है। यहाँ तो व्यक्ति को स्वयं पता नहीं होता कि वह एक निश्चित स्थिति में कैसी प्रतिक्रिया चुनेगा। देश, काल, पात्र के अनुसार

1. भारतीय दर्शनों में मोक्षमीमांसा के सन्दर्भ में प्रतिपादित विविध साधनों को स्वीकार कर क्रमविकास की संभावना की यथार्थता बताने के मूल में भी यही इच्छा–स्वातन्त्र्य की ही धारणा है, अन्यथा नियतिवाद के नियमों में जकड़ा हुआ व्यक्ति कुछ भी अन्यथा नहीं कर सकता और तब उसके क्रमविकास की सभावना को भी नहीं स्वीकारा जा सकता।

एक ही आनुवंशिकता व परिवेश का समग्र जीव विविध प्रतिक्रियायें करता है अतः तत्सन्दर्भ में कोई निश्चित पूर्वकथन नहीं किये जा सकते। इस प्रकार पूर्वकथनों का क्षेत्र नियतिवाद का ही प्रतिफल है और इच्छा-स्वातन्त्र्य की धारणा इस प्रत्यय से विचलन प्रस्तुत करती है। अतः इन दोनों प्रत्ययों को एक साथ नहीं प्रस्तुत किया जा सकता है। हाँ, यह कह सकते हैं कि जब तक परतः नियमन की बात रहती है, पूर्वकथनों की संभावना को अस्वीकारा नहीं जा सकता, पर जहाँ स्वात्मनियमन की बात आती है, पूर्वकथनों की सत्यता संदिग्ध हो जाती है। इसी दृष्टि से संभवतः समस्त भविष्य विज्ञान 'भाग्य' को विशेष महत्त्व देने पर भी 'कर्म माहात्म्य' को भी स्वीकारते हैं चाहें फलित ज्योतिष हो या हस्तविज्ञान अथवा सामुद्रिक शास्त्र, सर्वत्र इस नियति-उत्तीर्णता की सामर्थ्य की संभावना को स्वीकारा गया है।

इच्छास्वातन्त्र्य का यथार्थ क्षेत्र—इच्छास्वातन्त्र्य के अभिप्राय का विवेचन हो जाने पर यह देखना आवश्यक है कि इस स्वातन्त्र्य की यथार्थ संभावना कहाँ है क्योंकि प्रत्येक वह स्थल, जहाँ हम स्वातन्त्र्य की स्थिति बताते हैं, का विश्लेषण करने पर वह किसी न किसी प्रकार के नियमन सूत्र से आबद्ध ही दृष्ट होता है। वस्तुतः यथार्थ स्वातन्त्र्य वहीं हो सकता है जहाँ कोई नियमन न हो। पर जागतिक क्षेत्रों में ऐसी स्थिति की संभावना कहीं दृष्ट नहीं होती, यहाँ तक कि इच्छा की भी नियत विषय से सम्बद्धता उसकी नियामकता को प्रतिपादित करती है। पर स्वातन्त्र्य को आत्मनियमन की शब्दावली में प्रस्तुत कर इस स्थिति को संभव बनाया जा सकता है। इस प्रकार से प्रतिपादित होने पर भी यह स्वातन्त्र्य जगत् में एक ही परिमाण में सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता अतः विविध-स्तरीय स्वातन्त्र्य की प्राप्ति होती है। वस्तुतः किसी चेतन तत्त्व को होने वाली कर्तृत्व की प्रतीति किसी न किसी परिमाण में स्वातन्त्र्य की उपस्थिति को इंगित कराती है। इस अनुभूति के विविध स्तर हैं—शारीरिक, मानसिक व आत्मिक। इन्हीं त्रिविध स्तरों को क्रमशः प्राण, मन व प्रज्ञा का क्षेत्र भी कह सकते हैं। आत्मिक के भी दो स्तर हैं—बाह्य व आन्तरिक। इसी आत्मिक स्तर पर सर्वोच्च स्वातन्त्र्य उपलब्ध होता है जो कि समस्त मान्य विषयता से मुक्त है। जागतिक स्तर पर भी कहीं-कहीं इस पूर्ण स्वातन्त्र्य के अंश उपलब्ध होते हैं जैसे कि मूल्यबोध, सौन्दर्यानुभूति, काव्यात्मक अभिव्यक्ति[1] आदि के क्षेत्र। वस्तुतः तो जीव आत्मा का ही परिमितीकरण है अतः आत्मतत्त्व के ही स्वातन्त्र्य के अंशों का उसमें भी उपलब्ध होना अपरिहार्य है, मात्र परिमाण में भेद है। जहाँ आत्मतत्त्व का स्वातन्त्र्य अपरिमित है, वहीं जीव का स्वातन्त्र्य एक सीमित क्षेत्र में ही रहता है। इस दृष्टि से स्वातन्त्र्य के द्विविध स्तर प्रतिपादित किये जा सकते हैं—

(क) सर्वोच्च स्वातन्त्र्य या यथार्थ स्वातन्त्र्य

(ख) सीमित स्वातन्त्र्य या जीवगत स्वातन्त्र्य

---

1 यद्यपि काव्यात्मक अभिव्यक्ति या किसी भी प्रकार के कलात्मक सर्जन में रचनाकार का अपरिमित स्वातन्त्र्य माना जाता है पर यहाँ भी सर्जनकर्ता क्या के लिये तो स्वतन्त्र है पर क्यों के लिये नहीं।

जहाँ प्रथम स्तर शुद्ध आत्मतत्त्व में ही उपलब्ध होता है[1] वहीं द्वितीय स्तर जीव के विविध व्यापारों में विविध परिमाणों में उपलब्ध होता है। पर यह परिमाण भेद तिरोभाव की मात्रा पर आधारित है। स्वातन्त्र्य के तिरोभाव की मात्रा जितनी कम होती है उसके स्वातन्त्र्य का उतना विकास होता जाता है पर यहाँ यह समस्या उपस्थित होती है कि क्या यह विकास क्रमविकास के सोपानों से गुजरते हुये एक स्तर पर पहुँच कर उसी पूर्णता को प्राप्त कर सकता है जो उस आत्मतत्त्व का सारतत्त्व है। इस सन्दर्भ में विविध मतमतान्तर उपलब्ध होते हैं फलतः नाना दार्शनिक वादों का जन्म होता है।

इस प्रकार यथार्थ स्वातन्त्र्य उस आत्मा का ही क्षेत्र सिद्ध होता है जहाँ किसी बद्धता की बात नहीं की जा सकती और जो स्वयं अपने स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति विविध नियमों के माध्यम से करता है। इस स्थिति में कर्मबन्धन की भी नियामकता न होकर उसका भी नियमन किया जाता है। समस्त जागतिक पदार्थ–मन, इच्छा, मनोमय अहं आदि, इसी स्वातन्त्र्य के उपकरण हैं। जीवगत स्वातन्त्र्य तो स्वातन्त्र्य की सीमित संभावनाओं का ही अग्रसारक है। यद्यपि जीव अनन्त संभावनाओं से स्पन्दित हो सकता है पर व्यवहार केवल सीमित संभावनाओं के साथ सीमित रीति से ही कर सकता है। अतः यहाँ का स्वातन्त्र्य सापेक्ष स्वातन्त्र्य ही है।

इस प्रकार इच्छा स्वातन्त्र्य की इन विविध संभावनाओं के साथ नियमनवाद की स्थिति किस प्रकार सध सकती है यह नितान्त द्रष्टव्य है। यही अग्रिम अध्यायों का विवेच्य है।

---

1. कुछ भारतीय दार्शनिक (वेदान्तियों का एक विशेष वर्ग) नैष्कर्म्य को ही यथार्थ स्वातन्त्र्य मानते है पर यह स्थिति उपपन्न नही कही जा सकती क्योंकि कर्म व स्वातन्त्र्य परस्पर विरोधी नहीं है वरन् कर्मों के मूल में स्वातन्त्र्य की चेतना ही निहित रहती है।

2

भारतीय दर्शनों में इच्छास्वातन्त्र्य के विविध प्ररूप

यूँ तो इच्छा–स्वातन्त्र्य की धारणा का विस्तृत विवेचन प्रायः पाश्चात्य दर्शन सम्प्रदायों में ही उपलब्ध होता है पर कई दार्शनिक समस्याओं के समाधान में इसका पर्याप्त महत्त्व होने से भारतीय दर्शनों में भी इसके उल्लेख पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। भारतीय दर्शनों में इच्छा स्वातन्त्र्य की चर्चा प्रायः द्विविध सन्दर्भों में उपलब्ध होती है:–

(क) जागतिक क्यों के सन्दर्भ में

(ख) वैयक्तिक क्यों के सन्दर्भ में

जहाँ जागतिक 'क्यों' इस इच्छा–स्वातन्त्र्य को जगत् के परम कारण रूप में प्रस्तुत करता है वहीं वैयक्तिक 'क्यों' इस इच्छा–स्वातन्त्र्य को समस्त मानवीय कर्मों व जागतिक विषमताओं के निदान रूप में प्रस्तुत करता है[1]। प्रथम सन्दर्भ में यह इच्छा सीमित जीव से सम्बद्ध न होकर किसी जीवेतर चेतना से सम्बद्ध है जबकि द्वितीय सन्दर्भ में वह सीमित जीव से सम्बद्ध है।

भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में इस इच्छा–स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विविध मान्यतायें उपलब्ध होती हैं जिनका विस्तृत विवेचन निम्न है–

(क) **वैदिक साहित्य में इच्छास्वातन्त्र्य** – वैदिक साहित्य में यत्र–तत्र प्राप्त उद्धरणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि इच्छा के प्रत्यय पर यहाँ भी विचार हुआ है। यह इच्छा की धारणा स्वातन्त्र्य से अनिवार्यतया आबद्ध है अतः उत्तरकाल में पूर्णतया विकसित इच्छा–स्वातन्त्र्य की धारणा के बीज यहाँ उपलब्ध हो जाते हैं। यहाँ इच्छा एक आत्म–चेतन तत्त्व का मानसिक स्पन्दन है जिसमें कि अभाव की चेतना तथा सक्रिय प्रयत्न की चेष्टा, ये दोनों ही मिश्रित रूप से विद्यमान रहते हैं। इस इच्छा का विवरण यहाँ दो स्तरों पर मिलता है–जागतिक स्तर पर तथा वैयक्तिक स्तर पर। जागतिक इच्छा (cosmic will) जहाँ सारी सृष्टि का स्रोत है वहीं वैयक्तिक इच्छा जीव सम्बन्धी समस्त क्रियाओं का आधार है। इन्हीं दो स्तरों पर यह इच्छा दो प्रकार के कर्तृत्वों को निभाती है–

(क) जागतिक उद्विकास की निमित्तता का कर्तृत्व

1. क्यों का सन्दर्भ सर्वत्र कारणता का अग्रवाहक है अतः कारणता का स्रोत इच्छा ही सिद्ध होती है। (यद्यपि कुछ दार्शनिक मत इसके अपवाद हैं) जिसमें कि स्वातन्त्र्य का प्रत्यय दूध में जल की भाँति मिला हुआ है। अत सभी दर्शन सम्प्रदाय जो जागतिक क्यों, क्या व कैसे की व्याख्या से प्रारम्भ होकर वैयक्तिक स्तर तक पहुँचते है, अनिवार्यतया इस इच्छा स्वातन्त्र्य की धारणा का आश्रय लेते है तथा अल्प अथवा विशद रूप से इसकी चर्चा करते हैं।

(ख) नैतिक जगत् की समस्त संभावनाओं के लिये अनिवार्य पूर्वदशा का कर्तृत्व।

ऋग्वेद का नासदीय सूक्त सर्वप्रथम जगत् के मूल कारण रूप में इस इच्छा तत्त्व को प्रस्तुत करता है पर यह इच्छा यहाँ 'काम' संज्ञा द्वारा अभिहित है[1]। यह 'काम' शब्द यहाँ सिसृक्षा का वाचक है। सृष्टि के प्रारम्भ मे सत्–असत् कुछ नहीं था तभी सर्वप्रथम उस आत्मचेतन आदि तत्त्व में सिसृक्षा उत्पन्न हुई और तब सृष्टि हुई। छान्दोग्य उपनिषद् भी इसी मान्यता को पुष्ट करती है। यहाँ कहा गया है कि पहले उसने नाना होने की इच्छा की तब नाना रूपों को धारण किया[2]। अन्य उपनिषदों मे भी अक्सर इस मान्यता के पोषक उद्धरण प्राप्त होते हैं[3]। वहाँ इसे प्रायः 'संकल्प' कहा गया है, इसी संकल्प को सबका स्रोत बताया गया है[4]। बृहदारण्यक उपनिषद् में मनुष्य को काम, संकल्प और कर्म का समीकरण कहा गया है[5]। यहाँ काम, संकल्प और कर्म तथा कर्मफल के मध्य के सम्बन्ध का बड़ा कुशल विवेचन है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि सब कुछ संकल्प मे ही केन्द्रीभूत है, संकल्प से ही विनिर्मित है, संकल्प पर ही स्थिर है, पृथिवी और स्वर्ग संकल्पमय हैं, वायु और आकाश संकल्पमय हैं, जल और अग्नि संकल्पमय हैं। आकाश और पृथिवी के संकल्प करने पर वृष्टि होती है, वृष्टि के संकल्प से अन्न संकल्प करता है, अन्न के संकल्प से प्राण संकल्प करता है, प्राण के संकल्प से मन्त्र संकल्प करता है, मन्त्र के संकल्प से यज्ञ संकल्प करता है, यज्ञ के संकल्प से विश्व संकल्प करता है, और विश्व के संकल्प से प्रत्येक पदार्थ संकल्प करता है। समस्त जगत् इसी संकल्प की शक्ति से ओतप्रोत है[6]। यह संकल्प विश्व में कई रूपों में अभिव्यक्त होता है। मनुष्यों में यही प्रेरणा शब्द द्वारा अभिहित है तथा वनस्पति जगत् में 'उद्दीपन' शब्द द्वारा एवं जड जगत् में 'यांत्रिक प्रवृत्ति' शब्द द्वारा कथित है।

नैतिक जगत् की अनिवार्य पूर्वकल्पना रूप इस इच्छा स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में तो यहाँ कई उद्धरण उपलब्ध होते हैं। प्रायः सभी उपनिषदों में अन्य मार्गों को छोड़कर एक विशिष्ट मार्ग के अनुकरण का निर्देश है। यह छोड़ने की सामर्थ्य ही व्यक्ति के इच्छा–स्वातन्त्र्य को सिद्ध करती है। व्यक्ति के सम्मुख शुभ–अशुभ दोनों मार्ग रहते हैं, जिनमें से वह

---

1. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
   सतो बंधुमसति निरविंदन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।। ऋ.वे. 10/129/4
2. तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजो ऽसृजत्।...वही 6/2/3
3. ऊँ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत
   लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत्। ऐ.उ. 1/1/1-2, छा.उ. 6/2/4
4. तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तापश्च तेजश्च तेषां संक्लृप्त्यै वर्षं संकल्पते वर्षस्य संक्लृप्तया अन्नं संकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानां संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणां संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणां संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं संकल्पते स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति। छा. उ. 7/4/2
5. अथो खल्वाहुः – काममय एवाय पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। बृ.उ. 4/4/5
6. छा.उ. 7/4/2

इच्छानुसार किसी भी एक का चयन कर अपने पौरुष व प्रयत्न दोनों की सहायता से उस का अनुकरण कर सकता है[1]। यह तो अनेकत्र कहा गया है कि व्यक्ति जैसी इच्छा करता है वैसा ही हो जाता है और वैसे ही कर्म करता है[2]। यद्यपि जहाँ मनुष्य में इच्छा–स्वातन्त्र्य की संभावना के पक्ष में यहाँ कई उद्धरण मिलते हैं वहीं अन्यत्र इस संभावना से इंकार भी किया गया है। कौषीतकि उपनिषद में स्पष्टतया इस स्वातन्त्र्य का निषेध किया गया है। वहाँ अन्यत्र कहा गया है कि जीव ईश्वर के हाथ की कठपुतली मात्र है। यदि वह ईश्वर जीव की उन्नति चाहता है तो उससे शुभकर्म करवाता है और यदि पतन चाहता है तो उससे पापकर्म करवाता है। उसका प्रतीयमान स्वातन्त्र्य तो पिंजड़े में बन्द स्वातन्त्र्य जैसा ही है[3]। पर छान्दोग्य उपनिषद में इस स्वातन्त्र्य को एक अनिवार्य शर्त से जोड़ कर स्वीकार किया गया है कि आत्मा के यथार्थ रूप के अनुभव से पूर्व तो यथार्थ स्वातन्त्र्य का अभाव है पर बाद में यथार्थ स्वातन्त्र्य ही रहता है[4]।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में इच्छास्वातन्त्र्य की दोनों संभावनाओं की स्वीकृति उपलब्ध होती है तथा नैतिक विकास की अनिवार्य पूर्वकल्पना तथा जागतिक विकास का मूलस्रोत, ये दोनों ही स्थितियाँ यहाँ की इच्छा की धारणा की प्रकृति में अनुस्यूत प्राप्त होती हैं।

(ख) **चार्वाक दर्शन में इच्छास्वातन्त्र्य**— चार्वाक दर्शन में इच्छा स्वातन्त्र्य की प्रकल्पना के सन्दर्भ में स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलते पर यत्र–तत्र उपलब्ध विवरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ जीव का इच्छा स्वातन्त्र्य तो स्वीकृत हो सकता है पर ईश्वरीय इच्छा का स्वातन्त्र्य नहीं क्योंकि यहाँ ईश्वर जैसी किसी अलौकिक सत्ता को स्वीकारने से इंकार किया गया है। जीव का यह स्वातन्त्र्य यहाँ अन्य दर्शनों की तरह अलौकिक बन्धनों से न जकड़ा होने पर भी लौकिक बन्धनों से आबद्ध है। परम पुरुषार्थ रूप में मोक्ष रूप स्वातन्त्र्य तो यहाँ स्वीकरणीय ही नहीं है पर फिर भी यदि अन्य मतावलम्बी इस सिद्धान्त पर विशेष आग्रह करें तो मोक्ष देहनाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है या इसे सुख–दुःख से उत्तीर्णता रूप में भी बताया जा सकता है अतः यहाँ निषेधात्मक स्वातन्त्र्य की धारणा ही स्वीकृत लगती है।

---

1. शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्। पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया! शुभे पथि अशुभेषु समाविष्ट शुभेष्वेवावतारयेत्। छा. उ. 2/5/6
2. (क) अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति, तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते। बृ.उ. 4/4/5
   (ख) यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सो ऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते। छा.उ. 8/2/10
3. एष ह्येव साधु कर्म कारयति त यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एव असाधु कर्म कारयति तं, यमधो निनीषत, एष लोकपालः एव लोकाधिपतिरेष लोकेशः सम आत्मेति विद्यात्। कौ. उ. 3/9
4. तद्यथेह कर्मजितो लोक क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तदा इहात्मानमानुविद्य व्रजन्त्येताँश्च सत्यान्कामाँस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताँश्च सत्यान् कामाँस्तेषा सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। 8/1/6

(ग) **जैन दर्शन में इच्छास्वातन्त्र्य–** जैन दर्शन में इस धारणा के सन्दर्भ में स्पष्ट विचार नहीं उपलब्ध होता। यहाँ सृष्टि के सन्दर्भ में तो कोई चेतन कर्ता स्वीकृत है नहीं अतः सृष्टि के क्यों के सन्दर्भ में भी इच्छास्वातन्त्र्य की प्रकल्पना अस्वीकृत सिद्ध होती है। हाँ, जीव स्तर पर इसकी चर्चा अवश्य उपलब्ध होती है। चेतना जीवत्व का सार है और चेतना का स्वरूप है ज्ञान, अनुभव तथा इच्छा का समग्र[1]। समस्त जीवों में इच्छा सामर्थ्य भी है तथा चयन सामर्थ्य भी अतः वे स्वयं अपनी इच्छानुसार अपनी कर्मगति का निर्धारण कर सकते हैं। यहाँ मात्र कर्म द्वारा ही सब कुछ निर्धारित होने से तथा किसी बाह्य दैवी शक्ति का हस्तक्षेप न स्वीकृत होने से जीव अपने कर्मों की दिशा जिधर चाहे उधर मोड़कर अपने भविष्य का स्वयं निर्माण कर सकता है। यही उसका वीर्य है। यद्यपि संसारी दशा में जीव के सभी आनन्त्य तिरोहित हो जाते हैं पर पुनः मुक्त होकर उसे उनकी प्राप्ति हो जाती है। वह पुनः अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द तथा अनन्त वीर्य के वैशिष्ट्यों से मंडित हो जाता है। यहाँ 'वीर्य' शब्द जीव के स्वातन्त्र्य का वाचक है। इस प्रकार इच्छास्वातन्त्र्य जीव के स्वभाव में निहित है और उसकी उत्तरवर्ती क्रियाओं में प्रतिफलित होता है। यहाँ मुक्तावस्था में जीव स्वयं ईश्वर बन जाता है। ऐसी स्थिति में उसकी ईशता अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द व वीर्य की वाचक है।

(घ) **बौद्ध सम्प्रदाय में इच्छा स्वातन्त्र्य–** आधुनिक मनोविज्ञान की इच्छा शक्ति का सहज में बौद्ध विश्लेषण के अन्दर पता मिलना कठिन है क्योंकि बौद्ध दर्शन इच्छा के लिये आवश्यक विषयी व विषय दोनों का खण्डन करता है। यहाँ पुद्गल नैरात्म्य भी स्वीकृत है व धर्मनैरात्म्य भी[2]। यहाँ स्वीकृत आत्मा अनुभवात्मक है जो उन सब अवस्थाओं के एकत्र पुञ्ज का नाम है जिनके कारण हमारा मानसिक अस्तित्व है। यह आत्मा कोई स्थिर तत्त्व नहीं है। अतः यहाँ इच्छा के प्रत्यय की भी विशिष्ट व्याख्या उपलब्ध होती है। यद्यपि यह इच्छा यहाँ भी चेतना का सबसे अधिक प्रधान पक्ष है एवं मानव जीवन का आधारभूत तत्त्व है पर उसका स्वरूप विशिष्ट है। यहाँ इच्छा पाँचों स्कन्धों के एकत्रीकरण का ही परिणाम है। यह भी कह सकते हैं कि यहाँ के विज्ञान, वेदना व संस्कार बहुत कुछ ज्ञान, भावना एवं इच्छा के सदृश हैं। यहाँ की संस्कार की धारणा में इच्छा (छन्द) व प्रयत्न (वीर्य) दोनों सम्मिलित हैं। अन्य भारतीय विचारकों के ही समान बौद्धों के मत में भी ज्ञान व इच्छा परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध है कि दोनों में कोई भेद नहीं किया जा सकता। यहाँ एक ही शब्द चेतना का उपयोग विचारने व इच्छा करने के अर्थ में किया जाता है जो दोनों की अन्तःग्रथितता का प्रबल प्रमाण है।

श्रीमती रोज डेविड्स के मत में यद्यपि बौद्ध दर्शन में स्पष्टतः बुभुक्षा, इच्छा एवं

---

1. पञ्चास्तिकायसार, 38.
2. बौद्धों का माध्यमिक सम्प्रदाय तो सब कुछ शून्य मानता है अतः वहाँ न कोई इच्छा करने वाला है व न कुछ एषणीय है।

चुनाव में भेद उपलब्ध नहीं होता है तो भी हमें यहाँ इच्छा की मनोवैज्ञानिक घटना एवं इसके नैतिक निर्णय के मध्य मुख्य विभाजक मर्यादायें अवश्य मिलती हैं[1]। इच्छा के लिये यहाँ विविध संज्ञायें मिलती हैं–तृष्णा (तण्हा) जो कि इच्छा की दूषित या विकृत अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है, कामना (छन्द) जो शारीरिक कामनाओं की प्रतिनिधि है; ऐन्द्रिय सुख के लिये नन्दिराग तथा रूप की इच्छा के लिये रूप–छन्द संज्ञा का प्रयोग मिलता है[2]।

बुद्ध के मत में यही इच्छा सभी कर्मों की निर्णायिका है क्योंकि संसार की प्रक्रिया चेतना रूप उत्पत्ति से सम्बद्ध है। यहाँ यह इच्छा शक्ति ही बराबर क्रियाशील रहती है। यही एक वास्तविक सत्ता है, स्वयं में एक वस्तु है जिसका परिणाम समस्त जगत् है। प्रत्येक पदार्थ इच्छा का रूपान्तर है। अतः सारे दुःखों का कारण इच्छा है। मनुष्य के पास इच्छाशक्ति है जिसके कारण ही उसे नैतिक प्राणी कहा जाता है। यही इच्छाशक्ति कर्म सिद्धान्त के मूल में रहती है। कान्ट के अनुसार बौद्ध मत में उस इच्छा का विशेष महत्त्व है जिसका निर्णय स्वतन्त्रतापूर्वक नैतिक नियम के द्वारा हुआ हो। इच्छा का कार्य है अभिसंधान। यही व्यक्ति को विविध कर्मों को करने के लिये प्रेरित करती है[3]।

यह इच्छा यहाँ भी अन्य दर्शनों की भाँति आसक्तिपरक होने पर अज्ञान का ही परिणाम कथित है। यहाँ अज्ञान व मिथ्या इच्छा एक ही घटना के कल्पनात्मक व क्रियात्मक पार्श्व हैं। मिथ्या इच्छा का सारहीन अमूर्त रूप ही अज्ञान है और अज्ञान को मूर्त रूप में ग्रहण करने से ही मिथ्या इच्छा उत्पन्न होती है।

इस प्रकार बौद्ध सम्प्रदाय इच्छास्वातन्त्र्य को वैयक्तिक सन्दर्भ में तो अवश्य स्वीकारता है पर जागतिक सन्दर्भ में इसके प्रतिपादन की संभावना यहाँ नजर नहीं आती क्योंकि यहाँ किसी स्थिर तत्त्व की सत्ता का निषेध किया गया है। जागतिक क्यों की व्याख्या भी बिना किसी स्थिर आधार के मात्र गति के प्रवाह के द्वारा की गयी है। यह गति कुछ बौद्ध सम्प्रदायों में क्षणों का, कुछ में स्वलक्षणों का व कुछ में विज्ञानसन्तानों का ही स्वभाव है। वैयक्तिक सन्दर्भ में भी जागतिक वैषम्यों के निदानार्थ तथा निर्वाणार्थ अनिवार्य पूर्वसंभावनाओं के कथन के लिये इस इच्छास्वातन्त्र्य की स्वीकृति आवश्यक है और इस रूप में यहाँ उसकी स्वीकृति की गयी है पर परमकारण या चेतन कारण की धारणा को छोड़ देने के कारण उसके सन्दर्भ में ऐसे किसी इच्छास्वातन्त्र्य की बात नहीं उठती।

(ङ) **न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में इच्छास्वातन्त्र्य**– न्यायवैशेषिक मत में इच्छा

1. एस. राधाकृष्णन्, भा.द.भा.। पृ 372
2. वही.
3. इसके विपरीत कुछ विद्वान् (मक्खलि गोसल आदि) पूर्ण नियतिवादी है। इनके अनुसार तो स्वतन्त्र इच्छा का कोई स्थान नहीं है अतः अच्छे–बुरे के लिये उसका कोई उत्तरदायित्व नही है। सब कुछ नियति, वातावरण तथा व्यक्ति के स्वभाव से नियंत्रित है।

की गणना ज्ञान, द्वेष, प्रयत्न आदि के साथ गुण वर्ग में की गयी है[1]। वह यहाँ आत्मा रूप द्रव्य का गुण है[2] पर अनिवार्य गुण न होकर आगन्तुक ही है। इस सन्दर्भ में यहाँ यह तर्क दिया जाता है कि कुछ स्थितियों में इनका अभाव भी उपलब्ध होता है जैसे सुषुप्ति या मृतावस्था में अतः ये आत्मा के अनिवार्य गुण नहीं हो सकते। यह सम्प्रदाय ज्ञान, इच्छा व यत्न का एकत्व नहीं मानता वरन् इन्हें मन के तीन अलग-अलग स्तर मानता है[3], साथ ही यहाँ इन तीनों को एक विशेष क्रम में ही स्वीकारा गया है। सबसे पहले बुद्धि द्वारा उस पदार्थ का ज्ञान होता है, तब तत्सम्बन्धी इच्छा होती है और तब तत्सम्बन्धी प्रयत्न[4]। यह इच्छा यद्यपि आत्मा का गुण मानी गयी है पर शरीर से युक्त होने पर ही इच्छा उसका गुण बनती है, शरीर के बिना नहीं। अपने यथार्थ रूप में तो वह सभी गुणों से मुक्त है। इस सम्प्रदाय के कुछ ग्रंथों में इच्छा के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी किया गया है[5]। इच्छा का विवेचन यहाँ कहीं प्रवृत्ति की साक्षात अनुकूलता रूप में किया गया है[6] या कहीं यत्नसंस्कार से भिन्न सम्बन्ध की अनवच्छिन्न प्रकारता ही इच्छा बताई गयी है[7]। इसकी व्याख्या अपने या दूसरे के लिये अप्राप्त की प्रार्थना रूप में भी की जाती है। यह इच्छा आत्मा व मन के संयोग से, सुखादि की अपेक्षा से अथवा स्मृति की अपेक्षा से उत्पन्न होती है[8]। पर यह सर्वत्र स्वीकृत है कि किसी प्रकार की इच्छा हेतु विषय का पूर्वज्ञान आवश्यक है[9]।

इच्छा के काम, अभिलाषा, राग, संकल्प, वैराग्य, उपधा, भाव आदि भेद है। काम है मैथुन की इच्छा, अभिलाषा है अध्यवहरण की इच्छा, राग है पुनः पुनः विषयानुरञ्जन की इच्छा, संकल्प है आसन्नक्रियेच्छा, कारुण्य है स्वार्थ की अपेक्षा न कर परदुःखप्रहाण की इच्छा, उपधा है परवञ्चन की इच्छा तथा भाव है अन्तर्निगूढ़ इच्छा। इसके अतिरिक्त

---

1. बुद्धिः सुखं दुखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम्।
   दवत्व स्नेहः संस्कारावदृष्टं शब्द एव च।। न्या.सि.मु., का. 5
2. सा च मनोग्राह्या आत्ममात्रवृत्तिश्चेति विज्ञेयम्। भा.प., श्लो. 58 इसके विपरीत साख्य तथा वेदान्त इच्छा को मन का ही धर्म मानते हैं। (द्र., न्याको. पृ. 137)
3. एम. हिरियन्ना, आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 246
4. आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृतिः।
   कृतिजन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्या भवेत्क्रिया।। न्या.को.पृ. 137
5. कारिकावलीमुक्तावली, पृ. 505-509
6. इच्छालक्षणं च प्रवृत्तेः साक्षादनुकूलत्वम्। वा.वृ., पृ. 21, न्या.को., पृ. 136 पर उद्धृत
7. अथवा यत्नसंस्कारभिन्नत्वे सति सम्बन्धानवच्छिन्नप्रकारताकत्वम्।
   लक्षणावलि. पृ. 35, न्या.को.पृ. 137 पर उद्धृत
8. स्वार्थं परार्थं वाऽप्राप्तप्रार्थनेच्छा। सा चात्ममनसोः संयोगात् सुखाद्यपेक्षात् स्मृत्येपक्षाद् वोत्पद्यते। प्र.भा.पृ. 213-14
9. (अ) चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा तु या भवेत्।
   तद्धेतुः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिर्भवेत्।। का. 147
   (ब) निर्दुखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते।
   इच्छा तु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधार्यादि।। का. 146

चिकीर्षा, जिहीर्षा इत्यादि क्रिया–भेद से भी इच्छा के भेद होते हैं[1]। इसे कहीं–कहीं दो प्रकार का भी बताया गया है–(क) फलविषयक तथा (ख) उपायविषयक। इनमें से फल दो प्रकार का हो सकता है–सुख रूप और दुःखाभाव रूप। इनमें से फलविषयक इच्छा के प्रति फलज्ञान कारण है और उपायेच्छा के प्रति इष्टसाधनता का ज्ञान कारण है[2]। इसी प्रकार चिकीर्षा के प्रति कृतिसाध्यता का ज्ञान व इष्टसाधनता का ज्ञान कारण है तथा विरोधी पदार्थों का ज्ञान प्रतिबन्धक है[3]। इच्छा के सन्दर्भ में यह द्रष्टव्य है कि सदैव संभव पदार्थों की ही इच्छा की जाती है तथा जिन पदार्थों से ज्ञाता का उपकार हो, उन्हीं पदार्थों की इच्छा की जाती है[4]। इच्छा को एक अन्य तरह से भी द्विविध बताया जाता है– नित्य व अनित्य। नित्य इच्छा ईश्वर की है व अनित्य जीवों की[5]।

इस इच्छा के स्वातन्त्र्य की स्थिति यहाँ दो दृष्टियों से निरूपित है–(क) जीव की दृष्टि से (ख) ईश्वर की दृष्टि से। जीव का स्वातन्त्र्य तो उसकी अपनी सीमाओं में बँधा हुआ है। उसकी समस्त नैतिक क्रियायें इसी स्वातन्त्र्य के क्षेत्र में आती हैं पर क्योंकि इच्छा उसका स्वरूप नहीं है अतः स्वातन्त्र्य भी उसका स्वभाव नहीं हैं, वह तो ऊपर से ओढ़ा हुआ है। यद्यपि यहाँ आत्मा के चयन–सामर्थ्य को स्वीकारा गया है पर उसका चयन–स्वातन्त्र्य उसे शरीर के साथ जुड़ने पर ही प्राप्त है, अन्यथा नहीं। यद्यपि ईश्वर के स्वातन्त्र्य को यहाँ जीव से उत्कृष्ट कोटि का माना गया है और उसके कर्तृत्व को सृष्टि के सन्दर्भ में स्वीकारा गया है पर वस्तुतः वहाँ भी वह अणुओं तथा जीवों के अदृष्ट से बँधा हुआ है[6]। उसका स्वातन्त्र्य न आत्मप्रकाशन रूप है, न उसकी शक्ति रूप व न ही वह किसी दबाव के अभाव को बताता है व न अनियमनवाद को, साथ ही वह सृष्टि का मूल भी नहीं है, वरन् वह मात्र जीवों के अदृष्ट के अनुसार पूर्व विद्यमान अणुओं के संयोजन में निहित है[7]। सृष्टि के 'क्यों' या 'क्या' की व्याख्या का उत्तरदायी यह स्वातन्त्र्य नहीं है वरन् ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता का साधक मात्र है। इस प्रकार सच्चे अर्थों में

---

1. कामोऽभिलाषः रागः सङ्कल्पः कारुण्यं वैराग्यम् उपधा भावः इत्येवमादयः इच्छाभेदाः। मैथुनेच्छा कामः। अभ्यव्यवहारेच्छाऽभिलाषः। पुनः पुनर्विषयानुरञ्जनेच्छा रागः। आसन्नक्रियेच्छा सङ्कल्पः। स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहारणेच्छाकारुण्यम्। दोषदर्शनाद्विषयत्यागेच्छा वैराग्यम्। परवञ्चनेच्छा उपधा। अन्तर्निगूढेच्छा भावः। चिकीर्षाजिहीर्षेत्यादिक्रियाभेदादिच्छाभेदा भवन्ति। प्र.भा.पृ. 214
2. इच्छा हि फलविषयिणी उपायविषयिणी च। फलं तु सुखदुःखभावश्च। तत्र फलेच्छां प्रति फलज्ञानं कारणम्। अतएव पुरुषार्थः सम्भवति यज्ज्ञातं सत् स्ववृत्तितयेष्यते स पुरुषार्थ इति तल्लक्षणात्। इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं फलितोऽर्थः। उपायेच्छां प्रतीष्टसाधनताज्ञानं कारणम्। मुक्तावली, का.मु.पृ. 505
3. ...चिकीर्षां प्रति कृतिसाध्यताज्ञानमिष्टसाधनताज्ञानं च कारणम्। सत एव वृष्ट्यादौ कृतिसाध्यताज्ञानाभावान्न चिकीर्षा। का.मु.पृ. 506–507
4. सि.मु.का. 146–50
5. न्या.को.पृ. 137
6. यद्यपि इस सम्प्रदाय के ग्रंथो में ईश्वर के स्वातन्त्र्य को समस्त जागतिक क्रियाओं का प्रेरक बताया गया है, सृष्टि, प्रलय, कर्म–व्यवस्था आदि सभी का मूल इसी को माना गया है पर यहाँ की ईश्वर की धारणा का स्वातन्त्र्य के प्रत्यय के साथ समन्वय संभव नहीं है।
7. यह ईश्वरीय इच्छा काफी कुछ पतञ्जलि की ईश्वरीय इच्छा जैसी है क्योंकि वहाँ भी इच्छा का कार्य मात्र जीवों के कर्मों के अनुसार प्रकृति की गति को दिशा देना है तथा यहाँ भी उसका कार्य अणुओ की गति को दिशा देना है। (तु.की., एस.एन. दासगुप्ता, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी भा. I पृ. 325)

तो यह यहाँ किसी क्रियात्मक पक्ष का निर्वाह न कर मात्र ईश्वर की ईशता का वाचक है। फिर भी यदि उसे सर्जनात्मक अर्थों में ही लें तो उसका स्वातन्त्र्य ज्ञानात्मक पक्ष में तो संभव हो जाता है पर क्रियात्मक पक्ष में वह बद्ध ही ठहरता है क्योंकि क्रियात्मक सन्दर्भ में वह अणुओं तथा जीवों के अदृष्ट के अधीन है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर आत्मा वर्ग का ही है अतः यह इच्छा-स्वातन्त्र्य उसका स्वरूप नहीं हो सकता वरन् आगन्तुक गुण ही होगा और इस दर्शनानुसार शरीर की प्राप्ति होने पर ही उसे इस गुण की प्राप्ति होगी। यह शरीर-प्राप्ति बद्धता की ही स्थिति है अतः ईश्वर को स्वातन्त्र्य की प्राप्ति बद्धता की ही स्थिति में पहुँचा देगी[1]। इस प्रकार इस तत्त्वमीमांसा में यह इच्छा स्वातन्त्र्य सही अर्थों में सध नहीं पाता।

स्वातन्त्र्य का अभिप्राय परम पुरुषार्थ के सन्दर्भ में लेने पर यहाँ वह निषेधात्मक अभिप्राय को ही प्रस्तुत करता है, भावात्मक सन्दर्भ को नहीं क्योंकि यहाँ अन्तिम स्थिति में मोक्ष का अभिप्राय मात्र दुःखों से छुटकारा माना गया है, किसी प्रकार की ज्ञानात्मक या आनन्दात्मक स्थिति की प्राप्ति नहीं क्योंकि आत्मा अपने शुद्ध रूप में सभी गुणों से मुक्त है। पर यह सम्प्रदाय इस तथ्य को भावात्मक स्वातन्त्र्य का ही परिपोषक मानते हुये बताता है कि अपने यथार्थ शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति ही इसकी भावात्मकता है[2] पर यथार्थतः यह मान्यता तर्कसंगत नहीं लगती। योगी को प्राप्त सिद्धियाँ यद्यपि अन्य सम्प्रदायवत् यहाँ भी स्वातन्त्र्य की स्थिति बताती हैं पर वह यथार्थ स्वातन्त्र्य नहीं है। अन्तिम मोक्ष की स्थिति का स्वातन्त्र्य तो सबसे छुटकारा पाने में है, कुछ पाने में नहीं।

(च) **सांख्ययोग में इच्छास्वातन्त्र्य**[3]— सांख्य-योग सम्प्रदाय, जिसमें कि सारा कर्तृत्व निश्चेतन प्रकृति को समर्पित है, इस इच्छास्वातन्त्र्य की एक विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत करता है क्योंकि यहाँ अन्यत्रवत् इच्छा चेतन का धर्म नहीं है[4]। यहाँ तो एकमात्र चित् तत्त्व पुरुष इन इच्छादि प्रत्ययों से रहित माना गया है। इच्छा का प्रत्यय क्रिया के संस्पर्श से लिपटा हुआ है और यहाँ चित् तत्त्व एक निष्क्रिय तत्त्व है अतः किसी भी प्रकार की क्रिया से शून्य है। उसकी चिद्रूपता का अभिधेय मात्र उसकी प्रकाशरूपता है, विमर्शनपरता नहीं क्योंकि विमर्शन भी ज्ञानात्मक क्रिया ही है। फलतः समस्त क्रियायें

---

1. यद्यपि इस सम्प्रदाय के विद्वानों ने ईश्वर के लिये इच्छा तथा प्रयत्न को उत्पन्न करने हेतु शरीर की आवश्यकता का निषेध किया है और ईश्वर की बुद्धि इच्छा तथा प्रयत्न को नित्य माना है (न्यायकन्दली पृ. 55-58) पर यह संभावना इस दर्शन के अन्य विवेचनों के साथ संगत सिद्ध नहीं होती। यदि ईश्वर आत्मा कोटि का है तो उसके सभी वैशिष्ट्य भी उसी जैसे होने चाहिये। हाँ, मात्र उसकी सर्वोत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिये परिमाण का भेद माना जा सकता है पर गुण का नहीं।
2. न्यायमंजरी, 499-533
3. इस सम्प्रदाय में इच्छा स्वातन्त्र्य का स्पष्ट विवेचन नहीं उपलब्ध होता अतः यहाँ प्रस्तुत विवेचन का आधार यत्र-तत्र उपलब्ध उद्धरण ही है।
4. इच्छा...प्रवृत्तिमात्ररूपा...सांख्यनये गुणत्रयपर्याप्तवृत्तिः, न तु न्यायमत इव इच्छाया चेतनधर्मत्वम् इति...। वि.त्तो. टी.सां.त.कौ पृ. 306 इस दृष्टि से इस मत का साम्य शॉपेनहावरके इच्छा के प्रत्यय के साथ स्थापित किया जा सकता है जहाँ कि इच्छा अचेतन मन का व्यापार है, अतः अचेतन ही है।

प्रकृति के ही क्षेत्र में आती हैं अतः इच्छा स्वातन्त्र्य भी उसी की परिधि में विचारणीय है, पुरुष उससे पूर्णमुक्त है[1]। पर प्रकृति के विकारों के साथ मिथ्या तादात्म्य स्थापित कर लेने से उनसे युक्त सा भासित होता है[2]।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह इच्छा प्रकृति से उद्विकसित चौबीस तत्त्वों में से किसकी वृत्ति है, तो मानसिक वृत्ति होने से तीनों अन्तःकरणों में से ही किसी से सम्बद्ध हो सकती है। पर किस अन्तःकरण की वृत्ति है, इस बिन्दु पर सांख्य व योग में परस्पर मतभेद है। इस सन्दर्भ में सांख्य में द्विविध मत उपलब्ध होते हैं–एक मत के अनुसार इच्छा बुद्धि की वृत्ति है[3] तथा दूसरे मत के अनुसार इच्छा बुद्धि के परिणाम अहंकार की वृत्ति है[4]। योग सर्वसम्मत रूप से इच्छा को बुद्धि की ही वृत्ति मानता है। जहाँ इच्छा जीव के वैयक्तीकरण[5] के लिये उत्तरदायी मानी गयी है वहाँ वैयक्तीकरण व्यापारवान् अहंकार की वृत्ति है और जहाँ इच्छा स्वयं वैयक्तीकरण है अर्थात् अस्मिता है वहाँ यह बुद्धि की ही वृत्ति है। अतः अहंकार–वृत्ति मानने वाले के मत में जहाँ इच्छा के पूर्व 'मैं' की चेतना रहती है और इच्छा उसका विषय बनती है वहीं बुद्धि–वृत्ति मानने वालों के मत में वह इच्छा ही 'मैं' की चेतना है। इससे पहले ऐसी कोई स्थिति नहीं है[6]। पर सांख्य योग इन दोनों सम्प्रदायों में यह मतभेद होने पर भी इस सन्दर्भ में ऐकमत्य है कि यह ज्ञान से उद्भूत है तथा एक मानसिक प्रक्रिया है।

किसी भी क्रिया के दो पक्ष संभव हैं--भावात्मक व निषेधात्मक जिन्हें कि प्रवृत्ति व निवृत्ति भी कहा जा सकता है। इच्छा के प्रत्यय में भी ये दोनों पक्ष अन्तर्भूत हैं[7]। ये दोनों

---

1. इस दृष्टि से यह पुरुष अरस्तू के प्रथम तत्त्व की धारणा के सदृश है। अरस्तू भी एक विश्वोत्तीर्ण ईश्वर को जागतिक क्रियोत्पादन हेतु स्वीकृत करता है पर उसमे किसी भी जागतिक क्रिया का निषेध करता है। ईश्वर का मात्र इतना कर्तृत्व है कि सर्वप्रथम इसकी उपस्थिति होने पर ही तदनन्तर सारी सृष्टि विकसित होती है। इस ईश्वर का जगत् से कैसा भी सम्बन्ध स्वीकारना तो उसकी पूर्णता का ह्रासक ही होगा। द्रष्टव्य, राधाकृष्णन, भा. दर्शन भा.2 पृ. 287 सांख्य सम्मत यह पुरुष की धारणा अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म के प्रत्यय से काफी मिलती है।
2. ज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्कारधर्माधर्मा सर्व एव बुद्धे परिणामविशेषाः सूक्ष्ममात्रया प्रकृतावेव वर्तमाना अवस्थाभेदादाविर्भवन्ति तिरोभवन्ति च, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः प्रतिबिम्बते बुद्धाविति। सा.बो.टी., सां.का. पृ. 208
3. ज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्कारधर्माधर्मा सर्व एव बुद्धेः परिणामविशेषाः। (सा.बो.टी., सां.का.पृ. 208)
4. सां. प्र. भा. 1/63
5. इस वैयक्तीकरण का अभिप्राय है महत्तत्त्व के सर्वसाधारण अवैयक्तिक निश्चयन का विलोप व विशिष्ट पदार्थों व व्यक्तियों के सन्दर्भ में परिसीमित रूप से निश्चयन।
6. द्रष्टव्य, के.सी.भट्टाचार्य, स्टडीज् इन फिलॉसफी भा.। पृ. 221.
7. डा. के.सी. भट्टाचार्य इस सन्दर्भ में साख्य व योग दोनो मे भेद करते है। इनके अनुसार साख्य जहाँ निवृत्तिपरक पक्ष को इच्छा की धारणा में शामिल नहीं करता, वही योग दोनो के सम्मिलित रूप को ही इच्छा का प्रत्यय मानता है। सांख्य के अनुसार निवृत्तिपरक पक्ष विमर्शन मात्र है, मात्र परिसीमनकारी पक्ष ही इच्छा का अभिधेय है। इसी दृष्टिभेद के कारण योग में मुक्ति की अवस्था मे इच्छा का निवृत्तिपरक पक्ष सक्रिय रहता है जबकि सांख्य में नही। (तु.की., के.सी. भट्टाचार्य, स्टडीज इन फिलॉसफी पृ. 222) पर यह मत सर्वसम्मत रूप से स्वीकरणीय नही है क्योंकि अन्यत्र इसके कई अपवाद उपलब्ध होते है।

पक्ष क्रमशः भोग व मोक्ष के लिये उत्तरदायी हैं। इसी इच्छा के द्वारा सारा उद्विकास क्रम विकसित या लीन होता है। प्रवृत्तिपरक इच्छा होने पर जागतिक उद्विकास का उद्भव होता है व निवृत्तिपरक इच्छा होने पर उसका लय। इस इच्छा के परिसीमन व्यापार का नियमन बुद्धि तत्त्व करता है। (यद्यपि सांख्य के एक अन्य वर्ग के अनुसार यहाँ यह नियमन अहंकार तत्त्व का ही कार्यक्षेत्र है।) यद्यपि इच्छा के प्रत्यय का स्पष्ट विवेचन सांख्य या योग के ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होता पर इसकी तत्त्वमीमांसा के आधार पर ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

प्रत्येक इच्छा ज्ञानपूर्विका है[1]। अतः अनन्त संभावनाओं से आलोड़ित प्रकृतितत्त्व व्यक्तता की ओर उन्मुख होने पर महत् रूप में परिणत होकर परिसीमनकारी इच्छा को प्रस्तुत करता है तथा पुनः प्रलय या कैवल्य की अवस्था में आरोह क्रम में सामान्यीकरण की इच्छा को प्रस्तुत कर सब कुछ प्रकृति तत्त्व में अनुस्यूत सिद्ध करता है। यह इच्छा यों तो प्रकृति का परिणाम होने से अचिद् ही है पर चित् पुरुष के प्रतिबिम्ब के संक्रमण से चेतन प्रतीत होती है और भ्रान्तिवश पुरुष भी इच्छामय प्रतीत होता है। पूर्ण विविक्त, शुद्ध, केवली पुरुष के सान्निध्य[2] से क्षुब्ध नित्यपरिणामी प्रकृति पुरुष के प्रयोजनों–भोग तथा मोक्ष के लिये सक्रिय हो जाती है। यद्यपि प्रयोजन पुरुष का है पर उसकी पूर्ति की इच्छा प्रकृति की है। इस प्रकार अन्य दर्शनों में स्वीकृत इच्छा की कारणता यहाँ भी कुछ अंशों में स्वीकृत लगती है पर यह इच्छा किसी चेतन तत्त्व द्वारा नियमित या चेतन का

---

1. यहाँ ज्ञान का अभिप्राय सत्तापरक ही है ज्ञानक्रिया परक नही क्योंकि चित्त तो प्रकृति का स्वरूप ही नही है। अतः ज्ञानपूर्विका इच्छा की संभावना यहाँ प्रकृति में समस्त पदार्थों की अव्यक्तावस्था में अवस्थिति को लेकर ही घटित होती है।
2. यह सान्निध्य सांख्य दर्शन का अति असन्तोषजनक प्रत्यय है जिसकी युक्तिपरक व्याख्या सांख्य तत्त्वमीमांसा में संभवतः संभव ही नहीं है क्योंकि सांख्य उद्विकास का कारण पुरुष–प्रकृति के संयोग को बताता है पर यहाँ मूलभूत समस्या है कि दो विरोधी व स्वतन्त्र सत्तायें परस्पर सम्पर्क में कैसे आती है। सांख्य इस कठिनाई को अनुभव करता है व बताता है कि वहाँ यथार्थ संयोग नही होता वरन् पुरुष की सन्निधि मात्र रहती है पर ऐसा मानने पर पुनः शंका है कि पुरुष तो सदैव प्रकृति के समीप है तो सदैव सृष्टि होती रहेगी, कभी लय नही होगा, साथ ही सृष्टि अनादि हो जायेगी तब प्रकृति की साम्यावस्था भंग होने की भी कोई आवश्यकता नहीं होगी। इस शंका के समाधान हेतु सांख्य संयोगाभास का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। वस्तुतः पुरुष प्रकृति के मध्य कोई यथार्थ संयोग नहीं है, मात्र संयोग का आभास रहता है और यही उदविकास का कारण है। बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होने से पुरुष बुद्धि के विकारों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस प्रकार पुरुष के इस प्रतिबिम्ब का ही संयोग होता है, पुरुष का नहीं लेकिन बुद्धि तत्त्व भी तो उदविकास हो जाने पर ही उदित है, अतः यह कैसे उससे पहले उदित होकर पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये यह कहा जाता है कि पुरुष प्रकृति में ही प्रतिबिम्बित होता है पर तब फिर मुक्ति व प्रलय असंभव हो जायेंगे क्योंकि प्रकृति व पुरुष के वहाँ सदैव समीप में रहने से पुरुष सदैव प्रकृति मे प्रतिबिम्बित होकर उससे तादात्म्य स्थापित करता रहेगा और इस प्रकार सृष्टि का उद्देश्य सफल नहीं होगा। साथ ही यदि संयोगाभास साम्यावस्था को भग करने में समर्थ है तो उदविकास स्वय आभास रूप होगा।

अंश न होने से उनसे काफी भिन्न है[1]। इसी कारण यहाँ इच्छा का अभिप्राय मात्र कार्योन्मुखता से लेते हैं[2]।

अब स्वातन्त्र्य का प्रत्यय विचारणीय है। यह प्रत्यय भी यहाँ वैशिष्ट्यपूर्ण है। स्वतन्त्र तत्त्व वह है जो ज्ञान और क्रिया में स्वतन्त्र है और ज्ञान व क्रिया के मूल में इच्छा रहने से जिसकी इच्छा स्वतन्त्र है उसी का स्वातन्त्र्य है, यह सिद्ध होता है। यहाँ इच्छा प्रकृति का विकार है अतः स्वातन्त्र्य भी प्रकृति का ही सिद्ध होता है। पर यहाँ इच्छा की बजाय स्वभाव को ही उद्विकास का मूल निमित्त बताया गया है अतः यहाँ प्रकृति का स्वातन्त्र्य स्वभावतः है, इच्छाजन्य नहीं[3] जिसे अधिक उपयुक्त शब्दावली में यांत्रिक ही कह सकते हैं। पर यहाँ इच्छा प्रकृति के अन्य विकारों के सदृश ही उसके स्वरूप में अन्तर्भूत है अतः स्वातन्त्र्य स्वभावतः हो या इच्छातः, दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं दृष्ट होता। इच्छा अवश्य निश्चेतन तत्त्व में सिद्ध नहीं हो पाती फलतः यहाँ इच्छा स्वातन्त्र्य की धारणा ज्यादा पुष्ट नहीं होती।

यदि स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन सांख्य सम्मत चित् तत्त्व के सन्दर्भ में करें तो वह वहाँ मात्र साक्षी या केवली रूप में ही स्थित सिद्ध होता है जिसे कि निष्क्रिय (passive) स्वातन्त्र्य ही कह सकते हैं। सक्रिय स्वातन्त्र्य (ज्ञानात्मक व क्रियात्मक स्वातन्त्र्य) तो यहाँ संभव ही नहीं है क्योंकि ज्ञान व क्रिया अविवेकज हैं, प्रकृति के विकार हैं, पुरुष जिनका अपने में आरोपण अविद्यावश ही करता है[4]। सांख्य की दृष्टि में यथार्थ स्वातन्त्र्य तो केवली भाव है जो मात्र पुरुष तत्त्व में ही संभव है। जीव जब प्रकृति व पुरुष का विवेक ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब प्रकृति के बन्धनों से मुक्त हो जाता है तब उसका मात्र केवली

---

1. यद्यपि इस प्रकार की खींचातानी से यहाँ जबर्दस्ती इच्छा की कारणता को प्रतिपादित करने का प्रयास किया जा सकता है पर वस्तुतः तार्किक विश्लेषण इस स्थिति को ज्यादा देर तक संभव नहीं बनाता। सभवतः इसी कारण सांख्य के मूल ग्रंथकार कहीं भी इच्छा को सृष्टि के सन्दर्भ में कारण रूप में प्रस्तुत नहीं करते। इच्छा जो मूलतः चेतना से सम्मिश्रित है अचेतन प्रकृति का विकार होकर, 'कारणगुणाः हि कार्यगुणाः आरभन्ते' की उद्घोषक दर्शनधारा में किसी तरह संभव नहीं हो सकती और न ही विपरीतस्वभावा होने से इसका स्वभाव ही बन सकती है। हाँ, मात्र इच्छा की परिभाषा बदलकर ही काम चलाया जा सकता है।
2. (क) आकूतस्येच्छाविशेषत्वेन चेतनधर्मत्वात् करणग्रामस्य चाचेतनत्वादतः, आकूतपदेन कार्यकरणोन्मुखत्वं लक्ष्यते। सा.बो.टी., सां.त.कौ.पृ. 368
   (ख) इस दृष्टि से तो प्रकृति तत्त्व में ही इच्छा की सिद्धि हो जाती है क्योंकि उसमें कार्योन्मुखता तो रहती ही है। यह कार्योन्मुखता दो प्रकार की है–भोग के प्रति व मोक्ष के प्रति। अतः द्विविध इच्छायें भी होंगी–भोग की इच्छा तथा मोक्ष की इच्छा। (यदा भोगेच्छा प्रकृतिपुरुषभेददिदृक्षया च प्रकृतेर्भवति तदा सा पुरुषोपरागवशात् परिणमते)।
3. पर यहाँ यह विचारणीय है कि प्रकृति अपने व्यापार में परनिरपेक्ष होते हुये भी क्षोभ हेतु पुरुष–संसर्ग की अपेक्षा करती है तब उसका स्वातन्त्र्य किस सीमा तक टिक पाता है।
4. पुरुष में यद्यपि प्रकृतिजन्य ज्ञान–क्रिया आदि विकारों का राहित्य है पर यहाँ भी ज्ञान क्रिया सामर्थ्य रहती है जिसका कि व्यापार मात्र साक्षित्वसिद्धि है, अन्य कुछ नहीं। यह सामर्थ्य बुद्धिजन्य ज्ञान–क्रियासामर्थ्य से भिन्न है।

रूप या साक्षी रूप ही शेष बचता है[1], जो शुद्ध प्रकाश रूप है जिसमें अन्य किसी त्रिगुणजन्य विकार का अभाव है, यही स्वातन्त्र्य है। इस प्रकार स्वातन्त्र्य का निषेधात्मक पक्ष ही यहाँ स्वीकृत है जो कुछ प्राप्ति में नहीं, सर्वत्याग में निहित है[2]। यह सर्व उसका स्वत्व न होकर ऊपर से ओढ़ा हुआ है। इस कारण इसके त्याग से उसके स्वरूप की च्युति नहीं वरन् स्वरूपावरणों का विनाश ही होता है।

यद्यपि यहाँ पारतात्त्विक क्षेत्र में तो ऐसे ज्ञातृत्व व कर्तृत्व की सामर्थ्य रूप स्वातन्त्र्य की बात नहीं सिद्ध होती पर जैविक क्षेत्र[3] में इच्छा ज्ञान व क्रिया तीनों के संभव होने से यह स्वातन्त्र्य संभव है[4]। यह स्वातन्त्र्य यहाँ कर्म के सिद्धान्त के द्वारा जकड़ा हुआ है। जीव यद्यपि स्वातन्त्र्य रखता है पर एक सीमा के अन्दर। उस सीमा की मात्रा जीव की अपने ज्ञान की मात्रा पर निर्भर है जिसके कि कारण किसी का स्वातन्त्र्य क्षेत्र अधिक व्यापक है जबकि किसी का कम। योगी नाना उपायों से नाना शक्तियों को अर्जित कर अपनी स्वातन्त्र्य की परिधि को उस सीमा तक पहुँचा सकता है जहाँ से वह सारी सृष्टि के क्रियाकलापों का अपनी इच्छा से नियंत्रण कर सके। पर वह मात्र पदार्थगत शक्तियों का विपर्यास कर सकता है, स्वयं पदार्थ का नहीं[5]। उसका स्वातन्त्र्य अष्ट सिद्धियों के रूप में कथित है पर यह स्वातन्त्र्य यहाँ के कैवल्य रूप स्वातन्त्र्य की दृष्टि से अति निम्नकोटि का है।

सांख्य योग में एक विशिष्ट भेद छब्बीसवें तत्त्व के सन्दर्भ में है जो कि सांख्य में अस्वीकृत है जबकि योग में स्वीकृत है। यह तत्त्व ईश्वर है। अब यहाँ यह द्रष्टव्य है कि

---

1. डॉ. के.सी. भट्टाचार्य इस सन्दर्भ में सांख्ययोग दोनों का विस्तार से विश्लेषणात्मक विवेचन करते हैं। उनके अनुसार सांख्य में यह स्थिति मात्र ज्ञान से प्राप्त हो सकती है पर योग में योग के अभ्यास से ही संभव है। योग को ज्ञानविशिष्ट इच्छा का ही एक प्ररूप बताया गया है। वैसे योग समाधि प्राप्ति की क्रिया व समाधि इन दोनों का वाचक है। यह क्रिया ही इच्छात्मिका है व स्वतन्त्र है। साथ ही यह क्रिया निवृत्तिपरक भी है क्योंकि चित्तवृत्तियों का निरोध करती है। समाधि प्राप्ति में सहायक ईश्वर–प्रणिधान भी समर्पणात्मक इच्छा है। स्टडीज् इन फिलॉसफी भा. 1, पृ. 225–227
2. कॉर्ल एच. पॉटर के शब्दों में ऐसे स्वातन्त्र्य को निषेधात्मक स्वातन्त्र्य (negative freedom) या 'से मुक्ति' (freedom from) रूप कह सकते हैं।
3. पारतात्त्विक क्षेत्र का अभिप्राय है निःसंग केवली पुरुष का क्षेत्र तथा जैविक क्षेत्र है प्रकृतिगत विकारों से तादात्म्य स्थापित किये हुए बद्ध पुरुष का क्षेत्र जिसे पारिभाषिक शब्दावली में जीव कहते हैं। पुरुष की सन्निधि मात्र से क्षुब्ध प्रकृति नित्य विरक्त पुरुष के लिये अपनी जटिल सृष्टि–प्रक्रिया प्रारम्भ कर उसके लिये द्विविध सर्गों को प्रस्तुत करती है प्रथम लिंग सर्ग व द्वितीय भाव सर्ग। लिंग सर्ग जहाँ पुरुष के लिये भोगायतन प्रदान करता है वहीं भाव सर्ग भोग्य पदार्थ।
4. ईश्वरनुग्रह–प्राप्ति हेतु योग्य अधिकारी की स्वीकृति जीवगत स्वातन्त्र्य की संकेतक है कि जीव अपने कर्मों को चुनने में स्वतन्त्र है फलतः यदि वह यमनियमादि कर ईश्वरसमापन्नता को प्राप्त करता है तो ईश्वर उस पर अनुग्रह करता है।
5. (योगी) यथा ज्ञातुं कर्तुं वा, तथैव ज्ञेयं भवतीत्यर्थः.... यद्यपि प्राप्ताष्टसिद्धिर्योगी कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्तः तथापि तेन पदार्थशक्तय एव विपर्यस्यन्ते न पदार्थाः....।
सा.बो.टी., सां.त.कौ.पृ. 345

क्या यह पौराणिक ईश्वरवत् ईशितृत्व का स्वामी होकर तत्त्वमीमांसात्मक महत्त्व भी रखता है या मात्र एक धार्मिक प्रत्यय है। अन्यत्र ईश्वर शब्द एक सर्वज्ञ, सर्वतकर्तृत्वसामर्थ्यवान् तत्त्व का संकेतन करता है अतः यहाँ भी इससे उसी अभिप्राय की संभावना प्रतीत होती है पर ऐसा नहीं है। ईश्वर भी पुरुष के समान ही एक पुरुष है मात्र उससे उसका इतना वैशिष्ट्य है कि वह प्रकृष्टसत्त्वयुक्त है जबकि अन्य पुरुष सामान्य सत्त्व से ही युक्त है[1]। प्रकृष्ट का अभिप्राय है सबसे उत्तम अर्थात् निरतिशय उत्कर्ष युक्त। इसका अभिप्राय यह हे कि वह अनादि विवेकाख्याति से युक्त रहने से अनादि सर्वज्ञता व सर्वभावाधिष्ठातृत्व से युक्त है। यह प्रकृष्ट सत्त्व उसकी उपाधि है जिसे कि वह धारण करने में स्वतन्त्र है। वह नित्यमुक्त है। पुरुष से उसका भेद यह है कि जहाँ पुरुष पूर्वकाल में बद्ध होकर पुनः कैवल्य को प्राप्त करता है वहीं ईश्वर त्रिकाल में कभी बन्धनों में नहीं बँधता। वह तो क्लेश कर्म विपाकाशय से नित्य अपरामृष्ट[2] है। जैसे पुरुष नाना है वैसे ही ईश्वर भी नाना हो सकता है पर कोई भेदक तत्त्व न होने से उसे एक ही मान लिया जाता है। इस प्रकार यह ईश्वर सर्वमुक्त होने से व मात्र केवलीभाव रखने से निषेधात्मक स्वातन्त्र्य या निष्क्रिय स्वातन्त्र्य तो रखता ही है पर सक्रिय स्वातन्त्र्य भी यहाँ किस रूप में संभव है, यह द्रष्टव्य है। इस सन्दर्भ में यहाँ उपलब्ध विवरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस दर्शन में ईश्वर द्विविध रूप में स्वीकृत है–(क) जन्य ईश्वर, (ख) अजन्य ईश्वर। जन्य ईश्वर सगुण है[3] जिसे अक्सर दार्शनिक शब्दावली में हिरण्यगर्भ की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यही प्रकृष्टसत्त्व रूप उपाधि[4] को धारण कर निर्माणचित्त धारण करता है[5] व प्रतिबन्धापनय, अनुग्रह[6] आदि कृत्यों का सम्पादन करता है। अजन्य ईश्वर इससे भिन्न, मात्र साक्षीरूप, निराकार, चेतन, केवली रूप है। यह यद्यपि इच्छा, ज्ञान क्रिया से युक्त है पर ये प्रत्यय बुद्धि के धर्मभूत प्रत्ययों से भिन्न हैं। यहाँ इनका व्यापार मात्र इसके साक्षीरूप का सम्पादन है, अन्य किसी स्थूल व्यापार का निष्पादन नहीं। सांख्य–योगियों का सगुण ईश्वर समाहित, शान्त, सस्मित, ध्यानस्थ महापुरुष है। सगुण ईश्वर अपनी उपाधि का लय नहीं कर सकता। वह तो मात्र निर्गुण ईश्वर की ही सामर्थ्य है। अतः सगुण ईश्वर की उपाधि का आश्रय लेकर प्राणी अपने–अपने संस्कारों के अनुकूल देह प्राप्त करते रहते हैं।

---

1. हरि आ., पा.यो.द. पृ. 63-64
2. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। यो.सू. 1/24
3. हरि आ., पा.यो.द. पृ. 70
4. ईश्वर द्वारा गृहीत यह उपाधि प्राकृत है। यही निर्माणचित्त है जिसके कि धारण का प्रयोजन है भूतानुग्रह। अनुग्रह का अर्थ है अनिष्ट निवारणपूर्वक इष्टसाधन की इच्छा।
5. पा. यो. द., पृ. 69
6. प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुग्रह्णाति अभिध्यानमात्रेण तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति। व्या.भा. यो.सू. 1/23

इस प्रकार इस ईश्वर में दोनों प्रकार के स्वातन्त्र्यों की स्थिति सिद्ध होती है। जन्य पक्ष में वह सक्रिय स्वातन्त्र्य का अधिकारी है व अजन्य पक्ष में निष्क्रिय का। इन दोनों ही पक्षों में स्वातन्त्र्य कोई आगन्तुक धर्म न होकर उसका स्वाभाविक व्यापार है। ईश्वर का यह ऐश्वर्य साम्य और अतिशय से शून्य है। यह ऐश्वर्य अन्य किसी के ऐश्वर्य द्वारा अतिक्रान्त नहीं होता क्योंकि अतिशयित ऐश्वर्य ही ईश्वर का ऐश्वर्य है। उसके सदृश या बढ़ कर किसी का ऐश्वर्य नहीं है। वह सर्वज्ञ है। पर ऐसा ईश्वर तत्त्व स्वीकृत होने पर भी योग में जगत् की रचना या संहार का कर्ता ईश्वर को नहीं बताया गया है। सांख्यवत् ही यहाँ भी सृष्टि व प्रलय प्रकृति के ही व्यापार हैं जो कि न तो अवरोह में और न आरोह में किसी बाह्य तत्त्व का सहारा लेती है। ईश्वर तत्त्व का इस उद्विकासवाद में मात्र इतना योगदान है कि वह प्रकृति के विकास की दिशा निर्धारित करता है, उसके विकास मार्ग के अवरोधों को हटाता है[1]। यहाँ उसका स्वातन्त्र्य है कि वह ऐसे कार्य से विरमित भी हो सकता है (महाप्रलय में) व पुनः प्रारम्भ भी कर सकता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर तत्त्व का उपयोग विवेकज्ञानप्राप्ति में है।

इस प्रकार सांख्य में जहाँ प्रकृति ही सक्रिय स्वातन्त्र्य रखती है वहीं योग में ईश्वर (हिरण्यगर्भ रूप) में भी ऐसे स्वातन्त्र्य की स्थिति बता सकते हैं, निर्गुण, चेतन, केवली रूप का निष्क्रिय स्वातन्त्र्य तो दोनों ही दर्शनों में स्वीकृत है–सांख्य में भी (पुरुष के सन्दर्भ में) तथा योग में भी (ईश्वर (पुरुष विशेष) व पुरुष (जीव) दोनों के सन्दर्भ में), जीवगत स्वातन्त्र्य दोनों ही दर्शनों में एक सीमित क्षेत्र में ही संभव है। यद्यपि प्रकृति का अर्द्ध प्रयोजनवादी उद्विकास पूर्णतः यांत्रिक है जिसमें जीव के स्वातन्त्र्य की संभावना संभव नहीं पर जागतिक वैषम्य हेतु तथा नैतिकता की सिद्धि हेतु ऐसे तत्त्व को मानना आवश्यक है। साथ ही यह सत्कार्यवादी मीमांसा किसी भी असत् पदार्थ की कभी भी स्थिति प्रतिपादित नहीं कर सकती अतः किसी न किसी रूप में पदार्थ का सत् रहना अनिवार्य है फलतः स्वातन्त्र्य का अल्पांश जीवों मे अनिवार्यतया स्थित है जिसकी कि काष्ठा योगी में व पराकाष्ठा संसारोत्तीर्ण तत्त्व (पुरुष या प्रकृति) में विद्यमान रहती है।

(छ) **मीमांसा दर्शन में इच्छास्वातन्त्र्य–** इस सम्प्रदाय में इस प्रत्यय की कोई स्पष्ट चर्चा नहीं उपलब्ध होती पर उपलब्ध विवेचनों से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यहाँ कोई ईश्वर स्वीकृत नहीं है[2]। अतः उसके सन्दर्भ में तो इच्छास्वातन्त्र्य का प्रश्न नहीं उठता। हाँ, जीव के स्तर पर इस इच्छास्वातन्त्र्य की स्थिति बचती है। जीव में

---

1. यद्यपि प्रधान तथा पुरुष से समस्त जगत् बना है, यह सत्य है पर फिर भी एक विशेष सृष्टि रूप रचना के लिये किसी महापुरुष का संकल्प आवश्यक है। (संकल्प का अर्थ यहाँ विश्वशरीराभिमान है, अभिमान रहने से ही संकल्प, कल्पना आदि हो सकते हैं) किन्तु निर्गुण मुक्त पुरुष में संकल्प–इच्छा आदि नहीं रह सकते। इस विषय में सांख्य तथा योग एकमत है। जन्य ईश्वर या हिरण्यगर्भ (प्रजापति) में ही ऐसे संकल्प रहते हैं परन्तु वे मूल उपादान के सष्टा नहीं हैं, मात्र प्रकृति संभूत इच्छा के द्वारा ही ब्रह्माण्ड के रचयिता हैं। हरि.आ.पा.यो.द.पृ. 70
2. पर कुछ परवर्ती दार्शनिक ईश्वर की सत्ता को स्वीकारते हैं।

विविध सोपानों में यह इच्छा व्यक्त होती है। सर्वप्रथम उसे कार्यता का ज्ञान होता है अर्थात् कुछ किये जाने की चेतना होती है फिर चिकीर्षा होती है जिसमें कि कृतिसाध्यता का ज्ञान निहित रहता है तब फिर प्रवृत्ति होती है और इसी क्रम में आगे चेष्टा और क्रिया सम्पन्न होती हैं[1]। जीव का यह इच्छा–स्वातन्त्र्य सीमित परिधि में बँधा हुआ है अतः वह एक निश्चित क्षेत्र में स्वतन्त्र है,अन्यत्र तो आबद्ध ही है। मोक्ष की स्थिति में तो उसका स्वातन्त्र्य मात्र समस्त कर्मों के क्षय तथा समस्त सुख दुःखादि से मुक्त शुद्ध स्थिति की प्राप्ति में निहित है, किसी अन्य भावात्मक स्थिति की प्राप्ति में नहीं।

(ज) **वेदान्त सम्प्रदाय में इच्छास्वातन्त्र्य–** वेदान्त सम्प्रदाय अति विस्तृत दर्शन वर्ग है जिसकी विविध शाखायें हैं। उनमें से मुख्य–मुख्य इच्छास्वातन्त्र्य सम्बन्धी मत निम्न हैं–

(अ) **अद्वैत वेदान्त में इच्छास्वातन्त्र्य–** अद्वैत वेदान्त कूटस्थ चित् की मान्यता का पोषक सम्प्रदाय है। यहाँ का यह चित्त्व क्रिया के संस्पर्श से भी रहित है। वह क्रिया ज्ञानात्मक भी हो सकती है व व्यापारात्मक भी। अतः 'इच्छा' की धारणा, जिसमें ज्ञान व क्रिया दोनों के प्रत्यय लिपटे हुये हैं, भी उसके सन्दर्भ में सिद्ध नहीं हो सकती। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार कूटस्थ तत्त्व का कर्तृत्व मात्र साक्षित्व रूप है, अन्य कुछ नहीं क्योंकि जहाँ द्वैत के संस्पर्श का भी लेश नहीं है वहाँ किसका ज्ञान, किसकी इच्छा व किसका प्रयत्न। अतः इस स्थिति में किसी इच्छास्वातन्त्र्य की चर्चा यहाँ संभव नहीं है। हाँ, उससे एक सोपान नीचे आकर माया सहकृत सगुण ब्रह्म में ये ज्ञान, इच्छा व क्रिया के तीनों प्रत्यय सत्य सिद्ध हो जाते हैं[2]। उसी के सन्दर्भ में यहाँ कारणता का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है जिसमें कि अचेतन की कारणता का खण्डन करते हुये ईक्षण–सामर्थ्यवान् तत्त्व की ही कारणता प्रतिपादित की गयी है व अभिन्ननिमित्तोपादान का प्रतिपादन करते हुये उसे उपादान व निमित्त दोनों बताया गया है तथा उस ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्ववान् तथा सर्वव्यापक सिद्ध किया गया है। ये विशेषण उसमें ज्ञान, इच्छा व क्रिया की स्थिति के ही साधक हैं। 'सर्वज्ञ' से जानाति का प्रत्यय सिद्ध होता है तथा 'सिसृक्षा' व 'यत्न' की धारणायें 'सर्वकर्तृत्व' विशेषण से अपना सन्दर्भ प्राप्त करती हैं। इस प्रकार वह ईश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सर्जन करता है पर यहाँ यह स्वातन्त्र्य जीवों के कर्मों से नियंत्रित है क्योंकि वह कर्मो से सहकृत होकर ही सर्जन करता है।

जीव के सन्दर्भ में इस इच्छा स्वातन्त्र्य का यहाँ वही स्थान है जो अन्य दर्शनों में है। जीव ब्रह्म का ही अविद्योपहित रूप है। उसके पास चयन स्वातन्त्र्य है अतः वह अपने कर्मों के लिये पूर्ण उत्तरदायी है और उनके फलों का भोक्ता बनता है। यह आत्मा का

1. कर्तृता हि ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारतास्वातन्त्र्यं वा। प्र.क.मा.पृ. 3
2. कर्तृत्व ...कार्यानुकूलज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वरूपमिति।–सि.ले.सं.पृ. 22

कर्तृत्व व भोक्तृत्व स्वाभाविक न होकर औपाधिक ही है अन्यथा वह उन उपाधियों से कभी मुक्त न हो सकता। फलतः यहाँ यही सिद्ध होता है कि शुद्ध निर्गुण आत्म स्तर पर तो कोई इच्छा नहीं है, मात्र सगुणता की प्रतीति होने पर ही इच्छा की चर्चा प्रारम्भ होती है। इसी स्तर पर संकल्प से ही सर्जन की संभावना के वाचक समस्त श्रुतिवाक्य सत्य सिद्ध होते हैं। शास्त्र–विहित कर्मों के निष्पादन में कुछ का चयन उस जीव के इसी संकल्प स्वातन्त्र्य का प्रस्तोता है[1]। इसी कारण यहाँ संकल्प की परिभाषा कर्तव्य व अकर्तव्य के विषयों का विभाग करके चयन करने रूप में दी गयी है[2]।

यहाँ परमपुरुषार्थप्राप्ति की अवस्था भी निषेधात्मक स्वातन्त्र्य की ही प्राप्ति है। वहाँ अनात्म तत्त्वों का निषेध कर शुद्ध आत्म रूप का साक्षात्कार इस परमप्राप्तव्य का अभिधेय है अतः जीव को किसी ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं होती, वह तो उस समय सभी गुणों, विकारों से मुक्तरूपता का ही साक्षात्कार करता है। यद्यपि जीवन्मुक्त प्रमाता को अणिमादि लौकिक सिद्धि रूप ऐश्वर्य प्राप्त होता है पर वह यथार्थ नहीं है वरन् बन्धनकारी है। यथार्थ ऐश्वर्य तो है अपने यथार्थ रूप का साक्षात्कार मात्र। यह स्थिति कुछ प्राप्ति का कथन न कर मात्र स्वस्वरूपावस्थिति की ही अभिधायक है अतः यहाँ का यह स्तर निषेधात्मक स्वातन्त्र्य का ही प्रस्तोता है।

(आ) **भास्कर मत में इच्छास्वातन्त्र्य**— भास्कर मत में भी परमसत् ब्रह्म के दो रूपों की कल्पना की गयी है और उसे सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्वमय, सर्वव्यापक तथा सभी दोषों व विकारों से मुक्त बताया गया है। ये ही वैशिष्ट्य उसमें इच्छास्वातन्त्र्य की स्थिति के प्रतिपादक हैं रूद्यपि यहाँ यथार्थ भेद को सत्य न मानकर औपाधिक ही बताया गया है[3] अतः यह स्वातन्त्र्य यहाँ यथार्थ प्रतीत नहीं होता पर सृष्टि का निमित्त लीला मात्र कथित है जो कि उसके इच्छास्वातन्त्र्य का ही पोषक है पर क्योंकि उसे अपनी सर्जन क्रिया हेतु विविध उपाधियों–बुद्धि, अहंकार, अहंभाव पर आधारित राग आदि का आश्रय लेना पड़ता है अतः यहाँ वह स्वातन्त्र्य अपने सच्चे अर्थों में नहीं सध पाता। यहाँ इच्छा चेतन का ही धर्म है[4]। यद्यपि ब्रह्म की दो शक्तियों–भोक्तृशक्ति व भोग्यशक्ति को सृष्टि के जीव–परिणाम तथा अचित्–परिणाम के लिये उत्तरदायी कहा गया है[5] पर इन शक्तियों के कर्तृत्व से ब्रह्म को अप्रभावित बताया गया है जो कि यही सिद्ध करता है कि यहाँ शक्ति–शक्तिमान् का सामरस्य नहीं अभिप्रेत है। इस प्रकार यों तो यहाँ भेद को अभेद का अंग मानकर ब्रह्म में उसे अनुस्यूत माना गया है पर उसके भासन हेतु अविद्याजन्य

---

1. पुरुषाधीनात्मलाभत्वात्कर्तव्यस्य कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म। –ब्र.सू.शां.भा. 1/1/22.
2. संकल्पं कर्तव्याकर्तव्यविषयविभागेन समर्थनम्। शांभा. छा.उ. 6/4।
3. जीवपरयोश्च स्वाभाविकोऽभेदः औपाधिकस्तु भेद, स तन्निवृत्तौ निवर्तते। भा.भा.पृ. 243
4. कामश्चेच्छा चेतना धर्मो नाचेतनस्य....। वही, पृ. 26
5. ...ईश्वरस्य द्वे शक्ती भवतो भोग्यशक्तिरेका भोक्तृशक्तिश्चापरा... भोग्यशक्तिश्च साकारादिरूपेणाचेतनपरिणामापत्तेर्भोक्तृशक्तिः सा चेतना जीवरूपेणावतिष्ठते। वही, पृ. 105

उपाधियों की सहायता की अपेक्षा उसकी स्वातन्त्र्य–संभावना को सीमित कर देती है।

जीवगत स्वातन्त्र्य भी उन्हीं सीमित अर्थों में यहाँ भी स्वीकृत है जैसा अन्य सम्प्रदाय मानते हैं। पूर्वकर्मों की नियामकता तो है ही[1] अतः उन कर्मों के अनुसार आचरण करते हुये भी अपनी इच्छा का स्वतन्त्र उपयोग कर अपनी कार्यदिशानिर्धारण में वह सक्षम है। जब तक अविद्यावश वह उपाधियों से तादात्म्य स्थापित किये रहता है तभी तक उसकी पृथक् सत्ता रहती है और वह स्थिति समाप्त होते ही वह परतत्त्व से एकरूप हो जाता है तथा वैसे ही सर्वज्ञ, सर्वमय, सर्वकर्तृत्वमय बन जाता है[2]। यहाँ इस अविद्या का हटना मात्र मोक्ष नहीं है वरन् यहाँ मोक्ष में उसे ब्रह्मसदृश वैशिष्ट्यों की प्राप्ति भी होती है[3] फलतः यहाँ 'से मुक्ति' व 'के लिये मुक्ति' ये दोनों स्थितियाँ सिद्ध होती हैं पर यहाँ भेद का ब्रह्म से पूर्ण तादात्म्य न मानने से यह स्वातन्त्र्य पूर्ण नहीं है, साथ ही अनन्त आत्माओं के होने से सभी को सृष्टि के सर्जन, प्रलय आदि का अधिकार नहीं मिल सकता अतः उसके पास कुछ निश्चित क्षेत्रों का ही स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है।

(इ) **रामानुज वेदान्त में इच्छास्वातन्त्र्य–** रामानुज वेदान्त विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक सम्प्रदाय है जिसमें कि एक साकार ईश्वर[4] की सत्ता स्वीकार कर चित् व अचित् रूप जगत् को उसके शरीर रूप से स्वीकार किया गया है[5]। अतः यहाँ इच्छा–स्वातन्त्र्य की स्वीकृति पारतात्त्विक व जैविक दोनों स्तरों पर संभव लगती है। यहाँ यह ईश्वर अन्य सम्प्रदायों की तरह सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्ववान् तथा सर्वमय बताया गया है, तथा उसकी सर्वाप्तता को सिद्ध किया गया है[6]। ये सब स्थितियाँ उस ईश्वर में इच्छास्वातन्त्र्य की सत्ता की साधिका हैं। यह स्वातन्त्र्य यहाँ 'शक्ति' संज्ञा से कथित है। इस स्वातन्त्र्य से वह चित् व अचित् रूप अपने शरीर रूप से भासित तत्त्वों को अपने से विलग करके भासित करता है[7] पर ऐसा करते हुये वह अनादि कर्म सिद्धान्त का पालन करता है। इस क्रिया की पृष्ठभूमि में प्रयोजन है मात्र उसकी क्रीडा[8]। यद्यपि इस प्रकार का स्वातन्त्र्य

---

1. कर्मनिमित्तत्वात् संसारस्य कर्मणः बुद्धिमत्पूर्वकत्वात्। भा.भा., पृ. 8
2. अस्मत्पक्षे मुक्तः सर्वात्मा भवति सर्वतः।....सर्वात्मा भवति सर्वज्ञ....।वही, पृ. 19–20
3. मुक्तस्य सर्वशक्तित्वात् ऐश्वर्ययोगाच्छरीरोपादानमनुपादानं च स्वेच्छयोपपद्यते। वही, पृ. 245–246, पृ. 137–138, 218–220
4. यह ईश्वर यहाँ नारायण या विष्णु संज्ञा से कथित है।(हरिवंश पु. 3/323/94) वेदान्तदेशिककार के अनुसार तो यही जीवों, अन्तःकरण तथा वाह्य जगत् को नियमित करता हुआ तीन संज्ञाओं–संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध से कथित होता है।
5. चित् व अचित् का भासन यहाँ ईश्वर की इच्छा पर निर्भर नहीं है। वरन् ये सदैव नित्य है पर स्वतन्त्रतया नहीं, मात्र ईश्वर के विशेषण रूप में।
6. सर्वेश्वरत्वं सर्वशेषित्वं सर्वकर्माराध्यत्वं सर्वफलप्रदत्वं सर्वाधारत्वं सर्वकार्योत्पादकत्वं स्वज्ञानस्वेतरसमस्तद्रव्यशरीरत्वमित्यादीनीश्वरलक्षणानि। य.दी.पृ. 79
7. शारीरकमीमांसाभाष्य, श्रीभगवद्रामानुजग्रंथमाला, पृ. 97
8. सर्वैरननुयोज्यं तत् स्वातन्त्र्यं दिव्यम् ईशितुः।
   अवाप्तविश्वकामोऽपि क्रीडते राजवद् वशी।। अहि.सं. 15/13

उसके विश्वोत्तीर्ण व विश्वमय दोनों पक्षों में विद्यमान है पर चित्–अचित् की भी स्वतंत्र सत्ता होने से उसका पूर्ण स्वातन्त्र्य नहीं सध पाता। इस प्रकार यहाँ अद्वैत तत्त्व की सर्वमयता की मान्यता लक्षणा से ही संभव हो पाती है, अभिधा से नहीं अतः स्वातन्त्र्य, भी लाक्षणिक ही सिद्ध होता है, सांकेतिक नहीं। यहाँ तो मोक्षावस्था में भी जीव ईश्वर से एकरूप नहीं होते वरन् अपनी वैयक्तिकता में ही स्थित हो जाते हैं[1] अतः परम स्वातन्त्र्य की स्थिति में 'से मुक्ति' (freedom from) की धारणा की ही सिद्धि होती है 'के लिये मुक्ति, (freedom to) की नहीं[2]।

इस सम्प्रदाय में जीव में भी इच्छा स्वातन्त्र्य संभव है और ईश्वर की इच्छा उसमें बाधा नहीं डालती। यद्यपि ईश्वर ही उनमें इच्छा उत्पन्न करता है ताकि वे अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान सके। ईश्वर सबका आन्तरिक नियन्ता है अतः कर्मों के अनुसार अच्छे बुरे फल देता है, पर जीव के स्वातन्त्र्य को कम नहीं करता। इस सम्प्रदाय में मोक्ष प्राप्ति के मार्ग के सन्दर्भ में उत्तरकाल में दो मार्गों का विकास हुआ है– भक्तिमार्ग व प्रपत्ति मार्ग। इनमें से एक मार्ग के अनुसार मोक्ष प्राप्ति हेतु जीव का स्वातन्त्र्य अति सीमित है क्योंकि सब कुछ ईश्वर ही करता है, जीव का स्वातन्त्र्य तो मात्र इस जगत् में सीमित है (प्रपत्ति मार्ग) तथा दूसरे मार्ग के अनुसार मोक्ष प्राप्ति में भी जीव के पास अपनी कार्यदिशा निर्धारण का स्वातन्त्र्य है (भक्तिमार्ग)[3], यद्यपि रामानुज स्वयं ऐसा कोई भेद नहीं करते हैं अतः वहाँ दोनों स्थितियाँ हैं। जागतिक स्तर पर तो जीव के पास सीमित स्वातन्त्र्य है। मोक्ष प्राप्ति के बाद कुछ क्षेत्रों में वह ईश्वरवत् स्वातन्त्र्य पा लेता है, पर कुछ क्षेत्रों में नहीं।

(ई) **वल्लभ वेदान्त में इच्छास्वातन्त्र्य**– वल्लभ वेदान्त शुद्धाद्वैतवादी सम्प्रदाय है। यहाँ भी एक साकार ईश्वर[4] के प्रतिपादनपूर्वक उसमें समस्त वैशिष्ट्यों की पराकाष्ठा की

---

1. यहाँ मुक्ति का अर्थ है अविद्या का नाश। वह अविद्या अचित् (पदार्थ) के सम्पर्क में आने का ही परिणाम है। अविद्यामुक्त व्यक्ति को ब्रह्म से अपृथकत्व की अनुभूति होती है। यह अपृथकता यहाँ तादात्म्य रूप न होकर शरीर–शरीरीभाव ही है। तत्त्वमसि का अर्थ तादात्म्य नहीं वरन् ऐसी एकता है जिसमें दोनों की वैयक्तिक स्थिति बनी रहती है। (रा.भा. 1/4/21) यही स्थिति यहाँ सायुज्य कहलाती है।
2. यद्यपि मोक्षावस्था में जीव को कुछ ईश्वरोचित ऐश्वर्यों की प्राप्ति हो जाती है, पर जगत् की सृष्टि, नियमन व अनुग्रह का अधिकार नहीं प्राप्त होता। फलतः यहाँ 'के लिये' मुक्ति की स्थिति भी मानी जा सकती है पर यह स्थिति अति संकुचित है।
3. रामानुज सम्प्रदाय में उत्तरकाल में दो अवान्तर वर्गों का विकास हुआ– वडगलई सम्प्रदाय तथा तंगलई सम्प्रदाय। इनमें से प्रथम सम्प्रदाय मोक्ष प्राप्ति में मर्कटन्याय से जीव के प्रयत्नों का भी माहात्म्य स्वीकारता है तथा द्वितीय सम्प्रदाय मोक्ष प्राप्ति में मार्जारन्याय से जीव के प्रयत्नों का कोई कर्तृत्व नहीं मानता। इन्हीं को क्रमशः भक्तिमार्ग व प्रपत्ति मार्ग कहते हैं।
4. ईश्वर यहाँ कृष्ण संज्ञा से कथित है। वह अद्वैत रूप, सच्चिदानन्दात्मक तथा बाह्य व आन्तरिक भेदों से रहित है। इसके यहाँ तीन पक्ष माने गये हैं–
(क) परब्रह्म पुरुषोत्तम या कृष्ण (ख) अन्तर्यामिन् (जीवात्माओं में व्याप्त) (ग) अक्षर ब्रह्म (समस्त ध्यान का आधार)

कल्पना की गयी है और ये ही वैशिष्ट्य उसके इच्छास्वातन्त्र्य के पोषक हैं। वह ईश्वर परतत्त्व है, अक्षर ब्रह्म है, प्रथम कारण है, कर्ता भी है, अकर्ता भी, सोपाधिक भी, निरुपाधिक भी, परिवर्तनशील भी व अपरिवर्तनशील भी, सर्वव्यापक है, सभी पदार्थों का आधार है प्रकृति व पुरुष के रूप में अभिव्यक्त होता है; उनमें क्षोभ उत्पन्न कर क्षर, काल, कर्म व स्वभाव रूप में जागतिक विकास की उद्भावना करता है; जीवात्मा, जड पदार्थ व अन्तर्यामी आत्मा उसी के तीन पक्ष हैं। ये ही विवरण परतत्त्व के स्वातन्त्र्य को ध्वनित करते हैं। यह इच्छास्वातन्त्र्य यहाँ मायाशक्ति द्वारा उपलक्षित है। ईश्वर उसी शक्ति के द्वारा किसी भी समय कुछ भी बन सकता है[1]। वह ईश्वर अपनी इच्छा से अपने गुणों को जागतिक पदार्थों के रूप में नाना परिमाणों में स्फुट करता है[2]। ईश्वर सर्वाप्त है अतः वह लीला वश ही संसार की रचना करता है और सर्जन व संहार में आनन्द प्राप्त करता है। उसकी इच्छा से ही संसार के विविध परिणाम विविध गुणों के विविध परिमाणों से युक्त होकर भासित होते हैं और विविध नामों से पुकारे जाते हैं।

जीव ब्रह्म का ही अंश है। यों तो आत्मा एक है पर नाना अज्ञानों से सम्बद्ध होकर नाना हो जाती है। अतः स्वभावतः स्वतन्त्र आत्मा बद्ध हो जाती है। ऐसी आत्मा में सीमित इच्छास्वातन्त्र्य को स्वीकारा गया है अन्यथा तो उसमें किसी नैतिक उत्तरदायित्व की संभावना को नहीं स्वीकारा जा सकेगा। मुक्त जीव[3] को समस्त ईश्वरोचित ऐश्वर्यों की प्राप्ति हो जाती है तथा अज्ञान से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार यहाँ 'से स्वातन्त्र्य' व 'के लिये स्वातन्त्र्य' दोनों की स्थितियाँ स्वीकृत लगती हैं।

(उ) **माध्व वेदान्त में इच्छास्वातन्त्र्य**— यह सम्प्रदाय भी जैविक व पारमार्थिक उभय स्तरों पर इच्छास्वातन्त्र्य की सत्ता स्वीकारता है। यहाँ का परतत्त्व भी अन्य ईश्वरवादी वेदान्तों के सदृश एक सगुण साकार तत्त्व है, निर्गुण निराकार, अनिर्वाच्य तत्त्व नहीं। अतः वह सगुण होने से सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्वमय स्वातन्त्र्य से पूर्णतया स्पन्दित है। इस स्वातन्त्र्य का आठ रूपों में स्फुरण होता है–सृष्टि, स्थिति, प्रलय, नियमन या निरीक्षण, ज्ञान, अज्ञान, बन्धन व मोक्ष। यहाँ द्वैत का ही प्रतिपादन है अतः परतत्त्व व जगत् दोनों की यथार्थ सत्ता स्वीकृत है। इस प्रकार यहाँ भेद रूप जगत् यथार्थ है व स्वतन्त्रतया सत्

---

1. अणुभाष्य 1/1/4
2. यहाँ एक ही तत्त्व नाना रूपों में भासित होता है अतः द्वैत की आशंका नहीं होती और न इससे ब्रह्म में कोई विकार आता है। इस प्रकार यहाँ जगत् ईश्वर का स्वरूपपरिणाम है पर अविकृतपरिणाम है, शंकरवेदान्तवत् न माया से निःसृत है न रामानुजवत् ईश्वर का शरीर रूप है और न निम्बार्कवत् शक्ति रूप।
3. जीवों के यहाँ तीन प्रकार स्वीकृत हैं--पुष्टि, मर्यादा तथा प्रवाह। इनमें से प्रथम वर्ग ईश्वर के अनुग्रह का भागी है और उसी के प्रति पूर्णतया समर्पित है। द्वितीय वर्ग भी ईश्वर के प्रति समर्पित है तथा शास्त्रानुकूल विधि से उसकी उपासना करता है, यहाँ उसके प्रयासों का भी विशिष्ट स्थान है, तृतीय वर्ग जागतिक इच्छाओं मे आकण्ठमग्न जीव है, वह ईश्वर का विचार नहीं करता। मुक्त जीव अविद्या से मुक्त होकर शुद्ध बोध को प्राप्त कर लेते है पर जागतिक व्यापारों में उनका कोई अधिकार नहीं होता। मुक्ति की उच्चतर अवस्था मे जीवों को ईश्वर का सायुज्य प्राप्त हो जाता है अतः वे उसकी नित्य लीला का उपभोग करते हैं।

है पर ईश्वर की इच्छा के अधीन है[1]। जगत् व जीवों का सारा नियमन वही ईश्वर करता है। यह जगत् जीव, पदार्थ व प्रकृति तीन से मिल कर बना है और इन सभी का नियमन ईश्वर की इच्छा से होता है[2]।

माध्व मतानुयायियों के अनुसार स्वरूप, प्रमिति तथा प्रवृत्ति रूप स्थितियों में पर की अपेक्षा न करना ही स्वातन्त्र्य है[3]। यद्यपि जीव के पास भी सीमित स्वातन्त्र्य रहता है पर यहाँ मुक्ति के स्तर पर भी जीव को पूर्ण ईश्वर का सा स्वतन्त्र्य नहीं प्राप्त होता। यह जीव का इच्छास्वातन्त्र्य ही है जो उससे विविध प्रकार के कर्म करवाता है जिससे कि वह विविध प्रकार की योनियों को प्राप्त करता है। इस आधार पर जीवों का त्रिविध वर्गों में विभाजन करते हैं— देव, मनुष्य व दानव। साधारण जीव भी विविध प्रकार के कर्म करता है फलतः तीन विविध स्थितियों को प्राप्त करता है, जहाँ श्रेष्ठ व्यक्ति ज्ञान व ईश्वर के अनुग्रह द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, वहीं सामान्य व्यक्ति जीवनमरण के चक्र में ही फँसे रहते हैं और सबसे खराब नरक में पड़े रहते हैं। नरक में स्थित तथा मुक्त जीवन मरण का विषय नहीं बनते[4]। परम मोक्ष की स्थिति में जीव को 'से मुक्ति' व 'के लिये मुक्ति' ये दोनों स्थितियाँ प्राप्त होती हैं[5]। यह 'के लिये मुक्ति' यहाँ चार प्रकार की स्थितियों में चार प्रकार की हैं—

(क) सालोक्य मुक्ति में ईश्वर के निरन्तर दर्शन की प्राप्ति
(ख) सायुज्य मुक्ति में ईश्वर के शरीर में प्रविष्ट होकर ईश्वरीय आनन्द की प्राप्ति
(ग) सामीप्य मुक्ति में ईश्वर के साथ निरन्तर रहने की स्थिति की प्राप्ति
(घ) सारूप्य मुक्ति में ईश्वर जैसे रूप की प्राप्ति।

(ऊ **निम्बार्क वेदान्त में इच्छास्वातन्त्र्य**—यह सम्प्रदाय भी सगुण ईश्वर की कल्पना करता है जिसे यहाँ कृष्ण कहा गया है और उसकी शक्ति को राधा। उस ईश्वर को ही जगत् का उपादान व निमित्त दोनों कारण सिद्ध किया गया है[6]। फलतः उसका पूर्ण स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है। वह बिना किसी बाह्य साधन की अपेक्षा के अपने सङ्कल्प मात्र से सृष्टि करता है[7]। वस्तुतः तो यहाँ वह अपनी सर्वाप्तता के आल्हाद से

---

1. यह स्थिति काश्मीरशिवाद्वयाद से पर्याप्त साम्य प्रस्तुत करती है पर भेद मात्र इतना है कि जहाँ वहाँ भेद सत् होने पर भी महेश्वर के विचार रूप में ही स्थित है तो वहीं यहाँ पृथक् सत्ता रखता है। यही स्थिति उसे द्वैत के प्रतिपादन के लिये विवश करती है।
2. विष्णु पुराण 1/69-71, भागवत पु. 2/10-12
3. दृ.न्या.को.पृ. 1049
4. द्रष्टव्य, राधाकृष्णन, ब्रह्मसूत्र, पृ. 65
5. पर यहाँ मोक्षावस्था में 'परम साम्य' (पूर्ण तादात्म्य) की प्राप्ति नहीं होती वरन् उस समय भी जीव व ईश्वर का भेद बना रहता है। क्योंकि जीव को सृष्टि के कर्तृत्व आदि का अधिकार नहीं मिलता।
6. इह खलु सर्वेश्वरः सर्वात्मा सर्वजगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपो भगवान् पुरुषोत्तम श्रीवासुदेवः....। श्रीनिवासाचार्य, वे.कौ. ब्र.सू.नि.भा.भा.। पृ. 2-3, उसकी निमित्तकारणता ही उसकी ज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वता की सूचक है। द्र. श्रीकेशव काश्मीरी भट्टाचार्य, वे.कौ.प्र. ब्र.सू.नि.भा.भा.। पृ. 350
7. नित्यसिद्धानन्दैकरसस्यास्य परमात्मनः सर्वेश्वररूप जगत्कर्तुः क्रियासाध्यानन्दार्थं कार्य्यं, यथेष्टकार्य्यजनने करणं च न विद्यते, सङ्कल्पमात्रेणैव नित्यानन्ताचिन्त्यशक्तियोगाद्विविधाविचित्रकार्यकर्तृत्वाद....। श्री निवासाचार्य, वै.कौ.ब्र.सू.नि.भा. भा 2 पृ. 473

आह्लादित होकर मात्र क्रीडार्थ सृष्टि करता है[1]। यह मान्यता भी उसके असीम स्वातन्त्र्य का संकेतन कराती है। उसके स्वातन्त्र्य की स्फारभूत दो शक्तियाँ–चित् व अचित् उसके सृष्टि कर्तृत्व का सम्पादन करती हैं। यह अचित् शक्ति प्रकृति ही है[2]। इस प्रकार पारतात्त्विक स्तर पर इच्छास्वातन्त्र्य की स्थिति सिद्ध हो जाती है। जैविक सन्दर्भ में भी यह सीमित अभिप्राय में स्वीकृत है। व्यक्ति का इच्छास्वातन्त्र्य ही उसे उसके कर्मों के लिये उत्तरदायी बनाता है फलतः उसे अपने कर्मों के अनुसार तीन स्थितियों की प्राप्ति होती है–स्वर्ग, नरक तथा अपवर्ग। पापी नरक जाते हैं, पुण्यात्मा स्वर्ग और ज्ञानी अपवर्ग पाते हैं।

अन्तिम स्थिति में जीव को 'से मुक्ति' व 'के लिये मुक्ति' दोनों की स्थितियाँ प्राप्त होती हैं क्योंकि यहाँ उसे आत्मस्वरूप का लाभ ही होता है[3]। पर इस मुक्त स्थिति में भी उसमें जागतिक सृष्टि, स्थिति, लय की सामर्थ्य नहीं है वरन् मात्र स्वतन्त्रता से गतिशील होने व अपने लक्ष्यों की प्राप्ति की सामर्थ्य है। इस प्रकार यहाँ जागतिक क्यों व वैयक्तिक क्यों दोनों के सन्दर्भ में इच्छास्वातन्त्र्य की स्वीकृति है।

अब भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में इच्छास्वातन्त्र्य सम्बन्धी धारणाओं का विश्लेषण करने पर निम्न मुख्य तथ्य सम्मुख आते हैं–

(क) इच्छा एक मानसिक अवस्था या वृत्ति है व ज्ञानात्मकता से अनिवार्यतया अनुविद्ध है।

(ख) इच्छा स्वातन्त्र्य की धारणा ज्ञान व क्रिया के स्वातन्त्र्य की अनिवार्य पूर्वदशा है।

(ग) जागतिक क्यों की व्याख्या में किसी चेतन तत्त्व का आश्रय लेना अनिवार्यतया इच्छास्वातन्त्र्य की प्रकल्पना को प्रस्तुत करता है।

(घ) जागतिक वैषम्य व नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या इच्छास्वातन्त्र्य के माध्यम से ही संभव है। यही धारणा अन्तिम क्रमविकास या परम पुरुषार्थ की प्राप्ति की संभावना को भी संभव बनाती है।

(ङ) यह इच्छास्वातन्त्र्य ही कार्यकारणभाव की समस्त नियमित व्यवस्था का स्रोत है।

---

1. लोके प्राप्तैश्वर्यस्य सार्वभौमस्य फलसङ्कल्पं विनैव विचित्रमक्षकन्दुकादिभिक्रीडनं लीलामात्रं दृश्यते, तथा ब्रह्मणोऽपि लीलाकैवल्यं, केवलं विश्वोत्पादनादिक्रीडामात्रमित्यर्थः। वही पृ. 476
2. ये चित् व अचित् शक्तियाँ ईश्वर से स्वतन्त्र अपनी पृथक् सत्ता रखती हैं। वे मोक्ष व प्रलय में भी ईश्वर से एकात्म नहीं होतीं। यही स्थिति भेदाभेदवाद की साधिका है। चित् व अचित् की कार्य रूप में (स्फुट रूप में) तो ईश्वर से स्वतन्त्र सत्ता है पर कारण रूप में (अस्फुट रूप में) वे उस ईश्वर से अभिन्न ही हैं।
3. यहाँ आत्मस्वरूपलाभ या ब्रह्मस्वरूपलाभ का अर्थ ब्रह्म से तादात्म्य नहीं है क्योंकि जीव व ईश्वर का भेद तो स्वाभाविक व शाश्वत है। आत्मा की वैयक्तिकता सदैव स्थित रहती है अतः वह ब्रह्म के सदृश हो सकता है पर ब्रह्म रूप नहीं हो सकता।

3

काश्मीर शिवाद्वयवाद में इच्छा स्वातन्त्र्य

काश्मीर शिवाद्वयवाद में इच्छा स्वातन्त्र्य का प्रत्यय अपना विशिष्ट स्थान रखता है। वस्तुतः तो यहाँ की सर्वानुवृत्तिमूलक तत्वमीमांसा का सारतत्त्व यही धारणा है, इसी कारण इस दर्शन सम्प्रदाय को अक्सर 'स्वातन्त्र्यवादी'[1] संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। अतः यहाँ अन्य भारतीय दर्शनों के विपरीत इस धारणा का स्पष्ट तथा विस्तृत विवेचन उपलब्ध है, यद्यपि इसको इच्छा स्वातन्त्र्य न कह कर सामान्य संज्ञा 'स्वातन्त्र्य' से ही बताया गया है[2]। स्वातन्त्र्य का अभिप्राय है ज्ञानात्मक व क्रियात्मक स्वातन्त्र्य और प्रत्येक ज्ञान व क्रिया के लिये इच्छा अनिवार्य पूर्वदशा है[3]। अतः स्वातन्त्र्य का उल्लेख होने पर इच्छा–स्वातन्त्र्य की धारणा स्वतः आ उपस्थित होती है[4]। यद्यपि कहीं–कहीं

---

1. आगमिक परम्परा के प्रायः सभी सम्प्रदाय इस स्वातन्त्र्य के प्रत्यय को मान्यता प्रदान करते हैं, यद्यपि उनकी अद्वैतात्मक, द्वैतात्मक तथा द्वैताद्वैतात्मक प्रवृत्तियों के अनुरूप इस संधारणा के प्रयोग का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। इतना होने पर भी स्वातन्त्र्यवाद की दृष्टि से विशेष महत्त्व नन्दिकेश्वर दर्शन का है जो प्रथम स्वातन्त्र्यवादी दर्शन कहलाने का अधिकारी होता है। प्रायः इच्छा को ही सर्वकर्तृत्व सामर्थ्य समर्पित कर देने वाला दर्शन ही यथार्थ रूप में स्वातन्त्र्यवादी हो सकता है। यद्यपि वैदिक परम्परा में भी इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं व आगमिक परम्परा के द्वैत व द्वैताद्वैतवादी सम्प्रदायों में भी इसके विवरण प्राप्य हैं पर वहाँ इच्छा का ही सर्वप्रकारेण वर्चस्व नहीं स्वीकारा गया है। स्वातन्त्र्य का अभिप्रायः है ज्ञान व क्रिया का स्वातन्त्र्य तथा इन दोनो ही क्रियाओं को इच्छा की पूर्वापेक्षा होती है फलतः इच्छा की ही सर्वकर्तृता स्वातन्त्र्य की उत्प्रेरिका है। संभवतः काश्मीर शिवाद्वयवाद ने नन्दिकेश्वर मत से ही स्वातन्त्र्यवादी धारणा को ग्रहण कर अपनी तत्त्वमीमांसा को एक नूतन दिशा प्रदान की है।
2. इस स्वातन्त्र्य की धारणा के बीज वैदिक विचारधारा में भी उपलब्ध होते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसी दृष्टि से आनन्द को ही सबका मूल कह कर सबका उद्‌भव उसी से माना गया है। (आनन्दाद्धयेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते)। यह तो युक्तिसंगत ही है कि पूर्ण स्वातन्त्र्य पूर्ण आनन्द का अनुप्रेरक है और जहाँ पूर्ण स्वातन्त्र्य व आनन्द है वहाँ उसका उछाह अवश्य होगा। आचार्य पाणिनि भी स्वातन्त्र्यवाद के पोषक हैं (स्वतन्त्रः कर्ता)। उत्तरकाल में वैयाकरण दर्शन की प्रथम दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार करने वाले भर्तृहरि भी काल शक्ति के रूप में इस स्वातन्त्र्य को स्वीकारते हैं। यद्यपि परतत्त्व व जगत् के मध्य के सम्बन्धों की तार्किक व्याख्या न प्रस्तुत कर सकने के कारण यहाँ का स्वातन्त्र्य सही अर्थों में स्वातन्त्र्य नहीं रह पाता।
3. यहाँ न्याय के जानाति–इच्छति–यतते के विपरीत इच्छति–जानाति–यतते की मान्यता की स्वीकृति है क्योंकि यहाँ सर्वत्र इच्छा शक्ति का उल्लेख ज्ञान व क्रिया शक्तियों के पूर्व ही किया गया है। यद्यपि कहीं–कहीं पदार्थों की अन्तःस्थता की सिद्धि में इच्छा को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हुये ज्ञान की ही इच्छा से पूर्वस्थिति प्रतिपादित मिलती है पर वस्तुतः इस शंका का समाधान इस तरह किया जा सकता है कि यहाँ ज्ञान जो प्रकाश का पर्याय है, दो अभिप्रायों में प्रस्तुत है–(अ) अस्तित्वपरक अर्थ मे (ब) ज्ञानपरक अर्थ में; अतः इच्छामर्श इनमें से प्रथम अर्थ को लेकर ही प्रवृत्त होता है। पर द्वितीय अर्थ की सिद्धि हेतु इसी इच्छा की पूर्वापेक्षा है।
4. स्वातन्त्र्यमिच्छाशक्तिलक्षणमेव ...ई.प्र.वि.वि., भा. 2 पृ. 13

स्वातन्त्र्य व इच्छा में भेद करने का प्रयास किया गया है कि स्वातन्त्र्य का प्रत्यय जहाँ पूर्ण वैभव का परिचायक है, वहीं इच्छा है उस वैभव की परिचायिका पर इच्छा व स्वातन्त्र्य के प्रत्यय परस्पर इतना गुँथे हुये हैं कि उनको अलग कर सकना संभव नहीं है।

यहाँ इच्छा की धारणा का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। उसकी व्याख्या यहाँ अभ्युपगम[1] व अवधानवद् दर्शन[2] रूप में की गयी है। परावस्था जहाँ कि पूर्ण अहम् की स्थिति है, में भी इस इच्छा की सत्ता अभ्युपगम रूप में सिद्ध की गयी है[3]। तंत्रसार में इच्छा शक्ति को आत्मप्रत्यवमर्श रूप में परिभाषित किया गया है[4]। इस इच्छा के द्विविध स्तर यहाँ स्वीकृत किये गये हैं–(क) औन्मुख्य रूप (ख) स्थूल इच्छा रूप। प्रथम में किञ्चित् सर्जन या कुछ करने की उत्कण्ठा मात्र होती है या इसे सिसृक्षा मात्र कह सकते हैं जिसमें नियत विषय की नियामकता का अभाव रहता है[5] जबकि द्वितीय में विषय पूर्णतया स्फुट हो जाता है। इसीलिये प्रथम स्तर को किञ्चिदुच्छूनता मात्र तथा द्वितीय स्तर को स्थूल इच्छारूप कह सकते हैं। द्वितीय स्तर प्रथम का ही विस्तार है[6]। इन्हीं दोनों स्तरों को अक्षुब्ध व क्षुब्ध रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है[7]। इसी इष्यमाण (इच्छा के विषय) के सन्दर्भ में ही समस्त ज्ञानात्मक व क्रियात्मक व्यापार सम्पादित होते हैं[8]। वे व्यापार परम प्रमाता के भी हो सकते हैं व जागतिक प्रमाता के भी। यद्यपि न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय भी किसी भी क्रिया हेतु इच्छा की पूर्वदशा आवश्यक मानता है पर इस दर्शन के इच्छा के प्रत्यय का उस दर्शन में स्वीकृत इच्छा की धारणा से पर्याप्त भेद है। जहाँ न्याय में इच्छा अन्तःकरण का संकल्प रूप है, आत्मा का स्वभाव नहीं[9] वहीं यहाँ परमेश्वर का स्वभावभूत है[10]। यह इच्छा इष्यमाणमयी है[11], जैसे जागतिक सन्दर्भ में

---

1. अभ्युपगम इच्छा।–शि.दृ. पृ. 7. पा.टि. 8....या निर्मातृतामयी अभ्युपगमलक्षणा प्रमातृता सैवेच्छा।–शि.दृ.,पृ. 11, पा. टि. 6; म.मं. पृ. 86
2. अवधानवद्दर्शनमेव इच्छा। शि.दृ.वृ. शि.दृ.पृ. 19
3. परावस्थायां पुनः पूर्णोऽहमित्येव स्वस्वभावः प्रकाशते, तावत्प्रकाशत्वात् तदेव ज्ञानं, संरम्भरूपत्वात् सैव क्रिया, तत्स्वभावत्वेन तदभ्युपगमादिच्छापि स्थितैव...। वही पृ. 7
4. संघट्टेऽस्मिंश्चिदात्मत्वाद्यत्तत्प्रत्यवमर्शनम्।
   इच्छा शक्तिः ....।। तं.सा., पृ. 12 पा.टि.
5. परतत्त्व के आनन्द पक्ष से इसऔन्मुख्य का भेद इस प्रकार किया जा सकता है कि जहाँ अनवच्छिन्न निवृत्तिमात्र आनन्दशक्ति है वहीं इष्यमाण कर्मावच्छिन्न निर्वृत्ति औन्मुख्य है। –शि.दृ.वृ. शि.दृ.पृ. 17
6. शि.दृ. 1/13–19.
7. इच्छाशक्तिर्द्विरूपोक्ता क्षुभिताक्षुभिता च या।
   इष्यमाणं हि सा वस्तु द्वैतरूपेणावभासयेत्।। तं.सा.पृ. 13. पा.टि.
8. जागतिक सृष्टि के सन्दर्भ में भी सर्वप्रथम विश्वरचना की अभिलाषा मात्र होती है पुनः ज्ञानादिकार्योत्पादनसमर्थ इसका स्फुट रूप अभिव्यक्त होता है, अब उन पदार्थों को सत्ता लाभ (प्रकाशन) कराना ज्ञान शक्ति का और उस प्रकाशनार्थ व्यापार का सम्पादन क्रिया शक्ति का उत्तरदायित्व है। शि.दृ. 1/8, 20–21
9. शि.दृ.वृ. शि.दृ.पृ. 22
10. शि.दृ. 1/27–29
11. इच्छा हि इष्यमाणमयी एव....भा.भां. 2 पृ. 204

इष्यमाण पदार्थ व्यक्ति से एकात्म रहते हैं वैसे ही पारतात्त्विक सन्दर्भ में भी समस्त जगत परतत्त्व से एकात्मतया अवस्थित है[1]। यह इच्छा ही जिज्ञासा, चिकीर्षा आदि भेद से विविध प्रकार की है[2]। परतत्त्व की इच्छा में कोई क्रम नहीं है[3] तथा वह प्रयोजन व अनुसंधान से रहित है[4]। परमशिव की इच्छा की त्रिविध स्थितियाँ हैं–

(क) परदशा में चमत्कारात्मक विमर्श मात्र

(ख) परापरदशा में इच्छा रूप (इष्यमाण का उन्मेष हो जाने से)

(ग) अपरदशा में अपूर्णता मिश्रित इच्छा[5]।

कोई भी इच्छा अपनी तीव्रता पर पहुँच कर क्रिया रूप में परिणत हो जाती है[6]।

यूँ तो यहाँ इस इच्छा की गणना प्रायः परतत्त्व की अन्य नाना शक्तियों के मध्य ही की गयी है पर अन्य समस्त शक्तियों से अपेक्षाकृत अधिक माहात्म्य रखने से अथवा अन्य शक्तियों के इसका ही विवर्तित रूप होने से इसे 'स्वातन्त्र्य'[7] की सामान्य संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। साथ ही यहाँ स्वीकृत शक्ति–शक्तिमान के अभेद की धारणा इस स्वातन्त्र्य को परतत्त्व का स्वभाव सिद्ध करती है फलतः सारे जागतिक विकास का श्रेय उसी स्वातन्त्र्य को मिलता है[8]। विश्वोत्तीर्ण स्तर पर यह इच्छा 'विमर्श शक्ति' का ही अभिधेय है और उसका अभिप्राय मात्र आत्मचेतना में परिसीमित है।

ऐसा यह स्वातन्त्र्य ही यहाँ जगत् की गूढ़तम पहेली या सर्वाधिक गंभीर दार्शनिक समस्या का तार्किक समाधान है[9]। इसी धारणा के कारण यहाँ न तो वेदान्तवत् जगत् के

---

1. यथा हि पुरुषस्य इच्छावस्थायाम् इष्यमाणः पदार्थः स्वरूपाव्यतिरेकेणैव अवतिष्ठति, तथा भगवतःशक्ती अनन्तावभासविशेषचित्रं जगत् मनागपि अनुपजातविशेषात् स्वरूपात् अव्यतिरेकेणैव अवतिष्ठते। –स्प.का.वि., स्प.का.पृ. 5
2. म.मं. पृ. 37
3. ई.प्र.वि., भा.भा. 2, पृ. 25
4. भा.भा. 2 पृ. 95
5. प्रकाशस्य च परदशायां चमत्कारमात्रात्मा यो विमर्शस्तदेव स्वातन्त्र्यं न तु इच्छारूपं परापरत्वे तु तदिच्छारूपमिष्यमाणोन्मेषात् अपरदशायां तदैव अपूर्णमिति....। ई.प्र.वि.वि., भा. 3 पृ. 25
6. प्रतिधातरहितस्वातन्त्र्यस्वरूपः, नित्याव्यभिचारत्वेन कदापि विच्छेदमगतः यः अहमिति निजामर्शः तन्मया अनन्यमुखप्रेक्षिता रूपा इच्छाख्या शक्तिरेव क्रिया भवति, पुष्टीभावेन तत्पर्यन्तरूपासादनात्।–भा.भा. 2 पृ. 24.
7. ....स्वतन्त्रता स्वेच्छामात्राधीनसकलकार्यकर्तृत्वरूपा....स्प.का.वि,स्प.का. पृ. 33, शि.दृ.वृ.शि.दृ. पृ. 120
8. तथाभासन (वैश्वरूप्य) योगोऽन्तः स्वरसेनास्य जृम्भते।। तं.आ. 15/266
9. (अ) स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् आभासनमात्रसारतया स्वव्यतिरिक्तमपि व्यतिरिक्तत्वेनेव जगत आभासयति.... अनन्यापेक्षिणः स्वातन्त्र्यस्यैव जगद्वैचित्र्यनिमित्तत्वमुक्तम्, अविद्यावासनादीनां भेदाभदविकल्पोपहतत्वात् जगद्वैचित्र्यनिमित्तत्वाभिधानानुपपत्तेः....। तं.आ.,भा.। पृ. 6, तं.आ.भा.। पृ. 21

   (ब) इस स्वातन्त्र्य की धारणा के द्वारा यह सम्प्रदाय शांकरवेदान्त के शान्त ब्रह्मवाद का निराकरण करता है साथ ही माध्यमिक बौद्ध का भी खण्डन करता है। माध्यमिक बौद्ध सम्पूर्ण जगत् को शून्यरूप कहता है क्योंकि यहाँ के समस्त पदार्थ अन्यनिरपेक्ष कहे गये है अतः उन पदार्थों में अपने स्वभाव–स्वातन्त्र्य का अभाव है क्योंकि शून्य का अर्थ होता है स्वभाव रहित होना। इसी कारण यहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद जैसे असंगत सिद्धान्त की कल्पना करनी पड़ती है।

क्यों के जटिल प्रश्न को अनुत्तरित छोड़ दिया गया है और न प्रकृति पुरुष के संयोग या अविद्या जैसे अव्याकृत प्रत्ययों को ही कारण रूप में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही यही स्वातन्त्र्य की धारणा परमपुरुषार्थ रूप है। यहाँ अन्य दर्शनों के निषेधात्मक मोक्ष के प्रत्यय का तिरस्कार कर भावात्मक मोक्ष की स्थिति का प्रतिपादन किया गया है[1] क्योंकि परम स्वातन्त्र्य (मोक्ष) की स्थिति में इसी स्वातन्त्र्य की निजस्वभावता का प्रत्यभिज्ञान होता है। इस प्रकार यहाँ स्वीकृत स्वातन्त्र्य के ये दो सन्दर्भ दो प्रातीतिक छोरों को संकेतित करते हैं जिनमें से किसी भी छोर से प्रारम्भ कर अन्त में जिस पूर्णता के प्रत्यय का पोषण किया जाता है वह इन दोनों ही सन्दर्भों को आत्मसात कर लेता है। आरोहक्रम का अनुसरण करने पर हम जगत् के 'क्यों' की व्याख्या से प्रारम्भ कर परमअभीष्ट स्वातन्त्र्य के प्रत्यय तक पहुँच जाते हैं व अवरोहक्रम का अनुसरण करने पर उस परम पुरुषार्थ की प्राप्ति का स्वरूप प्रस्तुत कर तद्नुकूल जगत् की व्याख्या करते–करते उस 'क्यों' के प्रत्यय को जा पकड़ते हैं। इस प्रकार दोनों पथक्रम हमें जिस दार्शनिक दृष्टि तक पहुँचाते हैं, वह स्वातन्त्र्य के समग्र प्रत्यय को ही प्रस्तुत करती है।

जागतिक क्यों के समाधान रूप में यह स्वातन्त्र्य की धारणा विशिष्ट महत्त्व रखती है। यहाँ परतत्त्व अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सारी सृष्टि करता है और यह स्वतन्त्र इच्छा उसका स्वभाव है। इस प्रकार यह तत्त्वमीमांसा विविध आक्षेपों का शिकार होने से बच जाती है। न तो इस सर्जनादि से उस परतत्त्व की सर्वाप्तता के ह्रास की आशंका उत्पन्न होती है (यह तो उसका स्वातन्त्र्य ही है) और न ही इन सर्जनादि कृत्यों के सन्दर्भ में कोई प्रश्न किया जा सकता है कि वह ऐसा क्यों करता है क्योंकि यह तो इसका स्वभाव है और किसी के स्वभाव के सन्दर्भ में कोई प्रश्न नहीं संभव है[2]। इस स्वातन्त्र्य को यहाँ क्रीडा की शब्दावली में भी व्यक्त किया गया है अथवा क्रीडा को स्वातन्त्र्य की ही प्रक्रिया बताया गया है। यह विविधक्रियारित्व की क्रीडा परतत्त्व को आत्मतृप्ति का गौरव प्रदान करती है[3] पर उसकी परतन्त्रता की आशंका नहीं उत्पन्न करती क्योंकि यह उसी के

---

1. प्रत्येक दर्शन अपनी अपनी मान्यता के अनुसार ही परमपुरुषार्थ रूप में स्वातन्त्र्य का निषेधात्मक या भावात्मक अर्थ स्वीकृत करता है, पर विश्लेषण करने पर यही ज्ञात होता है कि निषेधात्मक अर्थ तो प्रायः सभी स्वीकृत करते हैं पर भावात्मक सन्दर्भ विशेषतः काश्मीर शिवाद्वयवाद ही सच्चे अर्थों में स्वीकृत करताहै। उसकी तो अथ व इति दोनों ही इसी अभिप्राय में परम परिणति प्राप्त करते हैं।
2. स्वातन्त्र्येऽपि विश्वात्मताप्रसरणरूपस्वविभवास्वादोऽपरिसमाप्तो यस्यास्तिस्वभावविशेषस्तस्य प्रागुक्तैव सर्वदा विश्वरूपताप्रसरणे निमित्ततेत्यैवमभिनवेच्छोदये निमितं नास्तीति दूषणम्।–शि.दृ.वृ.शि.दृ पृ. 140, त.आ.भा. 8 पृ. 72
3. लौकिक जगत् में भी स्वात्मोच्छलन की क्रीडा व्यक्ति को किञ्चित् आत्मतुष्टि रूप आल्हाद प्रदान करती है अतः इस पारतात्त्विक क्रीडा मे भी आनन्द की अवाप्ति रूप निमित्त की आशका उपस्थित होती है। पर परतत्त्व के सन्दर्भ में यह आत्मतृप्ति का आनन्द यह नहीं सूचित करता कि पहले उसमें उस आनन्द का अभाव था जो उसे अब उस क्रीडा से प्राप्त हुआ है यहाँ तो उसके अतिरिक्त कुछ है नहीं अत कोई ऐसा आनन्द भी नहीं है जो उससे विविक्त था और अब उसे मिल गया है। जो कुछ उससे विविक्त है वह तो असत् ही है। अतः वह आनन्द की प्राप्ति भी एक क्रीडा है या नट के खेल के समान है।

स्वातन्त्र्य का स्फार है। यहाँ क्रीडा की व्याख्या हर्षानुसारी स्पन्द रूप में की गयी है[1]। साथ ही इसे सर्वोत्कर्ष से विद्यमान होने की इच्छा भी बताया गया है[2]। जगत् का इस क्रीडा के अलावा और कोई निमित्त नहीं है, ईश्वर कुछ लेने या त्यागने के लिये जगत्–सृष्टि में प्रवृत्त नहीं होता वरन् उसकी स्वानन्दधनता ही उसमें एकमात्र हेतु है[3]। यदि यह कहें कि वह निष्प्रयोजन क्रीडा क्यों करता है तो इसका उत्तर है कि यह उसका स्वभाव है, उसके निरर्गल व असीमित स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति है जैसे कि कोई नृप समस्त वैभव व समृद्धि से सम्पन्न होने पर भी क्रीडावश पैदल ही अपने सैनिकों के साथ चलता है, वैसे ही वह भी क्रीडा करता है[4]। यहाँ नृप के पैदल चलने का उद्देश्य स्वात्मनिवेदन के अतिरिक्त और क्या हो सकता है वैसे ही परमशिव स्वयं ही आत्मपूर्णता के आनन्द के कारण स्पन्दित होता रहता है तथा अपने अन्तर्गत, अपनी निरर्गल इच्छा मात्र से उन्मीलित शिव तत्त्व से लेकर धरणि पर्यन्त, अपने स्वरूपभूत प्रमातृप्रमेय आदि विविध रूपों से क्रीडा करता है[5]। इस प्रकार का यह स्वातन्त्र्य कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् रूप है अर्थात् वह कर भी सकता है, नहीं भी कर सकता है व अन्य प्रकार से भी कर सकता है। प्रायः किसी भी क्रिया के सन्दर्भ में ये तीन ही विकल्प संभव हैं। बद्ध या सीमित तत्त्व में तो इनमें से किसी एक या दो प्रकार की ही सामर्थ्य रहती है पर परतत्त्व में ये तीनों सामर्थ्य एक साथ उपस्थित होकर उसे परम स्वतन्त्र सिद्ध करती हैं।

स्वातन्त्र्य का यहाँ अभिप्राय है अनन्यमुखप्रेक्षिता या परनिरपेक्षता। स्वतन्त्र का अभिप्राय है स्व के शासन में रहना। इसका विपरीत पक्ष है पारतन्त्र्य जिसका तात्पर्य है पर के शासन में रहना। पर परतन्त्र सत्ता न तो सर्वानुवृत्तिमूलक तत्त्वमीमांसा के साथ

---

1. शि.दृ.वृ., शि.दृ.पृ. 29
2. स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् शिवादिक्षित्यन्ताशेषविश्वात्मनोल्लासनमेव अस्य क्रीडा सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा, तथा स्वतन्त्रत्वं व्यवहरणम् इति अभिन्ने ऽपि स्वात्मनि भेदेन संजल्पः, क्रीडेति देव्यति क्रीडति इति देवः। तं.आ.,भा.। पृ. 144
3. (अ) नहि किञ्चिदुपादातुं हातुं वा जगत्सर्गादौ ईश्वरः प्रवर्तते, अत एव स्वानन्दधनत्वमेवात्र हेतुः....। अत एव चास्य स्वतन्त्रत्वमेव, सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा विजिगीषुता...। वही पृ. 144–45
   (ब) इस प्रकार के क्रीडा विजृम्भण को संकुचित दृष्टि से क्रियाशक्ति का ही परिणाम कहा जाता है पर वस्तुतः तो क्रिया भी क्रीडा का ही विजृम्भण है। लौकिक क्रीडा व इस क्रीडा में भेद है। यह क्रीडा आत्मघूर्णन रूप है फलतः उसे क्रियाशक्ति जैसे तत्त्व की पूर्वापेक्षा नहीं है। यह आत्मघूर्णन तो उसका स्वभाव है,उसके असीमित स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति है।
4. शि.दृ. 1/37–38 कई जागतिक स्थितियों में भी इस स्वातन्त्र्य के अंशों का प्रत्यक्ष होता है, जैसे कोई काव्यात्मक या कलात्मक अभिव्यक्ति, कोई खेल खेलने की इच्छा या अकस्मात् किसी प्रिय का दर्शन आदि। ये सब जागतिक स्तर पर उपलब्ध स्वातन्त्र्य की स्थितियाँ परम स्वातन्त्र्य की ही अंशभूत हैं फलतः उसी असीम का संकेतन कराती है।
5. महेश्वर की देवरूप संज्ञा भी उसके इसी क्रीडन व्यापार को द्योतित करती है। कभी कभी इस देव शब्द को क्रीडाशील परमेश्वरकी इच्छा रूप में भी बताया जाताहै। इसी प्रकार शिवाद्वयवादी ग्रंथों में महेश्वर के लिये प्रयुक्त 'नर्तक' विशेषण भी उसकी इसी स्पन्दनसामर्थ्य को सूचित करता है। साथ ही शिव के प्रतीकात्मक चित्रों में प्रस्तुत उस परतत्त्व का योनि व लिङग् के संघट्ट रूप में चित्रण भी इस स्वातन्त्र्य व उसके विभव का संकेतक है। योनि माया रूप स्वातन्त्र्य है व लिङग् है उसका पञ्चकृत्यकारित्व।

संगत सिद्ध होती है और न ही ऐसी सत्ता को जगत् का परम कारण बताया जा सकता है। लौकिक जगत् में दृश्यमान नृपादिकों के स्वातन्त्र्य को इस सन्दर्भ में संवेद्य प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है जैसे नृपादि लौकिक जगत् में शासन करने में स्वतन्त्र हैं, वैसे ही परतत्त्व निखिल चराचर समूह के नियमन में स्वतन्त्र है, मात्र दोनों के स्वातन्त्र्य की मात्रा में भेद रहता है, कोटि में नहीं।

इस 'स्वतन्त्र' के प्रत्यय में 'स्व' पद भी विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। यह 'स्व' पद यहाँ किस तथ्य को व्यञ्जित करता है, यह द्रष्टव्य है। लौकिक प्राणियों के सन्दर्भ में तो 'स्व' पद उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का ही द्योतक है फलतः वहाँ बाह्य परिवेश के प्रभाव से मुक्त रहकर मात्र अपने व्यक्तित्व से नियमित होना ही स्वातन्त्र्य है। यद्यपि यह व्यक्तित्व भी बाह्य परिवेश व वंशानुक्रम का ही सम्मिलित प्रतिफल है पर यहाँ 'स्व' का अभिप्राय संकुचित अर्थों में लेने से वह मात्र आत्मनियमन का संकेतक है। मानव व्यक्तित्व में भी समस्त कर्तृत्व में इच्छा ही प्रधान हेतु रूप से देखी जाती है[1]। इसी कारण क्रियाप्रधान प्रत्यय स्वातन्त्र्य का प्रसंग आने पर प्रायः उस इच्छा को ही 'स्व' के अर्थ में ग्रहण कर लिया जाता है। इसी प्रकार पारतात्त्विक परिप्रेक्ष्य में भी 'स्व' पद उसी के स्वरूप का नियोक्ता है और स्वरूप समस्त स्वरूपगत वैशिष्ट्यों का संवर्तन है। फिर भी उन सभी में इच्छा का ही प्राधान्य होने से यहाँ भी 'स्व' पद उसी तत्त्व की ओर इंगित करता है। किसी भी व्यापार या क्रिया का तो यह क्रम है कि प्रथम सोपान इच्छा होती है, पुनः द्वितीय ज्ञान व तब अन्तिम क्रिया। अतः अपनी इच्छा के अधीन होकर ही किञ्चित्साधनसामर्थ्य स्वातन्त्र्य के प्रत्यय को प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस इच्छा को भी विषय से नियंत्रित कह कर इसके स्वातन्त्र्य–ह्रास की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता पर इसका विकल्प यह कहकर प्रस्तुत किया जा सकता है कि यहाँ विषय तो परतत्त्व से एक रूप ही है अतः उनसे उसकी इच्छा की परतन्त्रता की संभावना को नहीं स्वीकृत किया जा सकता। पारतन्त्र्य तो पर के सन्दर्भ में ही संभव है, 'स्व' के सन्दर्भ में नहीं।

स्वातन्त्र्य को स्वभाव कहने पर यह स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है कि शिवाद्वयवादी परतत्त्वभूत परमकारण का स्वरूप क्या है। प्रायः वैदिक धारा परतत्त्व को सत्, चित् व आनन्द रूप में निर्दिष्ट करती है। इनमें से सत उसके अस्तित्व का, चित् उसकी क्रियाशून्य ज्ञानरूपता का व आनन्द उसकी दुःखशून्यता का बोधक है। वस्तुतः ज्ञान से अज्ञान की ओर जाने की परम्परा के अनुकूल ही जगत् में दृश्यमान त्रिविध प्रत्ययों के अनुसार परतत्त्व का ऐसा स्वरूप निरूपण किया गया है। शिवाद्वयवादी परतत्त्व का स्वरूप भी इन तीनों तत्त्वों को अपने में समाविष्ट कर लेता है पर यहाँ

---

1. इत्थं सर्वजीवानां सर्वार्थप्रथनमिच्छापूर्वक भवति, सा च इच्छावस्था संसारिणः परमकारणाभेदरूपा....। स्प.का.वि.,स्प.का. पृ. 100

जागतिक गति के व्यापक प्रत्यय को भी इसके अन्तर्गत अन्तर्भूत करने का प्रयास किया गया है[1]। फलतः यहाँ इनको व्यक्त करने वाली शब्दावली पूर्णतः परिवर्तित हो गयी है। अब यहाँ प्रकाश व विमर्श उसके स्वरूप के यथार्थ अभिधायक हैं। प्रकाश का प्रत्यय सत् तथा विमर्श का प्रत्यय चित् को व्यक्त करता है। गति का प्रत्यय इन दोनों में ही समान रूप से सन्निविष्ट है तथा इन दोनों के समग्र के द्वारा आनन्द के प्रत्यय को प्रस्तुत किया जाता है। आनन्द की प्राप्ति के अनेक प्रकार संभव हैं। या तो इसे किञ्चित् कर्तुं सामर्थ्य रूप से प्राप्त बताया जा सकता है, या समस्त बन्धनों से मुक्ति रूप में प्राप्त किया जा सकता है और या स्वात्मस्थता रूप में इसकी व्याख्या की जा सकती है। फलतः आनन्द व स्वातन्त्र्य परस्पर सापेक्ष दो प्रत्यय सिद्ध होते हैं। अतः परतत्त्व को परमानन्द रूप बताने का अभिप्राय ही है उसको स्वातन्त्र्यमय बताना[2] फलतः इस सम्प्रदाय में इन दोनों प्रत्ययों को परस्पर पर्याय रूप में ही व्यक्त किया गया है, मात्र दृष्टिकोण के भेद से इनके संज्ञान्तर हैं। अनुभूति की दृष्टि से इसकी संज्ञा आनन्द है तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से स्वातन्त्र्य। परन्तु अक्सर इन दोनों पक्षों को मिश्रित रूप में प्रस्तुत किया जाता है अतः इनकी विशिष्ट संज्ञायें प्राप्त होती हैं जैसे चमत्कार रूप, स्वरसोदित आदि। परमानन्दावस्था पूर्ण तृप्ति या आत्मसन्तुष्टि की अवस्था है जो सर्वाप्तत्व की भावना से परिपूर्ण है फलतः वहाँ किञ्चित् भी काम्य न रहने से वह परतत्त्व पर निरपेक्ष ही सिद्ध होता है। यह परनिरपेक्षता ही उसके स्वातन्त्र्य की अग्रसारिका है। इस प्रकार वह मनोवाञ्छित कृत्यों को मात्र अपनी इच्छा से सम्पादित करने में समर्थ है[3]। इस प्रकार परतत्त्व के स्वरूप के निर्माता तथ्यों में स्वातन्त्र्य का प्रत्यय मूलभूत है।

विश्वोन्मेष की प्रक्रिया का निमित्त यह स्वातन्त्र्य जगदुत्पत्ति के निमित्त रूप में प्रस्तुत हो एकता व अनेकता के दो कभी न मिल सकने वाले छोरों को जोड़ने में अद्‌भुत सेतु का कार्य करता है[4]। फलतः अनादि अविद्या व माया जैसे तत्त्वों की निमित्तता की मान्यता से उद्‌भूत

---

1. अद्वैत वेदान्ती का परतत्त्व भी प्रायः इसी शब्दावली में परिभाषित किया जाता है पर वहाँ इसके साथ गति का प्रत्यय नहीं जोड़ा गया है। वहाँ का परतत्त्व तो पूर्ण कूटस्थ है, जिसकी चिन्मयता भी प्रकाशता मात्र है और उसके बोध का सामर्थ्य भी उसमें नहीं है। जबकि शिवाद्वयवादी परतत्त्व स्पन्दन सामर्थ्य से कभी च्युत न होने से विश्वोत्तीर्ण स्तर पर भी गतिमय है। वहाँ यह गति विमर्श संज्ञा से कथित है जो कि अपनी सत्ता व चिन्मयता का बोध–सामर्थ्य है। यह बोध विश्वोत्तीर्ण पक्ष में शुद्ध अहंरूपता का बोध है तथा विश्वमय पक्ष में पूर्ण जगत् का।
2. अनन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः, ऐश्वर्यम्, स्वातन्त्र्यम, चैतन्यम्। ई.प्र.वि., भा.भा.। पृ. 255
3. तस्मादनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखदिप्रमेयरूपतया च अनतिरिक्तयापि अतिरिक्तया इव स्वरूपानाच्छादिकया संविद्रूपनान्तरीयकस्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाशत इति अयं स्वातन्त्र्यवाद....। ई.प्र.वि.वि.भा.1, पृ. 9
4. इसी धारणा पर अत्यधिक बल देने से यहाँ अद्वयवाद की रक्षा करते हुये नानावाद की सफल व्याख्या हो जाती है अन्यथा तो यह मीमांसा भी वेदान्त व सांख्यवत विवर्त तथा परिणाम की अनुपपन्न सरणियों का आश्रय लेकर अपने गन्तव्य पथ से च्युत हो जाती। अतः यह प्रत्यय गति व नानात्व रूप प्रमुख दार्शनिक समस्याओं का सफल समाधान है। अन्य कई दर्शनों में तो गति व गतिमान के मध्य सम्बन्ध स्थापन की समस्या इतनी जटिल है कि कहीं गति को छोड़ना पड़ता है (वेदान्त) व कहीं गतिमान को (बौद्ध) और या दोनों को साथ लेकर चलने पर भी उन दोनों को एक नदी के दो कूलों की भांति परस्पर विविक्त स्वीकारना पड़ता है (सांख्य) अथवा अद्वयवाद का ही सम्बल छोड़ कर द्वैत, द्वैताद्वैत या बहुत्ववाद की भ्रामक मीमांसाओं का आश्रय लेना पड़ता है। द्र. वही पृ. 8–9

विसंगतियाँ यहाँ नहीं उत्पन्न होतीं। वस्तुतः तो जो अव्याख्येय है, जागतिक मेधा के द्वारा अगम्य है, पारमिता प्रज्ञा का क्षेत्र है, उस सबको प्रायः माया जैसे एक शब्द के द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है पर उसे ही यह शिवाद्वयवाद स्वातन्त्र्य संज्ञा से अभिहित करता है जो कि एक स्वसंवेदनसिद्ध प्रत्यय है। भेद मात्र यह है कि 'माया' जहाँ अनिर्वचनीय रहकर दार्शनिक दृष्टि से बच जाती है फलतः उसका जगत् के साथ सम्बन्ध भी अव्याख्येय रह जाता है, (अतः वे दार्शनिक सरणियाँ अपूर्ण ही रह जाती हैं) वहीं यह स्वातन्त्र्य उस तत्त्वमीमांसात्मक 'क्यों' की सार्वभौमिक समस्या का स्थायी समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करता है व किसी सीमा तक सफल भी होता है। वस्तुतः तो यह स्वातन्त्र्य मानवीय बुद्धि की सीमा के बाहरकी सभी समस्याओं का एकमात्र समाधान है।

इस स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में यह आशंका संभव है कि कहीं–कहीं सीमारहित स्वातन्त्र्य उच्छृंखलता की श्रेणी में जा पहुंचता है जिसकी कि निरंकुशता किसी प्रकार के बन्धन में न बँध दायित्वहीन अस्तव्यस्तता की जन्मदाता बन जाती है। पर यह कथन शिवाद्वयवादी स्वातन्त्र्य के प्रत्यय के सन्दर्भ में यथार्थ नहीं ठहरता क्योंकि यहाँ स्वीकृत परतत्त्व का निरर्गल स्वातन्त्र्य तो सभी प्रकार की व्यवस्था या अव्यवस्था का प्रेरक है। वही कभी उसे सीमाओं में बाँधता है व कभी मुक्त करता है, कभी भोक्ता बनाता है तो कहीं ज्ञाता या कर्ता। इसी के कारण परतत्त्व स्वयं मुक्ति भी है व भुक्ति भी, स्वयं देवी भी है व प्रभु भी[1]। यह स्वातन्त्र्य उस परतत्त्व से भिन्न न होकर उसका स्वभाव ही है। फलतः अंकुशों का जन्मदाता जब वह स्वयं है तो उसके सन्दर्भ में निरंकुशता या उच्छृंखलता का प्रश्न ही नहीं उठता।

ऐसा यह परतत्त्व सदैव अपनी इच्छा से सञ्चालित होने से न तो पर के द्वारा इष्यमाण कर्म से निवृत्त किया जा सकता है और न बलात् अनीच्छित कर्म में उसे नियुक्त किया जा सकता है, साथ ही बिना असफल हुये वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ है और बिना किसी अन्य प्रेरक के अपने लक्ष्य का सफल निष्पादन कर सकता है[2]। इस प्रकार ऐसे ईश्वर तत्त्व की कारणता सर्वत्र दृष्ट होती है। यद्यपि अन्यत्र भी ईंश्वर को निमित्त कारण रूप में स्वीकृत किया गया है पर यहाँ स्थिति भिन्न है। यहाँ तो सारा कर्तृत्व उसी स्वतन्त्र पारतात्त्विकी इच्छा को ही समर्पित कर दिया गया है अतः यहाँ वही उपादान है व वही निमित्त है[3]। फलतः समस्त भावपदार्थ अपने द्वारा साध्य अर्थक्रिया का सम्पादन ईश्वरेच्छा की प्रेरणा से करते हैं, अपने स्वरूप[4] मात्र से नहीं। यदि भावों की अर्थक्रिया सम्पादन में ईश्वरेच्छा को कारण न मानें तो भावों के वैफल्य की संभावना कभी संभव नहीं है[5] अतः पदार्थ में सामर्थ्य रहने पर भी उससे

1. तं.आ. 13/123–124.
2. ई.प्र.वि., भा.भा.।पृ. 41
3. ई.प्र.का. 2/4/21
4. यह स्वरूप का प्रत्यय यहाँ सकुचित अभिप्राय मे प्रयुक्त है अन्यथा तो उनका स्वरूप परमशिव से किञ्चित् भी गुणात्मक भेद न रखने से तत्सदृश् ही इच्छामय होकर सर्वकर्तृत्व मे सक्षम हो सकता है।
5. सत्तायाम्....असत्तायाम् ईश्वरेच्छानियतं भवति तदुक्तम्–"देवं चैवात्र पञ्चमम्. देव हि क्रीडाशीलपरमेश्वर सम्बन्धी इच्छाविशेष एव देवस्येदमिति योगबलात्। ईश्वरेच्छाप्रेरिता एव हि भावा स्वसाध्यामर्थक्रिया संपादयन्ति न तु स्वरूपमात्रेण अन्यथा भावानां वैफल्यं कदापि न स्यात्, दृश्यते च शीतज्वरेऽग्नेरपि शीतनिवारणे असामर्थ्यम। भा.भा. 2 पृ. 120

उस अर्थक्रिया की पूर्ति तब तक नहीं होती जब तक कि ईश्वरेच्छा उसे उसके लिये प्रेरित नहीं करती। जैसे अग्नि में उष्णता होने पर भी वह शीत ज्वर में शीतनिवारण में समर्थ नहीं है क्योंकि ईश्वरेच्छा ने उसे उस कार्य में नियमित नहीं किया है। अतः वही समस्त देश, काल, आकार आदि की आभासक है पर वह परतत्त्व उनसे नियमित न होकर विभु व नित्य ही है। वह विश्वाकृतिमान होने पर भी उससे उपरक्त नहीं होता[1]। इस प्रकार मायापद में जो कुछ भी अतिदुर्घट है उस सबके सम्पादन–प्रावीण्य का हेतु वही पारमेश्वरी इच्छा है।

यहाँ स्वातन्त्र्य शब्द की व्याख्या विविध प्रकार से की हुई उपलब्ध होती है। कहीं इसकी व्याख्या आत्मोच्छलत्ता या आत्मघूर्णन रूप में की गयी है, कहीं संयोजन, वियोजन व अनुसंधान अथवा अभेदन, भेदन व भेदाभेदन रूप सामर्थ्य रूप में[2] और कहीं इसे दुर्घटघटनानैपुण्य रूप में[3] परिभाषित किया गया है। प्रथम व्याख्या के अनुसार वह अपने आप में ही स्वातन्त्र्य के अनुभव से उद्वेलित या तरंगित होता रहता है। इसी को स्पन्द भी कह सकते हैं जिसका कि अभिप्राय है किंचिच्चलनम्[4]। द्वितीय व्याख्या इसके स्फुट कर्तृत्व को व्यक्त करती है। संयोजन के द्वारा जहाँ वह विविध सजातीय आभासों को परस्पर सम्बद्ध कर के प्रस्तुत करता है, वहाँ वियोजन के द्वारा अन्य विजातीय आभासों से उसको व्यावृत्त करता है तथा अनुसंधान के द्वारा विविध जातीय आभासों का एकीकरण करता है। यह विजातीयता व सजातीयता भी उसकी इच्छा द्वारा ही नियत होती हैं। इस स्वातन्त्र्य के कारण वह समानाधिकरण्याभास, पृथकत्वाभास तथा एकरसेनाभास रूप में भासित होता है। समानाधिकरण्याभास में एक ही स्वलक्षण में लोहिताभास, घटाभास, उन्नताभास, दृढ़ाभास आदि की प्रतीतियाँ होती हैं तथा पृथकत्वावभास

---

1. तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते।
परस्य तदपेक्षत्वात्स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः।।
अनपेक्षस्य वशिनो देशकालाकृतिक्रमाः।
नियता नेति स विभुर्नित्यो विश्वाकृतिः शिवः।। तं.आ. 1/59–60

2. (अ) स्वातन्त्र्यं च अस्य अभेदे भेदनम् भेदिते च अन्तरानुसंधानेन अभेदनम् इति बहुप्रकारं....। ई.प्र.वि., भा.भा.। पृ. 53
(ब) संयोजनवियोजनात्मक स्वातन्त्र्यं....अ.प्र.सि., पृ. 6, म.मं.पृ. 44

3. (अ) भास्यमानोऽत्र चाभेदः स्वात्मनो भेद एव च। तं.आ. 15/267
तेनातिदुर्घटघटा–स्वतन्त्रेच्छावशादयम्।
भानापि प्राणबुद्धयदिः एवं तथा न विकल्पयेत्। तं.आ 15/272–273, 1/92 1/ 136
(ब) यत्किलमायापदे अतिदुर्घटं प्रतिभाति तत्संपादने यत् अप्रतिहत स्वातन्त्र्यं तदैव पुनः स्वातन्त्र्यशब्देन दर्शितः। ई.प्र.वि., भा.। पृ. 271

4. तं.आ. 4/184–185
(क) जैसे समुद्र में तरंगें उठती हैं तो ये उसमें गति तो दर्शाती हैं पर कोई परिवर्तन या रूपान्तरण नहीं बतलातीं वैसे ही संविद्रूप परमेश्वर में भी गति तो रहती है पर परिणमन नहीं होता। इसी स्पन्द के कारण परतत्त्व चल होने पर भी विकारी नहीं होता।
(ख) इस सम्प्रदाय में परिवर्तन व गति में अन्तर किया गया है। परतत्त्व में गति है पर परिवर्तन नहीं। यह स्थिति सांख्य के सदृश परिणामवाद से बहुत कुछ मिलती है और संभवतः वहीं से गृहीत है। अतः इस चलन को स्वतः परिणमन रूप से परिभाषित किया जा सकता है।

में दो स्वलक्षण परस्पर पृथक् करके भासित किये जाते हैं। इस प्रकार वह देशक्रम व कालक्रम का भासन करता है। देशक्रम में दूर अदूर, वितत अवितत आदि का भासन होता है तथा कालक्रम परिमित रूप व अपरिमित रूप का भासन है। इस प्रकार वह विविध आभासों को संयुक्त कर उन्हें विशिष्टरूपता प्रदान करने का कारण बनता है तथा कहीं उन्हें बाह्यता, कहीं आन्तरिकता, कहीं स्फुटता, कहीं अस्फुटता के आभासों से संयुक्त करता हुआ विचित्र प्रतीतियों का निमित्त बनता है। यहीं तृतीय व्याख्या उसकी परमसामर्थ्य को बताती है। दुर्घटघटनानैपुण्य में दुर्घट है अखण्ड प्रकाश प्रभाव के साथ ही प्रकाश के निषेध का अवभास[1]। यह निषेध निषेधात्मक प्रत्यय न होकर तिरोभाव रूप है। तिरोभाव की मात्रा–भेद से ही ग्राहकांश व ग्राह्यांश भासित होते हैं। चित् तत्त्व के संकोच की मात्रा के आधार पर यहाँ नाना विविधतायें दृष्ट होती हैं जिनसे कि स्वातन्त्र्य में भी भेद दृष्ट होता है[2]। परमसंविद् परमस्वातन्त्र्यवान् है अतः वह महेश्वर कहा जाता है। पर अन्य जीव जितने अंशों में ज्ञाता व कर्ता होते हैं, उतने ही अंशों में ईश्वर कहे जाते हैं[3]। सीमित चिति व असीमित चिति के स्वातन्त्र्य का भेद मात्र इतना है कि जहाँ सीमित चिति का स्वातन्त्र्य मात्र योजना अंश में है वहीं परम या असीमित चिति का योजन व योज्यमान दोनों अंशों में[4]। यह सीमित–असीमित के मध्य का भेद अग्नि–अग्निस्फुलिंगवत् परिमाणात्मक ही हैं, गुणात्मक नहीं[5]। यहाँ जड[6] पदार्थों में भी इस

1. (अ) विभेद की धारणा भी निषेध के प्रत्यय पर ही आधारित है। ई.प्र.वि.भा.।पृ. 306
(आ) अतिदुर्घटकारित्वं च स्वात्मतयास्थितस्य विश्वस्य भिन्नतया भासनं भासितस्य तु पुनः,स्वात्मभावेन विमर्शनमिति द्विविधम्.....।भा.भा. 1, पृ. 27.
2. इह परमेश्वरस्येदमेव परं स्वातन्त्र्यं यत् अस्मादृक्प्राच्यपशुदशाविशेषासंभाव्यमानातिदुष्करवस्तुसंपादनं नाम।... अतिदुष्करं ... यत्प्रकाशात्मनि अखण्डितताद्रूप्ये एव प्रकाशमाने प्रकाशननिषेधावभासः प्रकाशमानः। तस्मात् परमेश्वरस्य तत्परं स्वातन्त्र्यं यत् तथानवभासनं पशुरूपतावभासनं नाम ग्राहकांशसमुत्थापनं तदद्वारेण च ग्राह्योल्लासनमपि। सैषा भगवतो मायाशक्तिरुच्यते।....तदेवंभूतात् मायाशक्तिरूपात् स्वातन्त्र्यात् या मृदता विनष्टपूर्णचेतनता आत्मवर्तिन इच्छास्पन्दोदयस्फुटस्फुरितविश्वभावनिर्भरतात्मनः पूर्णत्वस्य, स्मृत्यादिशक्त्यात्मनः स्वातन्त्र्यस्य, देशकालसंकोचवैकल्यात् अयत्नसिद्धवैभवनित्यताधर्मस्य च प्रकाशमानस्यापि यदप्रकाशतया अभिभवनम्, तस्या वशात् सामर्थ्यात् ...य खलु 'अहम्' इति भाति स पूर्णः विभुः स्वतन्त्रो नित्यः....तं प्रवर्तयन्तु व्यवहार लोकाः....।ई.प्र.वि.भा.भा. 2, पृ. 141–143
3. (अ) यो हि ज्ञानक्रियास्वातन्त्र्ययुक्तः स ईश्वरो यथा सिद्धान्तपुराणादिषु प्रसिद्धः तथा च त्वम्। यदि वा यस्मिन् यदायत्तं स तत्रेश्वरो राजेव स्वमण्डले तथा च त्वयि विश्वम्–इति ईश्वरताव्यवहारो नान्यनिमित्तकः। वही पृ. 144–145
(ब) यो यावति ज्ञाता कर्ता च स तावति ईश्वरो राजेव, अनीश्वरस्य ज्ञातृत्वकर्तृत्वे स्वभावविरुद्धे यतः आत्मा च विश्वत्र ज्ञाता कर्ता च ई.प्र.वि.. भा.भा.।पृ. 68
4. ई.प्र.वि.वि.भा 2 पृ 331
5. ....यथाऽतिसूक्ष्मोऽप्यग्निकणः दाहकत्वेन महाग्निचयादभिन्न एव, तथा जीवोऽपि ज्ञानक्रियास्वतन्त्रत्वेन ईश्वराभिन्न एव, दृष्टान्ते संभवत्यपि उपाधिकृत कणचयभावरूपो भेदः दार्ष्टान्तिके तु सोऽपि न संभवति एवं उपाधेरपि तत्त्वानपायात् ।भा.भा 2 पृ 144
6. यहाँ जडता सत्ता की एक पृथक श्रेणी न होकर चेतन का ही एक प्ररूप है जिसमें स्थित यह चैतन्य माया द्वारा पूर्णतया आवरित है। यहाँ की सर्वानुवृत्तिमूलक तत्त्वमीमांसा 'सर्व सर्वात्मक' की मान्यता की ही प्रतिपादक है। जब ईश्वरानुग्रहवशात् स्वरूपप्रत्यभिज्ञान से माया का तिरोधानकारी कृत्य विरमित हो जाता है तब वह चैतन्य तथा अन्य वैशिष्ट्य स्फुट हो जाते हैं पर तब उन पदार्थों की संवित्तत्त्व से एकात्मता हो जाती है।

स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन किया गया है, मात्र वह माया से आवरित रहता है। यद्यपि यह स्थल–स्थल पर कथित है कि स्वातन्त्र्य चिन्मात्र में ही संभव है, जड में नहीं। जडता व स्वतन्त्रता का सद्भाव तो असंभव ही है पर इस सर्वानुवृत्तिमूलक तत्त्वमीमांसा में ऐसा कोई जड तत्त्व ही नहीं है जो पूर्णतया प्रकाश–विमर्श शून्य हो फलतः स्वातन्त्र्य का अंश भी सबमें अनुस्यूत है, इस शिवाद्वयवादी मान्यता का कहीं खण्डन होता नहीं दीखता।

प्रायः इस दर्शन में परतत्त्व के दो रूपों की कल्पना की गयी है–विश्वोत्तीर्ण व विश्वमय। स्वातन्त्र्य इन दोनों ही रूपों का स्वभाव है। जहाँ विश्वोत्तीर्ण पक्ष में यह स्वातन्त्र्य रूप में रहता है (यह स्वात्मोच्छलत्ता या आत्मघूर्णन है) वहीं विश्वमय तत्त्व में यह स्फुट रूप में स्थित है[1]। स्वातन्त्र्य की ज्ञानात्मक व सर्जनात्मक क्रिया–सामर्थ्य रूप व्याख्यायें जहाँ विश्वोत्तीर्ण पक्ष में मात्र योग्यता रूप में अवस्थित हैं वहीं विश्वमय पक्ष में स्फुटतया उपलब्ध हैं[2]। जैसे–जैसे यह स्फुटता बढ़ती है, वैसे वैसे जागतिक सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती जाती है तथा तिरोधान व अनुग्रह के कृत्य प्रारम्भ हो जाते हैं। इस स्तर पर ज्ञानात्मक व क्रियात्मक सामर्थ्यों की स्फुट अभिव्यक्ति होती है, हाँ इन सामर्थ्यों के अभिव्यक्तीकरण के विविध ढंग उपलब्ध होने से तत्तत्सन्दर्भ में इनकी विविधसंज्ञावाच्यता है और स्वातन्त्र्य की विविध स्थितियाँ दृष्ट होती हैं। वह संवित्प्रकाश स्वात्मोच्छलत्ता के परिणामस्वरूप उद्भासित अपनी माया शक्ति के द्वारा उल्लसित विश्ववैचित्र्य में जड व अजड दो प्रकार की वेद्य–वेदकात्मक भावराशि को स्वरूपातिरिक्त व स्वरूपानतिरिक्त रूप से प्रस्फुरित करता है[3]। इस प्रकार वही सबका प्रतिष्ठास्थान है[4]। वह स्वातन्त्र्य से स्वयं को उद्भासित करता हुआ व पुनः तिरोहित करता हुआ भी अप्रच्युत स्वात्मस्थिति वाला बना रहता है[5]।

बहुधा स्वप्रकाशता व प्रकाश्यता के प्रत्ययों को भी स्वातन्त्र्य व पारतन्त्र्य के पर्याय रूप में प्रस्तुत किया जाता है क्योंकि प्रकाश्य का अभिप्राय है प्रकाशान्तरापेक्षिता फलतः यह स्थिति पारतन्त्र्य की ही नियोजिका है[6] तथा स्वप्रकाशता स्वतः प्रकाशमान होने के अर्थ को ध्वनित करती हुई किसी पर के व्यापार की अपेक्षा नहीं करती, अतः स्वातन्त्र्य की नियोजिका है[7]।

---

1. तं.आ.भा. 7, पृ. 13–15
2. परतत्त्व के सन्दर्भ में इस ज्ञानात्मक क्रिया का अभिप्राय है समस्त पदार्थों का अपने में अभिन्न रूप से, अन्तस्थ विचार रूप से ज्ञान तथा सर्जनात्मक क्रिया है उनका बाह्याभासन (पर इस बाह्याभासन में भी उनका आधार से अभेद रहता है)।
3. ...संवित्प्रकाश एव स्वात्मोच्छलत्तया स्वमायाशक्त्युल्लासिते विश्ववैचित्र्ये जडाजडभावराशिद्वयेन वेद्यवेदकात्मेन स्वरूपानतिरिक्तेनातिरिक्तेनेव प्रस्फुरेत् इति स्वातन्त्र्यवाद ....। अ.प्र.सि. वृ.पृ. 6
4. अ.प्र.सि.वृ.पृ. 10
5. (अ) स्वस्वातन्त्र्येण....स्वात्मन्येवोद्भासयंन्विलापयंश्चाप्रच्युत स्वात्मस्थितिः....वही., पृ. 8
   (आ) लौकिकदृष्टयां सृष्ट्याद्याविर्भावेऽपि स्वतन्त्रप्रकाशस्वरूपस्फारमयत्वादस्य विश्वस्य सृष्टावपि स्वरूपाभिन्नरूपया स्थित्या स्वरूपविश्रान्त्या च सहृत्या स्थितत्वात् न किञ्चित् स्वरूपातिरिक्तत्वमस्य सजातमिति न किञ्चित् काल्पनिकत्वम्। तं.सा.पृ. 69–70, पा.टि. 4
6. प्रकाश्यतैव–हि पारतन्त्र्यम्, प्रकाश्यता च प्रकाशान्तरापेक्षितैव ....। वही.पृ. 6
7. स्वातन्त्र्य हि स्वप्रकाशत्वमुच्यते त.आ.भा 6 पृ. 13

पर यह 'प्रकाश' की धारणा तो समस्त भावजात का स्वभाव है अतः इसकी विविध स्थितियाँ (प्रकाश्यता, स्वप्रकाशता, प्रकाश्यता व प्रकाशकता दोनों) स्वातन्त्र्य की ही विविध स्थितियों का परिचायक है[1]। इसी प्रकार प्रमातृत्व व प्रमेयत्व[2] तथा प्रेरक व प्रेय भी स्वातन्त्र्य व पारतन्त्र्य के अभिप्राय में प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं[3]।

अब यह द्रष्टव्य है कि स्वातन्त्र्य कैसे एक से अनेक की व्याख्या प्रस्तुत करते हुये जगत् का निमित्त बनता है। वस्तुतः अद्वयतत्त्व व जगत् के नानातत्व के मध्य सम्बन्ध स्थापित करते समय तीन प्रश्न मूलतः उपस्थित होते हैं–क्यों, कब व कैसे। क्यों का प्रश्न होने पर यह तत्त्वमीमांसा यही कहेगी कि स्वतन्त्र तत्त्व होने से परतत्त्व जब जैसी इच्छा करता है, तब वैसा ही व्यापार करता है। 'कब' का प्रश्न भी पूर्वोक्त उत्तर से ही उत्तरित हो जाता है व कैसे की समस्या को सुलझाने के लिये यह सम्प्रदाय दर्पणनगरन्याय का ही आश्रय लेता है। इस सन्दर्भ में यह बताया जाता है कि इसी स्वातन्त्र्य के कारण महेश्वर अपनी इच्छा से नानात्मक विश्व को अपनी ही भित्ति पर अपने से विविक्ततया भासित करता है[4]। पर फिर भी उस नानात्व के विकार से उसी प्रकार उदासीन या विविक्त रहता है जैसे कि दर्पण अपने प्रतिबिम्बों से[5]। अतः वह अचल होने पर भी चलवत् भासित होता है जैसे कि दर्पण एक होने पर भी नाना आभास भेदों के प्रतिबिम्बों से संलग्न होने पर नाना प्रतीत होता है[6]। यहाँ सारे आभास उसी में विचार रूप में अन्तःस्थ हैं जिनका सिसृक्षा होने पर वह बाह्यतया आभासन मात्र करता है[7]। यद्यपि सत्कार्यवादी मीमांसा का आश्रय लेने से यह आशङ्का संभव है कि यदि जो कारण में पूर्वसत्

---

1. (अ) स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्र इच्छाप्रसरस्य अविघातः, तेन स्वयं प्रकाशते परात्मनो प्रकाशते इति अनवच्छेदनया प्रकाशमानता, तदेव स्वातन्त्र्ये परात्मना प्रकाशते इति। ई.प्र.वि.वि., भा.।पृ. 82
   (ब) यद्यपि प्रकाश का स्वातन्त्र्य विमर्श ही कथित है (भा.भा.।, पृ. 259) पर प्रकाश व विमर्श के आभिन्न्य के कारण ही प्रकाश की ही विविध स्थितियों के आधार पर स्वातन्त्र्य की विविध स्थितियाँ बताई जा सकती हैं।
2. भा.भा. 2 पृ. 236–237
3. तं.आ.भा. 7 पृ. 32–33
4. यह स्वातन्त्र्य का प्रत्यय परम्परागत रूढ़िवादी प्रत्यय न होकर पूर्णतया व्यावहारिक धारणा है जो कि लौकिक सार्वजनिक अनुभवों पर आधारित व उनसे प्रमाणित है। लौकिक जीवन में स्मृति, स्वप्न आदि दशाओं में पूर्वप्रत्यक्ष किये हुये पदार्थों के अनुभव के संस्कार हमारे अवचेतन में स्थित रहते हैं तथा किसी हेतु से उद्बुद्ध होने पर चेतन स्तर पर आ जाते हैं वैसे ही परमशिव में भी सामर्थ्य रूप से अवस्थित पदार्थों को यह स्वातन्त्र्य रूप निमित्त स्फुटतया आभासित करता है।
5. ...परमेश्वरो हि अनर्गलत्वलक्षणस्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् स्वात्मभित्तावेव अनतिरिक्तमव्यतिरिक्तायमानम् इयद्विश्ववैचित्र्यं प्रदर्शयति। इत्येवं विश्ववैचित्र्योल्लासेऽपि प्रकाशमात्रस्वभावे स्वात्मनि अस्य नाधिकं किञ्चिज्जातम्....यथाहि दर्पणादौ परस्परव्यावृत्तात्मान: प्रतिबिम्बिता आकारविशेषा: ततोऽनतिरिक्तत्वेऽपि अतिरिक्ता इव भासन्ते..... तं.आ.भा. 2 पृ. 3–4
6. परमशिव में दो वैशिष्ट्य स्वीकृत हैं–स्वच्छता व स्वातन्त्र्य। इनमे से स्वच्छता के कारण उसमें अन्तारूपता बनी रहती है व स्वातन्त्र्य के कारण अन्तारूपता–बहीरूपता का निमेष–उन्मेष हुआ करता है। ये ही वैशिष्ट्य यहाँ पारिभाषिक शब्दावली में प्रकाश व विमर्श कहे जाते हैं। द्र.ई.प्र.वि. भा 2 पृ. 160, ई.प्र.वि.वि., भा।पृ. 6
7. भा.भा. 2 पृ. 36 इस प्रकार यहाँ प्रत्ययवाद, वस्तुवाद तथा अद्वयवाद के मध्य का कल्पित भेद मिट जाता है और वे तीनों एक सूत्र में सग्रथित हो जाते हैं फलतः यह स्वातन्त्र्य तीनों विरोधी धारणाओं का सगमस्थल बन जाता है जबकि अन्यत्र ऐसा संभव नहीं है।

है वही कार्य रूप में आभासित होगा तो जो इस जगत में व्याप्त द्वेष, घृणादिक बुराइयाँ हैं, उनसे कारणरूप परतत्त्व की भी सम्पृक्तता होगी फलतः उसकी पारतात्त्विकता के ह्रास की समस्या उपस्थित होगी। पर इस आशङ्का का समाधान भी यही स्वातन्त्र्य है जो कि उसे उन विकारों के उपराग से दर्पण प्रतिबिम्बवत् विविक्त रखता है[1]।

इस प्रकार का परमशिव का यह स्वातन्त्र्य निर्विषयक है। वह आत्मरति हेतु ही स्वात्मगोपन व अगोपन की, संकोच व विकास की क्रीडा करता है[2]। वह इसी स्वातन्त्र्य के द्वारा नियति के नियमा से मुक्त रहते हुये भी नियति–अनियति के क्रम का स्पर्श करता हुआ प्रकाशित होता है[3]। वह इसी स्वातन्त्र्य से स्वयं को कल्पिताकार विकल्पात्मक कर्मों (कार्ममल) से बद्ध करता है[4]। इस प्रकार कहीं स्वयं को अणुतामय रूप से अवभासित करता हुआ अणु कहा जाता है[5] तो कहीं अपने यथार्थ स्वरूप को अनवच्छिन्न प्रकाशात्मक शिव रूप से प्रकाशित करता हुआ परम मुक्त रहता है। इस प्रक्रिया में कहीं तो वह किसी बाह्य साधन की अपेक्षा रखता है व कहीं नहीं[6]। यद्यपि इस स्वरूप प्रकाशन के सन्दर्भ में यह आक्षेप संभव है कि वह किसी के प्रति आत्माभिव्यक्ति करता है व किसी के प्रति नहीं अतः वह पक्षपात के लिये उत्तरदायी है पर यह आक्षेप स्वतः ही अद्वयवाद के द्वारा उत्तरित हो जाता है क्योंकि यहाँ इससे पर कुछ है ही नहीं अतः यह आक्षेप ही नहीं संभव है। वरन् यह तो उसके स्वातन्त्र्य की क्रीडामात्र है कि वह अपने को विविध रूपों में आभासित कर व बद्ध कर अपने किसी रूप को तो आत्मानुग्रह से अनुग्रहीत कर मुक्त कर देता है तथा किसी को नहीं[7]। इसी स्वातन्त्र्य के कारण वह शुद्धाशुद्ध रूप से प्रथित है।

जहाँ पूर्ण स्वातन्त्र्य व आनन्द की स्थिति रहती है वहाँ उसका उछाह अनिवार्यतः होता है फलतः पारतात्त्विक स्वातन्त्र्य का भी विभवन आवश्यक है। यह विभवन तीन प्रकार से होता है–(क) निरावृत रूप से (ख) आवृत रूप से (ग) आवृत–अनावृत रूप से। पुनः इनके नाना अवान्तर भेद होते हैं[8]। परमेश्वर का वह स्वातन्त्र्य इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप शक्ति–त्रिपुटी के

1. न हि अङ्गिनः स्वाङ्गैः कोऽपि विकार इति....। भा.भा. 2 पृ. 307
2. यहाँ स्वातन्त्र्य के प्रत्यय के इसी माहात्म्य को व्यञ्जित करने के लिये परमशिव को स्वातन्त्र्यमात्रसारवाला कहा गया है।
3. स्वभावात् परमेशानो नियत्यनियतिक्रमम्।
   स्पृशन्प्रकाशते येन, ततः स्वच्छन्द उच्यते।। तं.आ.,भा. 8 पृ. 216
4. तं.आ., 13/104
5. स्वातन्त्र्यमहिमैवायं, देवस्य यदसौ पुनः।
   स्वरूपं परिशुद्धं संस्पृशत्यप्यणुतामयः।। वही. 13/105
6. ....स एव स्वातन्त्र्यात् आत्मानं संकुचितम् अवभासयन् अणुरिति उच्यते।
   पुनरपि च स्वात्मानं स्वतन्त्रतया प्रकाशयति येन अनवच्छिन्नप्रकाशशिवरूपतयैव प्रकाशते। तत्रापि स्वातन्त्र्यवशात् अनुपायमेव स्वात्मानं प्रकाशयति सोपायं वा....। तं. सा. पृ. 6–7
7. यावता हि देव एवासौ स्वातन्त्र्याद् शुद्धाशुद्धात्मतया प्रथते यदस्य तादृशमेव स्वं रूपम्....। तं.आ.,भा. 8 पृ. 71–72
8. निरावरणमाभाति भात्यावृतनिजात्मकः।
   आवृतानावृतो भाति बहुधाभेदसंगमात्।। वही 1/93

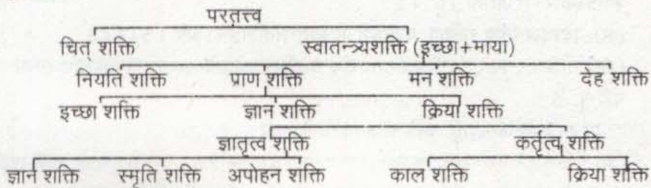
द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है[1]।

इस दर्शन में इस स्वातन्त्र्य की चर्चा शक्ति--रूप[2] में भी उपलब्ध होती है[3]। शक्ति का प्रत्यय 'शकन' या सामर्थ्य (Potency) का द्योतक है[4] पर स्वरूप को ही सामर्थ्य कहने पर दृष्टिभेद तो संभव है पर प्रत्यय भेद नहीं क्योंकि जब परतत्त्व का अस्तित्वपरक दृष्टि से निरूपण करते हैं तब स्वातन्त्र्य को उसका स्वरूप या स्वभाव कह देते है और जब उसके क्रियात्मक स्वरूप या सामर्थ्य की चर्चा करते हैं तब उसे शक्ति संज्ञा से अभिहित करते हैं। इसी कारण यहाँ शक्ति–शक्तिमान के प्रत्यय उस रूप में उपलब्ध नहीं होते जिस रूप में न्याय आदि वस्तुवादी तत्त्वमीमांसाओं में प्राप्त होते हैं क्योंकि यहाँ शक्ति–शक्तिमान में तादात्म्य ही अभिमत है फलतः उनकी पार्यन्तिक स्थिति अभेद रूप सिद्ध होती है।

---

1. ....शक्तित्रयं नाथे स्वातन्त्र्यापरनामकं।
इच्छादिभिराख्याभिर्गुरुभिः प्रकटीकृतम्। तं. आ. 1/94

2. परमेश्वरशक्तिरेव स्वतन्त्र्यापरपर्याया भविष्यति....। तं.सा.पृ. 11
शक्तिमतः शक्तित्वं नाम स्वातन्त्र्यं....। शि.दृ.वृ..पृ. 97, पा.टि. 2 यहाँ सब कुछ एक ही अद्वयतत्त्व मे अन्तर्भूत व उसी के द्वारा निष्पादित बताया गया है अतः उसे शक्ति रूप कहना व शक्ति–शक्तिमान का अभेद बतलाना अनिवार्य हो जाता है। यहाँ प्राप्य शक्ति के विस्तृत विवरण के सम्यक् अवगाहन के लिये उनका निम्न तरह से वर्गीकरण किया जा सकता है–
(क) परतत्त्व के स्वरूप की दृष्टि
(अ) चित् शक्ति
(आ) आनन्दशक्ति
(इ) इच्छाशक्ति
(ई) ज्ञानशक्ति
(उ) क्रियाशक्ति
(ख) विश्वमयता की दृष्टि से–



(ग) क्रियाकारित्व की दृष्टि से–
(अ) सृष्टि शक्ति (आ) स्थिति शक्ति (इ) संहार शक्ति (ई) तिरोधान शक्ति (उ) अनुग्रह शक्ति
(घ) सर्वानुवृत्तिमूलकता की दृष्टि से सारा तत्त्व विकास शक्ति रूप
(ङ) प्रमातृ स्वातन्त्र्य की मात्रा की दृष्टि से–
(अ) प्रभुशक्ति (परमात्मा की सामर्थ्य) (आ) आत्मशक्ति (सीमित प्रमाता की सामर्थ्य) (इ) प्राणशक्ति (शारीरिक क्रियाओं में प्राण वायु की सामर्थ्य)
(च) सीमित प्रमाता की दृष्टि से– (यहाँ शक्तियाँ गुण भूत)
(अ) सत्त्व (आ) रजस् (इ) तमस

3. स्वातन्त्र्य को शक्ति रूप कहने पर भी जब शक्ति- शक्तिमान् के भेद की विवक्षा होती है तब ये शक्ति–शक्तिमान के प्रत्यय इस स्वातन्त्र्य के स्फार रूप में कथित होते हैं।

4. वि.भै.पृ. 21.

यह स्वातन्त्र्य शक्ति समस्त ज्ञानात्मक व क्रियात्मक सामर्थ्यों का एकमात्र आश्रय है फलतः यही मुख्य शक्ति कही जाती है[1]। वस्तुतः तो इस अद्वैत तत्त्वमीमांसा में उस अद्वय तत्त्व की दृष्टि से जगत् का प्रत्येक आभास, प्रत्येक तत्त्व, प्रत्येक कृत्य शक्ति रूप है[2] तथा परमेश्वर की इच्छा के अनुरूप ही कहीं क्रिया, कहीं कर्म, कहीं कर्ता, कहीं शक्ति व कहीं शक्तिमान रूप से अभिव्यक्त होता है। गौण सदैव मुख्य का अंश होता है अतः स्वातन्त्र्य को मुख्य शक्ति कहने से ये सभी उसी के अंश सिद्ध होते हैं। परमशिव में यद्यपि चिद्, आनन्द आदि नाना शक्तियाँ विद्यमान हैं पर वहीं स्वातन्त्र्य शक्ति ही उन सबका जीवन है[3]। इस स्वातन्त्र्य को परमशिव की समवायिनी शक्ति भी कहा जाता है[4]।

इस स्वातन्त्र्य शक्ति के सर्वसामर्थ्यमयी होने से इस सम्प्रदाय में इसके विविध अभिधान दृष्ट होते हैं[5]। उन अभिधानों में विविधता का कारण है, इसके विविध अंशों पर दृष्टिकोण के भेद से बल देने की मात्रा। इसके प्रतिनिधि नामान्तरों में विमर्श[6] व स्पन्द संज्ञायें प्रमुख हैं[7]। विमर्श रूप संज्ञा जहाँ ज्ञानात्मक पक्ष पर विशेष बल देती है वहीं स्पन्द संज्ञा[8] क्रियात्मक पक्ष पर। वस्तुतः तो दोनों पक्षों में अभेद का प्रतिपादन होने से कोई भेदपरक कथन संभव ही नहीं है। स्पन्दपक्ष प्रायः शक्तिचक्र–विभव की प्रक्रिया से सम्बद्ध है अतः वह परमेश्वर के आत्मोच्छलन या स्वात्मस्पन्दन की प्रक्रिया को द्योतित करता है[9] पर क्रिया ज्ञानसापेक्ष है अतः वह विमर्श वाला पक्ष भी स्वतः उससे आ संलग्न होता है[10]।

---

1. ज्ञानकर्मेन्द्रियावान्तरभेदात्मना शक्तीनां संभवः, वस्तुतस्तु एक एवासौ धर्मः समवायाख्यः। तं.सा.पृ. 94, पा.टि. 7
2. ....यत्किञ्चन जडाजडात्मकविश्ववैचित्र्यं य च्च तद्विषयं सृष्ट्यादि जाग्रदाद्यवस्थादि वा तत्सर्वं परमेश्वरस्य शक्तिस्फार। तं.आ.भा.।पृ. 121
3. (अ)...विश्वजननीषु शक्तिषु, परमार्थो हि स्वतन्त्रतामात्रम्। वही 15/348
   (आ) ....अत एव भगवतश्चिदानन्दाद्यनन्तशक्तिसंभवेऽपि तत्स्फुरणमात्रत्वात् तासां, तस्या एव प्राधान्यात्....। वही पृ. 6
4. ....या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी। वही पृ. 16
5. (अ)...विशुद्धविमर्शमयस्वातन्त्र्यलक्षणा शक्तिरिच्छाज्ञानक्रियाद्यनन्तभेदभिन्नाः शक्तीराक्षिप्य वर्तते तत्रैव विश्राम्यन् परः प्रकाशः सर्वोत्कृष्टतया पूज्यः। वही.भा. 9 पृ. 177, ई.प्र.वि.वि., भा. 3 पृ. 277
   (आ) एक ही पारमेश्वरी शक्ति के मायाशक्ति जनित त्रिविध भेद होते हैं–इच्छा ज्ञान व क्रिया। स्प.का.वि., स्प.का. पृ. 6
6. तं.आ.भा. 8 पृ. 131, तं.आ.भा. 2 पृ. 73, स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः। विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः।। ई.प्र.का. 1/8/11
7. ई.प्र.वि., भा.भा.।पृ. 257
8. लौकिक प्राणियों मे इस स्पन्द का आश्रय प्राण हैं अतः वहाँ स्पन्दानुगत संयोग विभागिता भी प्राणगत ही निश्चित होती है पर परतत्त्व में तो वह स्पन्द उसका स्वरूप ही है अतः वहाँ ऐसे किसी आश्रय की अपेक्षा नहीं होती।
9. (अ) स्वातन्त्र्यशक्तिरविभक्ताप्यशेषसर्गसंहारादिपरम्परा दर्पणनगरवत्स्वभित्तावेव भावियुक्त्यनधिकामप्यधिकामिव दर्शयन्ती किंचिच्चलत्तात्मकधात्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता....। स्प.नि.पृ. 3
   (ब) यह स्पन्द उन्मेष–निमेषमय है। (वही, पृ. 3--4) यह स्पन्द दो प्रकार का है–सामान्य स्पन्द व विशेष स्पन्द। सामान्य स्पन्द जहाँ शुद्ध अहंप्रत्यवमर्शप्रधान है वही विशेष स्पन्द भेद बुद्धि प्रधान है। स्प.का.वि., स्प. का.पृ. 64
10. ई.प्र.वि.,भा.भा. 2 पृ. 116

यहाँ कहीं–कहीं स्वातन्त्र्य शब्द का प्रयोग काफी संकुचित अर्थों में भी किया हुआ उपलब्ध है। वहाँ यह प्रत्यय मात्र क्रियात्मक पक्ष का वाची कथित है[1]। इसी प्रकार इसके एक अन्य पक्ष विमर्श का प्रयोग भी प्रायः मात्र ज्ञानात्मक पक्ष के पर्याय रूप में उपलब्ध होता है[2]। यद्यपि स्वातन्त्र्य का प्रत्यय इन दोनों के समन्वित रूप का ही प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि ज्ञान व क्रिया की अभिन्नता ही इस दार्शनिक तत्त्वमीमांसा का प्रतिपाद्य है। अतः इस प्रकार से प्राप्त सीमित सन्दर्भ वाले उल्लेख कोई विप्रतिपत्ति न प्रस्तुत कर मात्र दृष्टिकोण की विविधताओं को उपलक्षित कराते हैं।

यह स्वातन्त्र्यलक्षणा शक्ति विशुद्धविमर्शमयी है व इच्छा ज्ञान क्रिया आदि अनन्त भेदों से विविध शक्तियों का आक्षेप कर विद्यमान रहती है। परम प्रकाश की विश्रान्ति इसी शक्ति में होती है[3]। इस स्वातन्त्र्य का अपर अभिधान विसर्ग भी है जिसका कि अभिप्राय है कि जिससे विचित्र सर्ग उदित होता है व जिसमें लय होता है[4]। इस प्रत्यय का वाचक कला शब्द भी है[5]। पर यह कला का प्रत्यय पञ्च कञ्चुकों में अभिगणित कला के प्रत्यय से भिन्न है। यह कला यहाँ परविमर्शैकस्वभावा कर्तृता रूप है। इस स्वातन्त्र्य की संज्ञा 'अहं' प्रत्यवमर्श' भी है[6]। प्रकाश की अहं प्रत्यवमर्शता का यही आशय है कि यह अपने व पर के प्रकाशन में अन्य की अपेक्षा नहीं करता[7]। यह पूर्णाहन्ता विमर्श ही समस्त अर्थों का व्यवस्थापक है, सभी भावों का पार्यन्तिक प्रतिष्ठा स्थान है। यही विश्व प्रसार में अन्य निरपेक्षता का हेतुभूत है, अतः वही कर्तृत्व है, वही स्वातन्त्र्य या मुख्य विमर्श है। इसे 'आन्तरी प्रतिभा' रूप संज्ञा से भी उल्लिखित किया जाता है[9]। वस्तुतः तो व्युत्पत्ति का मूल प्रतिभा है जिसके कारण सभी जीव (तिर्यक् भी) स्वोचित व्यापार में समर्थ होते हैं[9]।

---

1. ई. प्र. वि., भा. भा.2 पृ. 5
2. (अ) स्वातन्त्र्यशक्तिरेव तत्तदेषणीयाद्युपाधिवशान्नानात्वेन व्यवह्रियते इति तच्छक्तियोगितैवास्यानन्तशक्तित्वम्। तं आ.भा.। पृ. 108

   (ब) स्वातन्त्र्य के पर्याय रूप में प्रयुक्त विमर्श और परामर्श शब्द प्रायः इस सम्प्रदाय में दो अभिप्रायों को द्योतित करने वाले बताये गये हैं--प्रथम चेतना व द्वितीय स्वातन्त्र्य। वस्तुतः तो ये दोनों प्रत्यय परस्पर पूरक हैं क्योंकि चेतना के बिना स्वातन्त्र्य संभव नहीं है व स्वातन्त्र्य के बिना चेतना। इसीलिये अक्सर इस विमर्श को स्वतन्त्र इच्छा भी कहा गया है। (ई.प्र.वि.वि., भा.। पृ. 5) यह विमर्श भेदाभेदव्यवस्थापक है। उसकी सामर्थ्य पर को आत्मसात करने, अपने को पर बनाने, उभयस्थितियों को आत्मसात करने अथवा तिरस्कृत करने में व्यञ्जित होती है।–विमर्शो हि सर्वं सहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति उभयमेकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः। ई.प्र.वि..भा.भा.। पृ. 252 इस स्वातन्त्र्यलक्षणा विमर्श को नाद संज्ञा से भी सम्बोधित करते हैं।
3. तं.आ., भा. 9 पृ. 177
4. ...विसृजति यतो विचित्रः सर्गो विगतश्च यत्र सर्ग इति। तं.आ. 29/140
5. 'कला' परविमर्शैकस्वभावकर्तृतालक्षणा....सा शुद्धस्वातन्त्र्यशक्तिः। वही भा.। पृ. 5
9. ई.प्र.वि.,भा.भा. 1, पृ. 273
7. तं.आ.,भा.। पृ. 107–108, शि.दृ.वृ..शि.दृ.पृ. 6. भा.भा. 2 पृ. 1
8. आन्तरी प्रतिभा स्वातन्त्र्यशक्तिः। तं.आ.भा.। पृ. 158
9. वही, भा. 8 पृ 89

इसे अनर्गल शक्ति भी कहा जाता है क्योंकि यह अप्रतिहत है[1]। इसके अन्य विविध पर्याय ऐश्वर्य, उद्यमं, स्फुरत्ता, स्फूर्ति, ऊर्मि, ओज आदि है जो किञ्चित् अर्थभेद के साथ स्वातन्त्र्य के मुख्य अर्थ को ही ध्वनित करते हैं[2]। इसी की अद्‌भुत सामर्थ्यवश परमेश्वर अतिदुर्घटकारी है व देहाक्षभुवनादिप्रपञ्च का स्वामी है। माया को भी कहीं–कहीं स्वातन्त्र्य के पर्याय रूप में प्रस्तुत किया जाता है[3]। यह स्वातन्त्र्य का तिरोधानकारी पक्ष है[4]। इस स्वातन्त्र्य को क्रम दर्शन में मान्य कालासंकर्षिणी के प्रत्यय से समीकृत किया जा सकता है[5] जो कि वहाँ उन समस्त कृत्यों के लिये उत्तरदायी है जिनके लिये अन्य सम्प्रदाय स्वातन्त्र्य का ही अभिषेक करते हैं। इसे कहीं–कहीं भासा भी कहा गया है[6]। इसी स्वातन्त्र्य को 'पारमेश्वरी इच्छा'[7] रूप संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। यह स्वातन्त्र्य ही नित्य आत्मविमर्श है, शुद्ध चमत्कार रूप है और चेतन का ही स्वभाव होने से चैतन्य रूप में भी कथित होता है।

यहाँ चिति की क्रिया या कर्तृता को भी स्वातन्त्र्य का पर्याय कहा गया है[8]। पर वस्तुतः यह स्थिति सीमित दृष्टि की ही परिचायक है क्योंकि उसका ज्ञानवाची पक्ष यहाँ अव्याख्यात रह जाता है। यही स्वातन्त्र्य शक्ति बहिःतया प्रसरणशील होने के कारण 'प्रसराख्या' कही जाती है। वस्तुतः तो क्रियाशक्ति इसी का स्थूल रूप है[9]। इसी स्वातन्त्र्य शक्ति को कुल–सम्प्रदाय कौलिकी शक्ति कहता है[10]। यही विसिसृक्षा भी है जिसको कि बहिरून्मुखता रूप क्षोभ की

---

1. त. मा. भा.।पृ. 222
2. तस्माद्धि देवस्य स्वभावो अस्माभिरुच्यते।
भवन्त्यस्यैव पर्यायाः शक्तिरैश्वर्यमुद्यमः।।
स्पन्दः स्वतन्त्रा स्फूर्तिरूर्मिरोजः कलेत्यपि। म.मं., उपोद्धात् पृ. 'त'
3. (अ) इयमेव हि तस्य स्वातन्त्र्योत्कर्षकाष्ठा, यत् स्वात्मावभासाद्वैतजीविते जगति भेदप्रभेदवैचित्र्योत्पादनप्रावीण्यम् येनातिदुर्घटकारी परमेश्वर....अतएव चासौ लोकपतिः देहाक्षभुवनादेः प्रपञ्चस्येश्वरः। मायाव्यतिरेके भेदप्रथाव्यापारपारमार्थ्यस्य प्रपञ्चस्याभावः। तदभावे च तत्प्रतियोगिकस्य परमेश्वरस्यैश्वर्यस्यानुपपत्तिः....तदियं माया नाम तस्योत्कृष्टस्वातन्त्र्यम्।
म.म.पृ. 44, ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 142, तं.आ..भा. 3पृ. 10
(ब) माया शब्द का प्रयोग इस दर्शन में द्विविध सन्दर्भों में उपलब्ध होताहै–(1) स्वातन्त्र्य के पर्याय रूप में (2) भेद प्रथन के कारण रूप में। इनमें से प्रथम पक्ष द्वितीय की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है व द्वितीय इसी का अंश प्रतीत होता है। इन दोनो पक्षों में भेद दर्शाने के लिये यह दर्शन प्रथम पक्ष को महामाया व द्वितीय को मायासङ्ञा से अभिहित करता है।
4. यह माया उस माया शक्ति से भिन्न है जिसका अभिप्राय मात्र मोहित करना है। यहाँ माया वह शक्ति है जिसके द्वारा वह मापन करता है, परिसीमन करता है, स्वयं को बाँधता है व स्वयं मुक्त होता है। यही इसका शंकराचार्य की माया से भेद है। वे इसको मात्र तिरोधानकारी कहते हुये इसे अनिर्वचनीय सिद्ध करते हैं।
5. ....परा इयमिच्छाशक्तिः इच्छाद्यात्मनः शक्तित्रितयस्य उत्पत्तिभूः प्रक्रान्तेन कालसंकर्षिणीलक्षणेन नाम्ना याज्या यदियं सर्वं प्राणादि पञ्चकात्मकं कालाधारं प्रभञ्जनं कर्षयति अन्तर्बहीरूपतया समुल्लासयति....।त.आ.भा 9 (आ 15) पृ. 169
6. भासा नाम सृष्टयादिकृत्याक्रान्तविश्ववैचित्र्यव्यवहारगर्भिणी सर्वोत्तीर्णा सर्वानुग्राहिणी च पारमेश्वरी चिच्छक्तिः, या तदीयं स्वातन्त्र्यं स एवेत्यध्यवसीयते। म.म.पृ.10।
7. यहाँ इच्छा को ही स्वातन्त्र्य का प्रतिनिधि मानते हुये स्वातन्त्र्य के स्फारभूत पञ्चकृत्यों की भी व्याख्या इच्छा रूप में की जाती है और सर्जनात्मिका, स्थितिकारिणी, लयकारिणी, तिरोधानकारिणी तथा अनुग्राहिणी रूप में इच्छा के प्रकार बताये जाते हैं। यहाँ इसी आशय से स्वातन्त्र्य को निजेच्छाप्रसरता भी कहा गया है।
8. ई.प्र.वि. भा.भा.।पृ. 247–248
9. तं.आ..भा. 5 पृ. 194
10. वही भा. 2 पृ. 139–140

उत्पत्ति होने पर विसर्गता की प्राप्ति होती है। यहाँ इस विसर्गता का अभिप्राय विसर्जन क्रिया के कर्तृत्व से है[1]। यही विसर्गता आनन्द इच्छादि के क्रम से स्फुटता को प्राप्त होती हुई क्रियाशक्ति रूप स्थूल अवस्था में परिणत हो विविध परामर्श–वैचित्र्य रूप से स्फुरित होती है।

यह स्वातन्त्र्य शक्ति इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि शक्ति रूपों में प्रकट होती है[2]। ये ही शक्तियाँ जीव में सत्त्व, रजस् व तमस् गुणों का रूप धारण कर लेती हैं[3]। ज्ञान, स्मृति व अपोहन शक्तियाँ भी इसी का स्फार हैं[4]। इसी स्वातन्त्र्य के बल पर परतत्त्व पञ्चकञ्चुकों से अपनी परमता को आवरित करके सीमित जीव के रूप में भासित होता है[5]। इसी के बल पर वह षडध्वों व उनके अन्तर्गत छत्तीस तत्त्वों के तत्त्व–समूह को भासित करता है[6]। वह छह रूपों से प्रकाशित होता है–अप्रकाश रूप से, सर्वथा प्रकाश रूप से, सबके व्यतिरेक से, सबके अव्यतिरेक से, कतिपय के व्यतिरेक से, कतिपय के अव्यतिरेक से तथा इन समस्त प्रकारों से। प्रकाश की इन विविध कोटियों में प्रथम प्रकार जडाभास व अन्तिम प्रकार परमशिव रूप है, मध्य के पाँच जीवाभास हैं। ये पाँचों शुद्धा सृष्टि के पाँच तत्त्वों की स्थिति वाले प्रमाताओं का ही प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें प्रथम कोटि है शिव प्रमाता की, द्वितीय है सकल की, तृतीय है सदाशिव या मन्त्रमहेश्वर प्रमाता की, चतुर्थ है मन्त्र (विद्येश्वर) प्रमाता की तथा पंचम है विज्ञानाकल की। अप्रकाशात्मना प्रकाश रूप कोटि में प्रकाश माया शक्ति से उपहित रहता है। इस वर्ग में समस्त प्रमेयों व अशुद्ध प्रमाताओं की स्थिति रहती है[7]। इस विश्वोल्लास की प्रक्रिया की व्याख्या विमर्शपरक शब्दावली में करने पर यहाँ परावाक्, पश्यन्ती, मध्यमा व वैरवरी की संज्ञायें उपलब्ध होती हैं जो कि भर्तृहरि के दर्शन से पर्याप्त साम्य प्रस्तुत करती हैं पर जहाँ वैयाकरण दर्शन की विश्रान्ति मात्र शब्द ब्रह्म में हो जाती है वहीं शैव परम्परा एक और सोपान आगे बढ़कर परतत्त्व रूप परावाक्[8] को भी स्वीकारती है। यहाँ इन विवर्तित

---

1. (अ) तं.आ.भा. 2 पृ. 146–147

   (ब) कहीं कहीं विसर्ग को भी वैचित्र्य का पर्याय कहा जाता है। तब यह आशंका संभव है कि कारण भी वही है व कार्य भी वही तो यह कथन कैसे उपपन्न हो सकता है पर इस शंका का परिहार इस तत्त्वमीमांसा की मूलभूत संधारणा से हो जाता है कि यहाँ कारण कार्य का भेद नहीं संभव है, मात्र क्रियाशक्तिपर्यन्त ही भेद निबन्धन की दृष्टि संभव है, उसके ऊपर तो दृष्टि भेद से ही भेद परिलक्षित होता है।
2. तं.आ.भा. 3 पृ. 217, ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 285–286
3. ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 285–286, ई.प्र.का. 4/1/4
4. परमेश्वर स्मृतिशक्ति के द्वारा स्वगृहीत अणुरूपता में अपने को काल व कला से संयुक्त करके अनेकता में एकता का ग्रहण करता है फलतः दो भिन्नकालिक ज्ञानों का संयोजन कर उनकी स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि में सक्षम है। वह ज्ञान शक्ति के द्वारा असख्य आभासों में से कुछ विशिष्ट आभासों को विविक्त रूप से भासित करता है तथा अपोहन शक्ति के द्वारा उन्हें सजातीय व विजातीय पदार्थों से विविक्ततया प्रस्तुत करता है।
5. परमेश्वरो हि स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वस्वरूपताभयविभासयिषुः संकुचितप्रमातृत्वाद्याभासनक्रमेण प्रमाणप्रमेयादिरूपतामधिशयान कार्यकारणात्मपाञ्चभौतिकशरीरादिरूपतामवभासयति। तं.आ.भा. 3 पृ. 146
6. संविदेव हि स्वस्वातन्त्र्यात् एवं स्वरूपं गोपयित्वा स्वसमुल्लासिते शून्यप्राणबुद्धिदेहात्मनि प्रमातरि बहि प्रमेये च अनतिरिक्तत्वेऽप्यतिरिक्तमिव षड्विधमपि अध्वानमवभासयति ....। तं.आ.भा. 5 पृ. 3–4
7. ई.प्र.वि., भा.भा.। पृ. 57–58
8. यह परावाक् सबका मूलभूत अहं विमर्श ही है।

त्रिविध स्थितियों का पुनः पर, सूक्ष्म व स्थूल रूप से विभवन भी निर्दिष्ट किया गया है[1]। इस प्रकार छत्तीस तत्त्वों के रूप में अवतीर्ण होकर वह परमेश्वर कर्ता, कर्म व क्रिया; ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञान; प्रमाता, प्रमेय व प्रमाण; ध्याता, ध्येय व ध्यान रूप त्रिपुटियों के रूप में भासित होता है।

जागतिक विकास में इस स्वातन्त्र्य का प्रसार निम्न रूप में दृष्ट होता है–

(क) **ज्ञातृत्व सम्बन्धी स्वातन्त्र्य**–

(अ) **सदाशिव तत्त्व**–ज्ञाता व ज्ञेय में कोई स्फुट भेद नहीं।

(ब) **विद्या तत्त्व**–ज्ञाता व ज्ञेय में सामान्य भेद।

(इ) **ज्ञानेन्द्रियाँ**–ज्ञाता व ज्ञेय में विशिष्ट भेद।

(ख) **कर्तृत्व सम्बन्धी स्वातन्त्र्य**–

(अ) **ईश्वर तत्त्व**–कर्म व क्रिया में कोई स्फुट भेद नहीं।

(आ) **कला तत्त्व**–कर्म व क्रिया में सामान्य भेद।

(इ) **कर्मेन्द्रियाँ**–कर्म व क्रिया में विशिष्ट भेद।

इन दोनों पक्षों में अन्योन्याश्रित अभिन्नता ही है[2]।

इस स्वातन्त्र्य का कर्तृत्व मुख्यतः दो रूपों में अभिव्यक्त होता है उन्मेष व निमेष या संकोच व विकास[3] रूप में। ये दोनों सागर की दो उर्मियों के सदृश हैं जिनके मध्य कालक्षेप की कल्पना तो की जा सकती है पर यथार्थ कालक्षेप की स्थिति को स्वीकारा नहीं जा सकता क्योंकि इस अवस्था में काल के प्रत्यय की सत्ता ही नहीं होती। स्वातन्त्र्य का उच्छलन ही उद्भवन है और इस उच्छलन की प्रक्रिया का क्रम निम्न है–

(क) उद्भवन की इच्छा की इच्छा करना। (ख) उद्भवन की इच्छा[4] (ग) उद्भवन की प्रक्रिया (घ) उद्भूति[5]। यह क्रमनिर्देश मात्र निर्विकल्पक को बुद्धि ग्राह्य बनाने की दृष्टि से कथित है, यथार्थता के निरूपण हेतु नहीं।

परमेश्वर का यह स्वातन्त्र्य विविध रूपों में अभिव्यक्त होता है जिसे कि यहाँ प्रायः पाँच रूपों में व्यक्त किया गया है[6]। वे पाँच रूप हैं–सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान व अनुग्रह[7]।

---

1. तं.आ., भा. 3 पृ. 408
2. ई.प्र.वि., भा.भा.। पृ. 69
3. परमेश्वरस्य काचिदुन्मेषनिमेषयौगपद्यलक्षणा शक्तिरस्ति। तत्र स्वरूपोन्मेषे विश्वनिमेषः, विश्वोन्मेषे च स्वरूपनिमेषः ....स्प.नि.पृ. 4–5, म.म. पृ. 42
4. उद्भवनात्मकैषणीयसंयुक्तमिच्छामात्रमुद्भवनेच्छा, स्वात्मन्युच्छलत्वेन अवस्थानमुद्भवनम्। तं.सा.पृ. 52, पा.टि. 31
5. (अ) तं.आ., भा. 4 पृ. 101
   (ब) इस क्रमनिरूपण में प्रथम सोपान स्वात्मोच्छलत्ता रूप है। इससे अधिक स्फुटता को प्राप्त करने पर ही स्वातन्त्र्य के कोटिभेद की स्थिति सम्मुख आती है और तभी प ञ्चकृत्यादि के विचार सम्मुख उपस्थित होते हैं।
6. ....परमार्थतस्तु स एव क्रमाक्रमरूपविश्वसृष्ट्यादिकृत्यपञ्चकप्रपञ्चस्वभावः प्रकाशते। ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 173, स्प.सं.पृ. 1–2, प्र.हृ.पृ. 67–68
7. शिवाद्वयवाद के विविध सम्प्रदायों में इन पाँचों कृत्यों के सन्दर्भ में संज्ञा भेद तो मिलता है पर प्रत्यय भेद नहीं।

यद्यपि इन पाँचों के मध्य कोई दैशिक–कालिकक्रम नहीं है क्योंकि तब सापेक्षता की शंका आ उपस्थित होगी पर फिर भी बुद्धि की अपनी सीमाओं के कारण यहाँ एक क्रम कल्पित कर लिया गया है। इसी कारण शैव ग्रंथों में इनका एक नियत क्रम में ही उल्लेख मिलता है। परमस्वातन्त्र्यमय परतत्त्व को अपनी क्रीडा हेतु अपने स्वरूप के अवरोह की अपेक्षा होती है फलतः वह स्वरूपगोपन की क्रिया का आश्रय लेकर अणु होने का प्रयास करता है जिसकी कि प्रक्रिया को मानव–बुद्धि आणव मल का नाम देती है। इसी को तिरोधान रूप कृत्य भी कहते हें और तदुपरान्त विकल्प का प्ररोह प्रारम्भ हो जाता है फलतः सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है जिसका कि अभिप्राय मात्र अन्तःस्थ के बहिःतया स्फुटीकरण में निहित है। पुनः स्थिति का कृत्य सम्मुख आता है जो कि सृष्ट पदार्थों के उसी स्थिति में कुछ काल तक अवस्थित रहने के लिये उत्तरदायी है। यद्यपि पदार्थों की क्षणिकता को ही अपना सर्वस्व मानने वाला मत इस स्थायित्व के प्रत्यय के साथ विरोध उपस्थित कर सकता है पर यहाँ अभिप्रेत स्थिति कोई कालिक प्रत्यय न होकर परतत्त्वगत क्रिया के एक निश्चित सोपान को ही इंगित करती है अतः यहाँ किसी विरोध की समस्या नहीं संभव है। उसके तुरन्त बाद संहार कृत्य की स्थिति है जिसका कि अभिप्राय मात्र बहिःतया भासित के अन्तर में लीन होने में निहित है[1]। इस क्रीडा का अन्तिम पड़ाव अनुग्रह है जिसका कि पर्यवसान पुनः स्वस्वरूपलाभ में होता है[2]। इस प्रकार इस सम्पूर्ण क्रीडा के दो छोर दो पूर्णतया विपरीत प्रक्रियाओं–स्वरूपगोपन व स्वरूपलाभ से सम्बन्धित हैं जो कि वस्तुतः क्रीडा के सारभूत हैं। इनमें प्रथम स्तर को छोड़ कर अन्य अवान्तरवर्ती चार स्तरों में आणव के साथ कार्म व मायीयमल का भी कर्तृत्व आ सम्पृक्त होता है क्योंकि वहाँ कर्मवासना व कर्मविपाक तथा भेदाभेदवासना के भी निमित्तत्व को स्वीकारे बिना जागतिक अनेकता व वैषम्य की व्याख्या नहीं संभव है[3]। यद्यपि इस सम्प्रदाय में उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का विवेचन भी उपलब्ध होता है जिसमें कि सृष्टि को प्रथम कृत्य रूप में स्वीकारा गया है पर वस्तुतः पूर्ण प्रक्रिया का विश्लेषण करने वाला प्रथम विवेचन ही अधिक तर्क संगत सिद्ध होता है[4]।

परम प्रमाता द्वारा निष्पादित पञ्चकृत्यों को इस प्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है–सबसे पहले वह संकुचित होकर जीव रूप होता है तथा विशिष्ट देश काल–आकार से युक्त हो अन्य पदार्थों के रूप में भासित होता है, यही सृष्टि है; उन्हें निरन्तर एक ही स्थिति में भासित

---

1. इस संहार को आत्मा के लिये कुछ काल का अवकाश या विरति रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। इस स्थिति में कृत कर्मों के संस्कार तो उत्तरकाल में परिपक्व होने के लिये अवशिष्ट ही रहते है फलतः पुनः सृष्टि होती है। जब कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है तब जीव मुक्त हो जाता है और तब पुनः सृष्टि की संभावना नहीं उपस्थित होती।
2. इस प्रकार का यह प ञ्चकृत्य का सिद्धान्त सक्रिय सर्जनकारी व विध्वसकारी प्रक्रियाओं के मध्य एक सातत्य या अनुरूपता है, साथ ही लौकिक व पारलौकिक जीवन अथवा भोग व मोक्ष के मध्य एक सातत्य है।
3. इस प्रकार तीनों मत स्वातन्त्र्य के ही स्फाररूप सिद्ध होते हैं।
4. कभी कभी इन पञ्चकृत्यों को अनुग्रह का ही स्फार कहते है पर तब वहां अनुग्रह शब्द का व्यापक अर्थ ही लेना होगा। तब यह अनुग्रह पञ्चम कृत्य रूप न होकर पारतात्त्विक ऐश्वर्य का ही वाचक होगा।

करना स्थिति है तथा अन्य देश, काल आकार रूप में भासित करना प्रलय है। जब विविध पदार्थों को वह परस्पर विभेद से आभासित करता है तो यह तिरोधान है और जब उन्हें अभेद से आभासित करता है तो यह अनुग्रह है[1]।

इस दर्शन में अक्सर अन्य धाराओं से प्रभावित होकर इन कृत्यों के कर्ता रूप में ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, सदाशिव व ईश्वर को स्वीकारा जाता है जो कि भ्रान्ति को जन्म दे सकता है कि परमशिव ही पञ्चकृत्यों का सम्पादक है अथवा ये देवता; साथ ही इस अद्वयवादी धारा में ऐसी बहुत्ववादी धारणा संभव ही कैसे हैं। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि उन देवों की वह सामर्थ्य तो महेश्वर के माहेश्वर्य से अनुप्राणित है[2], यथार्थ स्वातन्त्र्य तो महेश्वर का ही है। अतः विष्णु आदि देवों में यह सामर्थ्य नहीं संभव है कि वे जिस किसी को ईश शक्ति के समावेश से अनुग्रहीत कर सकें क्योंकि यह सामर्थ्य उनकी अपनी न हो महेश्वर की इच्छा से ही उन्हें प्राप्त है।

पञ्चकृत्यों के सन्दर्भ में ईश्वर व जीव में पूर्ण एकता रहती है[3]। जीव परतत्त्ववत् बुद्धि, मन, अहंकार रूप अन्तःकरणत्रय के द्वारा विकल्पादि की रचना करता है[4]। यद्यपि जीव में यह सामर्थ्य एक परिमित क्षेत्र में ही सीमित है पर उसमें स्थित अवश्य है। उसके सन्दर्भ में सर्जन है एक विशेष देह आदि के साथ अपना तादात्म्य, स्थिति है अन्य घटादि प्रमेयों में अपने को प्रमाता रूप में बनाये रखना, संहार है अन्यों से अपना व्यवच्छिन्नीकरण, तिरोभाव है अनिवार्य स्वभावरूप पूर्णता का आच्छादन तथा अनुग्रह है विविध रसादि की स्थितियों में प्रमाताओं का एकीकरण[5]। एक अन्य तरह से भी इसे बताया जा सकता है– सृष्टि है अवभासन रूप में अर्थ का सर्जन, स्थिति है कुछ काल तक उसमें अनुरक्त रहते हुये स्थिति, संहार है विषय ज्ञात हो गया है यह सोचकर उसका अपने में उपसंहरण तथा अनुग्रह है अपने चित्त्व से उसकी एकरूपता[6]। इन पञ्चकृत्यों को कहीं–कहीं परतत्त्व की स्वरूप निर्देशात्मक पञ्च शक्तियों से ही समीकृत किया गया है–चिद्–अनुग्रह, आनन्द–लय, इच्छा–सृष्टि, ज्ञान–स्थिति, क्रिया–संहार। इन्हीं को रहस्यात्मक शब्दावली में क्रमशः आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन व विलोपन कहते हैं[7]।

ये सृष्टि आदि विविध स्थितियाँ जागतिक स्तर पर कालाधीन हैं जब कि पारतात्त्विक स्तर पर कालमुक्त। परमेश्वरकृत सृष्टि की विविध स्थितियाँ उपलब्ध होती हैं जिनके कि

---

1. प्र.हृ., पृ. 68
2. यथा स्वातन्त्र्यतो राजाप्यनुगृह्णाति कचन।
ईशशक्तिसमावेशात्तथा विष्ण्वाद्योऽप्यलम्। तं.आ. 13/270-271
3. प्र.हृ.पृ. 67–70
4. यथा खलु पतिरिच्छाद्याभिः शक्तिभिर्विश्वं निर्मिमीते, तथैव विकल्पाद्यपि बुद्ध्यादयन्तःकरणत्रयेण पशुः....। तं.आ. भा. 1 पृ. 237
5. तं.व.धा. 28–29, म.मं.पृ. 97
6. तं.आ.,भा. 3 पृ. 339
7. प्र.हृ.पृ. 69

अनुसार वह सर्वप्रथम तमोगुण संयुक्त तामसी सृष्टि करता है, पुनः रजस्–तमस् के समावेश से युक्त मनुष्यों की रचना करता है और फिर रज–सत्त्व से युक्ति मुनियों व ईश्वर की रचना करता है, फिर सत्त्वमय सलोक देवों की रचना करता है[1]। यद्यपि सृष्टि प्रलय का संख्या में आनन्त्य है पर फिर भी उनमें मुख्य व गौणभाव रहता है।

यद्यपि इन जागतिक पञ्चकृत्यों का उद्देश्य परतत्त्व के स्वातन्त्र्य का प्रकाशन है पर तब तिरोभावकृत्य के सम्बन्ध में समस्या उपस्थित होती है कि उसका यहाँ क्या उद्देश्य है क्योंकि उसका तो व्यापार विरोधाभासात्मक है। यह तो आत्मा की शक्तियों को रोकता है और मल की शक्तियों को सक्रियता के लिये प्रेरित करता है। पर वस्तुतः यह भी उसके स्वातन्त्र्य की विधा है अतः इससे कोई समस्या नहीं उपस्थित होती। इसके अतिरिक्त इसका एक अन्य पक्ष भी है जिसका कि कार्य है मलों के लिये एक ऐसी दशा को ला उपस्थित करना जब कि वे सक्रिय होने से रुक जायें। वस्तुतः तो ये दोनों ही पक्ष दो भिन्न सन्दर्भों में सम्यक् सिद्ध होते हैं। प्रथम पक्ष पारतात्त्विक सन्दर्भ में उपपन्न होता है तो द्वितीय जैविक सन्दर्भ में। फलतः द्वितीय पक्ष रूप से इसकी भी समीचीनता, अभिमत उद्देश्य के परिप्रेक्ष्य में सम्यक् सिद्ध हो जाती है। इस तिरोधायक कृत्य को परतत्त्व की निषेधरूपा इच्छा रूप में भी वर्णित कर सकते हैं।

पञ्चम कृत्य अनुग्रह की स्थिति में परमेश्वर बद्ध जीवों में किसी को भी अपनी इच्छा से शक्तिपात के द्वारा अनुग्रहीत कर स्वरूप प्रत्यभिज्ञान कराता है। यद्यपि यहाँ मात्र इच्छा ही कारण है पर अनुग्राह्य के भेद से उसका भी वैचित्र्य होने से कारणों का आनन्त्य कहा गया है[2]। फलतः कहीं ज्ञान, कहीं भक्ति, कहीं योग–इस प्रकार विविध साधनों को माध्यम बना कर वह संकुचित प्रमातृवर्ग को अनुग्रहीत करता है।

यद्यपि यह पञ्चकृत्य की प्रक्रिया एक सतत प्रक्रिया है पर जीव की दृष्टि से इसमें कई मध्यान्तर आते रहते हैं जिसका कि कारण उसकी सीमित भेदपरक दृष्टि है।

इस प्रकार से विवेचित स्वातन्त्र्य का उपयुक्त विश्लेषण करने पर इसके कार्यक्षेत्र की दो कोटियाँ निर्धारित की जा सकती हैं[3]–(क) जीवगत स्वातन्त्र्य (ख) परतत्त्वगत स्वातन्त्र्य।

इस जीवगत स्वातन्त्र्य को पुनः स्वातन्त्र्य की मात्रा के आधार पर दो वर्गों में विभक्त

---

1. प्रथमं तामसीं सृष्टिं करोति तमसीत्कराम्।।
तमोरजःसमावेशान्मानवान्स सृजेत्पुनः।
रजःसत्त्वसमाविष्टः सृजेन्मुनिवरेश्वरान्।।
गतनिद्रः प्रबुद्धः स सत्त्वाविष्टो जगत्पतिः।
सृजेद्देवान्सलोकांश्च पूर्वयेव व्यवस्थया।। स्व.तं. 11/244–246
2. कहीं परमेश्वर अपनी इच्छा से मलों के पूर्णतया परिपक्व होने पर जीव को शक्तिपात का विषय बनाता है व कहीं मलों के पूर्ण परिपक्व हुये बिना भी जीव पर शक्तिपात करता है।
3. वस्तुतः तो स्वातन्त्र्य की मात्रा के आधार पर ही प्रमाता के दो भेद होते हैं–1. पति, 2.पशु। प्र.का.वृ.,सि.त्र.पृ. 64.

कर सकते हैं–

(क) लौकिक प्राणी का स्वातन्त्र्य[1]

(ख) योगी का स्वातन्त्र्य

इनमें से लौकिक प्राणी का स्वातन्त्र्य कल्पित ही प्रतीत होता है क्योंकि यह सीमाओं में बद्ध है। पर ऐसा स्वातन्त्र्य किस सीमा तक स्वातन्त्र्य सिद्ध हो पायेगा यह विचारणीय है। इस सम्प्रदाय में परिमाणात्मक भेद को सर्वत्र मान्यता प्रदान करने से यह स्थिति सध जाती है और पारतात्त्विक स्वातन्त्र्य की आंशिक स्थिति जीव में भी सिद्ध होती है[2]। इस स्तर पर परतत्त्व ही अपने स्वातन्त्र्य को नियति–उपजीवी रूप में भासित करता है। अतः वह सीमाओं में आबद्ध स्वातन्त्र्य भी सत्य सिद्ध होता है। जीव को अपनी सीमित क्रियाओं में इस सीमित स्वातन्त्र्य का भान होता रहता है जैसे कि सुख दुःखादि भोक्तव्यों के भोग हेतु अपेक्षित, सीमित प्रमाता में पर्यवसित, भुज् क्रिया विषयक स्वातन्त्र्य अणु का स्वभाव है। यह सीमित ही है क्योंकि यह सहज न होकर कर्मज है, निर्निमित्तक न होकर निमित्तक है।

लौकिक जीव के ही स्वातन्त्र्य का सीमाहीन स्वरूप योगिगत स्वातन्त्र्य की कोटि में अभिगण्य है। संसारी जीव को परमेश्वर के अनुग्रह से जब आत्मस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है तब वह कल्पित सीमितताओं के आवरण को तोड़कर अपने यथार्थ स्वरूप में आ अवस्थित होता है। इस स्थिति को पारिभाषिक शब्दावली में जीवन्मुक्ति की अवस्था भी कह सकते हैं क्योंकि यहाँ अभी देह स्थित है। ऐसा जीवन्मुक्त प्रमाता ही प्रायः प्रत्येक दर्शनमीमांसा में योगी रूप से स्वीकृत किया गया है, यद्यपि इस अवस्था की प्राप्ति के सोपानों व उनके स्वरूप में अपनी–अपनी विशिष्ट विचार शैली के अनुसार भेद दृष्टिगत है। प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय अद्वैतमार्ग का पूर्ण निष्ठा से पोषण करता है अतः यहाँ की मुक्ति में शिवसारूप्य की अवाप्ति न होकर शिवता की ही अवाप्ति अभीष्ट है फलतः मुक्त प्राणी शिवोचित ऐश्वर्यों से ही मण्डित होकर उसी के अनुरूप व्यापार के सम्पादन में समर्थ हो जाता है। इसी दृष्टि से योगी महेश्वरवत् स्वतन्त्र है अतः सर्वज्ञ व सर्वकर्तृत्ववान् विशेषण उसके सन्दर्भ में सम्यक् सिद्ध होते हैं।[3] पर सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह विदित होता है कि यह योगी भी देह के स्थित रहने से किञ्चित् विकल्पमयता का संस्पर्श करता है[4]। इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि उसका

1. जीव की जीव संज्ञा ही उसकी जीवनी शक्ति का द्योतन करती है तथा वह शक्ति ज्ञान–क्रिया सामर्थ्य रूप में पल्लवित होती है। इस दृष्टि से तो प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर सिद्ध होगा क्योंकि ईश्वर की ईशता का अभिप्राय ही ज्ञान क्रिया सामर्थ्य से है।
2. परिग्रहीतसंकोचे हि पुंसि तीव्रमन्दादिरूपं यत्सुखाद्यात्मकफलं, तत्र भोक्तव्ये यत्तस्य भुजिक्रियाविषयं स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वं तदणोः सत एव। यतस्तत्कर्मजं न तु सहजमिति तत्र स्त्र्यादिनिमित्तान्तरमवश्यमृग्यम्....। तं.आ., भा 8 पृ. 73
3. ....यद्यदिच्छति तत्तज्जानाति करोति च समावेशाभ्यासपरोऽनेनैव शरीरेण। ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 308
4. इसी विकल्पमयता के कारण वह परमशिववत् जागतिक सृष्टि संहार आदि में उतना निपुण नहीं है, अतः सारे जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता, हाँ एकाध पदार्थ की रचना कर सकता है। अतः यहाँ योगी के स्वातन्त्र्य को परमशिव के स्वातन्त्र्य जैसा बताना अर्थवाद मात्र है, यथार्थ नहीं।

स्वातन्त्र्य महेश्वर के स्वातन्त्र्य की ही एक कोटि है। यह भी कह सकते हैं कि परमेश्वर ही कभी अपने स्वातन्त्र्य से सीमित स्वातन्त्र्यवान् जीव प्रमाता रूप में भासित होता है व कभी परम स्वातन्त्र्यमय योगी प्रमाता रूप से। परतत्त्वभूत परमशिव का स्वातन्त्र्य तो इस सम्पूर्ण विचारमीमांसा का आधारभूत तथ्य है, पर फिर भी उसके विभव को प्रायः नियत्युल्लंघी व नियति–उपजीवी सीमाओं में विभक्त कर प्रदर्शित किया जाता है[1]। इनमें से प्रथम पक्ष योगि–स्वातन्त्र्य तथा द्वितीय जीव स्वातन्त्र्य का प्रतिनिधि है व इन सभी के अवभासन के लिये वह पारतात्त्विक स्वातन्त्र्य स्वयं उत्तरदायी है। जैसे एक सीमित प्रमाता का स्वातन्त्र्य अपनी इन्द्रियों, अन्तःकरण आदि के व्यापार में निहित है वैसे ही परमेश्वर का स्वातन्त्र्य मायोर्ध्ववर्ती रुद्र, अनन्त, क्षेत्रज्ञ आदि प्रमाताओं के व्यापार से सम्बद्ध है अतः उनका प्रतीयमान स्वातन्त्र्य इसी चित् तत्त्व सम्बन्धी सिद्ध होता है।

यद्यपि सीमित प्रमाता कृत स्वप्नादि की सृष्टि में निहित स्वातन्त्र्य उसी से सम्पृक्त कहा जाता है, परतत्त्व से नहीं पर यह कथन इसलिये अनुपपन्न हो जाता है क्योंकि स्वप्न में अनिष्ट का भी दर्शन होता है व किसी को भी अनिष्ट का दर्शन अभीष्ट नहीं हो सकता तब वह उसकी रचना कैसे कर सकता है[2]। अतः ईश्वर का वहाँ भी कर्तृत्व मानना चाहिये। जीव का कर्तृत्व तो मात्र उसको जानने में है, उसकी रचना करने में नहीं। इस प्रकार जीव में मन की चंचल गति की अनिरुद्ध सर्जना सामर्थ्य की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता पर वहाँ भी वह परमेश्वर द्वारा ही नियोज्य है। यद्यपि इन्द्रियों के व्यापार का प्रयोजक व अधिष्ठाता होने से उतने क्षेत्र में वह ही ईश्वरवत् प्रतीत होता है। विकल्प व्यापार भी जीवगत स्वातन्त्र्य का ही एक क्षेत्र है जहाँ कि अपोहनजीवी प्रतीतियाँ संभव होती हैं फलतः भेदाभेदमयी प्रतीतियों की कल्पना करने में वह समर्थ सा प्रतीत होता है[3]। यथार्थ में तो पारमेश्वरी इच्छा ही सीमित प्रमाता के शरीर में स्थित होकर उसकी क्रिया रूप में स्फुट होती है। चाहे पदार्थ उभयेन्द्रियवेद्य हो या एकेन्द्रियवेद्य पर कर्तृत्व तो सर्वत्र परतत्त्व का ही है। इस प्रकार यद्यपि विकल्पात्मक कल्पनाओं का क्षेत्र सीमित प्रमाता से सम्बद्ध प्रतीत होता है पर वस्तुतः उनके सर्जन रूप बाह्यीकरण में भी वही पारतात्त्विकी इच्छा कारण है। लौकिक जगत् का प्रेर्य–प्रेरक

---

1. भगवान भूरिगर्भो महादेवो नियत्यनुवर्तनोल्लंघनतरस्वातन्त्र्यः इत्यत्रपक्षे नियत्यनुवर्तिनः लौकिके प्रसिद्धे कार्यकारणभावे स्वातन्त्र्यं, तदुल्लंघनमाद्रियमाणस्य तु योगिप्रायप्रसिद्धे लोकोत्तरे इति न कश्चित् विरोधः।- ई.प्र. वि, भा.भा. 2 पृ. 172–173

2. अणुना जीवेन न तु सृज्यन्ते....कदाचित्स्वप्ने अनिष्टमेव केवलं दृश्यते अतो ज्ञायते तज्जीवेन न सृज्यते। न हि कस्यापि स्वानिष्टसर्जनं युक्तम्। यत्तु केनापि कारणेन तदेव दृश्यते तत्रैश्वरकृतत्वं स्फुटम्....यदि स्वप्ने जीवस्य निर्मातृत्वं स्यात् तर्हि कदाचित् कुत्रचिदेवेष्टदर्शनमयुक्तं स्यात्...स्वप्नरूपा न हि अन्यमनोगतमन्यस्य गोचरी भवितुं युक्तम्....। भा.भा. 2 पृ. 266

3. सीमित प्रमाता के स्वातन्त्र्य के विभव को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है कि वह सर्वप्रथम अभीष्ट अर्थ का सर्जन (अवभासन) करता है, पुनः कुछ काल तक अनुरक्त होता हुआ उसे स्थापित करता है, तब यह विषय मुझे ज्ञात हो गया, इस सन्तोष के अभिमान से उसका विमर्शन करता हुआ उसे उपसंहृत करता है, तदुपरान्त अलग्रास युक्ति से पूर्णत्व की प्राप्ति कराने के द्वारा उसे चिदग्नि से एकात्मसात कर लेता है।

व्यवहार भी स्वातन्त्र्य की सामर्थ्य का ही द्योतक है क्योंकि प्रेर्य पारतन्त्र्यस्वभाव व प्रेरक स्वतन्त्र तत्व है पर लौकिक प्रेरक की प्रेरकता तो प्रातीतिक ही हैं, यह तो उपचारतः सिद्ध है, मुख्य प्रेरक वही परतत्त्व है।

परमशिव का संवित् स्पन्द तो शिवतत्त्व के समस्त विशेषों को आत्मसात कर स्थित होने से वहाँ सामान्यात्मतया विकसित होते हुये माया से लेकर क्षितिपर्यन्त भेदोल्लासों में विशेषात्मतया, अन्योन्यव्यावृत्ति रूप से संकुचित 'इदम्' रूप से युक्त हो दोनों अन्तर्बहीरूपों को समधृततुलापुटन्याय से धारण किये हुये शुद्ध सृष्टि के अन्य तत्त्वों में सामान्यविशेषात्मतया भासित होता है। इस प्रकार उसके स्वातन्त्र्य के विभव की ये तीन स्थितियाँ हुईं[1]। ऐसी संकोचविकासमयता से ही उसकी अनेकता[2] है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर परतत्त्व के अनुरूप ही स्वातन्त्र्य के तीन स्तर निर्धारित किये जा सकते हैं।

(क) विश्वोत्तीर्ण स्तर–स्वतन्त्र इच्छा मात्र (इच्छा =ज्ञान+क्रिया)।

(ख) परापर स्तर – अहं चेतना में इदं चेतना के तादात्म्य से युक्त स्वातन्त्र्य।

(ग) अपर स्तर – इदं चेतना की प्रधानता से युक्त स्वातन्त्र्य[3]।

इस स्वातन्त्र्य को एक अन्य प्रकार से भी बताया जा सकता है–(1) क्षुब्ध (2) अक्षुब्ध।

इस प्रकार इस स्वातन्त्र्य का ही यह माहात्म्य है कि वह जहाँ भेद प्रसार में संक्षम है, वहीं उसके संहरण में भी, जहाँ स्वरूप संकोच में समर्थ है वहीं स्वरूप प्रकाशन में भी। परतत्त्व के नैर्मल्य व मलिनता में भी यही स्वातन्त्र्य निमित्त है। ऐसा स्वतन्त्र तत्त्व आदि सिद्ध प्रमाता ही है क्योंकि जहाँ–जहाँ ऐश्वर्य का योग होता है वहाँ–वहाँ मेयता की हानि होती है।

अब परमतत्त्व के स्वभाव रूप में स्वातन्त्र्य की चर्चा हो जाने पर मोक्षरूप में अभिमत स्वातन्त्र्य के प्रत्यय की भी चर्चा अनिवार्यतया सम्मुख आती है। यह दर्शन आत्मवाद व अनात्मवाद की समन्वित दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है अतः स्वातन्त्र्य की निषेधात्मक धारणा[4] को नहीं अपनाता। यहाँ की स्वातन्त्र्य की धारणा तो सर्वानुवृत्तिमूलक है जिसका कि अभिप्राय किसी तत्त्व से स्वातन्त्र्य न होकर कुछ करने का स्वातन्त्र्य है। अतः मुक्त

---

1. स एवं हि संवित्स्पन्दोऽन्तः परप्रमात्रात्मनि शिवतत्त्वे सर्वविशेषास्वीकारात् सामान्यात्मा, अतएव प्रविकासवान् अहमिति बाह्ये गायातः क्षित्यन्तं भेदोल्लासाद्विशेषात्मा अत एवान्योन्यव्यावृत्या संकोचवान् इदमिति, द्वयेऽन्तर्बहीरूपे विद्यापदे समधृततुलापुटन्यायेन 'अहमिदम्' इति सामान्यविशेषात्मा, अत एव संकोचप्रविकासवान् अतएवाशेषविश्वोल्लासकारित्वात् इच्छादिशक्तित्रयात्मा इति स एवं परं विश्रान्तिस्थानम्....तं. आ.भा. 3 पृ. 388–389
2. तं.आ., भा.3 पृ. 389
3. ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 254–255
4. निषेधात्मक प्रत्यय अनात्म तत्त्वों से आत्मतत्त्व का विभेद कर मात्र उसी की सत्ता को स्वीकारने में निहित है अथवा यह समस्त विकल्पदृष्टिमूलक तत्त्वों के परमनिषेध से सम्बद्ध है जिसकी कि परिधि में न केवल वेदान्त वरन् सांख्य बौद्ध, न्यायवैशेषिक, मीमांसा आदि के मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त सम्मिलित हो जाते हैं।

होकर व्यक्ति जगत् से मुक्त नहीं हो जाता वरन् विश्वमय हो जाता है, किञ्चित्व से सर्वत्व की ओर मुड़ जाता है, सीमितता से असीमितता को प्राप्त करता है। यह यहाँ की मीमांसा की विशिष्टता ही है कि यहाँ मोक्ष नवीन स्वरूप की प्राप्ति या स्वरूपलय नहीं है वरन् अपने तिरोहित यथार्थ स्वरूप का ही पुनः प्रत्यभिज्ञान है क्योंकि यहाँ महेश्वर ही अपनी इच्छा से बन्धनों में बँधता है व पुनः स्वरूप लाभ करके मुक्त हो जाता है। इस सन्दर्भ में शक्तिपात का विशेष महत्त्व है। इसी शक्तिपात की तीव्रता या मन्दता के आधार पर स्वरूप प्रत्यभिज्ञान की अवधि व अवस्था में भेद परिलक्षित होते हैं। साथ ही मलपरिपाक हेतु विविध उपायों–आणवोपाय, शाक्तोपाय, शांभवोपाय तथा अनुपाय की भी आवश्यकता होती है। इन को क्रम से या अक्रम से अपना कर साधक अपने सभी विकल्पों का शमन कर देता है और तब उसे अद्वैत तत्त्व का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। पर यहाँ अनुग्रह शक्ति की पात्रता हेतु वैयक्तिक प्रयत्नों का विशेष महत्त्व नहीं है। परम शिव जिसे चाहे उसे शक्तिपात का अधिकारी बना सकता है। इन मार्गों पर चलने के लिये दीक्षा[1] की पूर्वापेक्षा की अनिवार्यता है जो एक शैवीसाधना में निपुण गुरु से प्राप्त की जाती है। इस प्रकार अन्ततः अर्जित स्वरूप प्रत्यभिज्ञान में विस्मृत स्वरूप की ही प्राप्ति होती है। अब 'सर्वो ममायं विभवः' की दृष्टि रखता हुआ वह जीवात्मा परमशिव रूप ही होकर सभी क्षेत्रों के स्वातन्त्र्य से मण्डित हो जाता है। फलतः यहाँ बद्ध व मुक्त के मध्य परिमाणात्मक भेद की ही संस्तुति मिलती है[2]।

इस प्रकार इस दार्शनिक सरणि में स्वातन्त्र्य को ही सर्वकर्तृत्व समर्पित करने से स्वातन्त्र्य का अधिकार क्षेत्र अति व्यापक हो जाता है। प्रायः दार्शनिक अध्ययन की तीन सीमायें निर्धारित की जाती हैं–(क) ज्ञानमीमांसात्मक (ख) तत्त्व मीमांसात्मक (ग) मोक्षमीमांसापरक। यद्यपि इन तीनों क्षेत्रों के मध्य कोई विभागात्मक रेखा खींचना असंभव है पर फिर भी अध्ययन की सुविधा हेतु प्रायः यह विभाजन किया जाता है। यहाँ ये तीनों ही क्षेत्र प्रायः अन्योन्याश्रित हैं और इस स्वातन्त्र्य की संधारणा के पल्लवप्राय प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार शिवाद्वयवादी तत्त्वमीमांसा स्वातन्त्र्य का जो विवेचन प्रस्तुत करती है वह यहाँ की तत्त्वमीमांसा को समझने के लिये नितान्त आवश्यक है व जगत् की सर्वाधिक उपयुक्त व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास है।

---

1. 'दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना' इत्येव लक्षणा दीक्षा....। तं.सा.पृ. 2 पा.टि.।
2. स्वयं बध्नाति देवेशः, स्वयं चैव विमुञ्चति।।
   स्वयं भोक्ता स्वयं ज्ञाता, स्वयं चैवोपलक्षयेत।।
   स्वयं मुक्तिश्च भुक्तिश्च, स्वयं देवी स्वयं प्रभुः।। त.आ. 13/123-124

4

नियमनवाद : अभिप्राय तथा संभावनायें

नियमन एक अति व्यापक धारणा है जिसका उदय प्रायः जगत् में दृष्ट एकरूपताओं के आधार पर होता है। नियम की धारणा प्रायः द्विविध सन्दर्भों में प्रयुक्त उपलब्ध होती है–

(क) आदेशात्मक अभिप्राय में (जैसा कि प्रयोग सामान्यतः विधि शास्त्र में होता है)।

(ख) विवेचकात्मक अभिप्राय में (जैसा कि प्रयोग विज्ञान में होता है)।

प्रथम अभिप्राय में कुछ विशिष्ट आज्ञाओं के लिये ही 'नियमन' शब्द का प्रयोग किया जाता है जबकि द्वितीय में जगत् में दृश्यमान नियमितताओं को नियम की श्रेणी में रखा जाता है। नियम का द्वितीय अभिप्राय इतना व्यापक है कि सम्पूर्ण भौतिक व मानसिक जगत् की घटनायें इसकी परिधि में आ जाती हैं। यह नियमनवाद का सिद्धान्त मुख्यतः दो तथ्यों पर आधारित हैं–(क) दो घटनाओं के मध्य अनिवार्य साहचर्य (ख) उस साहचर्य के आधार पर एक घटना से दूसरे का अनुमान।

इस प्रकार का यह नियमनवाद सारी व्यवस्थाओं का मूल है क्योंकि आकस्मिकता में व्यवस्था के लिये कोई स्थान नहीं है अतः किसी भी व्यवस्थापरक चिन्तन हेतु नियमनवाद का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है, यद्यपि ज्ञान की विविध विधाओं में इसके कई प्ररूप कार्यरत दृष्ट होते हैं[1]। दार्शनिक चिन्तन भी बिना नियमों का आश्रय लिये आगे नहीं बढ़ सकता अतः वह भी भौतिकवादी विज्ञानवत् इस सिद्धान्त को प्रश्रय देता है[2]। वस्तुतः तो जगत् घटनाओं का अविच्छिन्न प्रवाह है पर यह प्रवाह भी एक नियत रूप में व्यवस्थित होकर ही प्रस्तुत होता है अतः इस व्यवस्था में निहित तथ्य की खोज ही 'नियम' रूप में अभिव्यक्त होती है और ये नियम ही नियमनवादी विचारधारा को प्रस्तुत करते हैं। जब जगत् की दो घटनाओं में सतत् साहचर्य दृष्ट होता है तो हमारी बुद्धि वहाँ

---

1. इसके तीन मुख्य प्ररूप–नियम, कारण व कर्म–तीन विविध क्षेत्रों–साहचर्यात्मक स्थल, उत्पत्तिस्थल तथा नैतिक स्थल– में सक्रिय उपलब्ध होते हैं।
2. पर दार्शनिकों के प्रायः आत्मजगत् से सम्बद्ध होने से नियमनवाद की सार्वभौमिक स्थिति स्वीकारना उनके लिये अति दुष्कर कार्य है, अतः उनके मध्य इस सम्बन्ध में कई स्थितियाँ दृष्ट होती हैं–कठोर नियमनवाद, गतिशील नियमनवाद व अनियमनवाद। यद्यपि विज्ञान कठोर नियमनवाद पर ही पूर्णतया आधारित है पर आज उसका भी एक बड़ा वर्ग अनियमनवाद व गतिशील नियमनवाद का समर्थक सिद्ध हो रहा है।

एक नियम की स्थापना कर लेती है कि पूर्ववर्ती की इसी रूप में उपस्थिति सदैव परवर्ती की अनिवार्य अनुगामिता से सहकृत होगी और क्योंकि इस प्रकार का साहचर्य प्रायः सभी घटनाओं में किसी न किसी के साथ दृष्ट होता है तो सभी घटनायें–चाहें भौतिक हो या मानसिक, इसी नियमन की डोर से बँधी देखी जाने लगती है फलतः पूर्ण नियमनवाद का साम्राज्य उपस्थित होता है जो कि यही बंताता है कि सब कुछ पूर्व घटनाओं से बद्ध है। इसी आधार पर नाना अनुमान व पूर्वकथन संभव होते हैं।

इस नियमनवाद के लिये जागतिक घटनाओं में एकरूपता होना अनिवार्य है क्योंकि उसके बिना तो प्रत्येक जागतिक घटना एक नवीन तथ्य होगी और तब दो घटनाओं के मध्य किसी ऐसे सतत साहचर्य की स्थिति संभव नहीं हो सकेगी फलतः किसी प्रकार का नियमन संभव नहीं होगा। किसी भी नियम के निर्माण के लिये उस घटना की उसी रूप में पुनरावृत्ति आवश्यक है, इसी कारण नियमनवाद के साथ सादृश्य का प्रत्यय जुड़ा रहता है। सादृश्य का अर्थ है दो स्थितियों की समानता अर्थात् एक नियम जिन दो घटनाओं को लेकर बनाया गया है उन्हीं के समान घटनाओं के घटित होने पर, उन पर भी लागू होता है[1]। इस प्रकार नियमनवाद यह बताता है कि अमुक घटना के घटने पर अमुक घटना अनिवार्यतया घटेगी।

नियमनवाद का अभिप्राय मात्र कारण–संकुल नहीं है। विवश करना या दबाव डालना नियमनवाद की अनिवार्य शर्त है और प्रत्येक कारण दबाव डालने वाला नहीं है अतः नियमनवाद का प्रत्यय कारणबद्धता रूप तात्पर्य में सीमित नहीं किया जा सकता। अतः वही कारण नियामक है जो कार्य पर दबाव डालता है। साथ ही हर नियमनवादी स्थिति कारणतामूलक भी नहीं है। फलतः इन दोनों प्रत्ययों को परस्पर स्थानापन्न नहीं किया जा सकता।

प्रकृति में व्याप्त अनेक एकरूपतायें इसी नियमनवादी सिद्धान्त पर बल देती हैं जैसे रोज रात के बाद दिन व दिन के बाद रात का आना, ग्रीष्म के बाद वर्षा, वर्षा के बाद शरद का आगमन, शैशव के बाद कैशोर्य, तदुपरान्त यौवन व अन्त में वार्धक्य का आना, बीज के बाद अंकुर, अंकुर के बाद पौधा, पौधे के बाद फूल तथा फूल के बाद फल का निकलना इन्हीं स्थितियों को दर्शाते हैं। जब प्रकृति में कुछ एकरूपतायें लगातार नजर आती हैं तो उसी के आधार पर कुछ नियम बना लिये जाते हैं और आगे सभी दशाओं

---

1. इस बिन्दु पर दार्शनिकों में कई मतभेद उपलब्ध होते हैं क्योंकि यह सादृश्य तीन दृष्टियों से होना चाहिये– (क) देश की दृष्टि से, (ख) काल की दृष्टि से (ग) स्वभाव की दृष्टि से। यद्यपि स्वभावगत सादृश्य तो काफी अंशों तक संभव है पर दैशिक–कालिक सादृश्य की संभावना काफी कम ही नजर आती है। इसी कारण विद्वानों के बीच नाना विवाद उत्पन्न हुये हैं। कुछ के मत में तो दो घटनायें कभी एक समान हो ही नहीं सकतीं अतः एकरूपता की स्थिति संभव ही नहीं है जबकि कुछ विद्वान आंशिक रूप से इस स्थिति की संभावना स्वीकारते हैं और कुछ ही ऐसे हैं जो इस स्थिति की पूर्ण संभावना स्वीकृत करते हैं।

में इन्हीं नियमों के अनुसार पूर्वानुमान कर लिये जाते हैं। ये नियम इस प्रकार सारे जगत् को परस्पर बद्ध करते हुये अन्ततः कहीं भी नवीनता या आकस्मिकता के लिये स्थान नहीं छोड़ते फलतः भौतिक जगत् की तरह मानसिक जगत् भी नियमनवाद का क्षेत्र सिद्ध होता है[1]।

जागतिक घटनाओं की विविधता के कारण ही इस नियमनवाद को चार प्रकार का बताया गया है–

(क) तार्किक नियमनवाद (logical determinism)

(ख) ईश्वरीय नियमनवाद (theological determinism)

(ग) मनोवैज्ञानिक नियमनवाद (psychological determinism)

(घ) भौतिक नियमनवाद (physical determinism)[2]

1. **तार्किक नियमनवाद (logical determinism)**–यह बताता है कि भविष्य भी उतना ही नियत है, जितना कि भूत। वस्तुतः तो यह भूत के गर्भ में पहले से ही निहित रहता है फलतः तत्सम्बन्धी पूर्वकथनों की सत्यता असंदिग्ध है। इसी सिद्धान्त को पूर्ण नियतिवाद (fatalism) भी कहते हैं। पर इस सिद्धान्त को स्वीकारने पर मानव प्रयत्नों के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। जैसे कि यदि यह नियत है कि एक व्यक्ति अमुक बीमारी से बच जायेगा तो फिर उसका इलाज करना व्यर्थ है, वह तो यूँ ही बच जायेगा या यदि यह निश्चित है कि वह नहीं बचेगा तो भी इलाज करना व्यर्थ है क्योंकि उसके बचने की कोई संभावना ही नहीं है। पर यहाँ नियतिवादी यह कह सकता है कि यह एक कालोत्तीर्ण प्रत्यय है क्योंकि हम जब तक घटना घटित नहीं होती है, उसके यथार्थ रूप को नहीं पहचान पाते अतः तब तक प्रयत्नशील रहते ही हैं। इस नियमनवाद का वैशिष्ट्य है कि यह विशुद्ध तार्किक युक्तियों पर आधारित रहता है[3]।

2. ईश्वरीय नियमनवाद (theological determinism)-

इस नियमनवाद का अभिप्राय है कि सब कुछ ईश्वर की इच्छा से ही नियत है। मानव

---

1. यही स्थिति नाना विवादों को जन्म देती है जिस पर आगे विचार किया जायेगा।
2. इन सभी के अन्य भी कई प्रकार हैं। (द्रष्टव्य, जे.आर. लुकस, द फ्रीडम ऑफ विल, पृ. 65–89) पर वे सब इन्हीं के अन्दर अन्तर्भूत होते हैं।
3. इस नियमनवाद की यथार्थ स्थिति को पाश्चात्य दार्शनिक गिल्बर्ट रायल के शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं–

   Whatever anyone does, whatever happens anywhere to anything, could not be done or happen, if it was true beforehand that it was going to be done or was going to happen. so everything including everything that we do, has been definitely booked from any earlier date you like to choose. Whatever is, was to be, so nothing that does occur, could have been helped and nothing that has not actually been done, could possibly have been done.

   डाइलेमाज्, कैम्ब्रिज 1954 अ. 2 पृ. 15 लुक्स कृत फ्रीडम ऑफ विल पृ 67 पर उद्धृत।

प्रयत्नों के लिये कहीं कोई स्थान नहीं है[1]। इस धारणा के समर्थन में ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता व सर्वानुग्रहशालिता के उदाहरण दिये जाते हैं। वस्तुतः तो उसकी सर्वज्ञता ही सब कुछ पूर्वनियत सिद्ध करती है क्योंकि भावी घटनाओं का पूर्वज्ञान यही बताता है कि जो कुछ घटित होना है वह पूर्वनियत हो चुका है और उसका किसी प्रकार अपलाप नहीं किया जा सकता है[2]। इस प्रकार का यह नियमनवाद मानव प्रयत्नों को पूर्णतया निष्फल सिद्ध करता है पर कुछ विद्वान इस नियमनवाद को मनुष्य के संकल्प–स्वातन्त्र्यवाद के साथ समाधेय बताते हैं। उनके मतानुसार ईश्वर को रहने वाला घटना का पूर्वज्ञान घटना के घटित होने का कारण नहीं है वरन् मनुष्य ही वहाँ कारण है, मात्र ईश्वर उन्हें पहले से जान सकता है। अतः इच्छा स्वातन्त्र्य की संभावना स्पष्टतः बनी रहती है। ईश्वर वैसे ही हमारे विषय में जान सकता है और हमारे कार्यों का पूर्वकथन कर सकता है जैसे हमारे मित्र करते हैं पर वह हमारे स्वातन्त्र्य में कोई बाधा उपस्थित नहीं करता। इस प्रकार इस वर्ग को मानने वाले दार्शनिक सारा ज्ञातृत्व, कर्तृत्व व ईशितृत्व उसी ईश्वर को सौंपते हैं पर नैतिकता या पाप–पुण्य के विचार हेतु स्वतन्त्र इच्छा के कर्तृत्व को भी स्वीकारते हैं पर वस्तुतः सब कुछ ईश्वर को सौंप देने पर मानव इच्छा का कोई माहात्म्य नहीं रहता।

3. **मनोवैज्ञानिक नियमनवाद (psychological determinism)**–यह नियमनवाद बतलाता है कि कुछ निश्चित मानसिक नियम हैं जिनके कि आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि एक विशिष्ट व्यक्ति विशिष्ट परिस्थितियों में कैसा व्यवहार करेगा। इन नियमों में विश्वास करने वाले इन्हें भौतिक नियमों की भाँति ही दृढ़ मानते हैं। यह नियमनवाद प्रायः प्रेरणाओं की शब्दावली में प्रस्तुत किया जाता है। पर वस्तुतः इस नियमनवाद की अनिवार्यता सार्वभौमिक नहीं है। अक्सर उसके आधार पर किये गये

---

1. इस विचारधारा को लेकर चलने से नैतिक उत्तरदायित्व की समस्या उपस्थित होती है और चयन स्वातन्त्र्य के लिये कोई स्थान नहीं बचता। अतः कई दार्शनिकों ने ईश्वर की सर्वनियामकता व मानव के संकल्प–स्वातन्त्र्य के मध्य समन्वय करने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार ईश्वर ही अपनी सर्वज्ञता को जीव–स्वातन्त्र्य की सिद्धि हेतु एक निश्चित क्षेत्र में सीमित कर लेता है फलतः जीव के चयन सामर्थ्य की सिद्धि संभव हो जाती है। पाश्चात्य दार्शनिक लीबनीज इस सन्दर्भ में और स्पष्ट समाधान प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार जीव स्वातन्त्र्य उसी ईश्वरीय इच्छा के द्वारा संचालित व्यवस्था के अनुकूल घटित होता है। उन्हीं के शब्दों में–
"From foreknowledge, however it follows that each act of free will is adopted to such an arrangement of the whole as the settled order of the universe demands".
देखिये, लुकस, फ्रीडम ऑफ विल, पृ. 72 पा.टि.। इस नियमनवाद की स्थिति को राबर्ट ग्रेव के शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है–
What we shall be, is written, and we are so. Needless of good or evil, Pen, write on. By the first day all futures were decided, which gives our griefs and pains irrelevancy. लुकस, फ्रीडम ऑफ विल पृ. 69 पर उद्धत।
2. इसी दृष्टि से एम्ब्रोज ने लिखा था कि यदि ईश्वर को पहले से भविष्य का ज्ञान है औरं उसका घटित होना निश्चित है तो प्रार्थना आदि व्यर्थ है। देखिये, वही, पृ. 71.

पूर्वकथन गलत साबित होते हैं क्योंकि उनमें सभी अप्रासंगिक तथ्यों का निराकरण व प्रासंगिक तथ्यों का ग्रहण संभव नहीं हो पाता[1]। अनिवार्य नियमन तो वहीं संभव है जहाँ कि घटनायें कर्ता के नियंत्रण से बाह्य हों पर मानसिक नियमन में ऐसा संभव नहीं है। वस्तुतः तो यह नियमनवाद किसी प्रकार की कारणात्मक व्याख्या नहीं होकर घटना की पुनर्व्याख्या मात्र है। इस नियमनवाद को भी स्वातन्त्र्य के साथ समाधेय बताने के लिये दार्शनिक यह मानते हैं कि जब तक हम नैतिक दृष्टि से क्रिया करते हैं तब तक स्वतन्त्र हैं, पर उसके अतिरिक्त सर्वत्र नियमनवाद के नियमों में जकड़े हुये हैं।

4. **भौतिक नियमनवाद (physical determinism)**–यह नियमनवाद प्रकृति के भौतिक नियमों पर आधारित है और इन्हीं भौतिक नियमों पर सारे जागतिक तथ्य आधारित हैं। ये नियम सार्वभौमिक है अतः किसी भी देशकाल में इनका अपलाप नहीं होता। फलतः इनके आधार पर किये गये पूर्वकथन प्रायः सत्य साबित होते हैं। यह नियमनवाद सभी अन्य प्रकारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है व सबसे ज्यादा मान्य है। इस नियमनवाद के अनुसार सारा जगत् कुछ निश्चित नियमों का पालन करता है अतः किसी भी भावीकाल में उसकी स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। पर यह नियमनवाद संकल्प–स्वातन्त्र्य के साथ पूर्णतया असमाधेय प्रतीत होता है क्योंकि भौतिक जगत् को यदि बाह्य प्रभावों से सुरक्षित रखकर इन्हीं नियमों से सुदृढ़ता से परिचालित बताया जाता है तो मनुष्य जो कि बराबर अपने परिवेश से क्रिया–प्रतिक्रिया करता है, की गतिशीलता के साथ उस नियमनवाद को कैसे सुरक्षित रखा जा सकेगा[2]।

इस प्रकार नियमनवाद के ये विविध प्रकार प्रायः समस्त भौतिक व मानसिक जगत् को व्याप्त किये रहते हैं। यह नियमन कभी कारणात्मक शब्दावली में अभिव्यक्त किया जाता है तो कभी मात्र सामान्यीकरण रूप में। दार्शनिक जगत् में कारणात्मक दृष्टि से नियमनवाद के दो क्षेत्र उपलब्ध होते हैं–

(क) मनोभौतिक जगत् की कारणता का क्षेत्र

(ख) नैतिक जगत् की कारणता का क्षेत्र

प्रथम क्षेत्र में सभी घटनाओं को मानसिक–भौतिक कारणों से या ईश्वरीय संकल्प

---

1. यहाँ ये नियम कुछ निश्चित तथ्यों के मध्य ही स्थापित किये जा सकते हैं, भौतिक विज्ञानों के सदृश सर्वत्र नहीं क्योंकि भौतिक विज्ञानों में तो सभी अप्रासंगिक तथ्यों का निराकरण किया जा सकता है पर यहाँ यह उतनी पूर्णता के साथ संभव नहीं है क्योंकि यहाँ घटना के घटित होने से पूर्व किसी भी तथ्य को अप्रासंगिक नहीं बतलाया जा सकता क्योंकि मनुष्य के पास मन है जिससे वह किसी भी तथ्य को प्रासंगिक या अप्रासंगिक समझ सकता है।
2. एच.ओ. लॉस्की ने नियमनवाद को त्रिविध बतलाया है–
   (क) भौतिक नियमनवाद (materialistic determinism)
   (ख) मनोवैज्ञानिक नियमनवाद (psychologistic determinism)
   (ग) अतिप्राकृतिक नियमनवाद (super naturalistic determinism) द्र. फ्रीडम ऑफ विल पृ. 23–37. उनके द्वारा स्वीकृत इन वर्गों में से पहले दो वर्ग तो लुकस को उसी रूप में स्वीकृत हैं और तृतीय उसके द्वारा स्वीकृत ईश्वरीय नियमनवाद रूप वर्ग का ही रूपान्तर है।

से नियमित बताया जाता है जबकि द्वितीय में कर्म को नियामक रूप में सिद्ध किया जाता है।

नियमनवादी दार्शनिक प्रायः इस नियमनवाद को सार्वभौमिक प्रत्यय मानते हैं। उनके मतानुसार तो प्रत्येक वह घटना जिसकी व्याख्या की जा सकती है, पूर्वनिश्चित है। यह व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है कि या तो उसका प्रयोजन (rationale) बताया जाये या उसके पूर्ववर्ती को उसके प्रति कारणता बतलाई जाये। इतना होने पर भी नियमनवाद कई विप्रतिपत्तियों का विषय है। फलतः दार्शनिकों में कई वर्ग संभूत हुये हैं जैसे कठोर नियमनवादी, मध्यम नियमनवादी, अनियमनवादी। इनमें से प्रथम वर्ग वाले सब कुछ नियमित मानते हुये कहीं भी इसका विपर्यास संभव नहीं मानते जबकि द्वितीय वर्ग के समर्थक नियमनवाद के साथ उन स्थितियों का भी समन्वय करते हैं जहाँ स्वतन्त्र चयन की संभावना रहती है और तृतीय वर्ग वाले कि सी भी प्रकार के नियमन को स्वीकारने से इंकार करते हैं। यद्यपि तीनों ही मतावलम्बी अपने-अपने पक्ष में नाना तर्क प्रस्तुत करते हैं पर प्रत्येक को नाना आक्षेपों का विषय बनना पड़ता है। निष्कर्षतः इनमें से प्रथम व तृतीय की सार्वभौमिक वैधता स्वीकृत नहीं की जा सकती, हाँ, द्वितीय वर्ग की समन्वयात्मक दृष्टि को लेकर विश्व की व्याख्या का कार्य संभव है क्योंकि जहाँ भौतिक क्षेत्र नियमनवाद के चक्र में जकड़ा प्रतीत होता है वहीं मानसिक क्षेत्र संकल्प-स्वातन्त्र्य के बल से चयन-सामर्थ्य की अनिवार्य संभावना को प्रस्तुत करता है। अतः भौतिक व मानसिक उभय घटनाओं का समग्र विश्व उभयात्मक संभावनाओं को प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त इस स्थिति के पक्ष में यह तर्क भी दिया जा सकता है कि किसी भी पदार्थ की व्याख्या पूर्ववर्ती दशाओं के आधार पर की जाती है। अतः यह व्याख्या जाकर ऐसे बिन्दु पर रुक जाती है जिसकी कि व्याख्या आगे नहीं की जा सकती। इस प्रकार अन्ततः ये सभी व्याख्यायें जाकर उस आदि कारण पर रुक जाती हैं। यह अव्याख्यात अंश ही घटनाओं के आकस्मिक संयोग की संभावना को भी प्रस्तुत करता है। प्रकृति के नियम भी इस तर्क से अछूते नहीं हैं।

भारतीय दर्शन भी इस नियमनवाद को जागतिक क्षेत्र में स्वीकारता है पर आत्मिक क्षेत्र को इच्छा स्वातन्त्र्य का ही क्षेत्र मानता है। यहाँ नियमनवाद द्विविध रूपों में स्वीकृत है-कारणता व कर्म। कारणता जहाँ भौतिक व मानसिक नियमनवाद की प्रतिनिधि है वहीं कर्म नैतिक नियमनवाद का। कुछ दर्शन ईश्वरीय नियमनवाद के भी समर्थक हैं पर वे भी इच्छा-स्वातन्त्र्य के अस्तित्व को किसी न किसी रूप में स्वीकारते हैं।

नियमनवाद तथा पूर्वकथन-यह नियमनवादी धारणा पूर्वकथन की संभावनाओं को प्रस्तुत करती है क्योंकि जागतिक घटना की नियतता का पोषण करने पर उनकी संभव भावी दशाओं का पूर्वज्ञान अनिवार्यतया संभव सिद्ध होता है जिसके कि आधार पर सभी प्रकार के पूर्वकथन किये जा सकते हैं क्योंकि हम जब कुछ घटनाओं को कुछ

नियत परिस्थितियों के तत्काल बाद घटित होता हुआ निरन्तर पाते हैं तो पूर्व परिस्थितियों के उपस्थित होते ही उनके परिणाम का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार किसी घटना के कारणों का ज्ञान ही पूर्वकथन की संभावना को संभव बनाता है और इन पूर्वकथनों की प्रामाणिकता तभी संभव है जबकि उस घटना के सन्दर्भ में संभावित समस्त दशाओं का पूर्ण ज्ञान हो। पर ऐसा सर्वत्र संभव नहीं हो पाता[1]। इसी कारण पूर्वकथन अक्सर गलत सिद्ध होते हैं। विज्ञान जो कि प्रयोगशाला की नियंत्रित परिस्थितियों में कुछ निश्चित पूर्वकथन करता है, के पूर्वकथन इसी कारण प्रायः यथार्थ सिद्ध होते हैं कि वहाँ उन परिस्थतियों का अपलाप होने की सभी संभावनाओं का पूरा ज्ञान करके ही पूर्वकथन किया जाता है। जागतिक क्षेत्र में ऐसा संभव नहीं है क्योंकि यहाँ परिस्थितियों पर उस प्रकार का नियंत्रण नहीं हो सकता। यहाँ हम सत्य पूर्वकथन करने में तभी सफल हो सकते हैं जबकि बाह्य हस्तक्षेपों से अलग करके एक कारणात्मक प्रक्रिया को प्रस्तुत कर सकें। इसी कारण से दैनिक जीवन में हम पूर्वकथन अति सीमित रूप में ही कर सकते हैं। साथ ही वह अनिवार्यतया सत्य होगा, यह पूरे विश्वास के साथ नहीं बता सकते। पूर्वकथन की क्षमता हमारे कारणों के ज्ञान पर ही निर्भर है। जिस सीमा तक हमें उनका ज्ञान हो पाता है, उसी सीमा तक हम पूर्वकथन भी कर सकते हैं। ज्यों-ज्यों कारणों की खोज होती जाती है, अन्य नवीन खोजों की संभावना बढ़ती जाती है। इस प्रकार कारण का पूर्ण ज्ञान हमें कभी नहीं हो पाता। फलतः हम कभी बिलकुल सही पूर्वकथन नहीं कर सकते। साथ ही पूर्वकथनों के सन्दर्भ में एक अन्य समस्या यह है कि प्रत्येक जागतिक घटना कुछ अंशों में अद्‌भुत है, फलतः यह अद्‌भुत अंश ही आकस्मिकता के लिये स्थान प्रस्तुत करता है फलतः नियमनवाद व पूर्वकथन की सार्वभौम स्थिति स्वीकरणीय नहीं हो पाती।

नियमनवाद तथा नीतिशास्त्र-यह नियमनवाद की धारणा नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में कई समस्याओं को उत्पन्न करती है क्योंकि सब कुछ नियमित मानने पर उत्तरदायित्व की संभावना अस्पष्टप्राय हो जाती है, फलतः पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा आदि धारणायें संभव नहीं हो पातीं। जब सब कुछ पहले से नियत है, कहीं किसी आकस्मिकता के लिये कोई स्थान नहीं है तो फिर कैसे किसी कार्य के लिये किसी को उत्तरदायी बताया जा सकेगा और यदि कोई उत्तरदायी नहीं है तो क्रमविकास की संभावना भी धुँधली हो जाती है क्योंकि तब मानव में यह सामर्थ्य ही नहीं है कि वह नियति के नियमों का अपलाप कर अपनी इच्छा से आत्मिक विकास के किसी उच्चतर सोपान को अपना सके। हम उसी कार्य के लिये उत्तरदायी बताये जाते हैं जिसके कि सन्दर्भ में 'अन्यथा करने' का भी विकल्प हमारे समक्ष है। जिसे करने के लिये हम पहले

---

1. प्रत्येक घटना में एक विशिष्ट अंश रहता है जो उसे अन्य घटनाओं से भिन्न करता है। यह वैशिष्ट्य दैशिक, कालिक या आकारिक किसी भी प्रकार का हो सकता है।

से विवश हैं, वह कार्य हमारे अधिकार क्षेत्र से बाहर है। अतः उत्तरदायित्व का प्रत्यय चयन–स्वातन्त्र्य की संभावना को लेकर चलता है और इस पर आधारित नैतिकता के सन्दर्भ भी नियमनवाद से विचलित होने पर ही संभव हो पाते हैं। अतः नियमनवाद को अन्तिम सिद्धान्त मान कर नैतिक चर्चा संभव नहीं है तो जागतिक विकास–क्रम में आत्मतत्त्व में स्वातन्त्र्य की भी किञ्चित अनुस्यूति माननी ही होगी जो कि आत्मिक विकास की संभावना को संभव बनाती है।

नियमनवाद तथा इच्छास्वातन्त्र्य–नियमनवाद तथा इच्छास्वातन्त्र्य ये दो ऐसे परस्पर विरोधाभासमय प्रत्यय हैं जो कि शताब्दियों से दार्शनिकों के मध्य मतभेद का विषय बने हुये हैं। इनको एक दूसरे के सन्दर्भ में समझना अति दुष्कर कार्य है। जहाँ नियमनवाद यह बताता है कि जगत् का प्रत्येक अंश पूर्व परिस्थितियों–परिवेश व आनुवांशिकता–का प्रतिफल है या मानवीय अंश में पूर्वकाल में कृत कर्मों का परिणाम है, वहीं इच्छास्वातन्त्र्य की संभावना यह प्रतिपादित करती है कि मनुष्य में नियमनवाद के नियमों से अन्यथा कर सकने की भी सामर्थ्य है। इच्छा स्वातन्त्र्य का अभिप्राय है चयन–सामर्थ्य और यही स्थिति नियमनवाद की सुदृढ़ता को कमजोर बनाती है। फलतः इन दोनों के मध्य की ऐसी विवादास्पद स्थिति को लेकर ही दार्शनिकों में तीन मुख्य मत प्रचलित हुये –

(क) नियमनवाद ही सत्य है, स्वातन्त्र्य नहीं।

(ख) स्वातन्त्र्य ही सत्य है, नियमनवाद नहीं।

(ग) स्वातन्त्र्य व नियमनवाद दोनों सत्य हैं[1]।

इन तीनों स्थितियों में प्रथम दो तो दो छोरों को बतलाती हैं और तृतीय इन दोनों के समन्वय को प्रस्तुत करती हैं। वस्तुतः स्वातन्त्र्य व नियमनवाद के मध्य सामंजस्य बिठाना अति जटिल कार्य है। कई पाश्चात्य दार्शनिक इसी कारण इन दो में से किसी एक प्रत्यय की ही संसार में स्थिति स्वीकारते हैं। प्रायः किसी घटना की व्याख्या प्रस्तुत करना ही उसे नियमों से बाँधना है और प्रायः प्रत्येक घटना की व्याख्या की जा सकती है अतः हर घटना या पदार्थ नियमित कहा जा सकता है परन्तु यह व्याख्या जहाँ जाकर रुकती है वह तत्त्व तो स्वतन्त्र ही है। जागतिक क्षेत्र में भी अक्सर कारणों के अज्ञात रहने से स्वातन्त्र्य की प्रतीति होती है परन्तु उन स्थलों पर अन्ततः कारणों को खोज ही लिया जाता है। इस प्रकार स्वातन्त्र्य व नियमनवाद की स्थिति को समन्वित रूप से इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं कि जहाँ तात्त्विक जगत् देशकालातीत है, नियमनवाद के नियमों से मुक्त है, वहीं प्रतीयमान जगत् इन नियमों से जकड़ा हुआ है। प्राणी इन दोनों ही जगतों का विषय है, अतः स्वातन्त्र्य व नियमन दोनों का विषय है। वह यथार्थ सत्ता के अंश रूप में

---

1 पाश्चात्य दार्शनिकों में प्रथम वर्ग के पोषक दार्शनिक हैं–शॉपेनहावर, स्पिनोजा आदि, द्वितीय वर्ग के पोषक हैं हेनरी सिडविक, विलियम जेम्स, कैम्पबेल आदि तथा तृतीय के प्रतिपादक हैं–ब्रैडले, हेगेल, एंजिल आदि।

देशकाल आदि से स्वतन्त्र एक कालातीत प्राणी भी है व देशकाल में स्वयं अपने प्रति व दूसरों के प्रति भासित भी होता है। प्रथम में जहाँ उसका अस्तित्व उसकी बोधगम्य प्रकृति मात्र है वहीं द्वितीय में उसका अस्तित्व उसका व्यावहारिक चरित्र है। इस प्रकार वह स्वातन्त्र्य व नियमन दोनों का विषय है। वस्तुतः स्वातन्त्र्य का अभिप्राय आत्मनियमन है[1] और यह अभिप्राय स्वातन्त्र्य व नियमन दोनों के समन्वित स्वरूप को ही प्रस्तुत करता है। वस्तुतः तो इच्छा–स्वातन्त्र्य की बात जहाँ कर्ता की भाषा से सम्बद्ध है वहीं नियमनवाद की बात दृष्टा की भाषा से। यह भी कह सकते हैं कि जागतिक व्यवस्था के कर्तृत्व को जहाँ नियमनवाद निभाता है वहीं जागतिक सर्जन के कर्तृत्व का उत्तरदायित्व स्वातन्त्र्य उठाता है। सर्जन शक्ति ही विश्व में प्रधान है, इसीलिये स्वातन्त्र्य को ही परतत्त्व का स्वभाव माना गया है, नियमनवाद तो उसका व्यापार है। इसे सोद्देश्यता व यांत्रिकता की शब्दावली में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। जहाँ सोद्देश्यता का क्षेत्र स्वातन्त्र्य का है वहीं यांत्रिकता का क्षेत्र नियमनवाद का।

जागतिक नियमनवाद के द्विविध प्ररूपः कारणता व कर्म–नियमनवाद सारे जगत् को दो प्रकार के नियमों में बाँधता है–(क) प्राकृतिक नियम (कारणता नियम) (ख) नैतिक नियम (कर्म नियम)। प्राकृतिक नियम जहाँ जगत् की सभी घटनाओं–भौतिक व मानसिक–को नियमित करते हैं वहीं नैतिक नियम एक नैतिक व्यवस्था की स्थापना करते हैं। प्राकृतिक नियमनवाद का प्रमुख प्ररूप 'कारणता' है जिसके कि द्वारा सभी पदार्थों का कारण बताकर वर्तमान को सदैव भूत से नियमित बताया जाता है तथा नैतिक नियमन का कर्तृत्व कर्म–सिद्धान्त को सौंपा जाता है जो कि बताता है कि सब कुछ पूर्वकर्मों का प्रतिफल है। अतः पाप–पुण्य, दण्ड व पुरस्कार आदि की प्रकल्पनायें सिद्ध हो जाती हैं और इस प्रकार जगत् में एक नैतिक व्यवस्था स्थापित हो जाती है। इन दोनों प्रकार के नियामक तत्त्वों का विस्तृत विवेचन अग्रिम अध्यायों में किया जायेगा।

---

1 पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू भी ऐसा ही मानते हैं। उनके मतानुसार स्वतन्त्र क्रिया का अभिप्राय कारणशून्य क्रिया से नहीं है वरन् उस क्रिया से है जो व्यक्ति के अपने स्वभाव से उद्भूत है। लिप्स भी ऐसा ही मत प्रस्तुत करते हैं। उसके अनुसार एक व्यक्ति का चरित्र व उसके चिन्तन का ढग काफी हद तक स्वयं उसी के द्वारा निर्मित होता है और यही उसका स्वातन्त्र्य है।

5

कार्यकारणभावः स्वरूप एवं प्ररूप

नियमनवाद का विशिष्ट रूप कार्यकारणभाव की धारणा लोक व शास्त्र में प्रचलित एक सर्वव्यापक तथ्य है जो कि विचारात्मकता की समस्त श्रेणियों को व्याप्त कर लेती है। वस्तुतः तो किसी भी समस्या का सर्वाधिक सन्तोषजनक हल इसी कारणता के प्रत्यय में निहित है[1]। अतः मानवज्ञान की प्रत्येक विधा इसी प्रत्यय के इर्द गिर्द घूमती रहती है। समस्त जगत् में सदैव एक गति दृष्ट होती है और इस गति रूप परिवर्तन का सातत्य मानवमेधा को उस सातत्य के सारतत्त्व को खोजने के लिये विवश कर देता है। इस सातत्य की व्याख्या में ही कारणता की धारणा निहित है[2]। यह गत्यात्मक परिवर्तन कहीं स्वाभाविक होता है अर्थात् बिना किसी प्रत्यक्षयोग्य कर्ता की सहायता के घटित होता है व कहीं किसी प्रत्यक्ष कर्ता के प्रयासों के द्वारा निष्पन्न होता है, साथ ही कभी इतना प्रबल होता है कि तुरन्त दृष्ट हो जाता है व कभी इतनी मन्दगति से होता है कि एक निश्चित काल के बाद ही उसका ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रबलता या मन्दता के आधार पर ही कहीं उसे नवीन उत्पत्ति कहा जाता है[3] व कहीं स्थित पदार्थ में ही रूपान्तरण[4]।

पर इन नानाविध परिवर्तनों की तार्किक व्याख्या प्रस्तुत करने में नाना समस्यायें उत्पन्न होती हैं। यद्यपि अनुभवसिद्ध कारणता का प्रत्यय लौकिक की दृष्टि में इसका उपयुक्त समाधान है पर स्वयं में अनेकों तार्किक विसंगतियाँ रखता है। इन्हीं तार्किक कठिनाइयों के कारण अक्सर कारण जैसी असंगत धारणा को छोड़ देने की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है[5] पर जागतिक व्यवहार की सम्यक् व्याख्या हेतु इसको स्वीकारना

---

1. To find the cause of an event usually involves at the same time finding its explanation. ब्रिजमैन, दि लॉजिक ऑफ माडर्न फिजिक्स, पृ. 80.
2. A cause is the source of change.... अरस्तू
3. Cause....which produces and thus accounts for some change, if the change is sufficiently striking to warrant applying a new name to what results, then it is natural to speak of the cause as producing a new substance".... इनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसफी, भाग 2 पृ. 56
4. द्रष्टव्य, एम.सी. भारतीय, कॉंजेशन इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 3
5. कई विद्वान कारणता के प्रत्यय को अनावश्यक बताते हुये व्याप्ति सम्बन्ध, अनिवार्य क्रम आदि को उसका स्थानापन्न बताते हैं। बट्रेन्ड रसेल का कथन है कि कारण का प्रत्यय बीते दिनों की बात हो गयी है। (इनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसफी, भा. 2 पृ. 57) जार्ज बर्कले अन्तिम कारण को छोड़ कर जगत् में अन्य कहीं कारणता की संभावना नहीं स्वीकारते। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि प्रकृति की क्रियाओं का ग्रहण तो हमें प्रकृति के निश्चित नियमों के निरीक्षण से हो जाता है फलतः उसके लिये अपने विचारों में किसी अनिवार्य सम्बन्ध को खोजने की आवश्यकता नहीं है।

अपरिहार्य है। इस प्रकार यद्यपि कारणता की तर्कसंगत व्याख्या नहीं की जा सकती पर यह एक अनुभूत तथ्य है।

अतः अब इसके यथार्थ स्वरूप व संभावित विसंगतियों की गवेषणा पूर्ण अपेक्षित है। रून्स (Runes) ने डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी में कारणता सम्बन्ध की आठ व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं जिनका कि अलग-अलग दार्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से प्रतिपादन किया है–

1. यह उन दो घटनाओं, प्रक्रियाओं या तथ्यों के मध्य का सम्बन्ध है जो कि एक ही कालक्रम में स्थित है। एक के घटित होने पर दूसरा उसका अनिवार्यतया अनुसरण करता है। पर की स्थिति होने पर पूर्व की पूर्वस्थिति अनिवार्य है।
2. यह उन दो घटनाओं, प्रक्रियाओं या तथ्यों के मध्य का समबन्ध है जिसमें प्रथम दूसरे को उत्पन्न करने की शक्ति रखती है।
3. यह ऐसी दो घटनाओं, प्रक्रियाओं या तथ्यों के मध्य का सम्बन्ध है जिसमें प्रथम के अभाव में दूसरी नहीं घटित हो सकती।
4. यह अनुभूत व अननुभूत तथ्यों, प्रक्रियाओं या घटनाओं के मध्य का सम्बन्ध है।
5. यह एक पदार्थ का स्वयं से स्वयं का सम्बन्ध है।
6. यह एक घटना, प्रक्रिया या तथ्य और उसके कारण के मध्य का सम्बन्ध है।
7. यह एक विचार व अनुभव के मध्य का सम्बन्ध है। यह विचार दो के मध्य क्रम को लगातार देखने की आदत का परिणाम है।
8. यह मात्र मानसिक संरचना है[1]।

प्रोफेसर फाउलर का मत है कि कारणता की समस्या प्रायः तीन प्रश्नों को उत्पन्न करती है जिनका कि समाधान करने का प्रयास प्रायः समस्त विद्वानों ने किया है, वे प्रश्न हैं–(क) कारणता की धारणा का यथार्थ अभिप्राय क्या है? (ख) कारणता क्या सर्वव्यापक धारणा है? (ग) क्या प्रकृति में सदैव एकरूपता रहती है (अर्थात् समान कारण सदैव समान कार्यों को उत्पन्न करते हैं)[2]। इन प्रश्नों को मूल रूप में लेकर कारणता के प्रत्यय का ऐतिहासिक विश्लेषण करने पर विविध मत उपलब्ध होते हैं–

(क) कारण एक पदार्थ है जो कुछ उत्पन्न करता है।

(ख) कारण एक घटना है जो अन्य घटना को उत्पन्न करती है।

(ग) कारण में एक शक्ति निहित है।

(घ) कारण की शक्ति एक मानवेतर सत्ता के द्वारा नियंत्रित है।

(ङ) कारण कार्य मात्र एक के बाद एक घटित होने वाली दो घटनायें हैं, जिनमें कोई

---

1. डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी, पृ. 47. यद्यपि रुन्स ने नौ प्रकार की व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं पर द्वितीय व्याख्या प्रथम व्याख्या में ही अन्तर्भूत की जा सकती है। इसी कारण यहाँ आठ ही प्रकार की व्याख्यायें प्रस्तुत की गयी हैं।
2. कॉजेशन एण्ड द टाइप्स ऑफ नेसेसिटी, पृ. 119

अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है मात्र पुनरावृत्ति के कारण बनी हुई आदत के कारण हम पूर्व को कारण व पर को कार्य कहने लगते हैं।

सर्वप्रथम स्थूल दृष्टि से दो पदार्थों को एक के बाद एक घटित होता देख उन्हीं में कारणता व कार्यता की कल्पना की गयी पर कालान्तर में पाया गया कि पदार्थ तो स्वात्मनिष्ठ रहता है और दो कूटस्थ पदार्थों जिनमें किसी दैशिक-कालिक परिवर्तन की संभावना नहीं है, पर यह कारणता की धारणा लागू नहीं हो सकती। जबकि घटना का प्रत्यय गतितत्त्व को धारण किये रहता है, अतः कारणता व कार्यता दो घटनाओं को ही सौंपी जा सकती है। इन घटनाओं को दशायें भी कह सकते हैं। पुनः एक विशिष्ट कारण से ही विशिष्ट कार्योत्पत्ति देखने पर यह धारणा प्रबल होती गयी कि कारण में कोई ऐसा अतिशय अवश्य है जो उसी कार्य को उत्पन्न करता है व उसकी कारणता के लिये उत्तरदायी है। अतः कारण में एक शक्ति[1] की कल्पना की गयी कि जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है, वही उसका कारण है। परन्तु पुनः शक्ति के प्रत्यय को चेतना के प्रत्यय के साथ जोड़ कर प्रस्तुत किया गया तथा मानवीय व दिव्य इच्छा को ही उस शक्ति का संचालक बताया गया। इसे निमित्त कारण कहा गया।

यद्यपि कारणता की धारणा के ऐतिहासिक विश्लेषण में यह वैचारिक उद्विकास इस क्रम से नहीं मिलता। विभिन्न कालों में इनमें से किसी एक धारणा का पोषण किया गया है और अन्यों को दोष मुक्त बताया गया है, पर उनका विश्लेषण करने पर कारणता की धारणा के ये ही क्रमिक सोपान प्रतीत होते हैं।

पाश्चात्य जगत् में प्रचलित कारणता संबंधी मतों को तीन सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है–

(क) नियमित सम्बन्ध का सिद्धान्त (regularity theory)

(ख) स्वाभाविक सम्बन्ध का सिद्धान्त (entailment theory)

(ग) सक्रिय शक्ति या चित् कर्ता का सिद्धान्त (activity theory)

प्रथम सिद्धान्त में मात्र नियमित सम्बन्ध को कारणता का आधार बताया गया है अतः वहाँ दिन रात के मध्य भी कारणता का प्रसंग उपस्थित होता है। रसेल इस सिद्धान्त के प्रमुख पोषक हैं। वे कारणता में अन्य कोई स्वाभाविक सम्बन्ध मानने से इंकार करते हैं। क्योंकि कारणात्मक नियमों की सर्वव्यापकता नहीं सिद्ध की जा सकती और न एक निश्चित कार्य के लिये एक निश्चित कारण ही बताया जा सकता है। पर इस दृष्टि से तो सभी घटनायें जहाँ कि नियमित क्रम है, कारणता का विषय होने लगेगी। ह्यूम भी इस मत के समर्थक हैं। द्वितीय सिद्धान्त का पोषण ईविंग ने किया जिसके कि अनुसार कारण कार्य के मध्य स्वाभाविक सम्बन्ध रहता है। तृतीय सिद्धान्त चेतन शक्ति की स्थिति को कारणता के लिये उत्तरदायी मानता है। पदार्थ (matter) के जड़ होने से

1. यद्यपि कुछ दार्शनिकों ने शक्ति के अदृश्य होने से इसकी स्वीकृति नहीं प्रदान की है।

उसमें किसी क्रिया की सामर्थ्य नहीं है अतः चेतन तत्त्व की ही कारणता है। लॉके, बर्कले, स्टाउट आदि इसके समर्थक हैं। एल.एस. स्टेबिंग व ईविंग इसका खण्डन करते हैं[1]। वस्तुतः पाश्चात्य दृष्टि मूल निमित्त कारण पर ही केन्द्रित रही है क्योंकि उपादान कारण उनकी दृष्टि में मूलतः कारण नहीं है[2]। उनकी दृष्टि में कारण को कार्य से अलग स्वतन्त्र अस्तित्त्व रखना चाहिये जबकि यहाँ कारण व कार्य परस्पर अभिन्न रहते हैं।

यह कारणता की धारणा पौर्वात्य व पाश्चात्य दोनों ही के लिये गवेषणा का विषय रही है तथा विज्ञान व दर्शन दोनों ने ही अपने–अपने प्रयोजन के अनुसार इसके स्वरूप की चर्चा की है। यहाँ तक कि व्यवस्थित प्रयोगात्मक विज्ञान के उदय से पूर्व भी कारणता सम्बन्धी मतों के विवरण मिलते हैं[3] क्योंकि यह कारणता प्रागैतिहासिकयुगीन विश्वास है। उस समय सभी घटनाओं को क्रिया रूप में लिया जाता था व उनका कारण मानवेतर शक्तियों की इच्छा बतायी जाती थी। पुनः आगे चलकर वातावरण की उन घटनाओं व क्रियाओं में भेद किया गया कि कौन सी घटनायें प्राकृतिक या स्वाभाविक कारणों का परिणाम है और कौन इच्छाशक्ति का। इस सम्बन्ध में कारणता के प्रत्यय की विश्लेषणात्मक चर्चा का श्रेय सर्वप्रथम ग्रीक विद्वानों को प्राप्त होता है। भारतीय वाङ्मय के कई ग्रंथों के ग्रीक सभ्यता से भी प्राचीन होने पर भी उनमें कारणता की धारणा का वैज्ञानिक व तार्किक विश्लेषण करने का प्रयास न होने से उनकी चर्चा यहाँ गौण हो जाती है। प्राचीन ग्रीक विद्वान कारण को भौतिक उपादान (world-stuff) मानते थे। पर उनके लिये कारण उत्पत्ति का नहीं एकता का सिद्धान्त था। मिलेशियन भी कारण या कारणात्मक तथ्य की बात नहीं करते[4]। सर्वप्रथम पार्मिनाइड ने कारणता सम्बन्ध की व्याख्या की। उसके अनुसार कारणता सिद्धान्त परिवर्तन का सिद्धान्त या किसी सत्ता से कुछ होने का सिद्धान्त है। ल्यूकिप्पस ने भी कारणता में परिवर्तन के प्रत्यय को निहित माना। उसका कहना था कि प्रत्येक वस्तु का एक कारण अवश्य है और वह अनिवार्य है। हेराक्लिट्स ने कहा कि सारा परिवर्तन एक नियम के अधीन है। इम्पेडीक्लिस ने कारण में क्रिया का प्रत्यय जोड़ा। प्लेटो ने विविध कारण–प्रकारों में भेद किया लेकिन उनकी दृष्टि में वास्तविक कारण क्रिया से शून्य मात्र तार्किक सत्तायें हैं[5]। अरस्तू ने चार प्रकार के कारणों को प्रतिपादित किया[6] तथा कारणता व द्रव्य में सम्बन्ध स्थापित किया। यहाँ द्रव्य

---

1. एम.सी. भारतीय, कॉजेशन इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 21–26
2. पर कुछ पाश्चात्य दार्शनिक भी उपादान कारण को स्वीकारते हैं।
3. अति प्राचीन काल में कारण की धारणा के प्रतिपादकों में ल्यूकिप्पस (पांचवीं शताब्दी ई.पू.) का नाम प्रस्तुत किया जा सकता है जिनका कथन था कि जगत् की प्रत्येक घटना अनिवार्यतया कारणबद्ध है। द्रष्टव्य रून्स, डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी, पृ. 48.
4. बी.के. भट्टाचार्य, कॉज़ैलिटी इन साइंस एण्ड फिलॉसफी, पृ. 4
5. वही, पृ. 4
6. अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित चार कारण प्रकारों के सन्दर्भ में डॉ. कालिदास भट्टाचार्य का मत है कि अरस्तू ने 'कारण' शब्द का व्यापक सन्दर्भ में प्रयोग किया है। वस्तुतः वे चार कारण एक घटना की व्याख्या में चार ढंग प्रस्तुत करते हैं। उनके मत में अरस्तू यहाँ कॉज़ की अपेक्षा 'रीजन' से अधिक सम्बद्ध हैं। कालिदास भट्टाचार्य कान्सेप्ट ऑफ कॉज़, अवर हैरिटेज, भाग 1, खण्ड 2, पृ. 166 पाद टिप्पणी।

(substance) सबके मूल में स्थित एक कारण है पर कूटस्थ नहीं वरन् शक्तियुक्त (efficient) है। सदियों तक यह अरस्तू का मत माना जाता रहा। हाँ, कभी इसके किसी अंश पर बल दिया गया व कभी किसी अंश पर। वस्तुतः तो पाश्चात्य दर्शन में विशेष बल निमित्त कारण (efficient cause) पर ही दिया गया। इस निमित्त कारणता के सम्बन्ध में यहाँ प्रतिपादित पाँच मुख्य तथ्य निम्न हैं[1]–

(क) यह निमित्त–कारणता अनिवार्यता के नियम से नहीं जुड़ी है। एक निमित्त कारण उस अभीष्ट कार्य के अतिरिक्त कार्य को भी कर सकता है फलतः यहाँ इच्छा–स्वातन्त्र्य की बात आती है और यह सब ईश्वरीय इच्छा का ही प्रतिफल प्रतीत होता है।

(ख) यह निमित्त कारण सदैव एक पदार्थ है, एक व्यक्ति (लौकिक या दिव्य) या घटना नहीं।

(ग) कारण में सदैव एक शक्ति निहित रहती है जो उसे उस कार्योत्पत्ति में विवश करती है फलतः कार्य कारण–कार्य के मध्य मात्र अविनाभाव सम्बन्ध का परिणाम नहीं है वरन् उस शक्ति का परिणाम है। कारण में सदैव क्रिया निहित रहती है जबकि कार्य निष्क्रिय रहता है।

(घ) कारणात्मक शक्ति अनिवार्यतया एक निश्चित दिशा में ही अपने कार्य को उत्पन्न करती है। अतः इस नियमन की दिशा को पलटा नहीं जा सकता।

(ङ) एक निमित्त कारण भूतकालिक का कारण नहीं है क्योंकि वह तो उत्पन्न है ही। वह तो भावी का ही कारण है।

पर कालान्तर में पुनः इस कारणता की धारणा में परिवर्तन होते गये। डेमाक्रिट्स ने बताया कि जगत् की प्रत्येक वस्तु कारण–कार्य की शृंखला में बद्ध है। जहाँ दृष्ट कारणता नहीं परिलक्षित होती वहाँ भी किसी अदृश्य शक्ति की कारणता रहती है। 'संयोग' मात्र अज्ञात कारण है जिसके कि कारण संभवतः कारण–कार्य सम्बन्धों के आधार पर किये जाने वाले पूर्वकथन सत्य नहीं सिद्ध हो पाते[2]। पर यह दृष्टिकोण सुकरात व प्लेटो को अमान्य था क्योंकि यहाँ कारणात्मक सम्बन्धों में मन या चेतन तत्त्व को कोई स्थान नहीं दिया गया था। प्लेटो हर घटना के पीछे एक प्रयोजन मानता था। वह कभी कारण को 'बीइंग' (being) या 'फार्म' (form)[3] कहता था, कभी एक (force) या 'पॉवर'(power) कहता था तो कभी एक 'एण्ड'(end) या पर्पज (purpose)। उसका कहना था कि परमकारण तो गतिशून्य है पर अन्य समस्त कारण गतिमय है। अन्य कुछ विद्वानों ने डेमोक्रिट्स व प्लेटो दोनों के मतों का समन्वय प्रस्तुत किया[4]।

आधुनिक विचारकों में बेकन ने कारणों के वैज्ञानिक अध्ययन हेतु एक नवीन विधि

---

1. द्रष्टव्य, रिचर्ड टॉयलर, एक्शन एण्ड परपज पृ. 10–12
2. तु.की. फ्रेडरिक विवियन, ह्यूमन फ्रीडम एण्ड रिसपान्सिबिलिटी, पृ. 10–11
3. कॉजैलिटी इन साइंस एण्ड फ़िलॉसफ़ी, पृ. 20
4. ह्यूमन फ्रीडम एण्ड रिसपान्सिबिलिटी, पृ. 13–14

खोजी। गैलिलियो तथा केपलर ने कारण को शक्ति (force) रूप में प्रतिपादित किया जो कि अपने द्वारा उत्पन्न क्रियाओं के रूप में प्रकट होती है। परिमाणात्मक नियमनवाद कारणता सम्बन्ध के गणितीय प्रयोग से जुड़ा हुआ है। देकार्ते ने कहा कि कारण को कार्य से परिमाण में बराबर या अधिक होना चाहिये। स्पिनोजा ने कारणता को देश व परिस्थिति का कालोत्तीर्ण सम्बन्ध बताया[1]। न्यूटन ने शक्ति (force) को सभी क्रियाओं या गतियों के कारण रूप में बताया। हॉब्स इस शक्ति (force) के प्रत्यय को प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से तिरस्कृत करता है तथा कारणता को क्रियाओं (motions) या क्रियाशील अंशों के मध्य का सम्बन्ध बताता है।[2] लीबनीज ने कारण को 'आत्मिक शक्ति' (spiritual energy) के साथ तादात्म्यीकृत किया और कारणता सिद्धान्त में उसके महत्त्व को स्थापित किया। लॉके व बर्कले[3] यद्यपि कारणता के गत्यात्मक सिद्धान्त को स्वीकारते हैं पर भौतिक पदार्थों के विषय में उनका क्या स्वरूप होगा इस विषय में वे संदिग्ध हैं। ह्यूम ने भी कारणात्मक शक्ति (force) के प्रत्यय को प्रत्यक्ष का विषय न होने से अस्वीकृत कर दिया। उनके अनुसार वस्तुओं में कोई ऐसा विशेष गुण नहीं है जो कि उनकी कारणता या कार्यता के लिये उत्तरदायी हो। फलत: उसने उनके मध्य उपलब्ध सम्बन्ध को मात्र आदत जन्य मानसिक संरचना माना[4]। कान्ट इस सिद्धान्त को ज्ञान की एक कोटि मानता है और इसे वस्तुओं में नहीं वरन् ज्ञान में निहित तथ्य बताता है। जब एक घटना बार–बार दूसरी घटना के द्वारा अनुसरित होती है तब बार–बार मन बीच में आकर एक तीसरे तथ्य को जोड़ता है जो कि इन दोनों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है। यही तृतीय तथ्य कारणता का विचार है[5]। शॉपेनहावर भी कारणता सम्बन्ध को प्रमातृगत मानता है, प्रमेयगत नहीं[6]।

---

1. ....reduced causation to the timeless relation of ground and consequence.... कॉजैलिटी इन साइंस एण्ड फिलॉसफी, पृ. 4.
2. A cause is the sum or aggregate of all such accidents, both in the agents and the patients, as concur in the producing of the effect propounded, all which existing together, it cannot be understood but that the effect existeth with them, or that it can possibly exist if any of them be absent".....
   लुडविक सिल्वर्स्टीन, कॉजैलिटी पृ. 143 पर उद्धृत।
3. बर्कले केवल अन्तिम कारण को मानता है व अन्य जागतिक पदार्थों की कारणता का निषेध करता है। द्रष्टव्य वही पृ. 143
4. To be is to be experienced, no connection between so called causes and their effects ever is experienced, therefore there is none. What connection there is, is purely subjective. It is a connection between our idea of one object and our idea of another, having repeatedly observed that one sort of object followed a certain other, we have thereby acquired a habit of mind, namely the propensity, which custom produces, to pass from an objection to the idea of its usual antecedent. .... कॉजेशन एण्ड दि टाइप्स ऑफ नेसेसिटी, पृ. 165
5. वही, पृ. 8; द्रष्टव्य, ह्यूमन फ्रीडम एण्ड रिसपान्सिबिलिटी, पृ. 15–16
6. द्रष्टव्य, कॉजेशन एण्ड दि टाइप्स ऑफ नेसेसिटी पृ. 105

कान्ट के बाद फिशे, शेलिंग, हेगेल, शॉपेनहावर आदि ने कारण की धारणा को स्पष्ट करने का प्रयास ज्यादा नहीं किया। मिल ने पुनः ह्यूम के मत को ही समर्थन दिया पर उसमें अनन्यथासिद्ध (unconditionality) के रूप में अनिवार्यता के प्रत्यय को जोड़ा। पर यह अनन्यथासिद्ध का प्रत्यय प्रत्येक कारण में एक विशेष काल में सारे जगत् को अन्तर्भूत करा देता है। इसीलिये व्यवहार में मिल ने कारण की अनन्यथासिद्ध पूर्ववर्ती रूप परिभाषा को भुला दिया है[1]। रसेल जो कि कारणता सम्बन्ध की व्यावहारिक कठिनाइयों को दृष्टि में रखते हुये इसे बीते दिनों का विश्वास बताते हैं, का मत है कि कारणता–नियम को सदैव अपरिवर्तित रहना चाहिये, अन्यथा तो कारण जगत् की एक दशा का ही संस्पर्श करेगा और वैज्ञानिक व व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से व्यर्थ होगा[2]। वेब्स्टर भी कारण को एक ऐसी दशा बताता है जो कि कार्य की आवश्यक पूर्वावस्था है– यह एक परिणाम को अनिवार्यतया उत्पन्न करती है, एक पदार्थ की स्थिति या दशाओं का निर्धारण करती है तथा एक दिशा से दूसरी दिशा में होने वाले परिवर्तनों को निध ारित करती है[3]। टॉयलर का इस सन्दर्भ में मत है कि कारणता की व्याख्या निम्न आध ार पर की जा सकती है–कारण कार्य के मध्य एक निश्चित अनिवार्य सम्बन्ध हो तथा कार्योत्पत्ति में शक्ति का प्रत्यय भी निहित हो। उनके मत में यह शक्ति का प्रत्यय ही कारणता में चेतन तत्त्व की स्थिति को प्रस्तुत करता है। मात्र कारण की पूर्वता व कार्य की परता ही उनकी कारण कार्यता के लिये उत्तरदायी नहीं है। वे तो मात्र भाषिक प्रयोग हैं।

इस प्रकार कारणता की धारणा के स्वरूप के विषय में नाना मतमतान्तर होने पर भी यह सर्वमान्य धारणा रही है पर कुछ अर्वाचीन वैज्ञानिकों व दार्शनिकों ने इसकी सत्ता के विषय में सन्देह प्रकट किया है। पहले डार्विन का यांत्रिक नियमनवाद (mechanistic determinism) समस्त उद्विकास की व्याख्या में सक्षम समझा जाता था पर बाद में विद्वानों ने इसका विरोध किया। स्वातन्त्र्य के समर्थकों ने कहा कि उद्विकास की व्याख्या नियमनवाद नहीं कर सकता। रसेल ने भी कहा कि वैज्ञानिक नियमनवाद का अर्थ कारणों का साम्राज्य नहीं, नियमों का साम्राज्य है। बर्गसाँ ने भी नियमनवाद का विरोध

---

1. The cause then philosophically speaking, is the sum total of the conditions, positive and negative taken together, the whole of the contingencies of every description, which being realized, the consequent invariably follows.....
   जे.एस. मिल, कॉजैलिटी, पृ. 144 पर उद्धृत।
2. ....Russel pointed out that a causal law should be regarded as almost unvarying. for otherwise the cause should embrace a state of the universe and become useless for both scientific and practical purposes....
   कॉजैलिटी इन साइंस एण्ड फिलॉसफी, पृ. 5.
3. That which occasions or effects a result, the necessary antecedent of an effect. that which determines the condition or existence of a thing especially that which determines its changes, from one form to another.....
   वेब्स्टर, इटरनेशनल डिक्शनरी, कॉजैलिटी, पृ. 143 पर उद्धृत।

किया। ब्रैडले भी विरोधी तर्क प्रस्तुत कर कारणता को अमान्य ठहराते हैं। भौतिक शास्त्र में भी इस कारणता के प्रत्यय को अब छोड़ दिया गया है क्योंकि मूलभूत अणुओं की क्रिया के विषय में कोई पूर्वज्ञान संभव नहीं है, कोई नियमन संभव नहीं है। हाइजेनवर्ग का भी यही मत है। इसी को कुछ विद्वान विषयगत अनियमनवाद और कुछ विषयीगत अनियमनवाद कहते हैं। एडिंगटन व जोन्स इसी अनियमनवाद के प्रबल समर्थक हैं।

इस प्रकार पाश्चात्य दृष्टि से कारण के प्रत्यय की चर्चा हो जाने पर भारतीय दृष्टि से भी इस प्रत्यय का अनुशीलन आवश्यक है। इस दृष्टि से सबसे प्राचीन वैदिक साहित्य में कारणता की धारणा की चर्चा अति गौण रूप में उपलब्ध होती है। यहाँ जागतिक उत्पत्ति के स्त्रोत की चर्चा के ब्याज से कारणता के प्रत्यय का उल्लेख उपलब्ध होता है। पर यह कारणता अपने आप में क्या है, इस सन्दर्भ में कोई स्पष्ट विवेचन उपलब्ध नहीं होता। उपलब्ध प्रसंगों के विवेचन से यहाँ कारणता एक चेतन पदार्थ में ही स्थित दृष्ट होती है। साथ ही यहाँ प्रायः परम कारण के ही विवेचन का प्रयास किया गया मिलता है। अन्य कारणों की चर्चा प्रायः उपलब्ध नहीं होती। वह परम कारण चेतन तत्त्व है जिसकी संकल्प शक्ति से ही जगत् का उद्भव हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ औपनिषदिक उद्धरण उस चेतन तत्त्व को कारण न बता कर जल, अग्नि, तेज, वायु आदि महाभूतों को ही जगत् का कारण बताते हैं। उस परम कारण रूप ब्रह्म को यहाँ उपादान व निमित्त दोनों बताया गया है। यहाँ उपलब्ध विवरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कारण व कार्य के मध्य सम्बन्ध के विषय में इस सन्दर्भ में दो मत हैं–(क) कार्य कारण का यथार्थ परिणाम है (ख) कार्य कारण का आभास है।

इस औपनिषदिक धारा से उद्भूत विविध दार्शनिक मतों में अवश्य इस प्रत्यय की विशिष्ट चर्चा उपलब्ध होती है। आत्मवादी धारा में न्यायवैशेषिक मिल के ही अर्थों में कारणता की परिभाषा करते हुये अनन्यथासिद्ध नियतपूर्वभाविता तथा नियंतपश्चात्भाविता के रूप में कारण–कार्य की परिभाषा करता है, वहीं सांख्ययोग कारण में शक्ति रूप में कार्य की स्थिति मानता है जो कि निमित्त कारण (efficient causality) के पाश्चात्य प्रत्यय से काफी साम्य प्रस्तुत करता है। अद्वैत वेदान्त में कारण की स्थिति अनिर्वचनीय है क्योंकि कार्य को विवर्त सिद्ध करने पर कारण–कार्य की सापेक्ष धारणा सिद्ध नहीं हो पाती फलतः कारण कारण के पद पर कहाँ तक प्रतिष्ठित हो सकता है, यह विचारणीय हो जाता है। मीमांसा में कारणता को अचेतन पदार्थों का ही धर्म मानने पर भी उसमें कारणात्मक शक्ति को स्थित मानते हैं। बौद्ध मत ह्यूम की विचारधारा से काफी साम्य प्रस्तुत करता है। यहाँ भी क्षणों की धारा प्रवाहित होती रहती है जिसमें कि पूर्व–पूर्व पर–पर का कारण कहलाता है पर ये कारण व कार्य कोई यथार्थ तथ्य न होकर मानसिक विकल्प मात्र हैं। कारणता तो मात्र 'इसके होने पर यह होता है' में निहित है। इसके अतिरिक्त भौतिकवादी चार्वाक और शून्यवादी माध्यमिक कारणता के अस्तित्व में ही संदेह करते हैं पर ये इसका स्थानापन्न अनियमनवाद को भी नहीं स्वीकारते। ये तो कारणता जैसी धारणा में नाना विसंगतियाँ प्रस्तुत करते हुये इस धारणा के मूल पर

कुठाराघात करते हैं। यहीं स्वातन्त्र्यवादी काश्मीर शिवाद्वयवाद स्वातन्त्र्यवाद को स्वीकार करते हुये भी कारणता की धारणा का प्रतिपादन करता है। इस दृष्टि से यह दर्शन स्पिनोजा के मत से काफ़ी साम्य प्रस्तुत करता है जो किसी मानवेतर अर्थात् ईश्वरीय इच्छा की ही कारणता स्वीकारता है अन्य जागतिक तत्त्वों की नहीं। वेदान्त के अन्य सम्प्रदायों में वल्लभ कारणता की व्याख्या अविकृतपरिणामवाद रूप में करते हैं। यहाँ कार्य कारण का स्वाभाविक उद्विकास है जिसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की धारणा निहित नहीं है। कारणता व कार्यता यहाँ क्रमशः तिरोभाव व आविर्भाव हैं। मध्य के अनुसार कारणता की व्याख्या सदसत्कार्यवाद रूप में ही संभव है। कारण में कार्य सत् भी है व असत् भी। कारण–कार्य के मध्य भेदाभेद सम्बन्ध ही स्थित है। निम्बार्क कारणता की व्याख्या यथार्थ परिणमन रूप में करते हैं। यहाँ कारण कार्य में भेदाभेद सम्बन्ध है, पर ये दोनों ही यथार्थ हैं। जैन मत में कार्य कारण में पदार्थ द्रव्य की दृष्टि से तो पूर्वसत् रहता है पर पर्याय की दृष्टि से असत् है।

इस प्रकार पौर्वात्य व पाश्चात्य मत में प्राप्त कारणता सम्बन्धी विविध धारणाओं का सम्यक् आलोचन करने पर कारणता की धारणा के सन्दर्भ में तीन मुख्य मत दृष्ट होते हैं–

(क) कारणता दो घटनाओं का परस्पर यांत्रिक सम्बन्ध है[1]।

(ख) कारण में एक शक्ति निहित रहती है जो उसकी कारणता के लियें उत्तरदायी होती है।

(ग) कारण के एक अचेतन पदार्थ होने से कोई चेतन शक्ति ही उसकी नियामिका है। इस चेतन शक्ति के सन्दर्भ में दो मत हैं–(अ) यह चेतन तत्त्व मनुष्य (जीव) है (ब) यह मानवेतर अर्थात् ईश्वरीय सत्ता है। इसी चेतन शक्ति की व्याख्या इच्छा या संकल्प शक्ति रूप में भी की जा सकती है[2]। अतः अचेतन पदार्थ मात्र उपादान व सहकारी कारण हैं, चेतन शक्ति ही निमित्त कारण है।

कारणता सम्बन्ध को किसी भी रूप में लेने पर वह अपने में कुछ निश्चित तथ्यों को लेकर ही अभिव्यक्त होता है। ये तथ्य हैं–(क) कारण (ख) कार्य (ग) क्रिया (घ) सम्बन्ध।

1. **कारण**—कारण के इतिवृत्त की विस्तृत चर्चा हो जाने पर इसके स्वरूप सम्बन्धी विविध धारणायें तो स्पष्ट हो गयी हैं। वस्तुतः कारण का व्युत्पत्तिपरक अभिप्राय है 'जिसके द्वारा कुछ किया जाये वह कारण है'। वह 'किया जाना' ही गति के प्रत्यय को

---

1. इसे श्री भट्टाचार्य 'पॉजिटिविस्टिक थ्योरी ऑफ कॉज' कहते हैं। द्र., कॉन्सेप्ट ऑफ कॉज, अवर हैरिटेज भा. 1, खण्ड 1 पृ. 230.
2. कालिदास भट्टाचार्य का मत है कि वस्तुतः किसी उत्पत्ति के लिये इच्छा ही उत्तरदायी है। यह शक्ति इच्छा ही है। Force (sakti) is only will (as commonly conceived, as it were, by an object when it is said to be the cause of another)....
कॉन्सेप्ट ऑफ कॉज, अवर हैरिटेज, भा. 1, खण्ड 2, पृ. 30.

इससे संलग्न करता है और यह गति किस माध्यम से उससे संलग्न होती है इस विषय में मतभेद है। साथ ही वह कारण स्वयं में क्या है–एक पदार्थ है या घटना अथवा कोई चेतन तत्त्व, इस विषय में भी काफी विप्रतिपत्ति है। इस कारण के प्रत्यय को कारण होने के लिये पर्याप्तता की शर्त अनिवार्यता पूरी करनी पड़ती है अन्यथा वह कारण नहीं कहला सकता। पर्याप्तता का अर्थ है–कार्योत्पत्ति में सहायक समस्त दशाओं का समुच्चय। पर उनमें भी एक अनिवार्य कारण रहता है जिसके अभाव में अन्य सभी दशाओं के रहने पर भी कार्योपत्ति नहीं होती तथा जिसकी उपस्थिति के तुरन्त बाद कार्य उत्पन्न हो जाता है पर वस्तुतः कारण का प्रत्यय पर्याप्तता हेतु अपेक्षित समस्त दशाओं का समग्र है[1]। इसी कारण प्रायः कारण–सामग्री को ही कारण कहा जाता है, मात्र एक कारण को नहीं। जो मत एक ही पदार्थ की कारणता बताते हैं वे भी उसके व्यापार में अन्य सहकारियों की सहायता स्वीकारते हैं। अक्सर हेतु शब्द इस कारण के पर्याय रूप में प्रस्तुत किया जाता है पर इनमें किञ्चित् भेद है। यह भेद यद्यपि अस्तित्वपरक नहीं है, मात्र दृष्टिकोणमूलक है। हेतु की व्युत्पत्ति[2] जहाँ इस प्रत्यय के विस्तार को बताती है वहीं कारण की व्युत्पत्ति[3] इस प्रत्यय की प्रक्रिया को। कारण व हेतु में भेद बताते हुये आचार्य पाणिनि भी यही कहते हैं कि द्रव्य, गुण, क्रिया में से कोई भी पदार्थ हेतु हो सकता है चाहे वह निर्व्यापार हो या सव्यापार। जबकि कारण वही पदार्थ हो सकता है जिसमें क्रिया हो तथा जो नियत व्यापार वाला हो[4]। इस प्रकार हेतु में द्रव्य, गुण, क्रिया किसी के प्रति भी जनकता हो सकती है और वह निर्व्यापार व सव्यापार दोनों हो सकता है जबकि कारण की मात्र क्रिया के प्रति ही जनकता होती है और वह सव्यापार ही होता है। हेतु की एक अन्य परिभाषा प्रयोजक कारण रूप भी दी जाती है जो कि कारणता के एक सीमित अंश का ही प्रतिनिधित्व करती है। पाश्चात्य दार्शनिक भी 'रीजन' व 'कॉज' में भेद करते हैं। वे मानसिक व बौद्धिक कारणों को रीजन व बाह्य कारणों को 'कॉज' कहते हैं। हेगेल इसी दृष्टि से परम कारण रूप परतत्त्व को 'रीजन' मानता है 'कॉज' नहीं।

---

1. इसी दृष्टि से इस कारण की धारणा का दशा (condition) की धारणा से भेद किया गया है। कारण उन दशाओं का योग तो हो सकता है पर स्वयं एक दशा कारण नहीं है। भारतीय दर्शनों में बौद्धमत को छोड़कर दशाओं व कारण के मध्य भेद का प्रयास कहीं नहीं उपलब्ध होता, हाँ यहाँ कारण का करण से भेद करने का प्रयास किया गया है जिसका कि पाश्चात्य दार्शनिकों ने बहुत कम उल्लेख किया है। कारण कारणसामग्री का कोई भी अंश हो सकता है जबकि करण वह तथ्य है जिसके होने पर कार्य अनिवार्यतया होगा। मिल भी इसी प्रकार का भेद उस समय स्वीकार करता है जब वह अनिवार्य पूर्ववर्तियों की विश्लेषणात्मक व्याख्या करता है। वे अनिवार्य पूर्ववर्ती दो प्रकार के हैं–(क) कार्य घटन में अन्यसापेक्ष (ख) कार्यघटन में अन्य निरपेक्ष। इनमें से प्रथम कारण है व द्वितीय करण (द्रष्टव्य कालिदास भट्टाचार्य, कान्सेप्ट ऑफ कॉज, अवर हैरिटेज भाग 1 खण्ड 1 पृ. 33)
2. हिनोति व्याप्नोतिकार्यम्–शब्दकल्पद्रुम, भाग 5 पृ. 547.
3. कार्यतेऽनेन। वही भा. 2 पृ. 99.
4. [illegible]दसाधारण निर्व्यापारसाधनं च हेतुत्वं।
कारणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च।। विभक्तयर्थ कारक प्रकरण, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, पृ. 83.

2. **कार्य**—कारण व कार्य दो सापेक्ष धारणायें हैं अतः एक का भी कथन दूसरे की संभावना को तत्काल उपस्थित कर देता है। यह प्रत्यय यों तो पाश्चात्य या पौर्वात्य किसी की भी दृष्टि में प्रत्यक्ष विवाद का विषय नहीं बना है पर सापेक्ष धारणा होने से कारणता की धारणा का खण्डन या मण्डन इसको भी प्रभावित करता है। कारण का प्रतिफल ही कार्य है। अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि जो किया जाता है वही कार्य है। यह भी पदार्थ, घटना, गुण या क्रिया में से किस श्रेणी में रखा जाये, इस विषय में मतभेद है। कारण के परिमाण से ही कार्य का परिमाण निर्धारित होता है। यद्यपि इस विषय में दार्शनिकों में मतभेद है कि कारण कार्य से अल्प परिमाण का होता है अथवा उसके बराबर या उससे अधिक।

3. **क्रिया**—अब इस कारण–कार्य प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग आता है क्रिया। कारण से कार्य की उत्पत्ति के लिये यही उत्तरदायी है। इसे ही कारण व्यापार कहते हैं इसी व्यापार की पूर्णता व अपूर्णता पर कार्य की उत्पत्ति निर्भर है तथा उस व्यापार की पूर्णता–अपूर्णता उन कारणात्मक दशाओं की क्षमता पर निर्भर है। जैसे बीज से अंकुरोत्पत्ति के द्रष्टान्त में बीज अंकुरोत्पात्त की क्रिया करता है पर अन्य सभी सहकारी इस क्रिया में उसकी सहायता करते हैं या यह कह सकते हैं कि सभी सम्मिलित रूप से क्रिया करते हैं और इस सम्मिलित क्रिया का परिणाम वह कार्य होता है। यह क्रिया का प्रत्यय काल के प्रत्यय से लिपटा हुआ है। क्रिया परिवर्तन की उपलक्षक है और परिवर्तन काल की शब्दावली में ही व्यक्त किया जा सकता है। फलतः काल का प्रत्यय कारणता की धारणा में पूर्वता व परता रूपी क्रम के विचार को संलग्न कर देता है[1] पर कुछ दार्शनिक जो कि पूर्वता व परता को अन्तिम मानकर इसी के द्वारा कारणता सम्बन्ध की व्याख्या का प्रयास करते हैं, उनका मत अनेकानेक विसंगतियों को प्रस्तुत करता है। समकालिकता की धारणा परिवर्तन के प्रत्यय के साथ संगत नहीं बैठती अतः कारणता की धारणा में सर्वत्र समकालिकता के विचार की उपेक्षा की गयी है।

अब इस क्रिया की प्रकृति क्या है, यह विचारणीय है। क्रिया का स्वरूप दार्शनिक जगत् का एक विवादास्पद विषय है। पाश्चात्य विद्वानों ने तो क्रिया के स्वभाव की समस्या की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है पर पौर्वात्य विचारधारा में इसका विशद् विवेचन उपलब्ध होता है और विभिन्न मतों की इसके प्रतिपादन की विविध शैलियाँ उनके विशिष्ट नामकरण का भी कारण बन गयी है। जैसे, नवीन उत्पत्ति की प्रक्रिया का वर्णन करने से न्यायवैशेषिक आरम्भवादी, अभिव्यक्ति रूप से व्यंग्य रूपान्तरण रूप प्रक्रिया का वर्णन करने से सांख्य योग परिणाम्वादी, रज्जुसर्पवत् अवास्तविक रूपान्तरण रूप प्रक्रिया का वर्णन करने से वेदान्त विवर्तवादी, स्वभावज या संयोगज उत्पत्ति का

---

1. यद्यपि कुछ विद्वान कारणता को कालोत्तीर्ण प्रत्यय सिद्ध करते है पर वस्तुतः वहाँ उनकी मूल दृष्टि परमार्थ से सम्बद्ध है, जागतिक स्तर से नहीं (द्रष्टव्य अवर हैरिटेज, भा 1, खण्ड 1, पृ 32)

वर्णन करने से चार्वाक स्वभाववादी या यदृच्छावादी, अभेद होने पर भी रूपान्तरण से भेद स्वीकार कर कारण प्रक्रिया की व्याख्या करने से जैन भेदाभेदवादी, दो क्षणों में मात्र पूर्वापरता रूप में प्रक्रियाशून्य कारणता का विवेचन करने से बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पादी और आभासनात्मक प्रक्रिया का वर्णन करने से शिवाद्वयवाद आभासवादी कहलाते हैं। इसी प्रक्रिया भेद से उनके प्रतिफलों की भी अक्सर विशिष्ट संज्ञायें प्रस्तुत की गयी हैं विवर्तवादी के मत में कार्य जहाँ विवर्त कहा गया है, वहीं परिणामवादी के मत में परिणाम; न्यायवैशेषिक के मत में यह उत्पत्ति है तो शिवाद्वयवाद में आभास। बौद्ध मत में तो कारण या कार्य कहने से पदार्थ के स्वरूप में कोई वैशिष्ट्य नहीं आता अतः वहाँ कार्य की कोई अन्य विशिष्ट संज्ञा भी नहीं दी गयी है।

4. **सम्बन्ध**—सम्बन्ध कारणता की धारणा का सबसे जटिल व विवादास्पद विषय है, साथ ही नाना समस्याओं से जुड़ा हुआ है। कारण कार्य के परिप्रेक्ष्य में संभावित क्रिया का प्रत्यय इस सम्बन्ध की धारणा से लिपटा हुआ प्रतीत होता है पर वस्तुतः दोनों में भेद है। क्रिया जहाँ केवल कारण में रहती है वहाँ सम्बन्ध कारण व कार्य दो सम्बन्धियों की अपेक्षा करता है। दो सम्बन्धियों के सहस्थित हुये बिना सम्बन्ध की बात ही नहीं की जा सकती अतः कारण में स्थित क्रिया से कार्य के उत्पन्न हो जाने पर कारण व कार्य दो सहस्थित सत्तायें हो जाती हैं और अब इनके मध्य सम्बन्ध का प्रत्यय कार्यान्वित होता है। पर यह सहस्थिति सिद्ध करना ही कारणता की धारणा की प्रमुख समस्या है क्योंकि सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि कारण कार्योत्पादक व्यापार करने के बाद भी विद्यमान रहता है या नहीं। यदि विद्यमान रहता है तो फिर पुनः उससे कार्योत्पत्ति होनी चाहिये क्योंकि कार्योत्पत्ति सामर्थ्य तो उसमें अभी भी है और यदि नहीं रहता तो दो सम्बन्धियों के अभाव में किसी सम्बन्ध का कथन भी वहाँ कैसे संभव होगा। इस सम्बन्ध का निर्धारण कारण व्यापार की प्रकृति पर भी निर्भर है जैसे कि न्यायवैशेषिक प्रक्रिया को उत्पत्ति के रूप में व्याख्यात करता है अतः कार्य कारण के मध्य उत्पाद्य–उत्पादकभाव सम्बन्धं बताता है जबकि सांख्ययोग इस प्रक्रिया की व्याख्या अभिव्यक्ति रूप में करता है अतः वहाँ यह सम्बन्ध अभिव्यंग्य अभिव्यञ्जक भाव सिद्ध होता है। वेदान्त में तो यह सम्बन्ध ही नहीं सिद्ध हो पाता क्योंकि वहाँ मात्र कारण की यथार्थ सत्ता सिद्ध होती है, कार्य तो विवर्त ही है अतः दो सम्बन्धियों के अभाव में किसी सम्बन्ध की स्थिति हो ही कैसे सकती है। बौद्ध मत में दो क्षणिक पदार्थों को कारण व कार्य कहा गया है व कारणता को एक के नष्ट होने पर दूसरे की उत्पत्ति रूप में परिभाषित किया गया है अतः वहाँ भी सम्बन्ध की स्थिति संदिग्ध हो जाती है, जैन मत में अवश्य भेदाभेद सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। मीमांसा मत का एक वर्ग तो किञ्चित संशोधनों के साथ न्याय वैशेषिक मत को ही स्वीकृत करता है अतः वहाँ वही सम्बन्ध सिद्ध होता है जो न्याय में स्वीकृत है तथा दूसरा वर्ग किञ्चित् संशोधनों के साथ सांख्य मत का ही अनुयायी है अतः वहाँ उस जैसा ही सम्बन्ध स्वीकृत है। काश्मीर शिवाद्वयवाद में आभासन रूप में कारण व्यापार का वर्णन

होने से दोनों के मध्य आभास्य–आभासक सम्बन्ध प्रतिपादित किया जा सकता है।

इन चारों के अतिरिक्त कारणता की धारणा में आश्रितत्व का विचार भी लिपटा हुआ है पर यदि दोनों सम्बद्ध तथ्य प्रत्यक्षयोग्य हैं तब तो यह आश्रितत्व का प्रत्यय घटित हो जाता है पर यदि वे मानस प्रत्यक्ष के ही विषय हैं तो वहाँ तार्किक आश्रयत्व ही रहता है। पर कारणता वस्तुतः प्रकृति की यथार्थ वस्तुओं की ही आश्रितता को बताती है, तार्किक आश्रितता को नहीं। साथ ही निरन्तरता का प्रत्यय भी इस धारणा में सदैव संलग्न रहता है क्योंकि कारण कार्य में एक दैशिक–कालिक सातत्य की अवस्थिति अनिवार्य है।

इस प्रकार कारणता की धारणा में निहित इन तथ्यों के विवेचन से कारणता की धारणा का सारतत्त्व तो स्पष्ट हो जाता है पर इन तथ्यों का तार्किक विश्लेषण करने पर इस धारणा में अनेकों समस्यायें व विसंगतियाँ प्रकाश में आती है।

कारणता की धारणा अनेकों प्रश्नों को उपस्थित करती है जैसे–क्या कारण व कार्य के मध्य कोई अनिवार्य सम्बन्ध है? क्या कारणात्मक सम्बन्धों को समझने में शक्ति का प्रत्यय अनिवार्य है? क्या कारणात्मक सम्बन्धों में एक निश्चित क्रम रहता है और यदि रहता है तो क्यों? इन प्रश्नों को विविध समस्याओं[1] के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है–

(क) अनिवार्य सम्बन्ध की समस्या

(ख) एकरूपता व सार्वभौमिकता की समस्या

(ग) नियमित क्रम की समस्या

(घ) समान कारणों से सदैव समान कार्योत्पत्ति की समस्या

(ङ) कारण कार्य में भेद की समस्या

(च) कारण की पर्याप्तता की समस्या

(क) **अनिवार्य सम्बन्ध की समस्या**–कारणता सम्बन्ध में कारण व कार्य रूप घटनाओं के मध्य ऐसे दृढ़ सम्बन्ध की कल्पना की जाती है जिसको कि छोड़कर कारणता की व्याख्या नहीं संभव है। इसी को दार्शनिक शब्दावली में नान्तरीयक सम्बन्ध, अविनाभाव सम्बन्ध या व्याप्ति सम्बन्ध कह दिया जाता है। इसी के आधार पर एक के घटित होने पर दूसरे की अनिवार्य उपस्थिति की संभावना का पूर्वकथन किया जा सकता है। इस अनिवार्य सम्बन्ध का ग्रहण भूयोसहचारदर्शन के द्वारा होता है पर इसी को कुछ दार्शनिक वस्तुसत् न मानकर आदतजन्य मानसिक संरचना मानते हैं और इस अनिवार्यता को पदार्थ में स्थित न बता प्रमाता के मस्तिष्क में स्थित बताते हैं।[2] मिल का 'अनकन्डीशनलिटी' का प्रत्यय तथा न्यायवैशेषिक का 'अनन्यथासिद्ध' का प्रत्यय इसी अनिवार्यता के साधक

1. द्रष्टव्य, इनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसफी, भा 2, पृ. 360–66

2. ह्यूम इस दृश्यमान अनिवार्यता को वस्तुसत् न मानकर मात्र आदतजन्य मानते हैं। जबकि आर.जी. कोलिंगवुड, ए.जे. अय्यर, एच.एल.ए. हार्ट, ए.एम. होनोरे आदि इसका समर्थन करते हैं। द्रष्टव्य, कॉजेशन इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 14.

हैं। यह अनिवार्यता कई प्रकार की हो सकती है विषयगत अनिवार्यता (जो पदार्थजगत् से सम्बद्ध है), विषयीगत अनिवार्यता (जो प्रमातृजगत् से सम्बद्ध है), प्रत्यक्षगत अनिवार्यता (जो दो प्रत्यक्षयोग्य पदार्थों से सम्बद्ध है), प्रत्ययात्मक अनिवार्यता (जो दो प्रत्ययों के मध्य रहती है), औपचारिक अनिवार्यता (जो दो औपचारिक तथ्यों के मध्य रहती है) आदि[1]। पर इस अनिवार्यता को मानने पर जो समस्या उत्पन्न होती है वह यह है कि क्या वह कारण अनिवार्यतया उसी कार्य को उत्पन्न करेगा तथा वह कार्य अनिवार्यतया उसी कारण से उत्पन्न होगा क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि एक कारण विविध सहकारियों से संयुक्त होकर विविध देशकालों में विविध कार्यों को उत्पन्न कर सकता है या विद्यमान रहने पर भी किसी प्रतिबन्धक के आ जाने पर कार्योत्पत्ति नहीं भी कर सकता है। साथ ही एक कार्य भी कई कारणों से उत्पन्न हो सकता है। अतः दो पदार्थों या घटनाओं के मध्य किसी ऐसे अनिवार्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती जिसका कि किसी भी देशकाल में विशृंखलन न हो सके। अन्यथा तो कारण व कार्य के अबाधित नियम की स्थापना हेतु समस्त देशकालों में स्थित पदार्थों का ज्ञान होना आवश्यक हो जायेगा जिससे कि ऐसे अनिवार्य सम्बन्ध की स्थापना हो सके पर यह एक सर्वज्ञ तत्त्व के सिवाय अन्य किसी के अधिकार क्षेत्र की बात नहीं है।

(ख) **एकरूपता व सार्वभौमिकता की समस्या**--कारणता के प्रत्यय में एकरूपता व सार्वभौमिकता की द्विविध समस्यायें निहित हैं। एकरूपता का प्रत्यय जहाँ यह बताता है कि कारणात्मक सम्बन्ध नियमों के रूप में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं वहीं सार्वभौमिकता का प्रत्यय यह बताता है कि प्रत्येक घटना का एक कारण अवश्य है, कोई भी घटना अकारण नहीं है[2]। पर कुछ तथ्य इन दोनों दशाओं से बाह्य हैं जैसे परमाणु व ऐच्छिक क्रियायें। इनमें से किसी को भी कारणबद्ध नहीं बताया जा सकता और तब दो ही स्थितियाँ संभव होती हैं कि या तो वे पदार्थ अकारण हैं अथवा कारणता के अन्य उल्लेखों के आधार पर वहाँ भी कारणता का अनुमान कर लिया जाये। प्रथम विकल्प मानने पर तो सार्वभौमिकता के प्रत्यय का ही अपलाप होगा व द्वितीय विकल्प स्वीकारा नहीं जा सकता क्योंकि अनुमान उसी का हो सकता है जो प्रत्यक्ष हो। यदि कारणता के अन्य उल्लेखों के आधार पर वहाँ कारणस्थिति अनुमित भी हो जाये तो उसकी भी कारणता का प्रश्न उपस्थित होगा और पुनः उसकी भी, फलतः मूलनाशक अनवस्था की ही उपस्थिति होगी। एकरूपता का सिद्धान्त जो कारण--कार्य सम्बन्ध को नियम रूप में व्यक्त करता है, भी किसी प्रमाण से प्रमाणित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह घटना अभी केवल एक बार घटित हुई है और इसी आधार पर हम यह नहीं कह सकते हैं कि

---

1. कॉजेशन एण्ड दि टाइप्स ऑफ नेसेसिटी, पृ. 113.
2. जहाँ प्रत्यक्ष कारण नहीं दृष्ट होता वहाँ भी कारण है, मात्र वह अज्ञात रहता है। यह तो अनेकों वैज्ञानिक आविष्कारों से प्रमाणित ही है। जो घटनायें पहले अज्ञात थीं उनके भी कारणों की खोज कालान्तर में कर ली गयी।

वे सदैव सम्बद्ध होंगी। फलतः कोई सामान्यीकरण नहीं कर सकते और इस सामान्यीकरण के बिना कारणता का प्रत्यय व्यर्थ हो जाता है। यद्यपि ये दोनों ही सिद्धान्त कारणता की व्याख्या में बहुतायत से स्वीकृत है पर इन्हें तर्कशः नहीं सिद्ध किया जा सकता। कान्ट ने भी यह घोषणा की थी कि प्रत्येक घटना का एक कारण है और इसे वह प्रमाणित कर सकता है, पर अन्ततः वह भी असफल रहा। टॉयलर का मत है कि व्यावहारिक मूल्य के कारणही इन दो धारणाओं की स्वीकृति की जाती है क्योंकि इसके बिना व्यवस्थित ज्ञान नहीं संभव है[1]।

(ग) **नियमित क्रम की समस्या**–यद्यपि कारण व कार्य के मध्य एक निश्चित क्रम की कल्पना की जाती है और पूर्ववर्ती को सदैव कारण तथा परवर्ती को सदैव कार्य बताया जाता है पर यह मान्यता किस आधार पर निर्मित है यह स्पष्ट नहीं है। इसे किसी भी प्रमाण से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। कुछ दार्शनिकों का तो मत है कि कारण कार्य में यदि कोई अनिवार्य क्रम निहित है तो वह दोनों दिशाओं में होना चाहिये–कारण से कार्य की ओर भी तथा कार्य से कारण की ओर भी। पर यह मान्यता अनेकों अनुभवविरुद्ध तथ्यों की संभावना को प्रस्तुत करती है फलतः अनेकों विसंगतियाँ उत्पन्न होती है। यद्यपि प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में यह दष्टव्य है कि अनुमान में वे ही तथ्य भावी दशाओं के भी अनुमान में हेतु बनते हैं व पूर्वदशाओं के भी अनुमान में। पर इस प्रश्न का सन्तोषजनक समाधान नहीं उपलब्ध होता। इस क्रमबद्धता को अक्सर कारण का पर्याय भी कह दिया जाता है पर यह कथन उपपन्न नहीं है क्योंकि उस क्रमबद्धता का कारण कुछ और भी हो सकता है। साथ ही क्रम की धारणा को सम्बन्ध के प्रत्यय के साथ संयुक्त करने में भी कठिनाई उत्पन्न होती है क्योंकि देश–क्रम की धारणा के साथ तो सम्बन्ध रह सकता है पर कालक्रम के साथ नहीं पर कारणात्मक प्रक्रिया में यह कालक्रम लिपटा हुआ है जिसमें कि एक के होने पर ही दूसरे की स्थिति दो सम्बन्धियों की सहस्थिति को नहीं बतलाती।

(घ) **समान कारणों से समान कार्योत्पत्ति की समस्या**–कारणता की धारणा में अनिवार्य सम्बन्ध को स्थान देने पर समान कारणों से समान कार्योत्पत्ति की समस्या भी उपस्थित होती है। जहाँ कई विविध वस्तुयें एक ही कार्य को उत्पन्न करती हैं वहाँ उन सभी वस्तुओं में एक समान गुण की स्थिति रहती है इसी के कारण समान कारणों से समान कार्यों की उत्पत्ति का कथन किया जाता है। जहाँ समान कारणों से समान कार्यों की उत्पत्ति नहीं दृष्ट होती वहाँ कारणों में अवश्य कुछ भेद हो गया है जिससे कि वह अनियमितता संभव हुई है। जो कारण अनिवार्यतया जिन कार्यो को उत्पन्न करते हैं उनके सदृश कारण भी सदैव उसी के सदृश कार्यो को जन्म देते हैं। पर यह सदृशता बताना भी अति दुरूह कार्य है। जगत् की कोई भी घटना किसी घटना के पूर्ण सदृश नहीं बतायी जा सकती। यदि

---

1 इस कारणता के प्रत्यय की सर्वव्यापकता का पोषण शब्दशास्त्र में भी होता है क्यो कि वहाँ समस्त प्रातिपदिक धातुनिष्पन्न ही सिद्ध किये जाते हैं।

यह कहें कि यहाँ सादृश्य मात्र प्रासंगिक पक्षों में ही अपेक्षित है, सर्वाङ्ग में नहीं तो यहाँ भी उन प्रासंगिक पक्षों का सादृश्य निश्चित करना कठिन होगा क्योंकि जगत् का प्रत्येक पदार्थ गत्यात्मक है व गति का विचार परिवर्तन की धारणा से लिपटा हुआ है।

(ङ) **कारण व कार्य में भेद की समस्या**–कारण व कार्य के प्रत्ययों के मध्य भेद का आधार क्या हो, यह भी दार्शनिकों के मध्य विवाद का विषय रहा है[1]। इस विषय में दो मत उपलब्ध होते हैं–(अ) शक्ति का प्रत्यय उनके मध्य भेदक तत्त्व है अर्थात् जिसमें क्रियात्मक शक्ति रहती है वह कारण है तथा अन्य कार्य। टॉयलर, थॉमस, रीड आदि इसी मत के अनुयायी हैं। (आ) कालिक या दैशिक क्रम ही उनमें भेद का आधार है। कोलिंगवुड तथा डगलस गास्किंग इसी मत के अनुयायी हैं। मिल व दुकैस भी इसी को भेदक आधार मानते हैं। प्रथम मत के अनुसार तो दो समकालिक घटनाओं में भी कारणता संभव है पर द्वितीय मत में नहीं। पर रसेल, मैकटैगर्ट आदि का मत है कि कारण व कार्य में कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं है। किसी को कारण या कार्य कहना हमारी इच्छा पर निर्भर है। वस्तुतः कारण को पर्याप्त व अनिवार्य दशा के रूप में परिभाषित करने से कारण कार्य में भेद नहीं रह जाता क्योंकि जैसे अ, ब के लिये पर्याप्त व अनिवार्य है वैसे ही ब, अ के लिये। दोनों सापेक्ष हैं तब अ ही क्यों कारण कहा जाये, ब क्यों नहीं। वस्तुतः तो तब दोनों हो सकते हैं। पर यदि ऐसी कोई भेदात्मक रेखा नहीं खींची जायेगी तो कारणता का प्रत्यय ही व्यर्थ हो जायेगा। अतः पूर्णता व परता को भेदक आधार माना जा सकता है क्योंकि पूर्ववर्ती के अभिव्यक्त हो चुकने से उसके प्रति उत्तरवर्ती की कारणता संभव ही नहीं है व उत्तरवर्ती जो कि अनभिव्यक्त है, के प्रति ही पूर्ववर्ती की कारणता हो सकती है। कुछ अन्य दार्शनिक मध्य के कालान्तर को ही कारण व कार्य का भेदक आधार मानते हैं पर उस कालान्तर का कार्योत्पत्ति में क्या योगदान है, यह प्रश्न नाना विसंगतियों को जन्म देता है तथा कारण के प्रत्यय को अपूर्ण बनाता है। साथ ही कार्य में कारणता से अतिरिक्त किसी अतिशय की स्थिति मानना भी कारण से कार्य के भेद का कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि कारणता की धारणा की रक्षा करते हुये उस अतिशय की व्याख्या नहीं की जा सकती। आधुनिक दर्शनों में प्रयोजन व लक्ष्यों के आधार पर कारण–कार्य में भेद किया गया है।

(च) **कारण की पर्याप्तता की समस्या**–कारण की पर्याप्तता कार्योत्पत्ति के लिये अनिवार्य दशा है। न तो कारणता के लिये आवश्यक सभी दशाओं में से एक का भी अभाव कार्योत्पत्ति कर सकता है और न एकमात्र दशा ही कारण हो सकती है। पर इस पर्याप्तता का निर्धारण अति जटिल कार्य है क्योंकि पर्याप्त कारण वही है जिसमें वे सभी कारणात्मक तथ्य अन्तर्भूत हो जायें जो समस्त कार्यात्मक गुणों के लिये उत्तरदायी हैं पर अनुभव से यही सिद्ध होता है कि कार्य में कुछ ऐसे गुण भी उपलब्ध होते हैं जो कारण

---

1. कारण–कार्य में भेद या तादात्म्य की मूलभूत समस्या को लेकर ही भारतीय दर्शन में विविध दृष्टियाँ विकसित हुई हैं। इसी दृष्टि से कोई आरम्भवाद का प्रतिपादन करता है तो कोई परिणामवाद का, कोई प्रतीत्यसमुत्पाद का तो कोई परिणामवाद का, कोई भेदाभेद का तो कोई आभासवाद का।

में नहीं मिलते जैसे जल की तरलता व द्रवता उसके किसी भी निर्माता तत्त्व में स्वतन्त्रतया या संयुक्ततया नहीं पायी जाती। अब यह अतिरिक्त विशेषता अव्यारव्येय ही रह जाती है। यदि यह कहें कि यद्यपि वह अतिरिक्त वैशिष्ट्य कारणात्मक तत्त्वों में न स्वतन्त्रतया और न सामूहिक रूप से विद्यमान है पर वस्तुतः उन कारणात्मक दशाओं का विशिष्ट रूप में संयोजन ही कार्य में उपलब्ध इस प्रकार के अतिरिक्त तत्त्व के लिये उत्तरदायी है, जैसे कि गुण रूप से एकात्म अणुओं की विशिष्ट संख्या में विशिष्ट प्रकार की व्यवस्था से ही पदार्थ में अनेक गुणात्मक विविधतायें उत्पन्न हो जाती हैं, तब प्रश्न यह है कि यह संयोजन क्या है? यह कोई ऐसी रचना नहीं हो सकता जो कि अपनी स्वयं की कोई निजी विशेषता रखे। यह तो मात्र कई तथ्यों का एकीकरण या संयोग है। पर एक एकत्रीकरण या संयोग भी उस तथ्य को कैसे रख सकता है जो कि एकत्रीकृत वस्तुओं में नहीं विद्यमान है। फलतः वह अतिरिक्त गुण अव्याख्यात ही रह जाता है और कारण पर्याप्तता की शर्त नहीं पूरी कर पाता। इसी प्रकार कारण व कार्य के मध्य भेदक कालक्षेप की कल्पना भी कारण की अपर्याप्तता को बताती है क्योंकि यदि यह कहे कि उस कालक्षेप में कारणात्मक दशायें परिपक्वता को प्राप्त करती है तो फिर वह कालान्तर व उसमें घटित होने वाले सभी तथ्य भी कारण होंगे और इस प्रकार यदि यह माना जाता है कि वह मध्य का कालक्षेप उन दशाओं के योग में कुछ जोड़ता है ताकि कारणता का निर्माण हो सके तो प्रश्न है कि क्या जो कारण समझा जाता है वह अपर्याप्त है क्योंकि उसे पूर्णता हेतु दूसरे तथ्यों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है और यदि मध्य का यह समयान्तर उन कारणात्मक दशाओं के समूह में कुछ नहीं जोड़ता है तो कारण व कार्य किसी समयान्तर द्वारा अलग नहीं किये जाने चाहिये। इसके अतिरिक्त कभी कभी पूर्ण कारणात्मक दशाओं के विद्यमान होने पर भी कार्योत्पत्ति नहीं दृष्ट होती। वहाँ वस्तुतः कोई प्रतिबन्धक दशा (negative condition) उपस्थित होकर कारण व्यापार को रोक देती है। इसी कारण मिल ने पूर्ण कारण के प्रत्यय को सकारात्मक व निषेधात्मक दोनों दशाओं का समग्र माना है[1]। भारतीय दर्शनों में न्याय भी यही मानता है। वस्तुतः तो कारणसामग्रीवाद को मानने वाले सभी दर्शन सामग्री के प्रत्यय में इन दोनों ही प्रकार की दशाओं को समेट लेते हैं।

इस प्रकार कारणता की धारणा नाना समस्याओं को उपस्थित करती है जिनका कि तार्किक समाधान प्रस्तुत करना अति जटिल कार्य है। पर फिर भी दर्शन या विज्ञान किसी भी क्षेत्र में तार्किक व्याख्या प्रस्तुत करने का यही एक माध्यम है। विज्ञान व दर्शन दोनों में ही कारणता की समान रूप से चर्चा होने पर भी दोनों की दृष्टियों में किञ्चित भेद है। जहाँ विज्ञान कारणता के प्रत्यय में किसी अतीन्द्रिय सत्ता के हस्तक्षेप को मानने

---

1. मिल का मत है कि समस्त अपेक्षित दशाओं का समग्र विद्यमान होने पर ही कार्योत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। प्रोफेसर अय्यर भी कारण को एक अनिवार्य अथवा पर्याप्त अथवा उभयात्मक दशा मानते है। टॉयलर भी समग्र (totality of necessary conditions) को ही कार्योत्पत्ति में समर्थ कारण बताते हैं। द्रष्टव्य, कॉजेशन इन इण्डियन फिलॉसफी पृ. 15-16

से इंकार करता है। वहीं दर्शन उस तत्त्व को ही प्रायः परमकारण कह देता है। यद्यपि दर्शन में कुछ वर्ग ऐसे भी हैं जो उस अतीन्द्रिय सत्ता का बहिष्कार भी करते हैं।

अभी तक उपलब्ध कारणता की धारणा के विकास में तीन क्रमिक सोपान[1] प्रतीत होते हैं–

(क) कारण–पदार्थ रूप में

(ख) कारण–शक्ति रूप में

(ग) कारण–परतत्त्व रूप में

(क) **कारण–पदार्थ रूप में**–यह दृष्टिकोण प्रायः भौतिकवादी दार्शनिक व वैज्ञानिक प्रस्तुत करते हैं। यहाँ परम कारण का विचार उपलब्ध नहीं होता। विज्ञान प्रायः पदार्थ के वर्णन से ही सम्बद्ध है, इसकी व्याख्या से नहीं अतः वह अपनी दृष्टि पदार्थ तक ही सीमित रखता है। एन.के. ब्रह्मा का मत है कि वैज्ञानिक दृष्टि से कारण उन समस्त दशाओं का योग है जो कि कार्य रूप उत्तरकालिक तथ्य को अनिवार्यतया उत्पन्न करने के योग्य हैं[2]। इस दृष्टि से कारण के प्रत्यय में तीन तथ्य निहित दृष्टिगोचर होते हैं–

(अ) कारण कार्योत्पत्ति में पूर्ण है।

(आ) कारण कार्य का पूर्वगामी है।

(इ) कारण निश्चिततः कार्य से सम्बद्ध है[3]।

पर इनमें से प्रथम तथ्य (कारण की पूर्णता के साथ साथ कार्य के समस्त अंशों की व्याख्या को स्थिर रखना) को सिद्ध करना यहाँ अति जटिल कार्य है। वैज्ञानिक कारणता की धारणा के अनुसार पूर्ण कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यद्यपि कार्य में स्थित वह अतिरिक्त अंश कारण में स्थित किसी गुण से नहीं उत्पन्न है फलतः या तो वह अकारणजन्य या अव्याख्येय है अथवा कारण ही अपूर्ण है। वैज्ञानिक दृष्टि में कार्य के सामान्य गुणों का आधार तो कारण के सामान्य गुण हैं पर अतिरिक्त वैशिष्ट्य मात्र उस संयोग का ही परिणाम है। पर यह संयोग कोई नया तथ्य नहीं है वरन् मात्र कई तथ्यों का एकत्रीकरण है। पर एक एकत्रीकरण या संयोग भी ऐसे किसी तत्त्व को कैसे रख सकता है जो एकत्रीकृत वस्तुओं में न हो। यदि यह कहें कि वह अतिरिक्त विशेषता संयोग के तुरन्त बाद उत्पन्न होती देखी जाती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह अतिरिक्त विशेषता उत्पन्न तो होती है पर उसकी उत्पत्ति का कारण नहीं बताया जा सकता। इस प्रकार विज्ञान का कारण अपूर्ण व अपर्याप्त ही सिद्ध होता है जो कि कारण होने की अनिवार्य शर्त का उल्लंघन ही है। यद्यपि विज्ञान यह बताता है कि कारण कार्य के समान परिमाण वाला है पर सूक्ष्मतः देखने पर यही प्रतीत होता है कि कारण प्रायः कार्य से परिमाण में कम होता है क्योंकि यह देखा जाता है कि महत् परिमाण की वस्तुयें अणुपरिमाण या कम परिमाण की वस्तुओं के संयोग से उत्पन्न होती हैं। साथ ही यह वैज्ञानिक

---

1. द. एम. के. ब्रह्मा, कॉजैलिटी एण्ड साइंस,

2- "The cause, as science conceives it, is the sumtotal of conditions which are competent to produce invariably a subsequent phenomenon, designated as the effect.".... वही पृ. 32

3. वही

कारणता का प्रत्यय पूर्णतया यांत्रिक है क्योंकि यहां किसी चेतन तत्त्व की नियामकता नहीं स्वीकारी गयी है। भौतिकवादी दार्शनिक भी ऐसा ही मत प्रस्तुत करता है।

(ख) **कारण–शक्ति रूप में**–वैज्ञानिक कारण के प्रत्यय की अपूर्णता को देखने पर कारणता का एक उच्चतर सोपान सम्मुख आता है जिसके कि अनुसार समस्त कारणता एक शक्ति में निहित है लेकिन वस्तुतः यह शक्ति भी पूर्णतः पूर्ण व पर्याप्त नहीं है और न ही वास्तव में स्वतन्त्र है। यद्यपि समस्त शक्तियों का आधार होकर यह सभी कार्यों की उत्पत्ति की व्याख्या कर सकने में पूर्ण है लेकिन फिर भी वह उद्देश्य या अन्तिम कारण जिसके कि लिये समस्त क्रियायें व परिवर्तन घटित होते हैं, इसमें नहीं मिलाया जा सकता और यही इस कारण के प्रत्यय को अपूर्ण बना देता है। परिवर्तन की वास्तविक व्याख्याउस शक्ति में ही केवल निहित नहीं है जिसकी कि क्रियाओं के सम्पादन हेतु आवश्यकता होती है वरन् उस उद्देश्य में भी निहित है जिसकी कि पूर्ति के लिये क्रियायें निष्पन्न की जाती हैं। इस शक्ति की चेतनता व अचेतनता के विषय में भी दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है।

पर कारण को शक्ति के रूप में लेने पर पूरी कारण प्रक्रिया ही बदल जाती है फलतः कार्यता का तात्पर्य किसी नवीन वस्तु की उत्पत्ति से नहीं रहता वरन् उस अन्तर्निहित की ही बाह्य अभिव्यक्ति हो जाता है अर्थात् कारण कार्य की सूक्ष्म दशा सिद्ध होता है और कार्य कारण की स्थूलतर दशा। अब कारणता दो भिन्न वस्तुओं या द्रव्यों के मध्य स्थित कोई सम्बन्ध न सिद्ध होकर एक ही पदार्थ की दो दशाओं के मध्य स्थित सम्बन्ध सिद्ध होता है। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रत्यय में अवशिष्ट अव्याख्येय तत्त्व की यहाँ संगत व्याख्या उपस्थित हो जाती है कि वह अतिरिक्त गुण उन संयुक्त दशाओं के लिये सर्वथा नवीन नहीं है वरन् यह उनमें गुप्त रूप से निहित है और संयोग के द्वारा आभासित किया जाता है।

पर यहाँ यह समस्या उपस्थित होती है कि कारण कार्य में यदि भेद नहीं है, एकात्मता है तब दोनों प्रत्ययों को अलग कैसे किया जा सकता है। क्या यह स्वीकार कर लेने पर ा कि कार्य कारण की आभासित दशा है, आभासीकरण की प्रक्रिया जो कि इन दोनों के मध्य में स्थित है, पूर्ववर्ती को पश्चाद्वर्ती से भिन्न नहीं करती। काल एक ऐसा तत्त्व है जो कि वस्तुओं को पूर्ववर्ती व उत्तरवर्ती रूप में, प्रक्रियाओं और उत्पन्न वस्तुओं को कारण व कार्य के रूप में विभक्त कर देता है। जहाँ यह कालतत्त्व स्थित नहीं होता वहाँ कारणता का प्रत्यय भी अपना अर्थ खो देताहै। साथ ही स्वीकृत कारण में निहित तत्त्वों के प्रकाशनार्थ एक प्रक्रिया की आवश्यकता होती है पर यह स्थिति सिद्ध करती है कि कारण अपूर्ण है। यदि यह कहा जाये कि कार्य कारण में पूर्णतया निहित है और यह प्रक्रिया उसमें कुछ नहीं जोड़ती, तब यह वर्णन करना कठिन होगा कि फिर प्रक्रिया के व्यापार के प्रारम्भ होने से पूर्व कार्य की सत्ता क्यों नहीं थी। यदि प्रक्रिया अर्थहीन है तो कार्य को सदैव सभी कारणों के साथ समकाल में विद्यमान रहना चाहिये और यदि यह मान लें कि कारण में ही प्रक्रिया निहित है तो कार्य और कारण के मध्य का भेद लुप्त हो जायेगा। इस मत के अनुसार कारण सदैव कार्य के सदृश परिमाण वाला होता है इसीलिये वे दशायें जो कि एक कारण का निर्माण करती हैं, स्वतन्त्रतया कारण नहीं कही जा सकती

क्योंकि वे कार्य से अल्पपरिमाण की हैं। वस्तुतः तो वे छोटी–छोटी स्वतन्त्र दशायें जो कि एक पूर्ण कारण बनाती हैं, किसी कार्य का कारण नहीं हैं, वरन् वह शक्ति जो कि उन समस्त दशाओं में विद्यमान है, ही यथार्थ कारण है। वैज्ञानिक कारण के प्रत्यय की अपेक्षा यह शक्ति पूर्ण है। कारणों का विशिष्टतया संयोजन यही शक्ति करती है।

पर कारण की व्याख्या शक्ति रूप में करने पर भी कारण पूर्ण नहीं सिद्ध हो पाता क्योंकि कारण से कार्य के अभिव्यक्तीकरण हेतु किसी अन्य तत्त्व की आवश्यकता होगी जो कि कारण में निहित नहीं है[1]। वह तत्त्व ही अन्तिम कारण है जो अगतिशील होने पर भी गतिवाहक है व इस चेतन शक्ति की दिशा का निर्देशक है और वही पूर्ण व पर्याप्त कारण है।

(ग) **कारण–परतत्त्व रूप में**–अब इन धारणाओं की अपूर्णता सिद्ध होने पर परतत्त्व रूप में ही कारण की धारणा का विचार स्वीकृत होता है। यह तत्त्व समस्त भौतिक व मानसिक जगत् का स्रोत है, सब कुछ उससे एकात्म है। यह कारण समस्त संभावित कारणों का समग्र है और पूर्ण व पर्याप्त है। ऐसा कारण आत्मतत्त्व ही सिद्ध होता है। न तो पदार्थ व न पदार्थात्मक शक्ति पर्याप्त कारण है, मात्र यह आत्मतत्त्व ही पूर्ण व पर्याप्त कारण है। उसी की चेतन इच्छा ही अपनी इच्छित दिशा में समस्त पदार्थों या पदार्थात्मक ऊर्जा को प्रवाहित करती है। इस स्तर पर पूर्ण स्वातन्त्र्य रहता है। वस्तुतः तो यह कारण कारण नहीं सिद्ध हो पाता क्योंकि वहाँ न कोई दैशिक क्रम है न कालिक, वहाँ न कोई उत्पत्ति है न अभिव्यक्ति और न कोई प्रक्रिया (ये सब प्रत्यय द्वैतता की स्थिति में ही संभव है) यहाँ न कारणता है, न कार्यता और न समयान्तर। सभी कार्य उससे एकात्म है। वस्तुतः लौकिक दृष्टि से जो कारण समझा जाता हे, वह अपूर्ण कारण है, वही कार्य से अलग किया जा सकता है पर यह वास्तविक कारण कार्य से अपना भेद न कर सकने से लौकिक दृष्टि में कारण रूप में प्रमाणित ही नहीं होता[2]। इस प्रकार यहाँ कार्य कारण से एकात्म हैं पर उनका कार्यीकरण अर्थात् अभिव्यक्तीकरण होने पर वे भिन्नतया भासित होते हैं तभी वह कारण व वे कार्य कहलाते हैं। इस आभासन में उस परतत्त्व की इच्छा के अतिरिक्त अन्य कोई निमित्त नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रक्रिया का वह परतत्त्व आश्रय नहीं लेता क्योंकि पूर्णता व स्वतन्त्रता की धारणा ऐसी किसी दैशिक या कालिक प्रक्रिया की सहायता नहीं ले सकती। इस प्रकार का यह परम कारण सर्वात्मक ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार कारणता के ये तीनों सिद्धान्त ज्ञान के क्रम में तीन विविध दशाओं को प्रस्तुत करते हैं। व्यावहारिक स्तर पर वस्तुओं का अध्ययन कारणता के वैज्ञानिक दृष्टिकोण में सत्यता पाता है पर यहाँ कार्य के अतिरिक्त गुण की व्याख्या अवशिष्ट रह

1- Force or Power can explain the efficiency that is needed to produce the movement, but it cannot explain why the movement takes place, nor the particular direction, form of the movement..... कॉज़ैलिटी एण्ड साइस, पृ. 59.

2. It is strange indeed that the real cause cannot be regarded as the cause and what is regarded as the cause is not the real cause.....वही, पृ. 79.

जाती है तब उससे ऊपर चलकर तात्कालिक पूर्ववर्ती को कारण न मानकर शक्ति तक पहुँचते हैं पर उसे भी अपूर्ण जान परतत्त्व रूप अन्तिम कारण तक पहुँचते हैं[1]। जहाँ सब कुछ पूर्ण है, कोई भेद नहीं है[2]।

कारण के भेद–कारणता के प्रत्यय का प्राण तत्त्व कारण की धारणा है। एक कार्य की उत्पत्ति में कई कारणों का योगदान रहता है पर सबका अपना एक विशिष्ट व्यापार है जो कि उस कार्य की उत्पत्ति में सहायक है। अत: उस व्यापार व सहायता के प्रकार के आधार पर इन कारणों को विविध कोटियों में बाँटा गया है। इन कारण भेदों का ऐतिहासिक विश्लेषण करने पर पाश्चात्य व भारतीय दोनों दर्शनों में विविध मत उपलब्ध होते हैं। ग्रीक दार्शनिक अरस्तू सर्वप्रथम चार प्रकार के कारणों का उल्लेख करता है। उससे पूर्व के दार्शनिकों ने इन चार में से किसी एक को ही महत्त्व दिया था जैसे प्रारम्भिक मिलेशियन उपादानकारण पर ही विशेष बल देता था। वह उपादान कारण जल, वायु या ऐसा ही कोई पदार्थ हो सकता था। इम्पेडोक्लिस ने निमित्त कारण पर विशेष बल दिया था। जो कि उसके अनुसार जागतिक विकास में प्रेम व घृणा ही था। प्लेटो ने रूपात्मक कारण (formal cause) पर विशेष बल दिया था। उसका कथन है कि समस्त रूपों (forms) का ज्ञान हो जाने पर सारे जगत् की व्याख्या संभव है पर अन्तिम कारण का प्रत्यय काफी समय तक विवाद का विषय बना रहा[3]। वस्तुत: तो पाश्चात्य जगत् में सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ ही अन्तिम कारणों को छोड़ दिया गया और उपादान व निमित्त कारणों पर ही विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया[4]। विज्ञान के क्षेत्र में तो इस अन्तिम कारण के प्रत्यय को पूर्णतया निष्प्रभावी माना गया। अरस्तू ने इन चारों को ही स्वीकार कर समन्वित व सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। वे चार कारण हैं–

---

1. So long as determination prevails, so long as the particular is determined by another particular, we roam in the sphere of causation and this is the region of matter. But when we rise to the notion of creativity, when nothing is determined or caused but where everything is freely chosen, we reach to the realm of spirit.... कॉज़ैलिटी एण्ड साइंस, पृ. 73–74.
2. डॉ. कालिदास भट्टाचार्य कारणता की तीन धारणाओं का उल्लेख करते हैं–
   (क) पॉजिटिविस्टिक नोशन ऑफ कॉज अर्थात् दो घटनाओं में अनिवार्य पूर्वापरता।
   (ख) विल कॉजैलिटी अर्थात् इच्छा–कारणता।
   (ग) अप्रिआरी कॉजल लॉ ऑर रीजन अर्थात् परम् कारणता या प्रज्ञा की कारणता।
   पर इन तीनों ही धारणाओं का विश्लेषण करने पर कोई भी धारणा सर्वमान्य संमाधान नहीं प्रतीत होती। चाहे ईश्वरवादी हो या भौतिकवादी कोई भी कारणता की सर्वसम्मत व्याख्या नहीं प्रस्तुत कर पाता। (अवर हैरिटेज, भाग;1, खण्ड–1, पृ. 30–45)
3. अन्तिम कारण की धारणा का यथार्थ अभिप्राय न समझने से ही उसके विषय में नाना भ्रान्तियाँ प्राप्त होती हैं। वस्तुत: यह वह कारण है जो समस्त कारणों का भी प्रयोजन है। ऐसा तत्त्व स्वतन्त्र आत्म तत्त्व ही हो सकता है यद्यपि अरस्तू ने इसका इस अर्थ में प्रयोग नहीं किया है।
4. डॉ. कालिदास भट्टाचार्य का तो मत है कि पाश्चात्य दार्शनिक उपादान भी नहीं मात्र निमित्त कारण पर विशेष बल देते हैं। तु. की अवर हैरिटेज, भा. 1, खण्ड 2, पृ. 5

(क) **निमित्त कारण** (efficient cause)–जिसके द्वारा कोई परिवर्तन किया जाता है।
(ख) **अन्तिम कारण** (final cause)–वह उद्देश्य जिसके लिये परिवर्तन किया जाता है।
(ग) **उपादान कारण** (material cause)–वह पदार्थ जिसमें परिवर्तन किया जाता है।
(घ) **रूपात्मक कारण** (formal cause)–वह दशा (आकारगत) जिसमें कुछ परिवर्तन किया जाता है।

अरस्तू के बाद दार्शनिकों ने कारणों को अन्य तरह से वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। स्पिनोजा ने कारणों को दो वर्गों में बाँटा–(क) अन्वित कारण (immanent cause) (ख) अनन्वित कारण (transcendent cause)। विश्वमय कारण वह है जो अपने परिवर्तन उत्पन्न करता है तथा विश्वोत्तीर्ण कारण वह है जो किसी अन्य में परिवर्तन उत्पन्न करता है[1]।

मध्य युग व आधुनिक युग में कारण के निम्न प्रकार से दो भेद किये गये–(क) कॉजा कॉग्नोसेन्दी (causa congnoscendi)–एक सत्य के लिये प्रस्तुत किया गया कोई कारण या आधार। (यह अर्थ कभी–कभी प्रयुक्त होता है) कॉजा फियेन्दी (causa fiendi)–किसी पदार्थ की सत्ता के लिये उत्तरदायी तत्त्व (इस अर्थ में कारण का प्रयोग बहुतायत से होता है)[2]।

जॉन स्टुअर्ट मिल थॉमस रीड का अनुसरण करते हुये कारण के द्विविध भेद करता है–(क) निमित्त कारण (efficient cause)–एक कर्ता की ऐच्छिक क्रिया की कारणता (ख) भौतिक कारण (physical cause)–भौतिक पदार्थों की कारणता[3]।

आर.जी. कोलिंगवुड का मत है कि कारण के तीन प्रकार हो सकते हैं–(क) एक कर्ता की ऐच्छिक क्रिया की कारणता। (ख) एक कर्ता के द्वारा प्रकृति में किसी प्रकार के परिवर्तन को करने हेतु प्रयुक्त पदार्थ की कारणता। (ग) पूर्ववर्ती दशाओं की उत्तरवर्ती दशाओं[4] के प्रति कारणता[5]।

इनमें से द्वितीय प्रकार की कारणता को ही इन्होंने मूल माना। वस्तुतः आज सामान्यतः कारण का यही प्रत्यय अथवा मिल के भौतिक कारण (physical cause) का प्रत्यय ही बहुतायत से सामान्य जगत् में प्रस्तुत होता है।

शॉपेनहावर क्यों के प्रश्न के उत्तर में चार प्रकार के कारणों को उपस्थित करता है–(क) भौतिक जगत् में एक पदार्थ कारण (ख) प्रत्ययों के क्षेत्र में तर्क कारण (ग)

---

1. द्रष्टव्य, एम.सी. भारतीय, कॉजेशन इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 5
2. वही, पृ. 9.
3. वही, पृ. 9–10.
4. ये दशायें कभी मनुष्य के नियंत्रण के अधीन है व कभी नहीं।
5. कॉजेशन इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 6

इच्छाओं के क्षेत्र में प्रेरणा कारण (घ) शुद्ध अन्तर्ज्ञान के क्षेत्र में कालोत्तीर्ण तत्त्व कारण। इन चार कारणों के आधार पर वह चार प्रकार की अनिवार्यतायें बताता है–(क) भौतिक (ख) प्रत्ययात्मक (ग) ऐच्छिक (घ) आध्यात्मिक। कारणता के निर्धारण में इस अनिवार्यता का विशिष्ट महत्त्व है[1]।

कुछ अन्य पाश्चात्य दार्शनिक प्रज्ञा (reason) को निमित्त कारण रूप में प्रस्तुत करते हैं। ऐसे दार्शनिकों में कान्ट व हेगेल प्रमुख हैं। यह प्रज्ञा यहाँ परम अनिवार्यता (apriori necessity) है[2]।

कारण का सामान्यतः तीन रूपों में वर्गीकरण किया जा सकता है–

(क) **उपादान या समवायिकारण**–यह वह कारण है जो कार्य में अनुस्यूत रहता है, उसको पूर्णतया व्याप्त कर लेता है[3]। कार्य इसी में अन्वित होकर उत्पन्न होता है। यह उपादान कारण कार्य का कारण इस अर्थ में नहीं है कि यह इसकी रचना करता है वरन् इस अर्थ में है कि मात्र दोनों में अभेद है[4], दोनों एक दूसरे के स्वरूप में प्रविष्ट हैं। ऐसे दो परस्पर अन्वित तथ्यों में कारणता व कार्यता का निर्धारण उनकी पूर्वापरता के आधार पर होता है। उनकी यह स्वरूपान्वितता भेदसह है। यद्यपि इसको प्रायः उपादान संज्ञा से ही अभिहित किया जाता है पर कुछ दर्शन अपनी विशिष्ट दृष्टि को बताने के लिये इसे समवायिकारण भी कहते हैं।[5] अरस्तू का 'मैटीरियल कॉज' इसी श्रेणी का है।

(ख) **निमित्त कारण**–कारण का प्रवर्तक वह प्रयोजन ही निमित्त कारण है। ऐसा प्रयोजन चित् तत्त्व में ही संभव है अतः इससे चेतन तत्त्व की ही कारणता का कथन सिद्ध होता है। वह चेतन तत्त्व ईश्वर भी हो सकता है और जीव भी या ईश्वरगत इच्छा भी हो सकती है व जीवगत इच्छा भी। इसे ही अरस्तू का अन्तिम कारण भी कह सकते हैं व स्पिनोजा का अनन्वित कारण भी। अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित निमित्त कारण भी यही है।

(ग) **सहकारी कारण**–इसके अन्तर्गत कार्योत्पत्ति में सहायक अन्य वे समस्त दशायें

---

1. कॉजेशन एण्ड दि टाइप्स ऑफ नेसेसिटी, पृ. 100–101
2. यह प्रत्यय यों तो भारतीय दृष्टि में पूर्णतया अपरिचित धारणा है पर भारतीय दर्शनों में सांख्ययोग का 'पुरुषार्थ' अभिप्रायात्मक सन्दर्भ में कुछ इसी जैसा है।
3. इस व्याप्ति के द्विविध प्रकार संभव हैं–
   (क) संकल्प रूप से व्याप्ति (2) आधार रूप में व्याप्ति।
4. इस कारण प्रकार का कार्य की सत्ता से अभेद होने से स्वभाववाद की स्थिति प्रस्तुत होती है क्योंकि तब कार्य कारण का स्वभाव ही प्रतीत होता है। फलतः इस अभेद के कारण कारण–कार्य अलग–अलग नहीं किये जा सकते अतः इस कारण वर्ग को कारण मानना सिद्ध नहीं हो पाता। संभवतः इसी कारण पाश्चात्य दार्शनिक इस कारण–वर्ग को न स्वीकार कर निमित्त कारण पर ही विशेष बल देते हैं। द्रष्टव्य अवर हैरिटेज भा. 1 खण्ड 2 पृ. 163.
5. न्याय दर्शन समवाय सम्बन्ध की स्थिति कारण व कार्य के मध्य मानता है अतः यहाँ कारण में कार्य समवेत है क्योंकि यहाँ कारण अवयव व कार्य अवयवी है और अवयव अवयवी के मध्य समवाय सम्बन्ध ही होता है। इसी दृष्टि से यहाँ इस कारण को समवायिकारण कहा गया है। यह संज्ञा यहाँ कारण–कार्य की पृथक् सत्ता की मान्यता की भी सूचक है जबकि उपादान शब्द कारण व कार्य के मध्य तादात्म्य को बताता है।

अन्तर्भूत हो जाती हैं जो कि उपादान व निमित्त होने से बच जाती है। इसके अन्दर अरस्तू द्वारा प्रतिपादित रूपात्मक कारण (formal cause) अन्तर्भूत होता है।

प्रायः जगत में प्राप्य सभी कारण इन्हीं त्रिविध कोटियों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। कारण की धारणा में करण का प्रत्यय अति महत्त्व रखता है[1]। अतः कहीं कहीं उसे स्वतन्त्र कारण कोटि माना गया है पर वस्तुतः वह भी सहकारी कारण की ही कोटि में अन्तर्भूत हो जाता है अतः उसे एक अलग श्रेणी प्रदान करना उपपन्न नहीं है।

कारणों का विभाजन मुख्य व गौण रूप से भी किया जाता है। मुख्य कारण वे हैं जो परिवर्तन के सक्रिय स्रोत हैं व गौण कारण वे हैं जो उस परिवर्तन के निष्क्रिय प्राप्त कर्ता हैं। वस्तुतः कर्ता मुख्य कारण है तथा अन्य गौण कारण हैं। इसके अतिरिक्त कारण का विभाजन एक अन्य ढंग से भी किया जाता है–

(क) **कारक कारण**–जो क्रिया का निष्पादन करता है, क्रियोत्पत्ति में सहायता करता है, क्रिया के अन्वय से ही जिसका अन्वय हो जाता है, वह कारक कारण है। क्रिया–कारक के इस अवियोज्य सम्बन्ध को अन्वय व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध किया जाता है। यद्यपि शब्द–शास्त्र की दृष्टि से कारक की अपेक्षा क्रिया की ही प्रधानता है क्योंकि यहाँ सभी प्रातिपदिक धातु से ही निष्पन्न हैं। पर कारक के अभाव में क्रिया निष्प्रयोजन है अतः दोनों ही अन्योन्याश्रित सिद्ध हैं। कारक का क्रिया के साथ साक्षात् व व्यवधानरहित सम्बन्ध रहता है।

(ख) **ज्ञापक कारण**–ये वे कारण हैं जिनके द्वारा पूर्वसिद्ध पदार्थ मात्र ज्ञात होते हैं, उनकी सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(ग) **भावक कारण**–भावक कारण की स्थिति मात्र रस चवर्णा हेतु स्वीकृत की जाती है। यही विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति कराता है।

कार्य–कारणभाव की दृष्टि से इनमें से प्रथम कोटि का ही महत्त्व है जबकि द्वितीय का ज्ञानमीमांसा में विशिष्ट स्थान है।

भारतीय दर्शनों में विविध प्रकार से कारणों का वर्गीकरण किया गया है। न्याय वैशेषिक जैसा वस्तुवादी मत कारण के तीन भेद करता है–

(क) समवायिकारण (ख) असमवायि कारण (ग) निमित्त कारण। यहाँ समवायि कारण वह है जिसमें समवेत होकर कार्य सम्पन्न होता है, असमवायि कारण वह है जो समवायिकारण में या समवायि कारण के कारण में रहता है, तथा निमित्त कारण वे सब कारण हैं जो इन दोनों कोटियों में नहीं आते। न्याय साधारण व असाधारण कारण रूप में भी कारणों का विभाजन करता है। साधारण कारण जहाँ सभी कार्यों के प्रति समान रूप से कारण होते

---

1. क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारक कारणसंज्ञ स्यात्। कारक प्रकरण, पृ. 72
साधकतम करणम्....साधकतमत्व च अव्यवधानेन फलजनकव्यापारवत्कारणत्वम्, फलयोगव्यवच्छिन्नत्वं वा। मीमांसा कोश, भा. 3, पृ. 1363.

हैं वहीं असाधारण कारण सभी कार्यों के सन्दर्भ में विशिष्ट होते हैं। साधारण कारण हैं–अदृष्ट, दिक्, काल, ईश्वर आदि। जहाँ असाधारण कारणों में समवायि व असमवायि कारण आते हैं वहीं साधारण कारण वर्ग में सभी निमित्त कारण आते हैं। यहाँ कारण को वैदिक व लौकिक रूप से भी वर्गीकृत किया गया है–वैदिक कारण जहाँ मात्र अन्वय व्याप्ति से गम्य है वहीं लौकिक अन्वय व व्यतिरेक दोनों से[1]। इसके अन्य प्रकार से भी भेद किये जाते हैं–फलोपहित व स्वरूपयोग्य। फलोपहित कारण का उदाहरण है अनुमिति के प्रति परामर्श की कारणता तथा स्वरूपयोग्य कारण है घटोत्पत्ति में जनकतावच्छेदक दण्डत्वादि का स्वरूप[2]।

सांख्ययोग सम्प्रदाय में कारणों की संख्या के सन्दर्भ में मतभेद है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यहाँ निमित्त व उपादान दोनों कारण स्वीकृत हैं और कुछ के मतानुसार मात्र उपादान कारण स्वीकृत है पर यहाँ की उपादान की धारणा न्याय वैशेषिक के समवायि व निमित्त कारणों का मिश्रित रूप ही है। कुछ अन्य के मतानुसार सांख्य में मात्र उपादान कारण स्वीकृत है पर योग में ये दोनों ही स्वीकृत हैं। मीमांसा दर्शन में कारणों का वर्गीकरण द्विविध प्रकार से किया गया है–स्वरूपयोग्य तथा फलोपहित। यहाँ न्यायसम्मत त्रिविध वर्गीकरण को भी स्वीकारा गया है जिसके कि अनुसार यहाँ समवायि, असमवायि व निमित्त ये तीन कारण स्वीकृत हैं पर यहाँ किसी कार्य की उत्पत्ति हेतु इन तीनों कारण प्रकारों की अनिवार्यता नहीं है जबकि न्याय में है। वेदान्त के विविध सम्प्रदायों में आचार्य शंकर तथा उनके अनुयायी दो प्रकार के कारण मानते हैं–उपादान व निमित्त। कहीं–कहीं सहकारी कारण का भी उल्लेख मिलता है पर वह निमित्त कारण की कोटि में ही अन्तर्भूत होता है। रामानुज, भास्कर, निम्बार्क, मध्व सभी कारणों के इन्हीं दो वर्गों का प्रतिपादन करते हैं पर इन दोनों की व्याख्या में सर्वत्र भेद है। अवैदिक दर्शन सम्प्रदायों में चार्वाक सम्प्रदाय तो कारणता का ही उच्छेदक है अतः किसी कारण प्रकार की चर्चा नहीं करता। जैन सम्प्रदाय तीन कारणों का प्रतिपादन करता है–उपादान कारण, करण कारण तथा निमित्त कारण। करण यहाँ अन्य दर्शनों की तरह निमित्त में न अन्तर्भूत होकर स्वतन्त्र कारण ही माना गया है। बौद्ध सम्प्रदाय में कारण का वर्गीकरण हेतु व प्रत्यय के रूप में किया गया है। इनमें से प्रत्यय मानसिक कारणता से सम्बद्ध है तथा हेतु भौतिक कारणता से। काश्मीर शिवाद्वयवाद उपादान व निमित्त दो प्रकार के कारणों का ही प्रतिपादन करता है।

प्रायः एक कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारणों का योगदान रहता है, इसी कारण प्रत्येक कारण की अलग अलग कारणता का कोई अर्थ सिद्ध नहीं हो पाता वरन् उनकी संयुक्त स्थिति ही कारण बनने के योग्य होती है। इसी दृष्टि से अक्सर कारणसामग्रीवाद

---

1. तत्त्वावलिः परि. 2, श्लो. 50 पृ. 40, न्याय को. पृ. 224 पर उद्धृत।
2. न्यायकोश, पृ. 224

की चर्चा उपलब्ध होती है। इस कारण सामग्री में दो प्रकार के पदार्थ आते हैं–(क) साधारण कारण (ख) असाधारण कारण[1]। इस कारणसामग्रीवाद को मानने पर ही कारण की पूर्णता व पर्याप्तता की शर्त पूर्ण हो पाती है। पर इस सामग्री के सन्दर्भ में दर्शनों में कई विप्रतिपत्तियाँ हैं।

कारण–बहुत्व की समस्या[2]–प्रायः एक ही कार्य कई कारणों से उत्पन्न देखा जाता है जैसे कि एक आग कई कारणों से उत्पन्न हो सकती है पर तब एक निश्चित कारण का एक निश्चित कार्य से सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जा सकता है व समस्त संभाव्य कारणात्मक दशाओं को न लेकर चलने से कारण का प्रत्यय पर्याप्त व पूर्ण कैसे हो सकता है। इसी प्रकार एक ही कारण के कई कार्य भी हो सकते हैं। सर्वप्रथम पाश्चात्य दार्शनिक मिल ने इस कारण–बहुत्व की समस्या पर विचार किया और बताया कि एक कार्य के कई कारण हो सकते हैं[3] पर इससे एक निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य का अनुमान संभव नहीं हो पायेगा इसलिये उन्होंने इसका समाधान यहाँ प्रस्तुत किया कि कारणों के भेद से कार्यों में भी भेद होता है। यद्यपि कार्यों में भेद इतना सूक्ष्म है कि उसका ग्रहण हमें स्थूल इन्द्रियों से नहीं हो पाता। एल.बी. स्टेबिंग का मत है कि कारण की व्यावहारिक कल्पना ने ही इस कारणों की अनन्तता की समस्या को जन्म दिया[4]। कई कारणों से एक कार्य की उत्पत्ति होता देख इनमें से एक मुख्य का चयन कर उसे कारण रूप से कथित किया जाता है पर कार्यों का विश्लेषण नहीं किया गया। इसी कारण सभी प्रकार के कार्यों से उत्पन्न कार्य एक माना गया। यही कारणों की अनन्तता की समस्या का जनक है। वस्तुतः तो कार्यों में भी कारणवत् सूक्ष्म भेद रहता है अन्यथा तो एक निश्चित कारण से एक निश्चित कार्य का अनुमान संभव नहीं होगा पर कई दर्शन इस कारण वैचित्र्य से कार्य वैचित्र्य को न मानकर कार्यों में विमर्शाभेद से अभेद मानकर उन सभी कारणों से एक ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। पर तब वहाँ अनुमान दुर्बोध्य हो जाता है।

यह कारण बहुत्व की समस्या प्रायः भारतीय विचार का विषय नहीं बनी है। यहाँ जैनों के अतिरिक्त और किसी ने इस समस्या पर विचार नहीं किया है। वहाँ तो स्याद्वाद के सिद्धान्त में ही यह समस्या पल्लवित दृष्ट होती है। इसके विपरीत नैयायिक जो कि इस समस्या पर थोड़ा बहुत विचार करते हैं, पाश्चात्य दार्शनिक मिल के समाधान को ही स्वीकारते हैं। अन्य भारतीय दर्शन कार्योत्पत्ति में कई कारणों की संभावना को अज्ञान या स्वतन्त्र चयन का परिणाम बताते हैं पर कारणभेद से कार्य भेद के प्रश्न पर वे मौन ही रहते हैं।

---

1. इनका अभिप्राय न्यायवत् ही है। असाधारण कारण के पुनः कारण व करण रूप में दो वर्ग किये जा सकते हैं।
2. यह समस्या प्रायः पाश्चात्य दृष्टि में ही विवेच्य रही है, भारतीय दृष्टि में नहीं।
3. दृष्टव्य, रून्स, डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी, पृ. 48.
4. एम.सी. भारतीय, कॉजेशन इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 17.

कारणकार्यभाव के निर्धारक तथ्य–कारण कार्य सम्बन्ध का प्राणतत्त्व है अविनाभाव सम्बन्ध। जहाँ इस सम्बन्ध की स्थापना संभव होती है, वहीं कारण व कार्य का अनुमान कर लिया जाता है और एक विशेष कारण को एक विशेष कार्य से जोड़ा जाता है। जो सम्प्रदाय कारणसामग्रीवाद का प्रतिपादक है वह एक विशिष्ट कारण सामग्री को एक विशिष्ट कार्य से सम्बद्ध करता है। इस अविनाभाव सम्बन्ध का अर्थ है एक के रहने पर दूसरे का रहना व एक के न रहने पर दूसरे का न रहना। इसे ही पारिभाषिक शब्दावली में अन्वय व व्यतिरेक कहते हैं। इसे ही व्याप्ति भी कहा जाता है[1]। इस व्याप्ति का ग्रहण भूयोसहचार दर्शन के द्वारा होता है पर यह भूयोसहचार दर्शन भी उत्पत्तिपरक होना चाहिये अर्थात् जिन दो पदार्थों में यह सहचार दृष्ट हो वहाँ वे एक दूसरे की उत्पत्ति में अनिवार्यतया सहायक हों। अन्यथा तो दिन व रात का सहचार सम्बन्ध नित्य गृहीत होने से उनमें भी कारणता का ग्रहण होगा पर इस व्याप्ति में यह द्रष्टव्य है कि कारण कार्य के मध्य का यह अविनाभाव एकपक्षीय है अर्थात् कारण के भाव या अभाव का तो कार्य के भाव या अभाव पर प्रभाव पड़ता है पर कार्य के भाव–अभाव का कारण पर नहीं। मिल ने इस व्याप्ति के ग्रहण के लिये कुछ विधियाँ बताई थीं[2]। इन्हें वह 'मेथड ऑफ एग्रीमेंट' तथा 'मेथड ऑफ डिफरेन्स' कहता था जिन्हें कि भारतीय दार्शनिकों ने अन्वय व व्यतिरेक कहा है। साथ ही उसने इन दोनों विधियों के संयुक्त रूप का भी प्रतिपादन किया जो कि भारतीय दार्शनिकों की अन्वय–व्यतिरेक विधि ही है। इसके अतिरिक्त वह अन्य दो विधियों का भी प्रतिपादन करता है–मेथड ऑफ रेसीड्यूज तथा मैथड ऑफ कॉनकॉमिटेन्ट वैरियेशन। इनमें से प्रथम का अर्थ है कि कारण कार्य की सतत् शृंखला में विशिष्ट कारण से विशिष्ट कार्य का निरीक्षण करते हुये दो अवशिष्ट पदार्थों में ही कारण कार्य की कल्पना की जाती है तथा द्वितीय है सहगामी परिवर्तनों के आधार पर कारण–कार्य का निर्धारण अर्थात् यदि किसी पदार्थ में कोई परिवर्तन किसी पदार्थ के परिवर्तन के कारण उत्पन्न हो तो वह उसका कारण है। वस्तुतः तो ये पाँचों विधियाँ मिलकर ही एक व्याप्ति के निर्धारण में सहायक होती हैं और एक विशिष्ट कार्य के लिए एक विशिष्ट कारण का निश्चय कराती हैं।

पर इस व्याप्ति निर्धारण में देशगत व कालगत कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं क्योंकि व्याप्ति निर्धारक के सर्वज्ञ न होने से ऐसी व्याप्ति का निर्धारण नहीं किया जा सकता जिसका कि खण्डन न हो सके क्योंकि उसे सभी देश व काल की स्थितियों का ज्ञान नहीं हो सकता तब कई स्थलों पर इस व्याप्ति के अपलाप का प्रसंग भी हो सकता है। इस

1. यह व्याप्ति भौतिक स्तर पर ही कारणता की निर्धारक है इससे ऊपर आत्मिक स्तर पर तो चेतना ही सबका सारभूत है अतः वही समस्त कारणात्मक नियमों का निर्धारण करती है।
2. द्रष्टव्य, क्लिफर्ड बैरेट, फिलॉसफी : एन इन्ट्रोडक्टरी स्टडी ऑफ फन्डामेन्टल प्रॉब्लम्स एण्ड एटीट्यूड्स, पृ0 208–213.

प्रकार इस व्याप्ति के द्वारा कारण कार्य की व्याख्या तो की जा सकती है पर कोई सार्वभौमिक नियम नहीं बनाया जा सकता है। यद्यपि कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि व्याप्ति–ग्रहण काल में हम वस्तु विशेष का ग्रहण न कर वस्तु–सामान्यों में ही व्याप्ति का ग्रहण करते हैं व इस विशेष स्थल पर व्यक्ति व सामान्य में अभेद के कारण उसी व्याप्ति के आधार पर अनुमान कर लेते हैं।

कारण का प्रत्यय व संयोग[1] –कारणता के प्रत्यय के सन्दर्भ में संयोग की चर्चा भी अपेक्षित है क्योंकि कारणता के सार्वभौमिक नियमों का अक्सर अपलाप दृष्ट होता है, अक्सर कारणात्मक नियमों के आधार पर किये गये पूर्वकथन गलत सिद्ध हो जाते हैं। इन सबका एक हेतु यह दिया जाता है कि क्योंकि हमें समस्त प्रासंगिक भूत, भविष्य व वर्तमान की दशाओं का ज्ञान नहीं है, इसीलिये ये पूर्वकथन गलत सिद्ध हो जाते हैं अथवा कारणता नियम गलत सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में संयोग/यदृच्छा (chance) को हेतु रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जहाँ कारणता अनिवार्यतया दो घटनाओं के मध्य अनिवार्य सम्बन्ध को बताती है वहीं संयोग पूर्ण अव्यवस्था व अनियमन को प्रश्रय देता है । प्रकृति में नियमिततायें व आकस्मिकतायें दोनों ही दृष्ट होती हैं। ये आकस्मिकतायें संयोग का ही प्रतिफल हैं। यहाँ संभावना का सिद्धान्त ही कार्य करता है। यद्यपि इस संयोग के तथ्य की व्याख्या इस प्रकार दी जाती है कि संयोग का अर्थ है कारण का अज्ञात होना[2] । विज्ञान के क्षेत्र में तो यह अनुभूत ही है कि जो प्रारम्भ में मात्र संयोग लगता था। वही अन्वेषणों के बाद कारणात्मक नियमों से अनुविद्ध प्रतीत हुआ। पर इससे कारण के प्रत्यय की अपूर्णता की समस्या उपस्थित होती है। यहाँ यह समस्या भी है कि कारणता का प्रत्यय पूर्ण नियमनवाद को प्रस्तुत करता है और जगत् नियमन व आकस्मिकता दोनों ही प्रत्ययों का समग्र है। प्रकृति कारण व संयोग दोनों के नियमों से परिचालित होती है। अतः यहाँ परमकारण को ही कारण व संयोग दोनों के स्रोत रूप में स्वीकार कर इन दोनों की स्थिति को स्वीकार करना पड़ेगा तभी इच्छा–स्वातन्त्र्य का प्रत्यय भी इसके साथ समन्वित हो सकेगा। इस प्रकार संयोग कारणता की धारणा का विरोधी होने पर भी कुछ क्षेत्रों में स्वीकरणीय है और कारणता के क्षेत्र में अज्ञात कारणात्मक स्थिति रूप में उसकी व्याख्या कर उसे कारणात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

कारणता व प्राकृतिक नियम–प्रायः कारणता व प्राकृतिक नियम को पर्याय रूप में भी व्यक्त करते हैं क्योंकि कारणता की सर्वव्यापकता व एकरूपता को बताने के लिये उसे नियमों के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। पर वस्तुतः दोनों में कुछ भेद है। प्रकृति

---

1. संयोग (chance) के लिये संस्कृत ग्रंथों में यदृच्छा शब्द का प्रयोग किया गया मिलता है।
2- ....chance is not the denial of causation by simply our ignorance of particular causal connections....
बी.के. भट्टाचार्य, कॉजैलिटी इन साइंस एण्ड फिलॉसफी, पृ. 27.

में व्याप्त एकरूपता में विश्वास से प्रकृति के नियमों को बल मिलता है। प्रकृति की एकरूपता का अभिप्राय है कि यहाँ प्रत्येक घटना अनिवार्यतया एक निश्चित क्रम में आबद्ध है[1]। फलतः इसी आधार पर यह अनुमान कर लिया जाता है कि इसके होने पर यह होगा। इस प्रकार के ये प्राकृतिक नियम कोई शक्ति नहीं है मात्र दो तथ्यों के क्रम का वर्णन है[2]। अबाधित सार्वभौमिकता इस नियम की प्रथम शर्त है पर यहाँ सभी अपेक्षित घटनाओं के निरीक्षण की सामर्थ्य न होने से ऐसे किसी पूर्ण नियम की स्थापना नहीं की जा सकती। प्रत्येक विशेष विज्ञान इन्हीं प्राकृतिक नियमों का संग्रह है। पर कारणता के आधार पर बनाये जाने वाले नियमन से इसमें कुछ भेद है जहाँ कारणतामूलक नियम प्राकृतिक नियम हो सकते हैं वहीं सभी प्राकृतिक नियम कारणात्मक नहीं हो सकते जैसे दिन के बाद रात आती है, जाड़े के बाद गर्मी व गर्मी के बाद बरसात आती है तो यहाँ एक प्राकृतिक नियम की तो बात की जा सकती है पर कारणतामूलक नियम की नहीं क्योंकि दिन रात का कारण नहीं है व जाड़ा गर्मी, बरसात का कारण नहीं है। कुछ आधुनिक दार्शनिक कारणता की धारणा की नाना विसंगतियों को देखकर उसके स्थानापन्न रूप से प्राकृतिक नियमों को ही स्वीकार करते हैं। पर प्राकृतिक नियमों की स्थापना में भी अबाधित नियम की स्थापना की समस्या उपस्थित होती है। कुछ अन्य विद्वान प्राकृतिक नियम की व्याख्या अबाधित नियम के रूप में न कर एकरूपता के रूप में करते हैं पर उस एकरूपता का भी निर्धारण जटिल समस्या है। कारणात्मक नियमों से भी शुद्ध एकरूपता का ज्ञान संभव नहीं है।

प्रत्येक विज्ञान इन प्राकृतिक नियमों का संग्रहीकरण है जो कि प्रकृति के विशेष विभागों में लागू होते हैं। यही नियम का प्रत्यय कारणता के प्रत्यय में भी निहित होने से वैज्ञानिक प्रायः यह विश्वास करते हैं कि प्रकृति कारणता के नियमों में सदैव एकरूपता से व्यवहार करती है। उनके अनुसार इसीलिये जगत् की प्रत्येक घटना दूसरी घटना के साथ कारणता की शृंखला में आबद्ध है। यह आबद्धता पूर्वकालिक भी हो सकती है व उत्तरकालिक भी। मात्र दोनों में भेद यह है कि एक में यह खोजी जा चुकी है जबकि अन्य में वह गुप्त या अज्ञात है।

कारणता व नियमनवाद–कारणता व नियमनवाद दो परस्पर घनिष्टतया सम्बद्ध प्रत्यय हैं। इसी आधार पर कभी–कभी दोनों का समानार्थक प्रयोग भी उपलब्ध होता है क्योंकि कारणता में पूर्ण विश्वास दृढ़ नियमनवाद को ही प्रस्तुत करता है। यह नियमनवाद भौतिक (materialistic) भी हो सकता है व धार्मिक भी (religious)। ये दोनों ही प्रकार

---

1. The laws of nature are simply observed regulartities in the order of the physical world... क्लिफर्ट बैरेट, फिलॉसफी, पृ. 213.
2- ...:natural law means to the scientiest no more than the formulation of a principle expressing a regular relationship which has been widely observed and nowhere found to be contradicted. वही, पृ. 214.

के नियमनवाद जगत को पूर्णतया यांत्रिक सिद्ध करते हैं। कारण का प्रत्यय भी प्रत्येक पदार्थ को एक निश्चित व्यवस्था में बाँधकर ही अग्रसर करता है अतः वह भी नियमनवाद का प्रेरक प्रतीत होता है पर इस आधार पर कारणता व नियमनवाद को पर्याय नहीं कहा जा सकता है। जहाँ नियमनवाद मात्र सामान्यीकरण की प्रक्रिया पर आधारित है वहीं कारणता के प्रत्यय में उत्पत्ति की प्रक्रिया भी मिश्रित होनी चाहिये। अतः नियमनवाद में तो दो तथ्यों के मध्य कारणात्मक सम्बन्ध न रहने पर भी मात्र उनके पौर्वापर्य की पुनः पुनः पुनरावृत्ति से एक सामान्य नियम की कल्पना कर ली जाती है पर कारणता में कार्य के अस्तित्वलाभ में उसका सहायक होना अनिवार्य है। नियमनवाद जहाँ मात्र सामान्यीकरण को प्रश्रय देता है वहीं कारणता क्यों का भी उत्तर देती है। नियमनवाद के आधार पर एक रेलवे समयसारिणी के निर्दिष्ट समय का एक ट्रेन के आवागमन से सम्बन्ध तो स्थापित किया जा सकता है पर उसे उसका कारण नहीं बताया जा सकता। इसी प्रकार रात को दिन से नियमित तो किया जा सकता है पर रात को दिन का कारण नहीं बताया जा सकता। अतः कारणता का सिद्धान्त तो नियमनवाद की उपस्थिति कराता है पर नियमनवाद के सिद्धान्त में कारणता की धारणा अनिवार्यतया मिश्रित नहीं है। बेन ने 'कारणता'[1] व 'नियमनवाद'[2] में स्पष्ट अन्तर करते हुये इन दोनों की अलग–अलग व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं जिसके कि अनुसार नियम दोनों जगह कार्य करता है पर जहाँ एक स्थल पर उत्पत्ति को भी निर्धारित कर उनके मध्य निश्चित नियम बताता है वहीं अन्यत्र मात्र अन्य घटना की स्थिति को निर्धारित करता है। कारणता के क्षेत्र में कारणतापरक नियमनवाद का ही उल्लेख संभव है।

कारणता के इतिहास में इस नियमनवाद की स्वीकृति की विविध स्थितियाँ दृष्ट होती हैं। कहीं कारणतापरक नियमनवाद का मूलस्रोत प्रथम कारण अर्थात् ईश्वर बताया जाता है, कहीं जीव में भी इस नियमन सामर्थ्य की स्थिति बताकर ईश्वर को उसका नियन्ता बताया जाता है। पर कुछ दार्शनिक इस पूर्ण नियमनवाद का विरोध करते हैं व इच्छा–स्वातन्त्र्य की संभावनाओं को इसके प्रतिपक्ष में उपस्थित करते हैं जिन पर कि पूर्व अध्यायों में विचार किया ही जा चुका है। आधुनिक विज्ञान में सर आर्थर एडिंग्टन ने भी इस नियमनवाद का विरोध किया क्योंकि उन्होंने अणुओं की क्रिया में किसी प्रकार के नियमन को अनुपपन्न पाया। पर वस्तुतः विज्ञान के लिये नियमनवाद की स्वीकृति

---

1. Caausality postulates that there are laws by which the occurrence of an entity B of a certain class depends on the occurrence of an entity A of another class, where the word entity means any physical object, phenomenon, situation or event. A is called the cause, B the effect.... मैक्स बार्न, नैचुरल फिलॉसफी ऑफ कॉज एण्ड चांस, पृ. 9
2. Determinism postulates that events at different times are connected by laws in such a way that predictions of unknown situations (past or future) can be made....
   वही, पृ. 9

अनिवार्य है अन्यथा उसकी समस्त व्याख्यायें निष्फल होंगी।

परम कारण व स्वातन्त्र्य–कारणता व स्वातन्त्र्य दो विरोधी प्रत्यय हैं पर परमकारण के प्रत्यय के साथ यह स्वातन्त्र्य का प्रत्यय समाधेय है। यह परम कारण वह सर्वोच्च अनिवार्यता है जो कि यथार्थ रूप में स्वातन्त्र्य विरोधी नहीं है। स्पिनोजा भी ऐसे परतत्त्व को स्वीकार करता है और उसे उस लौह अनिवार्यता की चरम भूमि बताता है जो कि जगत् का नियमन करती है पर वह उस तत्त्व को द्रव्य रूप मानता है। कान्ट भी परमसत्ता में इसी प्रकार का नियमन–स्वातन्त्र्य मानता है। डेस्कॉर्ट, मॉलब्रांके व लीबनीज् का भी ऐसा ही मत है। इसी प्रकार कई भारतीय तत्त्वमीमांसायें भी उस परतत्त्व की सर्वशक्तिमत्ता की बात करते हुये उसकी सर्वनियामकता सिद्ध करती है। वस्तुतः तो जो नियमनवादी कार्यकारणभाव की शृंखला से ऊपर है वही कारण कार्य के मध्य के सम्बन्ध का आधार हो सकता है। यद्यपि स्वातन्त्र्य सैद्धान्तिक तर्कों की कसौटी पर कभी भी कारणता में निहित नहीं माना जा सकता। पर व्यावहारिक तथ्यों के आधार पर एक तथ्य के रूप मेंअनुभव किया जा सकता है। उस चरम स्वातन्त्र्य का ही विशुद्ध प्रकाशन एकता और क्रम, नियम और प्रणाली माने जाते हैं, लेकिन इस स्वातन्त्र्य व कारणता के प्रत्यय के मध्य द्वैतवाद की कल्पना वैसे ही भ्रामक है जैसे परमतत्त्व व व्यावहारिक जगत् के मध्य अथवा ब्रह्म व माया में या पदार्थ व उसके पक्षों में क्योंकि इनमें से एक दूसरे का आधार है। पारमार्थिक दृष्टि से यह वह स्वातन्त्र्य है जो कि चरम तत्त्व है जबकि व्यावहारिक दृष्टि से यह कठोर नियमनवाद है। सर आर्थर एडिंग्टन का भी मत है कि कारण की अनियमितता भी नियमित कार्यों की जनक हो सकती है अतः कारण रूप परतत्त्व स्वतन्त्र होने पर भी जगत् का नियमन कर सकता है।

पर ऐसा स्वतन्त्र कारण कोई चेतन तत्त्व ही हो सकता है[1] और उस चेतन तत्त्व की क्रिया अनिवार्यतया नियमित व क्रमबद्ध रूप से भासित होती है। वस्तुतः तो परमस्वातन्त्र्य ही पूर्ण सत्ता है। इस प्रकार का परम तत्त्व वस्तुतः सही अर्थों में कारण नहीं है। यद्यपि यहाँ विरोध–सा प्रतीत होता है फिर भी यह बहुत सच है कि कारण की धारणा ठीक तरह से समझी जाने पर यह बताती है कि सच्चा कारण जरा भी कारण नहीं कहा जा सकता। कारणता की धारणा एक अपूर्ण धारणा है जिसे परतत्त्व की विश्वोत्तीर्ण धारणा पर लागू नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यह प्रगट होता है कि जो कुछ कारण समझा जाता है अपूर्ण कारण है और यही अपूर्ण कारण ही केवल कार्य से अलग किया जा

---

1. So long as determination prevails, so long as the particular is determined by another particular, we roam in the sphere of causation and this is the region of matter. But when we rise to the notion of creativity, when nothing is determined or caused but where everything is freely chosen we reach in the realm of spirit....

एन के. ब्रह्मा, कॉजैलिटी एण्ड साइंस, पृ 73

सकता है। पर यह अपूर्ण कारण कार्योत्पत्ति की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर पाता और जो वास्तविक कारण है वह कार्य से अपना भेद न कर सकने से कारण के रूप में अपने को प्रमाणित नहीं कर पाता। वस्तुतः तो सब कुछ परमकारण की दृष्टि से कार्य है अतः यहाँ दो कार्यों के मध्य ही कारण कार्य की बात की जाती है। सम्पूर्ण व्यावहारिक जगत् एक कार्य रूप है, इसमें कोई कारण नहीं है केवल एक दशा का दूसरी दशा में परिवर्तन है। यद्यपि पूर्वगामी को उत्तरगामी का कारण कहा जाता है पर वह वस्तुतः कारण नहीं है। उन सभी का अस्तित्व परमकारण रूप परतत्त्व में है। इस पूर्वगामी व उत्तरगामी रूप में कारण कार्य के वर्णन का कारण है कि मानवीय चेतना कालिक सम्बन्धों को ही पकड़ पाती है अतः उसी को आधार बना कर इस धारणा का विवेचन करती है। अतः पूर्वता व परता का सम्बन्ध पूर्ण कारण व कार्य के मध्य सम्बन्ध का विवेचन नहीं करता। इस पूर्ण कारण की प्रतीति पारमार्थिक चेतना को ही होती है। यह कारण सर्जनशक्ति के क्षेत्र से सम्बन्धित है, कारणता के क्षेत्र से नहीं। यह स्वतन्त्रतया रचना करता है व देशकाल के प्रत्ययों से उत्तीर्ण रहकर भी उनके अन्तर्गत वस्तुओं को आभासित करता है। पर इसकी रचना सर्जित कही जायेगी, कारण से उत्पन्न नहीं। परिवर्तन सदैव कार्य जगत् से ही सम्बद्ध है व अपूर्ण कारण की दृष्टि से ही सिद्ध होता है। परमकारण में तो सब कुछ अनुस्यूत है।

कारणता व पूर्वकथन–कारणता के सन्दर्भ में एक मूलभूत प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या कारणात्मक व्याप्ति के आधार पर भावी दशाओं का सही–सही पूर्वकथन किया जा सकता है। यद्यपि कारणता सम्बन्ध के आधार पर सामान्यीकरण किये जाते हैं व भूत भविष्य व वर्तमान–तीनों ही अवस्थाओं में उन नियमों की एकरूपता का भी निर्देश किया जाता है पर फिर भी उनके आधार पर किये गये पूर्वकथनों की सत्यता सदैव संदिग्ध रहती है। इसका कारण यह है कि कभी किसी प्रतिबन्धक स्थिति के आ जाने से उस नियम का अपलाप भी हो जाता है और यदि कारण को निषेधक व साधक दोनों दशाओं का समग्र कहा जाये तो फिर यहाँ संयोग (chance factor) को ही उत्तरदायी मानना होगा जिसके कि कारण पूर्वकथनों की सत्यता संदिग्ध रहती है अतः कारण का प्रत्यय पूर्ण नियमन नहीं करता ताकि उसके आधार पर पूर्वकथन हो सके। वहाँ भी संभावनायें रहती हैं पर तब कारण का प्रत्यय अपूर्ण ही है। अतः कारणता की धारणा को पूर्वकथन का आधार नहीं बताया जा सकता क्योंकि संयोग का प्रत्यय पूर्वकथनों की सत्यता को संदिग्ध कर देता है।

इस प्रकार का यह कारणता का प्रत्यय नाना वाद–विवादों का विषय रहने पर भी प्रत्येक क्षेत्र में किसी न किसी रूप में अनिवार्यतया स्वीकृत है। यद्यपि विज्ञान व दर्शन दोनों में ही इसको समान महत्त्व प्राप्त है पर विज्ञान का तो यह प्राणतत्त्व ही है लेकिन आज विज्ञान में भी इसकी उपपन्नता के सन्दर्भ में शंकायें उठने लगी हैं। कुछ वैज्ञानिक

अब इसकी सर्वव्यापक स्थिति स्वीकार करने से इंकार करने लगे हैं। सर आर्थर एडिंग्टन तो कारणता का निषेध कर अनियमनवाद को ही प्रश्रय देते प्रतीत होते हैं पर यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जो वैज्ञानिक कारणता के सिद्धान्त का निषेध करते हैं वे वस्तुतः अनियमनवाद के समर्थक नहीं हैं वरन् उनके मत का सार है कि 'नियमनवाद' तथा 'दृढ़ कारणता' अन्तिम नहीं है अर्थात् वे कार्यों की कारणता का निषेध नहीं करते, मात्र कार्यकारण सम्बन्ध के आधार पर किये जाने वाले सामान्यीकरण का निषेध करते हैं। अनियमनवाद या स्वातन्त्र्य भी कार्यकारणभाव का घटक हो सकता है। वह स्वातन्त्र्य का स्वतः प्रकाशन हो सकता है।

इस प्रकार पाश्चात्य व भारतीय दोनों दर्शनों में कारणता का प्रत्यय स्वीकृत होने पर भी उसके विवेचन में कुछ भिन्नतायें दृष्ट होती हैं।

पाश्चात्य व भारतीय कारणता सिद्धान्त में भेद–जहाँ पाश्चात्य दार्शनिक निमित्त कारण पर विशेष बल देता है व उपादान कारण की सत्ता को गौणतः ही स्वीकृत करता है वहीं भारतीय दर्शनों में उपादान कारण पर विशेष बल दिया गया है[1]। वस्तुतः तो पाश्चात्य दृष्टि में उपादान व निमित्त के मध्य का भेद ही विलीन हो गया है। भारतीय दृष्टि में निमित्त कारण को भी महत्त्व दिया जाने पर भी प्रधानता उपादान कारण की रही है। यह उपादान यहाँ अलग अलग दृष्टियों से भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है जैसे कि सांख्य दृष्टि से सक्रिय प्रकृति ही उपादान रूप है। यह परिवर्तनशील सत् दशाओं का आधार है। वेदान्त दृष्टि में यही उपादान ब्रह्म है पर यहाँ इसे ही निमित्त भी मान लिया गया है। ऐसा ब्रह्म यहाँ परिवर्तनशील पर विवर्त रूप दशाओं का स्थायी आधार है। न्याय वैशेषिक में यह उपादानता समवायिकारण रूप में मानी गयी है जो कि अवयवी होकर अन्य अवयवों को आधार रूप से धारण करता है। यह उपादान कारण का प्रत्यय पाश्चात्यों के अन्वित कारण (immanent cause) के प्रत्यय के सदृश ही है। अनात्मवादी दर्शनों में भी इन्हीं के समान कारण प्रकार स्वीकृत है पर उनका रूप कुछ भिन्न है।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य दार्शनिक कारण समूह (composition of causes) तथा कारण सामग्री (cause as the total of conditions) के प्रत्यय में भेद करते हैं। जब वे तथ्य जो कि एक पूर्ण कारण के लिये उत्तरदायी हैं, कार्योत्पत्ति में अलग-अलग स्वतन्त्रतया अपना योगदान रखते हैं तो उन्हें कारण समूह (composition of causes) कहा जाता है तथा जब अलग अलग न कर मिलकर ही अपना योगदान करते हैं तो उसे कारण सामग्री (sumtotal of conditions) कहा जाता है। परन्तु भारतीय दृष्टि में इस प्रकार का भेद करने का प्रयास नहीं किया गया है[2]। पाश्चात्य दर्शन में अवच्छेद[3] की

1. द्रष्टव्य, कॉजेशन इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 27
2. अवर हैरिटेज, भा. 1, खण्ड 1, पृ. 33.
3. अवच्छेद का अभिप्राय है कि एक विशिष्ट कारण से ही एक विशेष कार्य की उत्पत्ति होती है।

धारणा का भी कारणता सिद्धान्त के सन्दर्भ में प्रयोग उपलब्ध नहीं होता जबकि भारतीय कारणता सिद्धान्त में इस प्रत्यय के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं[1]। इसके अतिरिक्त जहाँ पाश्चात्यों के सम्मुख प्रमुख समस्या निमित्त कारण व कार्य के मध्य सम्बन्ध स्थापना की है वहीं भारतीयों के सम्मुख प्रमुख समस्या उपादान कारण व कार्य के मध्य सम्बन्ध स्थापना की है।

भारतीय दार्शनिकों के सम्मुख मूलतः दो समस्याओं का विवेचन मूलभूत है–(क) जागतिक गति की पृष्ठभूमि में कोई स्थिर तत्त्व निहित है या नहीं। (ख) उस स्थिर तत्त्व का गति से सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। इन्हीं समस्याओं का विवेचन करते हुये वे अन्य विविध समस्याओं के सम्पर्क में आते हैं–

(अ) कार्य (गति) कारण (स्थिर या गतिशील तत्त्व) में पूर्वसत् है या असत्[2]।

(आ) कार्य कारण का यथार्थ परिणाम है या विवर्त।

(इ) कारण कार्य को उत्पन्न करता है, अभिव्यक्त करता है या आभासित करता है अथवा कुछ नहीं करता मात्र रज्जुसर्पवत् उस अविद्याजन्य विक्षेप का अधिष्ठान बनता है।

(ई) कार्योत्पत्ति के बाद कारण की क्या स्थिति रहती है, वह स्थित रहता है या नष्ट हो जाता है।

इसी सन्दर्भ में यहाँ कुछ अन्य विवेचनीय प्रश्न सम्मुख आते हैं जो यद्यपि पाश्चात्य सन्दर्भों में बहुचर्चित है पर भारतीय दर्शनों में से किसी–किसीने ही इन प्रश्नों की व्याख्या का प्रयास किया है–

1. कारण बहुत्व से क्या कार्यबहुत्व भी होता है?
2. कारण व कार्य दोनों का परिमाण समान है या भिन्न?
3. कारणता के आधार पर क्या नियम बनाये जा सकते हैं।

इस प्रकार सामान्य दृष्टि से कारणता के प्रत्यय व उसके सन्दर्भ में जायमान विविध प्रश्नों का विवेचन हो जाने पर भारतीय दर्शनों में कारणता सम्बन्धी विविध दृष्टियों का विवेचन द्रष्टव्य है जो अग्रिम अध्यायों में विवेच्य है।

---

1. द्रष्टव्य, कॉन्सेप्ट ऑफ कॉज, अवर हैरिटेज, भा. 1, खण्ड 1, पृ. 34-35.
2. कारण में कार्य की सत्ता के विषय में भारतीय दर्शनों में विविध मत उपलब्ध होते हैं–कहीं कारण में कार्य विकार रूप में सत् है (सांख्य) कहीं विवर्त रूप में (वेदान्त), कहीं कारण में कार्य की पूर्वसत्ता का पूर्ण निषेध कर असत्कार्यवाद का ही पोषण किया गया है (बौद्ध व न्यायवैशेषिक) तथा कहीं कारण में कार्य को सत् और असत् दोनों ही बताया गया है। (समस्त भेदाभेदवादी दर्शन)।

6

कर्मसिद्धान्त या नैतिक नियमनवाद

दार्शनिक सिद्धान्त में उपलब्ध विविध दृष्टियों के आलोचन से यही विदित है कि जागतिक व्यवस्था के मूल में दो तथ्य निहित रहते हैं–प्रकृति का सार्वभौमिक नियत व्यापार तथा जीव की क्रियाओं का व्यवस्थित स्वरूप। इन उभयविध तथ्यों के मूल की व्याख्या प्रायः कर्म सिद्धान्त का आश्रय लेकर की जाती है[1]। कर्म शब्द सामान्यतः कृ करणे से मनिन् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न है व मानव या सृष्टि के अन्य पदार्थों की सामान्य क्रिया का वाचक है पर प्रस्तुत सन्दर्भ में यह विशिष्ट अभिप्राय को ध्वनित करता है[2]। यद्यपि इसका व्यापारात्मक अभिप्राय यहाँ भी अवशिष्ट रहता है पर उसका सन्दर्भ काफी विस्तृत होकर कारणात्मक श्रृंखला के रूप में अभिव्यक्त होता है।

दार्शनिक विवेचन में कर्म की धारणा दो प्रकार से विवेचित प्राप्त होती है–(1) समष्टिपरक दृष्टि से (2) व्यष्टिपरक दृष्टि से। प्रथम दृष्टि के अनुसार कर्म प्रकृति का सार्वभौमिक नियम है जिसकी कि व्याख्या प्रकृति के स्वात्म–समायोजनात्मक व्यापार रूप में की जा सकती है। वैदिक ऋषियों का ऋत व गीता के धर्माधर्म इसी दृष्टि के पोषक हैं। द्वितीय दृष्टि में इसे नैतिक नियमन का प्रणेता सिद्ध किया गया है। यहाँ यह जीवों के द्वारा प्राप्य विपाकों[3] के लिये उपयुक्त कारण प्रस्तुत करता है व सांसारिक वैषम्य की उपयुक्त व्याख्या करता है। इसके अनुसार व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला प्रत्येक कर्म एक संस्कार छोड़ जाता है जिसका फल कर्ता को अग्रिम भविष्य में अनिवार्यतया उपलब्ध होता है। वह भविष्य इसी जन्म में भी संभव है व आगे आने वाले अन्य जन्मों में भी।

इस प्रकार कर्मसिद्धान्त एक व्यवस्थापरक दृष्टि प्रणेता है। यह व्यवस्था सार्वभौम प्रकृति की क्रियाओं के सन्दर्भ में भी हो सकती है तथा मानव व्यापारगत भी। कर्म का समष्टिपरक अभिप्राय जहाँ प्रकृति के व्यापार में विद्यमान व्यवस्था के लिये

---

1. यद्यपि नियमनवाद की व्याख्या में दो प्रकार के नियामक माने जाते हैं–कर्मसिद्धान्त व कारणता सिद्धान्त। पर कारणता सिद्धान्त मूलतः कर्म सिद्धान्त का ही उच्छिष्ट है। अपने व्यापक अर्थों में कर्म शब्द उस ब्रह्म के सर्जन व्यापार का संकेतक है जो सारी विश्व प्रक्रिया का कारण है। (द्रष्टव्य गी. 8/3) फलतः समस्त कारणात्मक नियम उसी से नियमित प्रतीत होते हैं पर विशिष्ट सन्दर्भ में कर्मसिद्धान्त उस नैतिक नियमन के क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है जहाँ कि जीवों के कृत कर्मों व प्राप्य फलों के मध्य के सम्बन्ध की व्याख्या की जाती है।
2. कर्मशब्द के अभिधागत दो अर्थ हैं–क्रियात्मक व व्यवस्थापरक। इन्हीं दो अभिप्रायों को लेकर इसके दो विशिष्ट सन्दर्भ प्रवृत्त होते हैं। वे विशिष्ट सन्दर्भ हैं जागतिक सर्जन रूप तथा जागतिक व्यवस्था रूप।
3. विपाक शब्द का अभिप्राय है कर्मों से प्राप्त होने वाले फल। ये फल तीन प्रकार के होते हैं–जाति, आयु व भोग अर्थात् जन्म की कोटि, आयु की अवधि तथा सांसारिक वैभव आदि का भोग। द. पा. यो. सू. 2/13.

उत्तरदायी है वहीं व्यष्टिपरक अभिप्राय वैयक्तिक विपाकों व नैतिक नियमनवाद के लिये। प्रकृति में व्यापक नियम रूप में कर्म की व्याख्या सृष्टि के परिचालन व्यापार रूप में की जाती है जिसका कि अभिप्राय यह बताना है कि जगत् किसी बाह्य सत्ता के नियंत्रण से मुक्त हो स्वयं ही स्वयं के द्वारा परिचालित हो रहा है पर इस दृष्टि से कर्म कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है वरन् निर्गुण ब्रह्म का दृश्यमान व्यापार है। इस सन्दर्भ में इसे माया[1] की धारणा के साथ समीकृत किया जा सकता है क्योंकि अव्यक्त का व्यक्तीकरण, सूक्ष्म का स्थूलीकरण या एक का अनेकत्व माया का ही कर्तृत्व है और वह माया उस कर्म रूप व्यापार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार के व्यक्तीकरण में एक नियत व्यवस्था परिलक्षित होती है जिसके कि कारण कर्म को नियमनवाद का प्रेरक या एक व्यवस्था का स्थापक कहा जाता है।

नैतिक नियमन के लिये उत्तरदायी कर्म सिद्धान्त जीवों के कृत कर्मों व उनके द्वारा प्राप्य भोगों के मध्य ऐसा सामंजस्य बिठाता है जिससे कि एक नैतिक व्यवस्था सदैव बनी रह सके। नैतिक व्यवस्था से तात्पर्य है कि सुख, दु:ख, पुरस्कार, दण्ड आदि की विषमतापरक स्थितियों का जागतिक प्राणियों में समुचित व्यवस्थापन, या यह भी कह सकते हैं कि इस सन्दर्भ में कर्म सिद्धान्त हर कर्म (फल) के लिये एक कारण प्रस्तुत करता है जो कि पूर्वकाल में कृत कर्म का संचित संस्कार है। फलत: यही निष्कर्ष निकलता है कि कृत कर्म सदैव उत्तरकालिक कर्मों व फलों को नियमित करते हैं। इस सन्दर्भ में जीवों के द्वारा कृत कर्मों को प्राय: तीन वर्गों में बाँटा जाता है–संचित[2], प्रारब्ध व संचीयमान।

संचित कर्म वे हैं जो कि जीव के द्वारा वर्तमान क्षण तक निष्पन्न किये जा चुके हैं और जिनके संस्कार 'अदृष्ट' रूप में एकत्रित हैं ये कर्म संस्कार वर्तमान जन्मगत भी हो सकते हैं व पूर्व जन्मगत भी। प्रारब्ध कर्म इन्हीं संचित कर्मों के वर्ग के वे कर्म हैं जिनका कि विपाक प्रारम्भ हो गया है क्योंकि संचित कर्मों में वैविध्य के कारण उनमें विविध फलप्रदायित्व रहता है। अत: उन सबका परिपाक एक काल में नहीं संभव है इसी कारण उनमें पूर्वापरता क्रम रहता है। संचीयमान कर्म वे हैं जिनको कि संचित किया जा रहा है। वस्तुत: व्यापार की दृष्टि से कर्म दो ही प्रकार के होते हैं–प्रारब्ध व अनारब्ध। प्रारब्ध कर्म वे हैं जिनका फल मिलना प्रारम्भ हो गया है तथा अनारब्ध कर्म वे हैं जिनका कि विपाक अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है।

---

1. यहाँ माया शब्द किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिनिधि नहीं है वरन् मात्र परतत्त्व की सर्जन शक्ति का प्रतीक है।
2. इन्हीं संचित कर्मों का दूसरा नाम अदृष्ट और मीमांसकों की भाषा में अपूर्व है। इन संज्ञाओं के पड़ने का कारण है कि जिस समय वह कर्म या क्रिया की जाती है उसी समय वह दृश्य रहती है उत्तरकाल में वह स्वरूपत: शेष नहीं रहती वरन् उसके सूक्ष्म अतएव अदृश्य अर्थात् अपूर्व व विलक्षण संस्कार ही शेष रह जाते हैं। अत: उन्हें अदृष्ट या अपूर्व की संज्ञा से ही पुकारते हैं। यही दैव, भाग्य या नियति भी है। अरस्तू इसे ही फारर्च्यून (fortune) स्टोइक्स फेट (fate) तथा आधुनिक नीतिशास्त्री सर्कमस्टान्सेज(circumstances) कहते हैं।

इस प्रकार जागतिक व्यवस्था को बनाये रखने में इन प्रारब्ध कर्मों का विशेष महत्त्व है क्योंकि ये ही अन्य अग्रिम फलरूप कर्मों व विपाकों को निर्धारित करते हैं। प्रत्येक मनुष्य सदैव स्वकृत का ही उपभोग करता है क्योंकि कृत का कहीं प्रणाश नहीं होता तथा अकृत की प्राप्ति नहीं होती। जो जैसा बोता है वह वैसा ही काटता है। इस प्रकार संसार में उपलब्ध विविध विषमतापरक स्थितियों का सम्यक् निदान इस कर्मसिद्धान्त में खोजा जा सकता है। फलतः कोई पुण्यात्मा इस संसार में क्यों दुःख का भागी है या पापात्मा क्यों सुख का भागी है, इन विषमताओं का संगत समाधान उपलब्ध हो जाता है। जगत् में दृश्यमान जीवों के विविधकोटियों में जन्म का निर्धारण व आयु की अवधि में उपलब्ध पर्याप्त विविधतायें भी अपने संगत निदान रूप में इसी कर्मसिद्धान्त की पूर्वकल्पना का सहारा लेती हैं। इस प्रकार इन कर्मों के आधार पर सारी नैतिक व्यवस्था की स्थापना करने के कारण यह सिद्धान्त नैतिक शक्ति के संरक्षण का सिद्धान्त (conservation of moral energy) कहा जाता है[1]।

यह कर्म एक जन्म में ही घटित विपाकों का नियामक न होकर आगे आने वाले अन्य जन्मों व तद्गत भोगों का भी निर्धारण करता है[2]। अतः यह द्रष्टव्य है कि एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर के ग्रहण काल में ये कर्म किस रूप में अवस्थित रहते हैं जो उस दूसरे शरीर में प्राप्य भोगों का निर्धारण करते हैं। इस सन्दर्भ में सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर को ही उन कर्मों का वासस्थान कहते हैं। इस प्रकार कर्म लिंग शरीर के आश्रय से रहा करता है और जब आत्मा स्थूल देह छोड़ कर जाने लगती है तब यह कर्म भी लिंग शरीर द्वारा उसके साथ जाकर उसके द्वारा गृहीत देह की कोटि, अवधि व तद्गत भोगों का निर्धारण करता है। यह कर्म प्रवाह अनादि है क्योंकि एक बार कर्म प्रारम्भ हो जाने पर उसका चक्र सदैव चलता रहता है। प्रलयकाल में भी कर्मों के संस्कार बीज रूप में विद्यमान रहते हैं जो कि कालान्तर में पुनः सृष्टि होने पर उन जीवों को मिलने वाले जाति, आयु व भोग का निर्धारण करते हैं।

इस प्रकार का यह कर्म सिद्धान्त हर घटना के लिये एक कारण प्रस्तुत करता है या हर कार्य को उसके फल से जोड़ता है, साथ ही कारण के कर्ता को उसका भोक्ता भी बताता है। इस प्रकार का यह नियमन अन्य सभी प्राकृतिक नियमों से प्रधान है क्योंकि यह विश्व का चेतन[3] संचालक प्रतीत होता है। यह प्रतिफल रूप में पुरस्कार व दण्ड की सम्यक् योजना

---

1. द्रष्टव्य, राधाकृष्णन, भा.द.भा.। पृ. 244.
2. कहीं–कहीं तो यहाँ तक कहा गया है कि जीवों के द्वारा कृत कर्मों का फल न केवल उसे अपितु आगे आने वाली अन्य पीढ़ियों तक को भोगना पड़ता है। द्र.मनु. 4/173, म.भा. 80/3, 129/2.
3. यह चेतनता यहाँ बुद्धिपरक क्रियाशीलता की अभिव्यञ्जक है क्योंकि जड पदार्थ सुकृत या दुष्कृत का सुखात्मक व दुःखात्मक भोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सक्षम नही है पर अन्यत्र इस कर्मसिद्धान्त को जड मानकर इस व्यवस्था के संचालन कर्तृत्व को ईश्वर को सौंपा गया है जो कि जीव द्वारा कृत कर्मों में पाप पुण्य आदि का निर्धारण करता है। वस्तुतः तो कर्म न अच्छा है न बुरा। मनुष्य के द्वारा निर्धारित आचारसंहितायें ही उसे अच्छे बुरे की कोटियों में रखती है तथा ईश्वर द्वारा संचालित कर्मसिद्धान्त उन कर्मों का कर्मफलों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है।

करता है जो कि किसी चेतन तत्त्व का ही कार्य हो सकता है। इस कर्म सिद्धान्त में कारणता की धारणा सदैव अन्तर्निहित रहती है। वस्तुतः तो भौतिक दृष्टि से यह वह कारणता नियम ही है जो प्रायः सभी वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जाता है तथा आत्मिक दृष्टि से यह नैतिक पुरस्कार व दण्ड का नियम है जो कि मानवीय आचरण व क्रियाओं के क्षेत्र में कारणता के सिद्धान्त की स्थापना करता है। यह सुदृढ़तम नियामक है क्योंकि इसके बन्धनों का अपलाप बिना कर्मभोग के संभव नहीं है। इस प्रकार के नैतिक नियमनवाद के स्रोत रूप में कर्म सदैव क्लिष्ट अर्थात् अच्छा या बुरा होता है यद्यपि परमार्थ दृष्टि से यह तटस्थ है। यद्यपि नियमनवादी व्यवस्था का श्रेय इस कारणतापरक कर्मसिद्धान्त को सौंपा जाता है पर अद्वयवादी भारतीय तत्त्वमीमांसायें कर्म को कोई स्वतन्त्र तत्त्व न मानकर ईश्वर को उसका नियमनवादी कर्तृत्व सौंपती हैं पर वहाँ भी ईश्वर जीवों के कर्मों के आधार पर ही कर्म व कर्मफलों की व्यवस्था करता है जिससे कि वह नैर्धृण्य, पक्षपात आदि का भागी नहीं बनता। वस्तुतः तो यह कह सकते हैं कि कर्मों का फल तो ईश्वर नियमित करता है पर कर्म व कर्मफल के मध्य एक सतत कारणात्मक शृंखला का निर्धारण कर्मसिद्धान्त ही करता है।

इस प्रकार अपने व्यापक अर्थों में यह कर्मसिद्धान्त सारे जगत् को विश्वव्यापिनी शक्ति की ही क्रिया सिद्ध करता हुआ सारे जगत् को उसी कर्म की अविच्छिन्न शृंखला के रूप में प्रतिपादित करता है फलतः यहाँ प्रत्येक वर्तमान भूतकाल की असंख्य कड़ियों की अनन्तता के साथ अभंग रूप से बँधा हुआ सिद्ध होता है और वह अन्तिम स्रोत ही सारे कर्मों का एकमात्र नियामक रहता है।

इस कर्मसिद्धान्त का आसक्तिभाव से घनिष्ट सम्बन्ध है अर्थात् जिन कर्मों के निष्पादन में ममत्वभाव रहता है, वे कर्म ही उसे कर्म बन्धन में बाँधते हैं तथा कर्मानुकूल फलों का भागी बनाते हैं पर जिन कर्मों का सम्पादन अनासक्त भाव से सामान्य क्रिया रूप में किया जाता जाता है उनसे जीवों को कोई भोग नहीं प्राप्त होते। इसी आधार को लेकर ही संसार से मुक्ति प्राप्ति हेतु कर्मों का अनासक्त भाव से सम्पादन (निष्काम कर्म) एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा मानी जाती है। सकाम कर्म ही विपाकों के लिये उत्तरदायी हैं, संसरण के प्रेरक हैं।

इस कर्म–चक्र के अनादि होने पर भी उसका अन्त किया जा सकता है क्योंकि तभी भव–चक्र से छुटकारा संभव है। ज्ञान, भक्ति व कर्म (योग) में से किसी एक के या तीनों के प्रभाव से क्रियमाण व संचित कर्म शान्त हो जाते हैं, मात्र प्रारब्ध कर्म अपना फल देकर ही पर्यवसित होते हैं क्योंकि उनका विपाक एक बार प्रारभ हो जाने पर पूरी तरह फलित होने तक विरमित नहीं होता। इसी कारण जीवन्मुक्त व्यक्ति देह को धारण किये रहता है व नाना व्यापारों का सम्पादन करता है। विदेहमुक्त व्यक्ति के सारे कर्म शान्त हो जाते हैं अतः पुनः संसरण के लिये उत्तरदायी किसी ऐसे तथ्य की उपस्थिति नहीं रह जाती जो भावी जन्म या भोग का कारण बन सके।

भारतीय दर्शनों में इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में विविध मत मिलते हैं पर इसकी अनिवार्यता सभी को स्वीकृत है। भारतीय दर्शनों की द्विविध धाराओं में ईश्वरवादी दर्शन जहाँ इस यांत्रिक सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में एक चेतन नियामक को भी स्वीकारते हैं वहीं अनीश्वरवादी दर्शन इसी को सारे जगत् की व्याख्या में पर्याप्त मानते हैं।

कर्मसिद्धान्त तथा इच्छा स्वातन्त्र्य–कर्म का सिद्धान्त मानवीय आचरण व क्रियाओं के क्षेत्र में कारणता सिद्धान्त की स्थापना करता है। इस आधार पर आलोचक कर्म सिद्धान्त को नियतिवादिता का प्रेरक बताते हैं पर यहाँ यह प्रश्न विवेचनीय है कि कर्म यथार्थतः नियतिवादी है या स्वातन्त्र्य के अभ्यास के लिये स्थान छोड़ता है। इस सम्बन्ध में स्वातन्त्र्य का प्रत्यय भी विचारणीय है कि यह क्या निर्देशित करता है अर्थात् यह मात्र समस्त प्रकार के नियमनों व कारणता सिद्धान्त का अभाव है या यह आत्मनियमन है। वस्तुतः तो यहाँ यह आत्मनियमन रूप ही है। अतः जब यह प्रश्न होता है कि कर्म इच्छा स्वातन्त्र्य के लिये स्थान छोड़ता है या नहीं, वहाँ यही अभिप्राय है कि यह आत्मनियमन का बहिष्कार करता है या नहीं।

साथ ही कर्मसिद्धान्त सब कुछ पूर्वकर्मों का ही परिणाम बताता है तो मनुष्य आज जो कुछ भी करता है वह पूर्वकाल में किये गये स्वयं उसके या उसके पूर्वजों के कर्मों का परिणाम है, फलतः उस कार्य का करना या न करना उसकी इच्छा पर आधारित नहीं हो सकता। तब तो गीता के कथन 'अनिच्छन् अपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः' के अनुसार वह सब कुछ बिना इच्छा के यंत्रवत् किये जा रहा है क्योंकि सब कुछ उसके पूर्वकर्मों जिसे पारिभाषिक शब्दावली में दैव, भाग्य या नियति कहते हैं, के द्वारा ही संचालित है। उसके पास आत्मनियमन रूप स्वातन्त्र्य भी नहीं है। पर ऐसी स्थिति में तो कर्म की गति जिधर ले जायेगी उधर ही जाना है तो व्यक्ति के पास कोई चयन स्वातन्त्र्य नहीं बचता फलतः उसे अपने अच्छे बुरे कार्यों के लिये कैसे उत्तरदायी कहा जाये। इस सन्दर्भ में विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि जीव दो अंशों से मिलकर बना है–ब्रह्म अंश तथा प्रकृति अंश। ब्रह्म अंश जहाँ स्वातन्त्र्य की विभूति से युक्त है वहीं प्रकृति अंश नियमनवादी शृंखला से जकड़ा हुआ है। इनमें ब्रह्मांश की ही प्रधानता है क्योंकि प्रकृत्यंश उसका ही व्यापार है अतः जीव में इच्छा–स्वातन्त्र्य की पूर्वकल्पना की संभावना स्पष्टतः घटित होती है। वस्तुतः तो कर्मों का संचय रूप भाग्य का प्रत्यय व्यक्ति के स्वप्रयत्न का ही परिणाम हैं अतः उसके द्वारा प्राप्त विपाकों के लिये वह स्वयं उत्तरदायी है। इस प्रकार व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता स्वयं सिद्ध होता है।

यहाँ यह शंका संभव है कि यद्यपि इससे यह स्पष्ट होता है कि हमारे विषय में जो कुछ घटित होता है, उसका कारण हम स्वयं हैं पर फिर भी हम अपने भूत कर्मों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते। अतः यह कह सकते हैं कि यद्यपि दबाव बाह्य नहीं है पर भी यह दबाव तो है ही। फलतः इच्छा–स्वातन्त्र्य की बात नहीं हो सकती। पर वस्तुतः यह

समस्या अधिक विश्लेषण करने पर ज्यादा देर तक स्थिर नहीं रह पाती क्योंकि कर्म का सिद्धान्त मात्र फल को नियमित करता है, मानव की कर्म स्वतन्त्रता पर अंकुश नहीं लगाता। यद्यपि यहाँ यह कह सकते हैं कि वह विशेष कर्म भी तो किसी पूर्व कर्म का ही प्रतिफल है अतः उस पर अंकुश लगना स्वाभाविक है। पर इस दिशा में खोजते–खोजते हम जिस मूल व अन्तिम आत्मतत्त्व तक पहुँचते हैं, उसके परम स्वातन्त्र्य की असीम संभावनाओं का प्रतिफल ही सारा जागतिक क्रिया–कलाप सिद्ध होता है। फलतः यही तथ्य उद्घाटित होता है कि मात्र प्रज्ञा के क्षेत्र में यथार्थ स्वातन्त्र्य की संभावना के लिये यह कर्म का सिद्धान्त स्थान छोड़ता है, लौकिक अनुभव के क्षेत्र में नहीं, वहाँ तो प्रतीयमान स्वातन्त्र्य सर्वथा प्रातीतिक है। भारतीय दर्शनों में भी आत्मजगत् को यथार्थ स्वातन्त्र्य का क्षेत्र तथा भौतिक जगत् को कर्म बन्धन का क्षेत्र कहा गया है[1]।

यद्यपि कुछ विद्वान कर्म की एकमात्र नियामकता मानते हैं पर कुछ विद्वान कर्म को भी मात्र उन कारणों में से एक मानते हैं जो कि मानव जीवन की घटनाओं के क्रम की व्याख्या करते हैं। उन अन्य कारणों में स्वप्रयत्न प्रमुख है जिसके कि बिना कर्म भी सक्रिय नहीं होता क्योंकि कर्म का सिद्धान्त प्रयास व फल में विषमता के समाधान रूप में ही प्रस्तुत होता है पर बिना वर्तमान कर्मों की सहायता के भूत कर्म कोई फल नहीं दे सकते। अतः यह मानव सामर्थ्य के अन्दर है कि उसके विकास में सहायता करे अथवा अवरोध उपस्थित करे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कर्म का सिद्धान्त भाग्यवादी नहीं है और न ही वैयक्तिक प्रयत्नों व उत्तरदायित्व की योग्यता को नष्ट करता है।

मानव बुद्धि की यह मूलभूत प्रवृत्ति है कि वह विरोधों के आधार पर ही कुछ विचार कर सकने में समर्थ हैं। इसी कारण जहाँ वह एक ओर कर्मनियमन को जगत् के नियामक रूप में प्रस्तुत करती है, वहीं दूसरी ओर स्वतन्त्रता की बात भी करती है। वस्तुतः तो यह स्वातन्त्र्य उसी जीवगत अंश में संभव है, जिस अंश रूप में वह उस अनन्त प्रकृति तत्त्व का अंश है अन्यथा तो सर्वत्र परिवेशकृत, वंशानुक्रमकृत, स्वकर्मकृत नियमन रहता ही है। मन, प्राण व शरीर कर्मबन्धन में बद्ध संभव हैं पर आत्मा नहीं। वह कर्म नियम से स्वतन्त्र है अतः वैयक्तिक क्रम विकास की सामर्थ्य रखती है। जब जीवात्मा व परमात्मा के मध्य के भेद का विलय हो जाता है तब वह एक शाश्वत आनन्द रूप स्वातन्त्र्य की प्राप्ति कर लेता है और उस स्थिति में कर्म सिद्धान्त उस स्वातन्त्र्य का स्फार हो जाता है। फलतः भावी या अदृष्ट एक ऐसा तथ्य सिद्ध है जिसे कि परमात्मा अपनी दृष्टि की योजना में छिपाये रखता है अथवा यह भी कह सकते हैं कि यह वह नियति है जिसका कि क्रियान्वन प्रकृति ही अपनी स्वशासित क्रियाओं के स्थिर निर्धारित नियम के अनुसार करती है और मनुष्य सर्वत्र इस अनन्त से जुड़ा हुआ है। अतः इसकी एक विलग नियति नहीं संभव है, वह सब तो मिथ्या आरोप मात्र है। वस्तुतः तो जागतिक

---

1. द्रष्टव्य, अरविन्द, पुनर्जन्म और क्रमविकास, पृ. 83–84

नियति ही उसकी नियति है जिसका कि निर्धारण कोई स्वतन्त्र शाश्वत तत्त्व करता है[1]।

यह कर्म सिद्धान्त पुनर्जन्म की पूर्वकल्पना को अनिवार्यतया प्रस्तुत करता है क्योंकि सारे कर्मों का भोग एक जन्म में संभव नहीं हैं। ये कर्म सिद्धान्त व पुनर्जन्म की धारणायें पूर्णतया भारतीय हैं। पाश्चात्य दर्शन में इस दृष्टि से विचार नहीं किया गया है। वहाँ तो भौतिकवादी दृष्टि का ही पोषण है। अतः वहाँ का सारा विवेचन प्रायः इसी जन्म से सम्बद्ध है पर जागतिक वैषम्य के निदान रूप में कर्म सिद्धान्त को किसी न किसी रूप में स्वीकारना उनके लिये भी अपरिहार्य हो जाता है, चाहे उसकी संज्ञा वहाँ कुछ भी हो[2]।

1. वही, पृ. 87-88.
2. ये संज्ञायें फेट, फार्च्यून, सरकमस्टान्सेज आदि रूप हैं।

7

भारतीय दर्शनों में नियमनवाद की द्विविध विधायें

A-कारणतासिद्धान्त

भारतीय दर्शनों में कारणता सम्बन्धी विविध मत उपलब्ध होते हैं जिनका प्रमुख कारण है परतत्त्व व जगत् सम्बन्धी उनकी विविध मान्यतायें। कुछ दर्शन सारे जगत् को प्रतिक्षण परिणामी मानते हैं तो कुछ इसकी स्थिर सत्ता स्वीकारते हैं; कुछ परतत्त्व के रूप में निर्गुण, निराकार ब्रह्म की स्थापना करते हैं तो कुछ सगुण, सविशेष तत्त्व की; कुछ का मत है कि आत्मतत्त्व व अनात्मतत्त्व दो व्यतिरिक्त सत्तायें हैं तो कुछ उनका समन्वय प्रस्तुत करते हैं, कहीं अद्वैत का प्रतिपादन है तो कहीं द्वैत का या कहीं द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत में से किसी एक का, कुछ भेदाभेदवाद प्रतिपादित करते हैं तो कुछ स्याद्वाद, कुछ बहुत्ववादी हैं तो कुछ एकत्ववादी। इन्हीं विविध मान्यताओं के आधार पर यहाँ जगत् व परतत्त्व के मध्य के सम्बन्ध की विशिष्ट ढंग से व्याख्या की गयी है जो कि कारणता सम्बन्ध की ही विशिष्ट दिशा का प्रतिनिधित्व है।

जागतिक गति की व्याख्या के लिये अग्रसर भारतीय दर्शनों में इस सन्दर्भ में भी भेद उपलब्ध हैं जिसके कारण उन्हें तीन वर्गों में बाँट सकते हैं—

(क) गति की पृष्ठभूमि में एक स्थिर तत्त्व रहता है (बौद्धों के अतिरिक्त प्रायः सभी दर्शन)

(ख) गतिमात्र ही सत्य है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है (बौद्ध)

(ग) गतिस्वभावी नित्य तत्त्व की ही एकमात्र स्थिति है। (स्पन्दवाद, काश्मीर शिवाद्वयवाद)।

यह भेद भी कारण दृष्टियों में भेद का हेतु है। जागतिक गति व परमसत् की व्याख्या के लिये अग्रसर भारतीय तत्त्वमीमांसा में इन दोनों बिन्दुओं के सन्दर्भ में नाना विप्रतिपत्तियाँ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार परमसत् के स्वरूप के सन्दर्भ में भी नाना मतभेद हैं। इस सन्दर्भ में 'सत्' शब्द का अर्थ ही नाना विप्रतिपत्तियों का जनक है। यों तो सत् शब्द का प्रकृत अभिप्राय है 'है' और असत् शब्द का है 'नहीं है' पर विविध दार्शनिक उसका भिन्न-भिन्न तरह से अर्थ करते हैं। कुछ का मत है कि सत् का अभिप्राय है निर्विकार तथा असत् है विकारमय (मायावादी अद्वैत वेदान्त)[1]; कुछ के अनुसार सत् वह है जो गोचर है तथा असत् वह है जो अगोचर है (तार्किक); कुछ के अनुसार सत् का अर्थ 'है' व असत् का अर्थ 'नहीं' ही ठीक है (सांख्य); कुछ सत का अर्थ अनित्य, विकारी या क्षणिक करते

1. ये यहाँ मिथ्या या असत् का भी विशिष्ट अर्थ करते हैं जिसे वे अनिर्वचनीय कहते हैं जिसके कि विषय में न 'है' कहा जा सकता है व न 'नहीं है' कहा जा सकता है।

हैं व असत् का अर्थ स्थिर मानते हैं (बौद्ध)[1]।

इन्हीं दृष्टिभेदों के कारण परमसत् व जगत् के मध्य सम्बन्ध स्थापन में भी कई भेद उपलब्ध होते हैं। यह सम्बन्ध स्थापन का भेद ही कारणता का भेद है। वस्तुतः तो भारतीय दर्शनों में उपलब्ध कारणता के विविध प्ररूपों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं–

कार्य के स्वरूप की दृष्टि से–

(क) आकस्मिकतावाद या यदृच्छावाद	चार्वाक मत
(ख) असत्कार्यवाद	(1) न्यायवैशेषिक दर्शन
	(2) बौद्ध सम्प्रदाय
(ग) सत्कार्यवाद[2]	(1) सांख्य मत
	(2) रामानुज मत
	(3) वल्लभ मत
	(4) निम्बार्क मत
(घ) सदसत्कार्यवाद	(1) जैन मत
	(2) मध्व मत
(ङ) विवर्तवाद	(1) आभासवाद
	(2) प्रतिबिम्बवाद
(च) भेदाभेदवाद	भास्कर
(छ) आभासवाद[3] या कर्तृकर्मभाव	काश्मीर शिवाद्वयवादी सम्प्रदाय

कारण–व्यापार की दृष्टि से–

(क) स्वभाववाद	चार्वाक मत
(ख) परिणामवाद	(1) सांख्ययोग सम्मत प्रकृतिपरिणामवाद
	(2) रामानुज सम्मत ब्रह्मपरिणामवाद
	(3) निम्बार्क सम्मत ब्रह्मपरिणामवाद
	(4) वल्लभ सम्मत अविकृतब्रह्मपरिणामवाद
	(5) भास्कर सम्मत भेदाभेदपरक ब्रह्मपरिणामवाद

---

1. यहाँ इन चार अर्थों को ही दिखलाने का अभिप्राय है कि मूलतः अन्य सभी दृष्टियाँ इन्हीं चार कोटियों की ही व्युत्पन्न कोटियाँ हैं।
2. मीमांसा मत का एक वर्ग सत्कार्यवाद का प्रतिपादक है और दूसरा असत्कार्यवाद का।
3. यह आभासवाद काश्मीरशिवाद्वयवाद की आभासवादी दृष्टि का ही प्रतिनिधि है जबकि विवर्तवाद में अभिगणित आभासवाद सुरेश्वराचार्य के मत का प्रस्तोता है।

(ग) आभासन या स्पन्दन	काश्मीर शिवाद्वयवाद व वैयाकरण दर्शन
(घ) आरम्भवाद	(1) न्याय वैशेषिक मत
	(2) मीमांसा मत का एक वर्ग
(ङ) प्रतीत्यसमुत्पाद	(1) माध्यमिक मत
	(2) अन्य बौद्ध सम्प्रदाय
(च) विवर्तवाद[1]	शांकरवेदान्त
(छ) अजातिवाद	गौडपाद
(ज) मिश्रित प्रक्रिया	(1) जैन मत
	(2) माध्व मत

इस प्रकार भारतीय दर्शन में उपलब्ध विविध कारणतावादों को विविध संज्ञाओं से पुकारते हैं जिसका कि निमित्त वहाँ प्रस्तुत उनकी विशिष्ट व्याख्यायें ही हैं। अब विभिन्न दर्शनों में इस कारणता सम्बन्ध का विस्तृत विश्लेषण अपेक्षित है, जो निम्न है–

(1) **वैदिक साहित्य में कारणता**–जगत् में दृष्ट एकरूपताओं ने ही वैदिक विचारकों को एक व्यवस्थित जगत् की कल्पना के लिये विवश किया। इसी एकरूपता दर्शन के आधार पर वे कुछ नियत आशायें व पूर्वसंभावनायें प्रस्तुत करने लगे। इसी नियमितता की व्याख्या एक नियम के रूप में खोजी जाने लगी फलतः कारणता व कर्म (ऋत) की धारणाओं का विकास हुआ। वैदिक साहित्य समस्त उत्तरवर्ती दार्शनिक चिन्तन का स्रोत है अतः यहाँ एक विशिष्ट कारणता सिद्धान्त का प्रतिपादन न होकर नाना कारणता सिद्धान्तों के बीज उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य बहुदेववाद, एकेश्वरवाद तथा अद्वैतवाद के बहुरंगी सिद्धान्तों का मिश्रण है अतः यहाँ जागतिक सृष्टि के उद्‌विकास का विवरण कई प्रकार से उपलब्ध होता है और इसी विवरण के आधार पर कई निष्कर्ष निकाले जाते हैं। वैदिक परम्परा के वेद, ब्राह्मण, आरण्यक आदि ग्रंथों में इन सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन नहीं उपलब्ध होता पर उपनिषदों के उद्धरण इस सन्दर्भ में स्पष्ट विवरण प्रस्तुत करते हैं। वैदिक मंत्र तो प्रायः जागतिक शक्तियों की ही देव रूप में स्तुति करते हुये इन विविध सिद्धान्तों की अस्पष्ट झलक प्रस्तुत करते हैं पर ये अस्पष्ट विवरण इतने अपूर्ण हैं कि इनसे किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। यहाँ प्रस्तुत विवरणों से यों तो वहाँ असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद, विवर्तवाद सभी की स्थिति को सिद्ध किया जा सकता है पर मंत्रदृष्टा ऋषि के यथार्थ अभिप्राय को समझना अति दुष्कर है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का बहत्तरवाँ सूक्त असत् से सत् की उत्पत्ति बताता है वहीं अन्यत्र पूर्वसत् पदार्थ से ही सृष्टि की संभावना बताई गयी है[2]। पर यही नासदीयसूक्त सत्–असत् दोनों का

---

1. यह विवर्त शब्द यहाँ प्रक्रिया को ही बता रहा है जबकि पूर्व विभाजन में पदार्थ की सत्ता की प्रकृति को।
2. जहाँ मैकडॉनल इस अभिप्राय से अपनी सहमति व्यक्त करते हैं वहीं डॉ. राधाकृष्णन् इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि जहाँ असत् से सत् की उत्पत्ति का कथन है वहाँ यह अर्थ नहीं है कि सत् असत् के अन्दर से आता है वरन् इसका तात्पर्य है कि प्रकट सत् अस्पष्ट असत् से प्रादुर्भूत होता है। इसी प्रकार सत् से जगत् की उत्पत्ति का कथन परवर्ती सत्कार्यवाद का बीज भी नहीं है। द. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भा. 1, पृ. 94

निषेध कर काम से ही सृष्टि का उद्भव बताता है[1]। इसके अतिरिक्त कारणप्रक्रिया की दृष्टि से कुछ स्थल जागतिक उद्विकास को किसी बढ़ई या यंत्र नियोजक जैसे सृष्टा की यांत्रिक प्रक्रिया का परिणाम बताते हैं[2] वहीं अन्यत्र इसे स्वाभाविक रूप से किसी पदार्थ (जल, तपस्, रात्रि, वायु, अव्यवस्था (chaos) से उद्विकसित बताया गया है[3]। कहीं–कहीं ये दोनों सिद्धान्त सम्मिलित रूप से भी प्रतिपादित उपलब्ध होते हैं जैसे हिरण्यगर्भ स्वयं आद्य जल से उत्पन्न होकर पुनः सृष्टि कामना से युक्त हो उस अव्यवस्था (chaos) से जगत् की रचना करता है[4]। ये ही स्थल यहाँ स्वीकृत कारण प्रकारों को भी बताते हैं कि कहीं अभिन्ननिमित्तोपादान का प्रतिपादन है[5] व कहीं निमित्त व उपादान दोनों को अलग अलग माना गया है[6] साथ ही इन विवरणों से यह भी सिद्ध होता है कि कहीं उत्पत्ति हेतु मात्र उपादान की स्थिति प्रतिपादित है व कहीं उपादान व निमित्त दोनों की आवश्यकता बताई गयी है। जैसे उन विवेचनों में जहाँ जल, तपस, वायु, रात्रि, अव्यवस्था आदि से जगत् का स्वभावतः उद्विकास प्रतिपादित है वहाँ मात्र उपादान कारण की ही आवश्यकता पर बल दिया गया है पर जहाँ विश्वकर्मा, प्रजापति, त्वष्ट्रा, विश्व पुरुष आदि को जगत् के स्रष्टा के रूप में बताया गया है वहाँ उपादान के साथ–साथ निमित्त की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। यह उपादान व निमित्त कारणता कहीं एक ही तत्त्व (ब्रह्म या पुरुष–शरीर)[7] से सम्बद्ध है व कहीं निमित्त कारण अपने से पृथक्तया स्थित उपादान कारण (आदिम पदार्थ जल आदि) से ही जगत् की रचना करता है। यहाँ कभी–कभी जागतिक कारणता का विवेचन माता–पिता की रूपकात्मक भाषा में भी किया गया है। इस सन्दर्भ में द्यावा–पृथ्वी तथा दक्ष–अदिति सम्बन्धी उद्धरण हैं। एक विश्वपुरुष (पुरुषसूक्त)[8] से सारी सृष्टि के विकास का प्रतिपादन कारण की पूर्णता व पर्याप्तता रूप अनिवार्य दशा का ही प्रतिपादक है। इसके अतिरिक्त कहीं–कहीं यज्ञ को भी जगत् का उपादान बताया गया है। वहाँ भी इसी प्रकार बिखरे हुये सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार के इस विवेचन के आधार पर यही सिद्ध होता है कि वैदिक साहित्य में उपलब्ध विवरणों से किसी एक सर्वस्वीकृत कारणता सिद्धान्त की उपस्थिति नहीं बताई जा सकती। वहाँ तो कई उत्तरकालीन सिद्धान्तों के बीज प्राप्त होते हैं जिनका अंकुरण उत्तरकाल में उपलब्ध होता है।

---

1. ऋ. 10/129
2. वही 7/86, 3/32/80, 10/81–82, 10/121/1
3. वही 10/190, 10/129
4. वही, 10/123/1
5. तै.ब्रा. 10/31/7, 10/81/4
6. ऋ. 10/121
7. वही 10/31/7
8. वही, 10/90

(ख) **औपनिषदिक साहित्य में कारणता–** औपनिषदिक साहित्य प्रायः समस्त उत्तरवर्ती दार्शनिक विकास का उत्स है अतः उत्तरवर्ती अधिकांश सिद्धान्तों की अस्पष्ट छाप यहाँ मिल जाती है। उपनिषदें किसी सिद्धान्त–विशेष को प्रतिपादित करने वाले व्यवस्थित ग्रंथ नहीं हैं वरन् इनमें मंत्रद्रष्टा ऋषियों के आत्मदर्शन की विविध विधायें संजोयी हुई हैं। फलतः तत्त्वदर्शन के सन्दर्भ में विविध सिद्धान्तों के बीज यहाँ उपलब्ध होते हैं। अतः यहाँ किसी विशिष्ट सिद्धान्त के प्रतिपादन को प्रामाणिक रूप से नहीं बताया जा सकता। पाश्चात्य विद्वान ड्यूसन उपनिषदों में उपलब्ध विवरणों के आधार पर यहाँ चार प्रकार के सृष्टि सिद्धान्तों की उपस्थिति प्रतिपादित करता है।

(क) जड प्रकृति (matter) चित् ईश्वर से स्वतन्त्रतया स्थित है जिसे कि वह मात्र विविध रूपों में सजाता है, पर उत्पन्न नहीं करता।

(ख) ईश्वर जगत् की उत्पत्ति असत् से ही करता है। जगत् की ईश्वर से स्वतन्त्र सत्ता है। (असत्कार्यवाद)।

(ग) ईश्वर स्वयं उन जागतिक रूपों में पारिणमित होकर जगत् की रचना करता है। (परिणामवाद)[1]।

(घ) ईश्वर ही एकमात्र सत् है ओर उसमें सृष्टि आदि कोई कृत्य नहीं है। जगत् तो मात्र उसकी छाया या आभास मात्र है। (विवर्तवाद)[2]।

इन चारों मतों में से चतुर्थ को ही वे उपनिषदों का यथार्थ मन्तव्य बताते हैं पर डॉ. राधाकृष्णन इस दृष्टि का विरोध करते हैं। उनका मत है कि उपनिषदों में कहीं भ्रम का सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित है। पर छान्दोग्य उपनिषद में उपलब्ध एक उद्धरण समस्त कार्यों को वाचारम्भणविकार मात्र सिद्ध करते हुये उपादान कारण को समस्त रूपान्तरणों में सत् सिद्ध करता है[3] और यह वृत्त विवर्तवाद की स्वीकृति को बल प्रदान करता है पर डॉ. राधाकृष्णन् का मत है कि यद्यपि यहाँ ब्रह्म की ही एकमात्र यथार्थ सत्ता प्रतिपादित की गयी है पर जगत् उसका विवर्त नहीं है वरन् सत् परिणाम है। विकार व्यावहारिक या जागतिक अवश्य हैं पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वे मिथ्या हैं वरन् वे वास्तविक परिणाम हैं। उनके मतानुसार तो यहाँ सांख्य के सत्कार्यवाद का ही पोषण है व स्पष्टतः असत्कार्यवाद का निषेध है[4]। डॉ. दास गुप्त का भी मत है कि कार्य यहाँ यथार्थ परिणाम के ही सूचक है। इस प्रकार यहाँ सांख्य सम्मत सत्कार्यवाद के बीज ही उपलब्ध प्रतीत होते हैं [5]पर प्रायः सभी वेदान्त सम्प्रदाय तथा अन्य आस्तिक दर्शन अपने–अपने द्वारा

---

1. असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। तै.उ. 2/7
2. राधाकृष्णन्, भा.द.,भा.।पृ. 173
3. यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मुख्यं विज्ञानं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्....। छा.उ. 6/1/4

   आचार्य शंकर इसी उद्धरण के आधार पर उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विवर्तवाद सिद्ध करते हैं।
4. फिलॉसफी ऑफ उपनिषद्स पृ. 161–162.
5. कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायतेति। सत्त्वैव सौम्येदमग्रासीदेकमेवाद्वितीयम्। छा.उ. 6/2/2

प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुरूप उद्धरण यहाँ खोज लेते हैं। यहाँ सांख्य की प्रकृति की भी किञ्चित् छाया विद्यमान है यद्यपि यह प्रकृति यहाँ ब्रह्म से एक रूप ही है। इस प्रकार का प्रकृतिमय ब्रह्म यहाँ स्वतःपरिणामी तत्त्व बताया गया है व यह निमित्त व उपादान दोनों ही कारणरूपों का अनुगमक प्रतीत होता है।

वस्तुतः तो उपनिषदों में विवर्त व परिणाम दोनों के सन्दर्भ में ही उद्धरण प्राप्त होते हैं। यद्यपि यहाँ जगत् का विस्तृत व पर्याप्त विवेचन उपलब्ध नहीं होता पर इतना तो सर्वत्र स्वीकृत प्रतीत होता है कि जगत् का उद्भव आत्मतत्त्व का ही कर्तृत्व है जड पदार्थ का नहीं। श्वेताश्वतर उपनिषद् इसी कारणता की समस्या से प्रारम्भ होकर काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि, पुरुष आदि सभी की कारणता को गौण मानते हुये आत्मतत्त्व की ही कारणता को सर्वप्रमुख मानती है[1]। इसी प्रकार उपलब्ध विवरणों से यह भी असंदिग्धतया सिद्ध होता है कि जगत् ब्रह्म से भिन्न कोई विविक्त सत्ता नहीं है वरन् ब्रह्म का ही एक पक्ष है[2]। इसे ही ब्रह्म के दो पक्ष विश्वोत्तीर्ण व विश्वमय कह कर भी बताया जा सकता है। यही तथ्य परवर्ती वेदान्त की शब्दावली में अभिन्ननिमित्तोपादान रूप से वाच्य है। प्रायः छान्दोग्य[3], तैत्तिरीय[4], ईश[5], तथा केन[6] उपनिषदें स्पष्ट शब्दों में जगत् के सन्दर्भ में ब्रह्म की कारणता का प्रतिपादन करती हैं। केन उपनिषद् का नामकरण ही उस उपनिषद् के प्रतिपाद्य ब्रह्म कारणता के सिद्धान्त को द्योतित करता है[7]।

यहाँ उपादान व निमित्त कारण की एकता की स्वीकृति का सिद्धान्त सृष्टि प्रक्रिया के विकास के सन्दर्भ में प्रयुक्त उपमाओं से पूर्णतया प्रमाणित हो जाता है। जगत् का विकास यहाँ मकड़ी से जाले के निर्माण, आग व उसकी चिंगारी आदि के सदृश ही ब्रह्म से होता है[8]। पर वह ब्रह्म स्वयं इन विकारों से प्रभावित नहीं होता[9]।

यह आत्मतत्त्व ही यहाँ जड चेतन सभी पदार्थों का कारण है। सर्वप्रथम उस कारण तत्त्व से किस तत्त्व का विकास हुआ इस सन्दर्भ में भी यहाँ विविध मत मिलते हैं।

---

1. श्वेत. उप. 1/1–3
2. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
   यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि, तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।। मुं.उ. 1/7
3. छा.उ. 3/12/1
4. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्ब्रह्मेति। तै.उ. 3/1
5. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
   तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।। ईश.उ.।
6. श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
   चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।। केन.उ. 1/2
7. हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न भा. 1, पृ. 65
8. बृ.उ. 1/4/7, 2/1/20, मु.उ. 1/1/7, 2/1/1
9. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
   एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।। क.उ. 2/11

छान्दोग्य उपनिषद् बताती है कि ब्रह्म से क्रम से अग्नि, जल व पृथिवी उद्विकसित होते हैं[1]। जबकि तैत्तिरीय उपनिषद् पाँच तत्त्वों के विकास को बताती है–आकाश, वायु, अग्नि,जल व पृथिवी[2]। इनका आत्मतत्त्व से एक के बाद एक विकास होता है। इन पञ्च तत्त्वों के कथन का आधार वस्तुतः पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विशिष्ट स्वभाव ही हैं वे ही पञ्च स्वभाव–शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध पांच तत्त्वों के भी स्वभाव हैं। ये पञ्च तत्त्व सूक्ष्म व स्थूल दो रूपों में रहते हैं, सूक्ष्म तन्मात्र व स्थूल महाभूत। जहाँ सूक्ष्म तो उस कारण तत्त्व से विकसित होता है वहीं स्थूल इन्हीं सूक्ष्म तत्त्वों के परस्पर मिश्रण से निर्मित है। प्रश्न उपनिषद् में इसी कारण इन तत्त्वों को आकाशमात्र, वायुमात्र, तेजोमात्र, आपोमात्र और पृथिवीमात्र कहा गया है।[3] उपनिषदें इन तत्त्वों के मिश्रण की प्रक्रिया से भी परिचित थीं, इसका स्पष्ट संकेत छान्दोग्य उपनिषद में उपलब्ध होता है[4] यद्यपि पञ्चीकरण की प्रक्रिया परवर्ती साहित्य में ही प्राप्त होती है[5]।

इन पाँच तत्त्वों से निर्मित जगत् पुनः अण्डज, जीवज व उद्भिज रूपों में विभक्त किया गया है[6] इसी में परवर्ती काल में स्वेदज की कोटि भी जोड़ दी गयी। यद्यपि उपनिषदों में सृष्टि व प्रलय के सतत् चक्र का स्पष्ट विवरण नहीं उपलब्ध होता पर श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस सन्दर्भ में कुछ उद्धरण उपलब्ध होते हैं[7]।

इन सबके अतिरिक्त यहाँ अजातिवाद के सिद्धान्त के बीज भी उपलब्ध हैं। पारतात्त्विक दृष्टि से कोई यथार्थ सृष्टि नहीं है। जगत् केवल प्रतीति रूप है यथार्थ नहीं। यद्यपि माया का सिद्धान्त यहाँ स्पष्टतया प्रतिपादित नहीं है पर कुछ प्रयोग यह सिद्ध करते हैं कि ऐसा सिद्धान्त स्वीकृत हो सकता है। जैसे याज्ञवल्क्य बृहदारण्यक उपनिषद् में भेद के लिये इस शब्द का प्रयोग करते हैं [8] जो इसे माया रूप ही बताता है। छान्दोग्य समस्त विकारों को वाचारम्भण मात्र सिद्ध करती है[9] या मैत्रायणी अलातचक्र का उदाहरण सृष्टि के सन्दर्भ में प्रस्तुत करती है।[10] बृहदारण्यक[11] में भी ऋग्वेद का उद्धृत अंश 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इसकी स्वीकृति को सिद्ध करता है। श्वेताश्वतर

---

1. तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्। तत्तेज ऐक्षत बहुस्याम प्रजायेयेति तदापोऽसृजत्।....ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति ता अग्नमसृजन्त।....छा.उ. 6/2/3–4
2. तै.उ. 2/1
3. प्र.उ. 4/8
4. तासां त्रिवृतं त्रिवृतमैकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्त्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्। छा.उ. 6/3/3
5. पञ्च तत्त्वों के मिश्रण से जगत् के निर्माण की व्याख्या परिणामवाद के सिद्धान्त को ही पुष्ट करती है।
6. छां.उ. 6/3/1
7. श्वेत. उप. 3/2, 5/3
8. बृह. उप. 2/4/14
9. वही, 6/1/4
10. वही, 6/24
11. वही, 2/5/19

उपनिषद् में तो माया को महेश्वर की शक्ति रूप अभिप्राय में ही प्रयुक्त किया गया है[1]। पर उपनिषदों में कहीं भी जगत् को भ्रमरूप मानने का सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता। जगत् तो यहाँ ईश्वर का ही अभिव्यक्त रूप है।

(ग) **चार्वाक दर्शन में कारणता[2]**— भौतिकवाद का समर्थक यह सम्प्रदाय किसी भी प्रत्यक्षोत्तीर्ण सत्ता को अस्वीकार करने के कारण कारणता के सन्दर्भ में एक विशिष्ट दृष्टि प्रस्तुत करता है जिसे कि यहाँ स्वभाववाद, यदृच्छावाद कादाचित्कवाद, आकस्मिकतावाद आदि विशिष्ट संज्ञाओं से अभिहित किया गया है[3]। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी पदार्थ स्वभाववश या संयोगवश अकस्मात् उत्पन्न होते हैं। कारणता यहाँ दो पदार्थों के मध्य का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि यह मत मात्र प्रत्यक्ष को स्वीकार करता है अतः मात्र प्रत्यक्षग्राह्य पदार्थों की ही सत्ता स्वीकारता है। कारण कार्य के मध्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष ग्राह्य नहीं है अतः ऐसे सम्बन्ध की सत्ता यहाँ अस्वीकृत है। इस सन्दर्भ में इस सम्प्रदाय का मत है कि यह सम्बन्ध व्याप्ति के आधार पर ही स्थापित किया जा सकता है व मानव प्रत्यक्ष उस व्याप्ति के निर्धारण में सक्षम नहीं है क्योंकि व्याप्ति का मूल तत्त्व है भूयोसहचार दर्शन व बाध का अभाव पर वास्तव में पूरे विश्व की घटनाओं का तो प्रत्यक्ष ही संभव नहीं है[4]। केवल वर्तमान घटनायें ही प्रत्यक्ष का विषय हो सकती हैं। अतः दो पदार्थों के मध्य अनिवार्य सम्बन्ध की धारणा मात्र बुद्धि विकल्प रूप है[5]। वस्तुतः तो दो पदार्थों को अक्सर साथ-साथ देखने से उन्हें साथ-साथ देखने की आदत पड़ जाती है और हम एक के होने पर दूसरे की कल्पना करने लगते हैं। पर इसके आधार पर यहाँ कारणता सम्बन्ध नहीं बताया जा सकता। साथ ही दो घटनायें साथ-साथ देखने पर भी यह निर्णय नहीं संभव है कि एक दूसरे का कारण है क्योंकि वहाँ सदैव उपाधि की संभावना रहती है और उपाधियों का अभाव प्रत्यक्ष के आधार पर निर्धारित नहीं किया जा सकता। फलतः दो वस्तुओं के मध्य के सम्बन्ध का निर्णय संभव

---

1. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
   तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।। श्वेत. उप. 4/10
2. तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रंथ को छोड़कर चार्वाक दर्शन का अन्य कोई विधिवत् साहित्य आज नहीं उपलब्ध है अतः इसका वर्तमान विवरण अन्य ग्रन्थों में पूर्वपक्ष रूप में आये हुये उल्लेखों तथा इस ग्रंथ में उपलब्ध विवेचन पर आधारित है।
3. चार्वाक दर्शन के कई अवान्तर सम्प्रदायों का उल्लेख कहीं कहीं हमें प्राप्त होता है। जिसके कि अनुसार कोई सम्प्रदाय तो स्वभाववाद का पोषक है, कोई यदृच्छावाद का और कोई आकस्मिकतावाद या कादाचित्कवाद का।
4. भूयोदर्शनगम्यापि न व्याप्तिरवकल्पते।
   सहस्रशोऽपि तद्-दृष्टे व्यभिचारावधारणात्।। न्या.मं.पृ. 109
5. भूयो दर्शनतस्तावद उदेति मतिरीदृशी।
   नियतोऽयम् अनेनेति सकलप्राणिसाक्षिका।। वही पृ. 111
   इस स्तर पर इस दर्शन का साम्य पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम से है जो कि इस अनिवार्यता को मानसिक संरचना मात्र मानता है।

नहीं है। यहाँ प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं एवं प्रत्यक्ष यहाँ अयोग्य है।

अतः यहाँ कारणता जैसे किसी सम्बन्ध की कल्पना का निषेध कर स्वभाववाद की धारणा पर बल दिया गया है। सभी पदार्थों का स्वभाव ही उनकी उत्पत्ति का कारण है। प्रत्येक पदार्थ का अपना एक निश्चित स्वभाव होता है जो कि उसकी सत्ता से एकरूप रहता है। एक विशेष वस्तु में एक विशेष कार्य को करने की शक्ति होती है यही शक्ति उसका स्वभाव है फलतः उससे उद्भूत पदार्थ उसी स्वभाव की उपज कथित होता है। इसके अतिरिक्त कहीं पदार्थ की उत्पत्ति संयोगवश या आकस्मिक भी मानी गयी है।

इस प्रकार चार्वाक पूर्णतया व्यवहारवादी व अनुभवपरायण सम्प्रदाय है अतः वह ऐसा कोई तथ्य नहीं स्वीकारता जो अनुभव विरोधी हो। पर मात्र स्वभाव से ही पदार्थों की तर्कसंगत व्याख्या नहीं संभव है। इस सन्दर्भ में इसकी काफी आलोचना की गयी है। साथ ही इसलिये भी इस मत की आलोचना की जाती है कि यह मत सारे निषेध तर्क के आधार पर करता है व तर्क अनुमान पर ही आधारित है फलतः यह दर्शन जिस अनुमान का खण्डन करता है, उसी के ही आधार पर अपने सिद्धान्तों की स्थापना करता है जो कि परस्पर विरोधी तथ्य हैं।

(घ) जैन दर्शन में कारणता सिद्धान्त[1]–जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है अतः यहाँ किसी एक मत को ही सर्वमान्य न बताकर कारणता के सम्बन्ध में प्रचलित सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद दोनों ही दृष्टियों को संगत बताया गया है। इस मतानुसार एक दृष्टि से तो कारण से पूर्व सत् कार्य का ही आभासन होता है तथा दूसरी दृष्टि से वह उत्पन्न कार्य नवीन है। इसी अनेकान्तवादी[2] दृष्टि के कारण इस सम्प्रदाय का कारणता सिद्धान्त सद्सत्कार्यवाद कहा जाता है। यहाँ कार्य अपने कारण में पदार्थ की दृष्टि से तो पूर्वसत् रहता है पर पर्याय की दृष्टि से असत्। इस प्रकार यहाँ सत्कार्यवाद तथा असत्कार्यवाद दोनों के सिद्धान्तों को मिश्रित करने का प्रयास किया गया है। अतः एक ही पदार्थ एक ही समय में कारण–कार्य दोनों है। द्रव्य की दृष्टि से देखने पर वह कारण है तथा पर्याय की दृष्टि से देखने पर कार्य है। यहाँ सत्ता क्षणिक भी है व स्थायी भी अन्यथा तो इस सम्प्रदाय के अनुसार कारणता संभव ही नहीं है। इस मत के अनुसार कारणता वहीं सम्भव है जहाँ पदार्थ स्थित भी है और नहीं भी है, कारण कार्य से भिन्न भी है और अभिन्न भी, एकसाथ भी रहता है व अलग भी। इनमें से पहली स्थिति कार्योत्पत्ति से पूर्व की है और दूसरी उत्पत्ति के बाद की।

---

1. जैन दर्शन प्रायः प्रक्रिया प्रधान सम्प्रदाय है अतः यहाँ तत्त्वमीमांसात्मक समस्याओं की व्याख्या की बजाय आत्मा के शुद्धीकरण से सम्बन्धित चर्चा विशेषतः उपलब्ध होती है। इस विवेचन में ही यत्र तत्र आये उल्लेखों के आधार पर तत्त्वमीमांसात्मक निष्कर्ष निकाले जाते हैं अतः यहाँ प्रस्तुत विवेचन उन्हीं विवरणों पर आधारित है।

2. भेदो वा स्यादभेदो वा द्वयं वा धर्मधर्मिणोः।
भेदे नैकमनेकं स्यादभेदेऽपि न युज्यते।।
द्वयपक्षोऽयमज्ञैः समुपकल्पितः।। हरिभद्रसूरी, अनेकान्तजयपताका, भा.।पृ. 15.

जैनियों की इस कारणता सम्बन्धी विशिष्ट दृष्टि की पृष्ठभूमि में उनकी विशिष्ट तत्त्वमीमांसा है जिसके कि अनुसार यहाँ सारे सत्य सापेक्ष हैं अतः यहाँ कोई एक सत्य ही मात्र यथार्थ नहीं हो सकता क्योंकि सत्ता एक जटिल संरचना है जिसका कि विवेचन विविध दृष्टियों से किया जा सकता है। इस प्रकार जैन मत में यथार्थ सत् न तो वेदान्तवत् मात्र कूटस्थ है और न बौद्धवत् मात्र प्रतिक्षण परिणमनशील वरन् उसमें ये दोनों ही गुण निहित हैं। इस सम्प्रदाय का कारणता सिद्धान्त इस सम्प्रदाय के द्रव्य सम्बन्धी मत पर ही आधारित है। जैन मतानुसार द्रव्य में दो प्रकार के गुण होते हैं जिनमें से कुछ तो सभी परिवर्तनों में स्थायी रहते हैं और कुछ परिवर्तित होते रहते हैं। स्थायी की संज्ञा गुण है और परिवर्तनशील की पर्याय[1]। इनमें से स्थायी गुण द्रव्य का स्वरूप हैं जिनके कि बिना द्रव्य नहीं रह सकता तथा परिवर्तनशील पर्याय आगन्तुक धर्म है। इस प्रकार सत्ता न केवल स्थायी है और न केवल परिवर्तनशील वरन् दोनों का सम्मिश्रण है।[2]। यही दृष्टि इस सम्प्रदाय के कारणता सम्बन्धी मत का भी पोषण करती है। अतः यहाँ कारणभूत द्रव्य के परिवर्तनशील पर्याय ही कार्य हैं जो कि अंशतः उस कारणभूत द्रव्य से एकात्म है तथा अंशतः भिन्न। कारण में एक विशेष कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति है अतः इस शक्ति रूप में वह कार्य उस कारण से एकात्म है लेकिन इसका आकार कारण से भिन्न एक नवीन रूप ही है अतः इस रूप में वह उससे भिन्न है। इस प्रकार यहाँ दोनों ही समस्यायें हल हो जाती हैं कि भिन्न होने पर भी एक विशेष कारण ही एक विशेष कार्य को उत्पन्न करने में सक्षम होता है व कारण में कार्य के पूर्वसत् रहने पर भी उसे अपनी उत्पत्ति हेतु कारणव्यापार की अपेक्षा रहती है।

इस प्रकार जैन दृष्टि दो अतियों का बहिष्कार कर एक समन्वित दृष्टि प्रस्तुत करती है। यह दृष्टि सांख्य व न्यायमतों का समन्वय है पर वस्तुतः यह सांख्य मत के अधिक निकट है। इसका सांख्य से भेद मात्र इतना है कि जहाँ सांख्य उस आभासित पदार्थ को नवीन वस्तु नहीं मानता वहीं जैन मत मानता है। न्याय से यह इन अर्थों में भिन्न है कि यह संयोग और वियोग दोनों से दो नवीन पदार्थों की उत्पत्ति मानता है अर्थात् दो कपालों के जुड़ने से जैसे एक नवीन पदार्थ घट की उत्पत्ति होती है वैसे ही उनके वियोग से भी दो कापालिक रूप नवीन पदार्थों की उत्पत्ति होती है। साथ ही यह न्याय के विपरीत कारण में कार्य को पूर्वसत् मानता है[3]।

यह दर्शन उपादान कारण, करण कारण तथा निमित्त कारण – ये तीन कारण मानता है। करण रूप श्रेणी में यहाँ करण व धर्माधर्म दोनों आते हैं तथा निमित्त कारण में कर्म। इस कारण के कुछ प्रकार कार्योत्पत्ति में परोक्षतया ही सहायक हैं जैसे अस्तिकाय

1. गुणपर्यायवद् द्रव्यम् – तत्त्वार्थाधिगम सूत्र 5/38
2. इसी कारण यहाँ सत् की परिभाषा उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य से युक्त रूप में की गयी है। –द्रष्टव्य, स्यादवादमञ्जरी पृ. 13
3. द्रष्टव्य एम.सी. भारतीय, कॉजेशन इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 108–109

रूप आकाश, धर्म, अधर्म[1] तथा अनस्तिकाय रूप काल। इस प्रकार सांख्य व न्याय मत जहाँ करण व निमित्त को एक बताते हैं वहीं जैन मत इन दोनों को अलग अलग मानता है।

जागतिक सृष्टि के सन्दर्भ में यहाँ किसी ईश्वर रूप चेतन कर्ता की कल्पना नहीं की गयी है वरन् मात्र अणु[2] ही सारे जागतिक पदार्थों की संरचना के लिये उत्तरदायी कहे गये हैं[3]। ये अणु संगठित होकर आत्मा के कर्म शरीर के अनुसार स्थूल शरीर व भोग्य पदार्थों की रचना करते हैं।

(ङ) **बौद्ध सम्प्रदाय में कारणता**—इस सम्प्रदाय के विकास को प्रायः दो धाराओं—प्राचीन व अर्वाचीन में विभक्त कर इसकी तत्त्वमीमांसा का विवेचन किया जाता है क्योंकि यहाँ मूल सिद्धान्तों में समानता होने पर भी उनके विवेचन में पर्याप्त भेद उपलब्ध है। प्राचीन बौद्ध वर्ग जहाँ बुद्ध के मूल उपदेशों पर आधारित है[4] वहीं अर्वाचीन बौद्ध सम्प्रदाय परवर्ती विद्वानों के विविध ग्रंथों पर आधारित है। इन दोनों ही वर्गों ने यद्यपि कारणता को प्रतीत्यसमुत्पाद की ही शब्दावली में व्यक्त किया है पर दोनों की व्याख्याओं में पर्याप्त भेद है[5]। यह प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त इस सम्प्रदाय की मूलभूत धारणा क्षणिकवाद[6] से अनुप्राणित है[7]। बौद्धमत नैरात्म्यवादी सम्प्रदाय है[8]। इस नैरात्म्यवादी

---

1. ये धर्म अधर्म पाप पुण्य के प्रचलित अर्थ में यहाँ नहीं स्वीकृत हैं वरन् क्रमशः गति व विराम के प्रेरक हैं। ये स्वयं में गति या विराम नहीं हैं वरन् गति व विराम के लिये आवश्यक दशा हैं। द्रष्टव्य सर्वदर्शन संग्रह पृ. 152
2. ये अणु न्याय वैशेषिक् में स्वीकृत अणुओं से इस अर्थ में भिन्न है कि जहाँ वहाँ अणु पांच प्रकार के हैं वही यहाँ अणु केवल एक प्रकार का है बाकी सब भेद तो औपाधिक ही हैं। (पञ्चास्तिकायसार 85) साथ ही यहाँ केवल रूप, रस, गन्ध व स्पर्श रूप गुण ही इन अणुओं में स्वीकृत हैं, ध्वनि रूप गुण नहीं जबकि न्यायवैशेषिक इन पाँचों प्रकार के परमाणुओं को अलग अलग मानता है। यहाँ ध्वनि को मौलिक गुण न मानकर पुद्गल परिणाम ही माना गया है। जैन दर्शन में इन अणुओं की संज्ञा भी विशिष्ट है—पुद्गल। यही संज्ञा बौद्धमत में जीव के लिये प्रयुक्त होती है। द्र.दास गुप्ता, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी भा.। पृ. 70
3. पञ्चास्तिकायसार 80–83
4. यद्यपि बुद्ध की शिक्षाओं में नैतिक तत्त्व प्रधान है तथा तत्त्वमीमांसक तथ्य अल्प दृष्ट होते हैं पर उनका विश्लेषण करने पर यह सुस्पष्ट है कि उन शिक्षाओं में एक निश्चित तत्त्वमीमांसक दृष्टि अन्तर्निहित है, फलतः उन शिक्षाओं के आधार पर पर्याप्त तत्त्वमीमांसात्मक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।
5. प्रारम्भ में तो मात्र दुःख की उत्पत्ति व उसके अन्त की व्याख्या में इस प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया।
6. बौद्ध क्षणिकवादी धारणा की पृष्ठभूमि में यह सिद्धान्त निहित है कि यदि किसी पदार्थ में कोई रूपान्तरण या परिणाम (आन्तरिक.या बाह्य) कालान्तर में दृष्ट होता है तो वस्तुतः वह सूक्ष्म रूप से प्रारम्भ में ही शुरु हो गया था तथा कालान्तर में स्थूलता को प्राप्त होने पर भासित हुआ है क्योंकि किसी भी पदार्थ में परिणमन प्रतिक्षण घटित होता है। इस प्रकार सब कुछ क्षणिक सिद्ध है। प्रारम्भ में यह क्षणिकता का सिद्धान्त मात्र चेतना के सन्दर्भ में प्रतिपादित था पर कालान्तर में समस्त पदार्थों के सन्दर्भ में प्रचलित हो गया।
7. यद्यपि बुद्ध ने केवल पदार्थों की परिवर्तित होने की योग्यता का प्रतिपादन इस रूप में किया था पर परवर्ती काल मे यह सिद्धान्त भौतिक व मानसिक सभी क्षेत्रों में व्याप्त हो गया।
8. इस नैरात्म्य के सन्दर्भ में इस दर्शन के विकासक्रम में दो धारायें उपलब्ध होती है। प्रथम तो मात्र पुद्गलनैरात्म्य की व दूसरी धर्मनैरात्म्य व पुद्गलनैरात्म्य दोनों की।

दृष्टि के मूल में वही क्षणिकवादी दृष्टि निहित है जिसके कि अनुसार सब कुछ क्षणों[1] का प्रवाहमात्र है। कोई स्थायी तत्त्व नहीं है। पर इस स्थायी तत्त्व रहित प्रवाह में भी एक अनादि व सर्वव्यापक नियम कार्य करता है जो कि निरन्तर कारणकार्य की शृंखला रूप में विद्यमान रहता है। अतः यहाँ क्षणों के इस प्रवाह में या समान दशाओं की धारा में दो सतत क्षणों के मध्य के सम्बन्ध[2] की व्याख्या इसी प्रतीत्यसमुत्पाद की शब्दावली में की गयी है। कहीं–कहीं इसे इदप्पच्चयता भी कहा गया है। यह इदप्पच्चयता बौद्ध ग्रंथों में कहीं पतिच्चसमुप्पाद का अंश कथित है और कहीं पतिच्चसमुप्पाद का पर्याय। प्रतीत्यसमुत्पाद[3] का अभिप्राय है इसके होने पर इसका होना (अस्मिन् सति इदं भवति) अर्थात् यह सम्बन्ध की आम धारणा दो सम्बन्धियों के परस्पर जुड़ने के विपरीत मात्र उन दो क्षणों को सम्बन्धी बताती है जो एक ही धारा में क्रमशः घटित होते हैं[4]। इस प्रकार प्रथम सम्बन्धी अर्थात् कारण पर एक दूसरे सम्बन्धी अर्थात् कार्य की उत्पत्ति निर्भर करती है[5]। यद्यपि कारण–कार्य यहाँ भी पहले व पीछे के क्रम में घटित होते हैं पर यहाँ प्रतिपादित क्षणिकवादी दृष्टि में यह पहले व पीछे का क्रम ही नहीं सिद्ध होता। यहाँ

---

1. क्षण की परिभाषा यहाँ विशिष्ट रूप में की गयी है। क्षण को क्रियापरिसमाप्तिलक्षण बताया गया है। (क्रियापरिसमाप्तिलक्षण एवं एषो नः क्षणः। अभिधर्मकोशभाष्य 2/46)
2. प्रवाह में या समान दशाओं की धारा में दो सतत क्षणों के मध्य क्या सम्बन्ध है? बुद्ध के काल में इसकी दो व्याख्यायें प्रस्तुत की गयी थी–(क) यह आकस्मिक है (ख) इस क्रम की पृष्ठभूमि में एक अतिप्राकृतिक शक्ति ईश्वर निहित है। बुद्ध ये दोनों व्याख्यायें ही नहीं मानते। वे दोनों क्षणों के मध्य एक अनिवार्यता का नियम मानते हैं। वे प्रकृति की एकरूपता के ही पोषक हैं फलतः यहाँ भी एक व्यवस्थित प्रवाह की धारणा प्रतिपादित प्रतीत होती है जो कि प्राचीन वैदिक साहित्य के ऋत और धर्म के प्रत्ययों के अनुरूप है। पर जहाँ वैदिक साहित्य इन दोनों की पृष्ठभूमि में एक कर्ता को भी मानता है जो कि किसी अज्ञात ढंग से व्यवहार करता है वहीं बौद्ध सम्प्रदाय ऐसे किसी कर्ता का निषेध करता है। इस संदर्भ में बौद्ध दृष्टि स्वभाववाद के समान है पर उससे एक अंश में भिन्न भी है कि स्वभाववाद जहाँ मानता है कि कार्योत्पत्ति की अनिवार्यता कारण में अन्तर्निहित है वहीं यहाँ ऐसा कोई आन्तरिक प्रयोजन नहीं माना जाता क्योंकि बौद्ध दर्शन के अनुसार उत्पत्ति कारण का आत्मविकास नहीं है। वरन् वह उसके साथ–साथ कुछ अन्य निश्चित सहकारी बाह्य तथ्यों का भी परिणाम है। यह अनिवार्य क्रम है पर फिर भी इसके द्वारा प्रस्तुत दवाब एक आकस्मिक प्रकार का है। स्वभाववाद से इसका एक और भेद यह है कि जहाँ स्वभाववाद में जो कुछ घटित होना है है वह अवश्य घटित होगा, चाहे हम चाहें या न चाहें, वहीं बौद्ध दृष्टि में हम किसी भी धारा को रोक सकते हैं बस केवल हमें उस कार्य के कारणों का ज्ञान होना चाहिये क्योंकि किसी भी कार्य की उत्पत्ति सहकारी कारणों पर निर्भर करती है और यदि उन्हें रोक दिया जाये तो कार्य भी रुक जायेगा।
3. इस 'प्रतीत्यसमुत्पाद' पद की व्युत्पत्ति प्रति+इण्+ल्यप् तथा सम्+उत्+पद् रूप में की जाती है। इस पूरे प्रत्यय का अर्थ है कारणों के होने पर कार्य का होना। जर्मन विद्वान शेरबात्स्की ने इसको combined origination या संयुक्त उत्पत्ति के रूप में व्याख्यात करते हुये इसके तीन अर्थ बतलाये हैं–(क) इसके होने पर यह होता है (ख) कोई यथार्थ उत्पत्ति नहीं है, मात्र अन्योन्याश्रितत्व है (ग) समस्त धर्म निर्व्यापार है। (तु की बौ न्या पृ 145) प्रतीत्यसमुत्पाद सम्बन्धी ये तीनों दृष्टियाँ उस समय वर्तमान कारणतामतों सांख्य न्याय तथा चार्वाक–का खण्डन करती हैं।
4. कारणता की व्याख्या यहाँ द्विविध शब्दावली में की गयी है–अस्मिन् सति इदं भवति तथा अस्योत्पादाद् इदमुत्पदयत्। (मा वृ पृ 9) इनमें से पथम से सक्रिय कारणता का बोध होता है व द्वितीय से निष्क्रिय कारणता का।
5. तद् तद् आश्रित्य उत्पदयते। त सं प पृ 176/24

तो प्रथम क्षण के समय द्वितीय क्षण की सत्ता नहीं है व द्वितीय क्षण के समय प्रथम क्षण की। अतः परस्पर अपेक्षा सम्बन्ध से अनुप्राणित यथार्थवादियों की कारणता यहाँ सम्भव नहीं हो पाती[1]। यहाँ तो प्रथम क्षण का नाश ही दूसरे क्षण की उत्पत्ति को निर्धारित करता है[2]। इसी दृष्टि के कारण इस मत को असत्कार्यवाद शीर्षक के अन्तर्गत रखा जाता है पर न्याय वैशेषिक असत्कार्यवाद से इसका भेद यह है कि इसमें कार्योत्पत्ति के काल में कारण अवशिष्ट नहीं रहता फलतः उसमें कार्य के सत् या असत् रहने की संभावना ही नहीं उत्पन्न होती जबकि न्याय वैशेषिक मत में कारण पूर्णतया नष्ट नहीं होता वरन् उस कारण रूप को त्याग कर नवीन कार्य रूप को धारण करता है। इस प्रकार यहाँ कोई स्थायी सत्ता नहीं है जिसमें परिवर्तन घटित होता हो वरन् एक परिवर्तन यहाँ दूसरे परिवर्तन के द्वारा निर्धारित होता है[3]। इस प्रकार का यह बौद्ध कारणता का सिद्धान्त यहाँ की अनात्मवादी धारणा का ही प्रतिफल है।

पर यहाँ एक कार्य एकमात्र घटना का परिणाम नहीं है वरन् साथ–साथ क्रियाशील कई कारणों का परिणाम है[4] अथवा यह भी कह सकते हैं कि यहाँ एक कारण क्षण अकेले कुछ नहीं उत्पन्न करता वरन् अन्य सहकारी कारण क्षणों से सहकृत होकर ही किसी कार्योत्पत्ति में सक्षम होता है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद का पर्याय यहाँ संभूयकारित्व बन जाता है। अतः यहाँ कारणों का समूह जिसे कि सामग्री कह सकते हैं व जिसमें सभी हेतु व प्रत्यय सम्मिलित हैं, ही कार्य को उत्पन्न कर सकता है। पर यहाँ की यह संभूयकारिता अन्य दर्शनों के कारणसामग्रीवाद जैसी नहीं है जहाँ कि कोई सक्रिय चेतन कर्ता निष्क्रिय कारणों पर क्रियाशील होता हो। बौद्ध सम्प्रदाय ऐसा कोई सक्रिय कर्ता नहीं मानता[5]। यहाँ तो सभी सहयोगी

---

1. सहवर्ती बौद्ध ग्रंथों में इस मत का काफी खण्डन उपलब्ध होता है। उनके मतानुसार ने दो स्थिर पदार्थों के मध्य कारणता का यथार्थवादसम्मत पौर्वापर्यपरक अभिप्राय संभव हो पाता है और न दो क्रमिक पदार्थों में। न दोनों ही स्थितियों में यह अपेक्षा सम्बन्ध के अभिप्राय में सध पाता है। (द्रष्टव्य सम्बन्धपरीक्षा 1–10) इस प्रकार कारणता यहाँ क्रियात्मक आश्रितता की ही स्थिति है जिसे कि कभी–कभी सापेक्षकारणतावाद भी कहते हैं। पर इस 'सापेक्षकारणतावाद' संज्ञा में सापेक्षता मात्र क्षणों के एक के बाद एक घटित होने में निहित है। (सत्तेव व्यावृतिस्तस्यां सत्यां कार्योदयो यतः। यः आनन्तर्यनियमः सैवापेक्षाभिधीयते 11 (त.सं. 520–21)।
2. इस सन्दर्भ में अन्य यथार्थवादी सम्प्रदायों का मत है कि वस्तुतः यहाँ शुद्ध क्रम है, कारणता नहीं। उनके अनुसार तो दो भिन्न क्षणों में स्थित पदार्थों में कार्यकारण सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है।
3. यद्यपि परिवर्तन की धारणा बौद्ध दर्शन की ही भाँति सांख्य में मूलभूत है पर सांख्य में जहाँ पुरुष इससे मुक्त है वहीं यहाँ कुछ भी इससे मुक्त नहीं है। साथ ही परिवर्तन यहाँ एक सत्ता का दूसरी सत्ता के द्वारा स्थानापन्न्य है जबकि सांख्य में यह परिवर्तन एक ही पदार्थ में घटित होता है। इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वान बर्गसाँ भी यद्यपि मात्र गति को ही सत्य मानता है पर जहाँ वह गति में किसी नियम का अभाव मानता है वहीं बौद्ध मत ऐसा नहीं मानता। द्रष्टव्य राधाकृष्णन, भा.द., भा.। पृ. 344
4. संयुत्त अत्थकथा 1/193
5. बौद्धों के इस कारणता सिद्धान्त की यही विशेषता है कि यहाँ कारण कार्य नियम बिना सत्त्व (स्थायी आधार) के रहता है जबकि इसके विपरीत ब्राह्मण दर्शनों में सत्त्व बिना कारणकार्यनियम के रहता है। राधाकृष्णन, भा.द.भा.। पृ. 345

कारणात्मक दशायें क्षणों का प्रवाह ही हैं। उनके मिलन बिन्दु से एक नवीन धारा उत्पन्न होती है जैसे कि मिट्टी, जल, धूप, बीज आदि रूप क्षण धाराओं के मिलने पर उस अन्तिम क्षण का अनुगमन अंकुर रूप क्षण करता है। वस्तुतः यहाँ ये कारण परस्पर कोई सहायता नहीं करते वरन् मात्र परिणाम की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान रहते हैं[1]। यह सम्प्रदाय प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति हेतु एक पर्याप्त कारण की आवश्यकता पर बल देता है[2] और यह पर्याप्तता समस्त अनिवार्य कारणात्मक दशाओं व प्रत्ययों की उपस्थिति हैं।

इस प्रकार यहाँ कोई स्थायी पदार्थ कारण नहीं है वरन् एक क्षणिक पदार्थ ही कारण हो सकता है क्योंकि इस सम्प्रदाय के अनुसार यदि कारण स्थायी है तो वह सर्वत्र व सर्वदा कार्य उत्पन्न करता रहेगा[3]। इसके अतिरिक्त यदि उनमें सहकारियों के बल से ही कारणता को सिद्ध किया जाये तो भी यह संभव नहीं है क्योंकि सहकारी यदि उससे भिन्न हैं और उनके आने पर ही कारणता संभव होती है तो सहकारी ही कारण हैं, वह स्थायी पदार्थ नहीं; यदि उससे अभिन्न हैं तब तो वे कारण का स्वभाव ही हो गये, अतः तब तो कारण को सर्वदा कार्य उत्पन्न करना चाहिये। यदि कारण को क्षणिक मानने के सन्दर्भ में यह आपत्ति की जाये कि यदि वह क्षणिक है तो सहकारियों से संयुक्त होने की प्रतीक्षा में कैसे रुका रहेगा, तो इस सन्दर्भ में कह सकते हैं कि ऐसा नहीं है कि कारण पहले स्थित हो व कार्योत्पत्ति तब करे जब कि अन्य सहकारियों से संयुक्त हो जाये वरन् वह कारणात्मक क्षण एक साथ ही दोनों काम करता है–सहकारियों से संयुक्त भी होता है व कार्य भी उत्पन्न करता है। यह योग्यता उसमें उन पूर्ववर्ती क्षणों की धारा के द्वारा आती है जिन पर कि वह आश्रित है। इस प्रकार कार्योत्पत्ति यहाँ एक स्थायी कारण से कार्य

---

1. इसके विपरीत न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय परस्परउपकारित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादक है। इस सन्दर्भ मे न्यायवैशेषिक व बौद्ध मत की परस्पर तुलना इस प्रकार की जा सकती है–यथार्थवादी के मत मे जहाँ कारणता एक से एक का सम्बन्ध (One to one relation) है वहीं बौद्ध मत में यह अनेक से एक का सम्बन्ध (Many to one relation) है। यथार्थवादी के मत में जहाँ निमित्त कारण उपादान कारण को नष्ट कर उससे नवीन पदार्थ की उत्पत्ति करता है वहीं बौद्ध मत मे न किसी का विनाश होता है, व न अन्य नवीन पदार्थ की उत्पत्ति, साथ ही न कारणों में सक्रियता हेतु किसी मानवीय सत्ता के व्यापार का हाथ रहता है। यहाँ तो मात्र सतत् क्षण प्रवाह है तथा वह मानवीय सहयोग भी एक निर्वैयक्तिक प्रक्रिया है। समस्त सहकारी कारण प्रापक क्षणों की अभिसारी धारायें मात्र हैं। ये ही उपसर्पण प्रत्यय कहलाते हैं जिनके कि मिलन बिन्दु पर एक नवीन धारा शुरू होती है। इस प्रकार बौद्ध सिद्धान्त एकक्रियाकारित्व का सिद्धान्त है वहीं यथार्थवादी का सिद्धान्त परस्पर उपकारित्व का सिद्धान्त है।
2. यही सिद्धान्त आज law of sufficient reason रूप में प्रायः समस्त आधुनिक ज्ञान विज्ञान की विधाओ मे स्वीकृत है। संभवतः बुद्ध उसी काल में कारण के इस आधुनिक प्रत्यय तक पहुँच गये थे।
3. बौद्ध मतानुसार यदि कारण निरन्तर रहे तो कारणता नहीं संभव है तब तो कार्य उत्पन्न नहीं हो सकेगा। जो स्थित है वह उत्पत्ति का विषय नहीं हो सकता, और यदि हो सकता है तब तो इस प्रक्रिया का कभी विराम ही नहीं सम्भव है। साथ ही विनाश भी केवल निषेध हैं उसका भी कार्यीकारण नहीं सम्भव है। विनाश तो मात्र सत्ता के गत्यात्मक स्वभाव का द्योतन है। इस प्रकार उत्पत्ति व विनाश की यथार्थ व्याख्या एक क्षण के बाद दूसरे क्षण के घटन मे ही निहित है। विनाश उत्पत्ति के लिये अनिवार्य दशा है।

की उत्पत्ति न होकर एक घटना का मात्र दूसरी घटना से स्थानापन्न्य है[1]।

इस प्रकार यहाँ एक पदार्थ किसी अन्य पदार्थ या वैयक्तिक इच्छा द्वारा नहीं उत्पन्न किया जाता क्योंकि सभी पदार्थ क्षणिक हैं अतः उनके पास कुछ उत्पन्न करने का समय नहीं है। एक क्षण मात्र सत् रहने से उनमें कोई क्रिया नहीं संभव है। बौद्ध मत है कि यथार्थवादी का यह मत कि एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति होती है, विरोधाभासात्मक है क्योंकि तब एक पदार्थ एक ही समय सत् व असत् दोनों होगा। यथार्थवादी मत कारण व कार्य दोनों की समकालिक सत्ता मानता है। जिसमें कि एक दूसरे पर क्रियाशील होता है। पर बौद्धमतानुसार कारण तब स्थिर ही नहीं रह सकता है जबकि कार्य उत्पन्न होता है[2]। कार्य कारण का अनुसरण अवश्य करता है पर उसके द्वारा उत्पन्न नहीं होता। कारण व कार्य की सहस्थिति तो असंभव ही है। उदाहरणार्थ घट व कुम्हार दोनों क्षणों की धारा मात्र हैं, इनमें से जो कुम्हार का क्षण घट के प्रथम क्षण के द्वारा अनुसृत होता है वही उसका कारण कहा जाता है। इस प्रकार कारण कार्य दोनों निर्व्यापार है[3]। अतः कारण कुछ उत्पन्न नहीं करता मात्र दोनों में अनुगाम्य-अनुगामित्व या परस्पर आश्रितत्व सम्बन्ध है। इसी को बौद्ध शब्दावली में संस्कृतत्व कहते हैं[4]।

इस कारणता की धारणा से इस बहुचर्चित समस्या कि 'क्या दिन रात का परिणाम है, का भी समाधान हो जाता है। यहाँ रात्रि की शृंखला का अन्तिम क्षण ही

---

1. (क) यहाँ पदार्थों में कोई स्थायित्व नहीं है। वे पूर्णतया उत्पन्न व नष्ट होते हैं। अतः कारणता यहाँ एक प्रकार का आकस्मिकवाद (occasionalism) ही सिद्ध होता है। (द्र.प्र.वा. 2/416-20)
   (ख) इस कारणात्मक परिवर्तन को हिरियन्ना revolution कहते हैं evolution नहीं (हि. ऑफ इ.फि. पृ. 211) क्योंकि इसका अभिप्राय पूर्ण परिवर्तन है। डॉ. राधाकृष्णन् इसकी व्याख्या एक अवस्था द्वारा दूसरी अवस्था के निर्माण रूप में करते हैं। वह इसे अविरत स्पन्दन का सूचक भी कहते हैं।
2. यद्यपि बौद्धों का एक वर्ग विशेष-वैभाषिक समकालिक कारणता को मानता हुआ प्रतीत होता है पर वह तभी संभव है जबकि दोनों पदार्थ स्थिर हों व किसी मानवीय व्यवहार के अनुसार संचालित हों जैसे कि घट कुम्हार के साथ-साथ रह सकता है पर यह स्थिति बौद्धों के क्षणिकवादी दृष्टिकोण के साथ नहीं संभव है।। द्र. त.सं.प.पृ. 176-1, 6, 12, 13)
3. अकिञ्चित्कर एव व्यापारः। त.सं.प.पृ. 177/3, सत्तैव व्यापृतिः। त.सं 177/2 यहाँ हेतु की सत्ता ही उसका व्यापार है। वस्तुमात्र विलक्षणव्यापाररहितं हेतुः। त.सं.प. वृ. 177/23)।
4. पर इस क्षणिकवादी सिद्धान्त के विरुद्ध यह आपत्ति की जाती है कि इस क्षणिकवादी सिद्धान्त में क्षणिकता का आधार क्या है-सत् या असत् अथवा सत्-असत् दोनों। सत् सदैव सत् रहेगा कभी असत् नहीं हो सकता और असत् सदैव असत् रहेगा कभी सत् नहीं हो सकता तथा सत्-असत् दोनों एक ही पदार्थ हों-यह स्थिति विरोधपूर्ण है। अतः यह क्षणिकवादी दृष्टि उपपन्न नहीं सिद्ध होती। साथ ही क्षणिकवाद उस एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के अनुसरण की नियतता की व्याख्या नहीं कर सकता। यदि प्रत्येक वस्तु दूसरे क्षण नष्ट हो जाती है तो क्या प्रमाण कि यह एक दूसरे के द्वारा अनुसृत है।.शंकर आदि आचार्यों ने इस क्षणिक कारणता सिद्धान्त की विविध तरह से आलोचना की है। फलतः यहाँ के दर्शनिकों के लिये क्षणभंगवाद के साथ कारणता सिद्धान्त की रक्षा करना अति मुश्किल हो गया अतः उत्तरवर्ती कई विद्वानों ने इस परिवर्तन की पृष्ठभूमि में एक स्थायी तत्त्व के प्रतिपादन की चेष्टा की। द्र. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन भा.।पृ. 347

दिन की शृंखला के प्रथम क्षण का कारण बताया जा सकता है। प्रत्येक क्षण अपने पूर्ववर्तियों के संघात का उत्पाद होता है और सदैव गतक्षण से भिन्न होता है किन्तु कहीं–कहीं वह समान भी प्रतीत होता है पर वहाँ भी हमारा अज्ञान ही है जिसके कारण हम उन क्षणों की विलक्षणता का बोध नहीं कर पाते[1]। इस प्रकार यह प्रतीत्यसमुत्पाद की स्थिति समान स्वलक्षण धारा में भी संभव है व विलक्षण में भी। जहाँ समान में हमें विलक्षणता का बोध नहीं होता है व हम किसी एकत्व की कल्पना कर लेते हैं वहीं असमान में एक नवीन कार्य की उत्पत्ति की बात करते हैं। यह प्रतीत्यसमुत्पन्नता यहाँ आश्रितता की शब्दावली में भी व्यक्त की जाती है। फलतः यहाँ प्रत्येक सम्बन्ध में एक आश्रेय अंश व एक आश्रय अंश रहता है। यह आश्रितता यहाँ दो प्रकार की हो सकती है–(i) एक दूसरे का अंश है (ii) एक दूसरे का फल है[2]। फलतः प्रथम में दोनों सम्बन्धियों में विषयात्मक सन्दर्भ समान रहता है मात्र व्यावृत्तिपरक भेद होता है वहीं द्वितीय में दोनों में विषयात्मक सन्दर्भ भिन्न–भिन्न होते हैं। इन्हें ही तादात्म्य व तदुत्पत्ति की संज्ञाओं से यहाँ अभिव्यक्त किया गया है।

इस प्रकार बौद्ध मत में क्षणिकवादी दृष्टि के कारण कुछ भी एक क्षण के बाद स्थित नहीं है अतः कारणता में भी प्रत्येक क्षण की अर्थक्रिया भिन्न–भिन्न ही प्रतीत होती है पर इस सन्दर्भ में यह आक्षेप किया जाता है कि प्रायः अनुभव में अक्सर एक क्षणधारा की एक ही अर्थक्रिया दृष्ट होती है तो हम कैसे कह सकते हैं कि एक पदार्थ की अर्थक्रिया प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है अन्यथा तो यदि नील का प्रथम क्षण नील संवेदना को जन्म दे देगा तो अवान्तरवर्ती क्षण विविध संवेदनाओं को उत्पन्न करेंगे। पर यहाँ उत्तर यह दिया जाता है कि जैसे पदार्थ में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है पर उसमें एक एकत्व की मिथ्या अनुभूति होती है वैसे ही संवेदना में भी उस परिवर्तन की उपेक्षा करने पर एक स्थिर पदार्थ की अनुभूति होती है।

इस बौद्ध मत में कारण दो रूपों में वर्णित है–(1) हेतु रूप में (causal succession) (2) प्रत्यय रूप में (ground)[3]। इसी प्रकार यहाँ कारणता भी दो

1. तु.की. बौद्ध न्याय भा.। पृ. 147.
2. वस्तुतस्तादात्म्यात् तदुत्पत्तेश्च।। न्या. बि. 2/22.
3. श्री कलुपहन के अनुसार कारणों के समूह की धारणा से ही विद्वानों में हेतु (cause) व प्रत्यय (conditions) के मध्य भेद की कल्पना उदित हुई है वस्तुतः तो यहाँ हेतु व प्रत्यय परस्पर पर्याय ही है। (कॉजैलिटी : दि सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म. पृ. 56) हेतु मूलभूत या प्राथमिक कारण है तथा प्रत्यय गौण या परिस्थितिजन्य कारण है। अभिधर्मकोश हेतु व प्रत्यय में इसी आधार पर भेद करता है। योगाचार सम्प्रदाय हेतु को कारण अर्थ मे ही ग्रहण करता है (विंशतिका, 235) सर्वास्तिवाद हेतु व प्रत्यय में अन्तर करता है। विज्ञानवादी व थेरा वादी प्रत्ययों के सिद्धान्त पर बल देते है। पर वे भी कहीं-कहीं इनके लिये हेतु व कारण शब्दों का भी प्रयोग करते है। अतः हेतु व प्रत्यय यहाँ परस्पर पर्याय ही है। (विंशतिका, 532)

प्रकार की बताई गयी है–(1) प्रत्यक्ष कारणता (2) अप्रत्यक्ष कारणता। इनमें से प्रथम तो अन्तिम व शुद्ध है जहाँ मात्र क्षण की यथार्थता है और द्वितीय उन क्षणों पर आरोपित विकल्पनात्मक जगत् से सम्बद्ध है फलतः एक को पारमार्थिक कारणता व दूसरे को जागतिक कारणता कह सकते हैं। इनमें से प्रथम में तो उस क्षण की कारणता है व द्वितीय में उस क्षण पर आरोपित व्यावहारिक पदार्थ की[1]। पर दोनों ही स्थितियों में पदार्थ स्थायी नहीं है। इन द्विविध कारणताओं के आधार पर यहाँ दो प्रकार की सत्तायें सिद्ध होती हैं–(1) क्षण की पारमार्थिक सत्ता (2) सीमित अवधि की व्यावहारिक सत्ता। यद्यपि व्यावहारिक कारणता की धारणा को मानसिक विकल्प भी कहा जाता है। पर वस्तुतः एक यथार्थ कार्य की सत्ता एक यथार्थ कारण की ही पूर्वकल्पना करती है अतः अप्रत्यक्ष या व्यावहारिक कारणता भी सत्य ही है।

इस सम्प्रदाय में कारणता को सत्ता का आवश्यक स्वभाव माना गया है[2] पर यहाँ की धारणा से यहाँ के परमसत् में किसी विकार या विकल्पात्मकता का लेश नहीं आता क्योंकि कारणता की यहाँ विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत की गयी है जो कि कुछ करने में निहित न होकर मात्र अविच्छिन्न रूप से एक के नष्ट होने पर दूसरे के घटित होने में है।

यहाँ पूर्ण कारण सामग्री को जान सकना संभव नहीं है। कोई सर्वज्ञ ही इन्हें जान सकता है। तथापि कुछ निश्चित नियमिततायें तो हम कारणता की विविध धाराओं में देख ही लेते हैं। इसी आधार पर यहाँ चार मुख्य प्रत्यय, छह हेतु तथा चार प्रकार के फल माने जाते हैं[3]। वस्तुतः कारण को मुख्यतः सामान्य व विशेष रूप से वर्गीकृत कर सकते हैं। जहाँ सामान्य वर्ग में सभी सक्रिय व निष्क्रिय कारण[4] आते हैं वहीं विशेष में इस कार्य की उत्पत्ति से पूर्व का कारणक्षण।

यों तो बौद्धों के सभी सम्प्रदायों में कारणता के प्रत्यय के विषय में एकता है पर उसकी व्याख्या में कुछ भेद भी मिलते हैं। अतः इस सम्बन्ध में बौद्धों के विविध सम्प्रदायों के मत अलग अलग हैं। प्रारम्भिक बौद्ध मत में आश्रितत्व के दो भिन्न–भिन्न सिद्धान्त थे–विशेष व सामान्य[1]। सामान्य सिद्धान्त विशेष का ही विकसित रूप है। विशेष

---

1. तु.की. बौद्ध न्याय भा.। पृ. 149
2. परवर्ती बौद्ध तार्किक तो सत्ता की परिभाषा ही प्रापकता या अर्थक्रियाकारिता की शब्दावली में करते हैं।
3. यद्यपि बौद्धों का एक वर्ग सर्वास्तिवाद ही इसे स्पष्टतया स्वीकार करता है पर कुछ अन्य वर्गों में भी चार प्रत्ययों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।
4. यद्यपि जो कारण निष्क्रिय लगते हैं उनमें भी क्रिया की योग्यता रहती है। इस प्रकार कारण के अन्तर्गत मात्र स्वयं को छोड़कर जगत् के सभी पदार्थ आ जाते है क्योंकि वे कार्योत्पत्ति में कोई सक्रिय भाग न लेने पर भी उसमें बाधा नहीं डालते हैं व कार्योत्पत्ति में सहायता की योग्यता रखते हैं अतः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उस पर प्रभाव डालते है। कार्य वस्तुतः समस्त कारणात्मक दशाओं की उपस्थिति का परिणाम है।

सिद्धान्त . जहाँ एक नैतिक नियम की स्थापना करता है, वहीं सामान्य सिद्धान्त सारी जागतिक घटनाओं की व्याख्या करता है। विशेष सिद्धान्त बताता है कि बौद्ध मत में एक नैतिक नियम मान्य है पर उसका आधार कोई स्थिर विषयी नहीं है, मात्र मानसिक व शारीरिक धर्म हैं जो परस्पर सम्बद्ध हैं। अतः वे प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। इसी विशिष्ट अभिप्राय में इस सिद्धान्त को यहाँ पतिच्चसमुप्पाद कहा गया है।

पुनः बौद्ध सम्प्रदाय को दो वर्गों–हीनयान व महायान में विभक्त किया जाता है।[2] इनमें से हीनयान प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या 'अस्मिन् सति इदं भवति' रूप में करता है। वह मानता है कि प्रत्येक क्षण अन्य क्षणों से सम्बद्ध होकर ही उत्पन्न है। यहाँ संस्कृत व परस्पर सम्बद्ध धर्म ही सत् है। इस सम्प्रदाय के कुछ विद्वान तो क्षणभंगवाद के द्वारा कारणता की व्याख्या संभव न होने से क्षणभंगवाद का ही खण्डन करते हैं।[3] ऐसे विद्वानों के मतानुसार कारण कभी नष्ट नहीं होता केवल कार्य रूप में बदलने पर उसका नाम बदल जाता है। इस हीनयान में वैभाषिक और सौत्रान्तिक दो वर्ग आते हैं। वैभाषिकों में चार मत प्रमुख हैं जिनमें से प्रथम मत भाव–परिणाम (मात्र आकार में परिवर्तन होता है,

---

1. द्र.बौ.न्या. पृ.161
प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में मात्र विशेष सिद्धान्त का ही वर्णन मिलता है पर परवर्ती ग्रंथों में इन दोनों का वर्णन मिलता है। यद्यपि सभी बौद्ध सम्प्रदाय इन दोनों को एक ही सिद्धान्त के दो पहलू मानते हैं पर महायान सम्प्रदाय का माध यमिक वर्ग इन दोनों में भेद करता है। इसके अनुसार वह विशिष्ट सिद्धान्त 'शून्यता' रूप है जबकि सामान्य सिद्धान्त ही प्रतीत्यसमुत्पाद का वाचक है। सर्वदर्शनसंग्रह में उल्लिखित बौद्ध मत जो कि योगाचार दृष्टि पर आधारित है, प्रत्ययोपनिबन्धक कारणता व हेतूपनिबन्धक कारणता रूप में कारणता के दो भेद करता है। (सर्वदर्शन संग्रह पृ. 89–90) प्रत्ययोपनिबन्धक कारणता में कार्य कारणों के समवाय से उत्पन्न होताहै जबकि हेतूपनिबन्ध क कारणता में प्रत्येक कारण से क्रमशः कार्य की उत्पत्ति होती चलती है जैसे भवचक्र के सन्दर्भ में प्रत्ययोपनिबन्ध क कारणता है पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश व विज्ञान के समवाय से कार्य की उत्पत्ति तथा हेतूपनिबन्धक कारणता है–अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति तथा जाति से जरामरण। अथवा यदि बीज अंकुर के लोकप्रचलित सिद्धान्त से इसे समझें तो बीज से अंकुर छह कारणों के सहयोग से उत्पन्न होता है। पृथिवी अंकुर की कठोरता व गन्ध का कारण है, जल चिकनाहट व रस (स्वाद) का, तेज रूप व उष्णता का, वायु स्पर्श व गति का, आकाश शब्द व स्थान का तथा ऋतु पृथिवी आदि को अपने अपने कार्यों को उत्पन्न करने की योग्यता प्रदान करने का कारण है। अतः यह प्रत्ययोपनिबन्धक कारणता का उदाहरण है तथा हेतूपनिबन्धक कारणता है–बीज से अंकुर, अंकुर से ग्रथि, ग्रंथि से डंठल, डंठल से से कली, कली से तूड, तूड से फूल, फूल से फल आदि।
2. यद्यपि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन के ही हीनयान व महायान उपवर्ग किये जाते हैं एवं अन्य चार सम्प्रदायों का विकास परवर्ती माना जाता है पर कभी–कभी इन्हीं हीनयान व महायान उपवर्गों में ही इन चार सम्प्रदायों को अन्तर्भूत कर लिया जाता है। अतः हीनयान में वैभाषिक व सौत्रान्तिक तथा महायान मे योगाचार व माध्यमिक को अन्तर्भूत किया जाता है। इन वैभाष्कि व सौत्रान्तिक सम्प्रदायों के लिये एक सामान्य संज्ञा सर्वास्तिवाद है जो कि इन दोनों की वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा की ओर इगित करती है। मात्र इन दोनों की तत्त्वमीमासा में यह भेद है कि जहाँ वैभाषिक सभी पदार्थों की बाह्य सत्ता प्रत्यक्ष से स्वीकार लेता है वहीं सौत्रान्तिक बाह्यार्थानुमेयवाद का प्रतिपादक है। बौद्धों का एक अन्य सम्प्रदाय जो सर्वाधिक अर्वाचीन है वह बौद्ध–तार्किक संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यह सम्प्रदाय तो कारणता को सत्ता का ही स्वभाव मानकर चलता है व 'सत्' की व्याख्या अर्थक्रियाकारिता व प्रापकता की शब्दावली में करता है।
3. उनके अनुसार तो क्षणिक पदार्थ भी स्थायी पदार्थों की भाँति ही क्रमिक रूप से या अक्रमिक रूप से किसी इच्छित कार्य को नहीं उत्पन्न कर सकता।

पदार्थ में नहीं) का, दूसरा मत लक्षण–परिणाम (केवल लक्षणों में परिवर्तन होता है) का, तीसरा मत अवस्था–परिणाम का और चौथा मत अपेक्षा–परिणाम का प्रतिपादक है। वैभाषिक कारण की व्याख्या सामान्य व विशिष्ट दोनों अर्थों में करते हैं साधारण अर्थ में एक मुख्य कारण (हेतु प्रत्यय) तथा तीन दशायें (अन्य प्रत्यय)–आलम्बन (object condition) समनन्तर (immediate condition) तथा अधिपति(dominant condition) यहाँ प्रतिपादित है[1]। सौत्रान्तिक भी वैभाषिक की ही भाँति कारण की परिभाषा प्रस्तुत करता है। वैभाषिक व सौत्रान्तिक के समवाय की सम्मिलित संज्ञा सर्वास्तिवाद है। इस सर्वास्तिवाद में कारणप्रकारों फल, दशाओं आदि की विशिष्ट व्याख्या की गयी है। यहाँ कारण को हेतु व प्रत्यय दो रूपों में वर्णित किया गया है। यद्यपि इन दोनों के मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। यहाँ स्वीकृत चार प्रत्यय है–आलम्बन प्रत्यय–समस्त ज्ञान के विषय इसके अन्तर्गत आते हैं; समनन्तर प्रत्यय–यह कार्य से तुरन्त पूर्व का क्षण है; अधिपति प्रत्यय–इसके अन्तर्गत इन्द्रिय आती है; सहकारी प्रत्यय[2]–इसमें सभी पूर्वस्थित सहकारी क्षणधारायें आती हैं[3]।

इसी प्रकार हेतु भी छह हैं–(1) कारण हेतु (general cause) (2) सहभू हेतु (simultaneous cause) (3) सभाग हेतु (homogeneous cause) (4) सम्प्रयुक्तक हेतु (interpenetrating cause) (5) सर्वत्रग हेतु (allpowerful cause) (6) विपाक हेतु (moral cause)। इनमें से कारण हेतु का अभिप्राय प्रायः सभी कारणों से है। समस्त संस्कृत व असंस्कृत धर्म इसके अन्तर्गत आते हैं क्योंकि वे सभी स्वयं के अतिरिक्त अन्यों के प्रति कारण हेतु है[4]। सहभू हेतु व सम्प्रयुक्तक हेतु अन्योन्याश्रित कारणता को प्रस्तुत करते हैं। सभाग हेतु कार्य के स्वभाव का कारण है। सर्वत्रग हेतु में सामान्य व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियाँ व विचार आते हैं तथा विपाक हेतु में समस्त अच्छे व बुरे कर्म अन्तर्भूत हैं। इनमें से सर्वत्रग व सभाग केवल वर्तमान व भूत से सम्बद्ध हैं जबकि सम्प्रयुक्त, सहभू व विपाक तीनों कालों से सम्बद्ध हैं।

यहाँ पाँच प्रकार के फलों का वर्णन मिलता है–

1. विसंयोग–मोक्ष (बुद्धि के द्वारा प्राप्त प्रतिसंख्या–निरोध)
2. विपाक–विपाक हेतु का फल
3. आधिपत्–कारण हेतु का फल

---

1. अभि को. 2/61, इनमें से हेतु प्रत्यय की व्याख्या अभिधर्मसमुच्चय में सात तरह से की गयी है–स्वभाव, प्रभेद, सहाय, सम्प्रतिपत्ति, पुष्टि, परिपन्थ व परिग्रह (अभि समु. पृ. 28) पर इन सभी को वैभाषिकों द्वारा प्रतिपादित अन्य प्रत्यय प्रकारों से समीकृत किया जा सकता है। डेविड जे. कलुपहन, कॉज़ैलिटी, पृ. 65
2. कुछ विद्वान इसको हैतु प्रत्यय भी कहते हैं। इसमें कारण हेतु को छोड़कर बाकी सभी पाँच हेतु आते हैं।
3. यद्यपि ये चारों प्रत्यय मानसिक कारणता से अथवा ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र से सम्बद्ध हैं पर इन्हीं में से समनन्तर प्रत्यय उपसर्पण प्रत्यय रूप में उपादान या समवायि कारण का प्रतिनिधित्व करता है व अधिपति प्रत्यय कारण हेतु का वाचक है। यही कार्य के स्वभाव का निर्धारक है।
4. ये हेतु दो प्रकार से क्रियाशील होते हैं–प्रथम तो सकारात्मक रूप से कार्य को उत्पन्न करते हैं व द्वितीय वे हैं जो उत्पत्ति का विरोध नहीं करते।

4. निष्यन्द–सभाग व सर्वत्रग हेतुओं का फल
5. पुरस्कार–सम्प्रयुक्त व सहभू हेतुओं का फल।

महायान सम्प्रदाय में प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ भिन्न हो जाता है। यहाँ योगाचार मत तो इसकी व्याख्या गत्यात्मक प्रत्यय के रूप में ही करता है जबकि माध्यमिक मत इसकी व्याख्या शून्यता रूप में करता है[1]। माध्यमिक मत में प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है परस्परापेक्षत्व और यह शून्यता की धारणा का अग्रसारक है। यहाँ चार प्रत्ययों का सिद्धान्त अयथार्थ कहकर अस्वीकृत कर दिया गया है। योगाचार मत में चल प्रतीत्यसमुत्पाद की कल्पना की गयी है[2]। माध्यमिकों के मत में जहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद सारे जागतिक पदार्थों की शून्यता का प्रतिपादक है वहीं यहाँ इसका अभिप्राय है–कुछ भी स्थिर तत्त्व नहीं है मात्र क्षणों का प्रवाह ही सत्य है। माध्यमिक कारणता को मात्र अज्ञानवृत्ति मानते हैं व इसे मात्र आभास रूप कहते हैं। इनके अनुसार सम्पूर्ण उत्पत्ति मिथ्या है क्योंकि एक पदार्थ न स्वयं उत्पन्न होता है, न दोनों की सहायता से उत्पन्न होता है और न किसी के बिना ही उत्पन्न होता है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद यहाँ यही बताता है कि उन जागतिक पदार्थों में कोई सार नहीं है, कोई सत्य नहीं है, फलतः न वे उत्पन्न होते हैं न नष्ट[3]।

योगाचार मत भी सारे जगत् का कोई आधार रूप कारण नहीं मानता वरन् इसे मात्र अनादि वासना का प्रतिफल मानता है जिसके कि द्वारा आलयविज्ञान से विविध प्रवृत्ति विज्ञानों की धारायें उत्पन्न होती हैं।

इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद[4] शब्द से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं–
(1) दृढ़ नियमन, (2) सहकारित्व, (3) द्रव्य का निषेध, (4) एक कर्ता का निषेध। यह कारणात्मक नियमन सर्वव्यापक है व सत्ता के सभी स्तरों पर सक्रिय है। मात्र असंस्कृत धर्म इसके कार्यक्षेत्र से परे हैं।

वस्तुतः यह प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त अति जटिल है,साथ ही सारे बौद्ध दर्शन का आधार है। यद्यपि यह अति आधुनिकीकृत सिद्धान्त है। पाश्चात्य विद्वान एस0 भाख का मत इससे काफी साम्य रखता है। साथ ही मिल, काण्ट, रसेल आदि भी इसी प्रकार एक स्थायी द्रव्य को नहीं मानते व जगत् की व्याख्या कुछ इसी ढंग से करते हैं।

---

1. यह शून्यता यहाँ निषेधवाची न होकर मात्र स्वभावशून्यत्व को बताती है। इस सम्प्रदाय में सभी पदार्थों को स्वभाव शून्य बताया गया है। शून्यता का प्रत्यय यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त है–(क) सापेक्षता के अर्थ मे (ख) परमसत्य या अनिर्वचनीय के अर्थ मे। प्रथम अर्थ संसारपरक है व द्वितीय अर्थ निर्वाणपरक है। प्रतीत्यसमुत्पाद परस्पर सापेक्षता को बताता है और जो कुछ होने के लिये दूसरे पर आश्रित है उसका अपना निजी स्वभाव सभव नही है। फलतः वह स्वभावशून्य है। इस प्रकार जब उसकी खुद की सत्ता नहीं है तो दूसरों को कैसे उत्पन्न कर सकता है। माध्यमिकों ने कारणता के लोकप्रचलित अभिपाय के व अन्य बौद्ध सम्प्रदायों में प्रस्तुत व्याख्याओं के खण्डन के लिये विविध तर्क दिये हैं और कारणता को मात्र मिथ्या प्रतीति रूप सिद्ध किया है।
2. चल प्रतीत्यसमुत्पादः। त स. प. पृ 131/12
3. न स्वतो न परतो नाप्यहेतुतः। प्रतीत्य तत् समुत्पन्नम, नोत्पन्नमेत स्वभावत ।।
4. इस प्रतीत्यसमुत्पाद के ही विविध पक्ष सस्कृतत्व, संभूयकारित्व, संस्कारवाद क्षणभंगवाद, निःस्वभावतावाद, अनात्मवाद, सर्वधर्मशून्यता, परस्पर अपेक्षा आदि रूप मे अभिव्यक्त होते है।

यह सिद्धान्त संसार व निर्वाण दोनों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। जहाँ यह परस्परापेक्षत्व का निर्देशक है वहाँ संसार को सूचित करता है और जहाँ अनिर्वचनीयता व शून्यता का प्रतिपादन करता है, वहाँ निर्वाण का प्रस्तोता है। यही यहाँ परमसत् रूप में भी कथित है जो कि सापेक्षत्व रूप में अभिव्यक्त होता है। यह सिद्धान्त बताता है कि इस बुद्धि प्रधान जगत् में प्रत्येक पदार्थ सापेक्ष है, संस्कृत है, उत्पत्ति व नाश विषय है, अतः क्षणिक है। इस प्रकार यहाँ प्रत्येक पदार्थ न पूर्णतया सत् है न असत्। इसी कारण बुद्ध इसे मध्यम प्रतिपत् कहते हैं जो शाश्वतवाद व उच्छेदवाद दोनों के मध्य का मार्ग है।

बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद का धर्म या नियम से भी तादात्म्य किया है। सारे दुःखों का निदान प्रतीत्यसमुत्पाद है, यही बुद्ध ने ज्ञानप्राप्ति में पाया था। शान्तरक्षित व नागार्जुन भी ऐसा ही मानते हैं। उसी कारण इसे नैतिक कारणता का सिद्धान्त भी कहा जाता है।

3. न्याय वैशेषिक मत में कारणता—न्याय वैशेषिक मत का कारण मीमांसा में विशिष्ट स्थान है। यहाँ जगत के अन्तिम उपादान कारण परमाणु सिद्ध किये गये हैं। ये परमाणु यहाँ नित्य माने गये हैं और कारण प्रक्रिया की व्याख्या आरम्भवाद की शब्दावली में की गयी है। इसी विशिष्ट दृष्टि को आरम्भवादी नित्यपरमाणुकारणवाद की संज्ञा से भी अभिहित कर सकते हैं। वस्तुतः तो कारणता का प्रत्यय न्याय वैशेषिक वस्तुवाद का प्रमुख आधार है। न्याय वैशेषिक वस्तुवादी दर्शन होने से व्यावहारिक ज्ञान के परे नहीं जाता अतः कारणता सम्बन्ध की अधिक व्यवहारपरक व्याख्या प्रस्तुत करता है। फलतः कारणता को वह कोई अतीन्द्रिय शक्ति नहीं मानता वरन् एक गत्यात्मक प्रत्यय स्वीकारता है। इसे कार्योत्पादन सामर्थ्य (परिस्पन्द) भी कहा जा सकता है[1]। प्रकृति की प्रत्येक घटना में एक विशेष सम्बन्ध या नियम निहित रहता है जिसके कि अनुसार वह घटना संघटित होती है। किसी घटना की मौलिक विशेषताओं को उसके आकस्मिक सहचारी विषयों से पृथक् करके समझने में केवल हमारी अन्तर्दृष्टि ही सहायक होती है। फलतः यह कार्यकारणभाव का नियम भी नैयायिक के लिये अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञात स्वतःसिद्ध सिद्धान्त है जिसकी कि पुष्टि अनुभव द्वारा होती है क्योंकि यहाँ भी प्रकृति द्वारा प्रदत्त जटिल सामग्री में पूर्वापरक्रम की विवेचना करके असम्बद्ध पदार्थों को कार्य कारण से अलग कर कारणकार्य की धारणा का निर्धारण किया जाता है। इस प्रकार यह कार्यकारण सम्बन्ध कोई प्रस्तुत तथ्य न होकर प्रस्तुत सामग्री के आधार पर कृत बौद्धिक संरचना है।

---

1. यहाँ कारण को विविध प्रकार से परिभाषित किया गया है। सप्तपदार्थी में शिवादित्य का मत है कि कार्योत्पादकता ही कारणता है। जयनारायण पञ्चानन के अनुसार कारण समवायि व असमवायि कारणों का समूह है। उदयन आदि नियत पूर्वभावी को कारण कहते हैं। कालान्तर मे अनन्यथासिद्ध विशेषण भी इस परिभाषा से जोड़ा गया। गंगेश के अनुसार कारण वह है जहाँ कार्याभाव की व्याप्तता हो और जिसका निर्णय सहकारियों के अभाव के द्वारा किया जाता हो। पाश्चात्य दार्शनिक मिल के मत का इन परिभाषाओं से काफी साम्य है।

वस्तुवादी होने से ही यहाँ कारणता के सिद्धान्त में क्रम का तथ्य एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस क्रम की अनिवार्यता व सार्वभौमिकता कारणकार्यभाव की निर्धारिका है। अतः उन दशाओं को कारण की श्रेणी में रखा जाता है जो कि नियत रूप से कार्य की पूर्ववर्ती हों पर साथ ही उनके लिये अनन्यथासिद्ध होना भी अनिवार्य है[1]। अन्यथासिद्ध[2] उस पूर्ववर्ती को कहते हैं जिसका कार्य के साथ कारण रूप में सीधा सम्बन्ध न हो या कार्य के साथ सीधा अन्वयव्यतिरेक न हो, यद्यपि उसके साथ विद्यमान भले ही रहा हो[3]। विश्वनाथ ने इस प्रकार के कई अन्यथासिद्धों का उल्लेख किया है[4]। कहीं–कहीं कारण की परिभाषा में प्रतिबन्धकाभाव को भी सम्मिलित कर लिया गया है क्योंकि पूरी कारण सामग्री उपस्थित होने पर भी प्रतिबन्धक शक्तियों की उपस्थिति कार्योत्पत्ति को रोक देती है। यहाँ कारण की व्याख्या द्विविध ढंग से मिलती है प्रथम तो अनिवार्यता की दृष्टि से व द्वितीय पर्याप्तता की दृष्टि से। अनिवार्य कारण वह है जो कार्योत्पत्ति के लिये अनिवार्य है तथा पर्याप्त कारण वह है जिसकी कि उपस्थिति होने पर कार्य तुरन्त उपस्थित हो जाता है। जैसे बीज वृक्ष के लिये अनिवार्य कारण है पर पर्याप्त कारण नहीं। पर्याप्त कारण तो मृत्तिका, बीज, प्रकाश, जल, वायु आदि समस्त भावात्मक व जले हुये बीज, विपरीत जलवायु आदि का अभाव रूप अभावात्मक दशाओं का समग्र ही है। कारण की पर्याप्तता की धारणा में समस्त अनिवार्य कारण अन्तर्भूत रहते हैं। अतः कारण की यथार्थ धारणा उन समस्त दशाओं का समग्र हैं जो कि कार्योत्पत्ति में सहायक हैं। यद्यपि इन सभी दशाओं में कार्योत्पादन की सामर्थ्य रहती है पर सम्मिलित रूप से ही रहती है, स्वतन्त्रतया नहीं। अतः कारण की नियत पूर्ववर्ती रूप परिभाषा पर्याप्त नहीं है क्योंकि तब अनिवार्य नहीं कि कार्य अनिवार्यतः उसका अनुगमन ही करे क्योंकि मात्र वह कारण उस कार्य की उत्पत्ति में सक्षम नहीं है वरन् उसे अन्य सहकारियों की अपेक्षा है। अतः कारण की धारणा का न्यायसम्मत अभिप्राय होगा समस्त भावात्मक व अभावात्मक दशाओं के समग्र (कारणसामग्री) की अनन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्तिता।

इस कार्य–कारण सम्बन्ध का निर्धारण अन्वय व व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर किया जाता है[5]। अन्वय है तत्सत्त्वे तत्सत्ता तथा व्यभिचार है तदभावे तदभावः। इस व्याप्ति का ग्रहण इन्द्रियानुभव द्वारा गृहीत अपवादरहित पूर्वापरक्रम के आधार पर होता

---

1. अनन्यथासिद्ध नियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्। त.भा.पृ. 21, कारिकावली, 16. नव्य नैयायिक इस परिभाषा की आलोचना करते हैं उनके अनुसार इस परिभाषा से ईश्वर तथा उसके ज्ञान आदि कारणों का ग्रहण नहीं होता जोकि यहाँ निमित्त कारणों में अभिगणित है।
2. अनन्यथासिद्ध की धारणा 'जे.एस.मिल' के 'कण्डीशनल फैक्टर्स' के प्रत्यय से काफी साम्य रखती है।
3. यह अनन्यथासिद्ध पूर्ववर्तिता तात्कालिक व प्रत्यक्ष पूर्ववर्तिता को बताती है और सुदूरस्थ कारण की अपर्याप्तता को सिद्ध करती है। यह न्यायसम्मत कारण की परिभाषा पाश्चात्यं निगमनात्मक तर्क शास्त्र (inductive logic) जैसी ही है। ह्यूम व कार्वेथ रीड जैसे पाश्चात्य दार्शनिक भी कुछ ऐसी ही परिभाषा प्रस्तुत करते है।
4. न्या.सि.मु.पृ. 111–122
5. वरदराज, न्या.कु.बो., न्यायकु. पृ. 72

है। परन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कारणकार्य के मध्य यह व्याप्ति एक दिशा में ही ग्राह्य है या यह भी कह सकते हैं कि यह प्रतिलोमी सम्बन्ध है अर्थात् कार्य से ही कारण का अनुमान किया जाता है, कारण से कार्य का नहीं।

यद्यपि नैयायिक पूर्ववर्तित्व पर बल देता है पर इस सन्दर्भ में कई विसंगतियाँ उपलब्ध होती हैं। यह पूर्ववर्तिता तार्किक दृष्टि से तो ठीक है, पर कालक्रम की दृष्टि से नहीं। वास्तव में वास्तविक कारण तो तब तक रहता है जब तक कि कार्य रहता है और कार्य के पूर्व या पश्चात् तो कारण का अस्तित्व ही अनावश्यक है। न्याय मत में कारण कार्य अयुतसिद्ध माने जाते हैं क्योंकि उनके मध्य समवाय सम्बन्ध स्वीकारा जाता है पर ऐसा मानने पर सदा कारण का कार्य से पूर्ववर्ती होना आवश्यक नहीं सिद्ध होता। डॉ. राधाकृष्णन् का तो मत है कि न्याय में स्वीकृत यह समवाय सम्बन्ध अधिक सूक्ष्म विश्लेषण करने पर न्याय के कारण कार्य के प्रत्ययों को तादात्म्य में ही पर्यवसित कराता है[1]। इस निष्कर्ष की पुष्टि न्याय के समवाय सम्बंन्ध में अन्तर्निहितता पर बल देने से ही होती है।

यह कारणता की धारणा अति व्यापक है क्योंकि कारण कार्य की यह धारा सतत वर्तमान है फलतः हमारी सभी धारणायें सापेक्ष. सिद्ध होती हैं। यद्यपि कारणों के भी कारण खोजने की परम्परा से कार्य में संभावित परिवर्तनों की समस्या को नैयायिक विवादास्पद कह कर तिरस्कृत करता है पर फिर भी उसकी इतनी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कारण और कार्य दोनों ही अस्थायी घटनायें हैं। ये नित्यसत्य नहीं हैं। कारण का परिवर्तन के अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं है और जो भी परिवर्तनशील है वह केवल अस्थायी घटनामात्र है। वस्तुतः कार्य कारणभाव ऐसी घटनाओं का मात्र एक क्रम प्रतीत होता है जो सदा एक दूसरे पर निर्भर करती है फिर भी हम उसे एक वास्तविक प्रत्यय की तरह प्रयुक्त करने को बाध्य हो जाते हैं। सर्वप्रथम इस सम्बन्ध का ग्रहण दो सामान्यों के मध्य किया जाता है तथा सामान्य व व्यक्ति के मध्य अविनाभाव सम्बन्ध होने से व्यक्ति में भी वह सम्बन्ध अनुमित हो जाता है[2]। पर वस्तु अपने परसामान्य सत्ता रूप में व द्रव्यत्व रूप परापर सामान्य रूप में कारणता की अवच्छेदक नहीं है वरन् अपरसामान्य जैसे मृदत्व, तन्तुत्व आदि रूप में ही कारणता की अवच्छेदक है[3]। फलतः मृदत्व कारणता का अवच्छेदक है और घटत्व कार्यता का। पर अनुभव जगत् में प्रायः एक विशेष मृत्तिका से ही एक विशेष घट उत्पन्न देखा जाता है तब वहाँ मृत्तिकासामान्य कैसे कारणता की अवच्छेदक होगी तो यहाँ यह कह सकते हैं कि कारणता का अवच्छेदक तो

---

1. भा द. भा. 2 पृ. 98
2. यथा रूपाद्यसम्बद्धा न व्यक्तिरुपलभ्यते।
   तथैव जात्ययुक्तेति का ते व्यसनसन्तति:।। न्या.मंजरी भा 1. पृ. 286.
3. सदानन्द भादुडी, न्याय वैशेषिक मेटाफिजिक्स, पृ 289

सामान्य ही है पर यह कारणता एक विशिष्ट देश, काल व आकार में ही घटित होती है अतः जातिविशिष्ट व्यक्तियों में ही कारणता–कार्यता का ग्रहण होता है[1]। प्रत्येक विशेष कारणात्मक तथ्य एक विशेष कार्य का कारण है क्योंकि वह एक विशेष दैशिक–कालिक बन्धनों में आबद्ध हैं। यह कारणात्मक सम्बन्ध देश व काल दोनों दृष्टियों से नियमन करता है। यह मात्र क्रम का सम्बन्ध न हो समानाधिकरण्य का सम्बन्ध भी है अतः कारण उसी कार्य से सम्बद्ध किया जाता है जिसके कि बिन्दुपथ में वह विद्यमान रहता है। यह दोनों की सहस्थिति विविध रूपों में हो सकती है। जैसे मृत्तिका व घट के उदाहरण में मृत्तिका घट से समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित है जबकि घट मृत्तिका से आधेय रूप में।

कारण कार्य की पूर्वापरता की धारणा कारण कार्य को दो भिन्न पदार्थ ही सिद्ध करती है[2]। फलतः कारण कार्य रूप में स्वयं को अभिव्यक्त नहीं करता वरन् कार्य एक नवीन सृष्टि है जिसे नैयायिक पारिभाषिक शब्दावली में उत्पत्ति या आरम्भ कहता है[3]। कार्य यहाँ एक ऐसी वस्तु है जो अपनी पूर्व असत्ता का निषेध कर सत्ता को प्राप्त करता है। इसी असत्ता के कारण इस दृष्टि को असत्कार्यवाद कहा जाता है। यद्यपि कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत् कहा गया है पर शश–विषाण जैसी असत्ताओं से इसमें कुछ भेद है क्योंकि शशविषाण आदि पदार्थ तो कभी भी उत्पन्न नहीं किये जा सकते जबकि घटादि कार्य तभी तक असत् हैं जब तक कि वे उत्पन्न नहीं हुये हैं[4]। इसलिये ये असत् व सत् दोनों ही विशेषताओं से विशेषीकृत रहते हैं। वे अनिवार्य कारणात्मक व्यापार के पूर्व तो असत् हैं पर उस कारणव्यापार के बाद ध्वंस के पूर्व तक सत् हैं। यह मान्यता किसी विरोधाभास की जनक नहीं है क्योंकि ये दो विरोधी स्वभाव–सत्ता व असत्ता उस पदार्थ में क्रमशः रहते हैं, एक साथ नहीं। पर यहाँ यह प्रश्न संभव है कि यदि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व नहीं स्थित है तो फिर उसकी सत्ता या असत्ता की बात ही नहीं संभव है क्योंकि एक वस्तु के सत्ता प्राप्त कर लेने पर ही उसके सन्दर्भ में नाना प्रश्न प्रस्तुत किये जा सकते हैं उससे पूर्व नहीं। इस पर नैयायिक का कहना है कि कार्य वस्तुतः एक प्रामाणिक तथ्य है व एक यथार्थ है अतः शशविषाणादि असत् पदार्थों कें विपरीत इसकी सत्ता से पूर्व भी इसकी असत्रूप से चर्चा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त असत्ता की बात असत् पदार्थ के सन्दर्भ में ही संभव है, सत् के सन्दर्भ में नहीं।

---

1. न्या.कु.भा.।पृ. 67–73.
2. नैयायिकों ने कार्य को कारण से भिन्न नवीन सत्ता सिद्ध करने के लिये कई युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं जैसे कि दोनों भिन्न–भिन्न विचारों के प्रतीक है, भिन्न-भिन्न शब्दो से वाच्य हैं, भिन्न–भिन्न कार्यों को करते है, भिन्न–भिन्न क्षणों मे होते हैं, आकृति व संख्या मे भी भिन्न है। द्र.,सा.त. कौ.,पृ. 152
3. इस आरम्भवादी सिद्धान्त से यहाँ पदार्थ के सत्ताकाल का भी निर्धारण हो जाता है कि पदार्थ दो क्षण रहता है–उत्पत्ति के क्षण व स्थिति के क्षण तथा अन्तिम क्षण नष्ट हो जाता है।
4. न तद् असत्त्वात् क्रियते किन्तु कारणाभावात, न चासत्त्वम् उत्पत्तौ हेतुरपितु सतोऽनुत्पत्तेरसद् उत्पद्यते। न्या. वृ. 4/1/50 पृ. 491

सांख्य विविध तर्कों के द्वारा इस असत्कार्यवादी दृष्टि की आलोचना करता है। उसका कहना है कि असत् से कार्य की उत्पत्ति होने पर सभी से सभी पदार्थ उत्पन्न होने लगेंगे फलतः तब एक विशेष कारण से एक विशेष कार्योत्पत्ति का सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा। साथ ही जो असत् है उसकी तो किसी प्रकार उत्पत्ति ही नहीं संभव है। इस पर नैयायिक का कहना है कि कारण में एक विशेष प्रकार के कार्योत्पादन का रहना यह नहीं सिद्ध करता कि कार्य कारण में स्थित है। निःसन्देह वहाँ सम्बन्ध है पर यह सत्य नहीं है कि ऐसा सम्बन्ध बिना कार्य–कारण की समकालिकता माने संभव नहीं है। फलतः इस सामर्थ्य के आधार पर ही कार्योत्पत्ति से पूर्व ही उस कार्य की संभावना को समझा जा सकता है पर कार्य वहाँ सत् नहीं है। वस्तुतः कार्य को कारण में स्थित मानने पर तो समस्त कारणता समकालिक हो जायेगी व तब कारण–कार्य का भेद करना संभव नहीं होगा। पाश्चात्य दार्शनिक ईविंग का भी ऐसा मत है। सांख्य के द्वारा प्रयुक्त तादात्म्यपोषक तर्कों को यह सम्प्रदाय भ्रामक बताता है। इसका कथन है कि कारण कार्य की अभिन्नता की व्याख्या तादात्म्य की शब्दावली में करने पर कारणता एकपक्षीय सम्बन्ध रह जाती है तथा कार्य व कारण पर्याय रूप सिद्ध होने लगते हैं।

यद्यपि असत्कार्यवादी दृष्टि में शून्यवादी बौद्धों व न्याय वैशेषिक दोनों की गणना की जाती है पर दोनों में अन्तर है। जहाँ न्याय वैशेषिक मत में असत् कार्य की उत्पत्ति सत् कारण से होती है वहीं बौद्ध मानते हैं कि असत्ता से ही कार्य उद्भूत होता है। कारण कोई सत् पदार्थ नहीं है। बौद्ध मत के अनुसार तो न्यायवैशेषिक सम्मत कारणता का प्रत्यय भी शून्य के द्वारा उत्पत्ति के सिद्धान्त जैसा ही है। एक कार्य अपनी पूर्व असत्ता का निषेध करके ही सत्ता को प्राप्त कर सकता है। अतः यह असत्ता कार्य के प्रति एक नियत व अनिवार्य पूर्वगामी सिद्ध होती है फलतः इसके कारण रूप में प्रमाणित होती है। पर अभाव से उत्पत्ति मानने पर तो उस उत्पत्ति को पहले ही हो जाना चाहिये क्योंकि प्रागभाव तो उत्पत्ति से पूर्व सदैव उपस्थित है।[1] फलतः एक यथार्थ कारण को कार्योत्पत्ति के लिये मानना आवश्यक हो जाता है अन्यथा तो उसकी उत्पत्ति का नियामक कुछ नहीं होगा और कारणात्मक नियमन असंभव हो जायेगा। किसी भी कार्य की उत्पत्ति हेतु कारणसामग्री का विनाश अपेक्षित है क्येंकि कारण रूप में व्यवस्थित अणु ही कार्य रूप में व्यवस्थित होने के लिये विशृंखलित हो जाते हैं और तब कार्य की उत्पत्ति होती है। पर यह विनाशपरक अभाव कार्य का निमित्त ही हो सकता है बौद्धवत् उपादान नहीं क्योंकि असत्ता निःस्वभाव है अतः एक निश्चित क्रियात्मकता से शून्य है साथ ही सभी असत्तायें एक सी होने से विशिष्ट कारण से विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त भी खण्डित होता है।

---

1. न्या.कु.भा.।पृ.65.

इस प्रकार कारण यहाँ कार्य का तात्कालिक पूर्ववर्ती है। पर कार्योत्पत्ति के प्रारम्भ होते ही कारण नष्ट हो जाता है।[1] अत: एक विशेष क्षण है जहाँ पर कि कारण उपस्थित होने से रुक जाता है व कार्य अनुपस्थित होने से। इसलिये शून्य अथवा अभाव जो कि कार्य का पूर्ववर्ती है वह कोई रिक्त स्थान न होकर मात्र एक गणितीय रेखा है जिसके कि एक छोर पर कारण अर्थात् कार्योत्पत्ति के लिये आवश्यक समस्त दशाओं का समूह रहता है व दूसरे छोर पर कार्य स्वयं। यद्यपि यह भी कहा जाता है कि समवायि कारण कार्योत्पत्ति के क्षण व उसके बाद भी स्थित रहता है पर तब वह कारण रूप में नहीं रहता वरन् कार्य के आश्रय रूप में रहता है क्योंकि किसी भी क्षण उसका संकोचन या संहार कार्य के संहार के लिये उत्तरदायी होगा। पर यह समवायि कारण मात्र कारण सामग्री का एक अंश मात्र है पूर्ण कारण नहीं अन्य कारण सामग्री तो कार्योत्पत्ति के प्रारम्भ होते ही नष्ट हो जाती है।[2]

इस प्रकार नैयायिक कार्य तथा कारण के मध्य बराबर तारतम्य बनाये रखता है। यह प्रकृति की कार्य प्रणाली में किसी भी अतीन्द्रिय शक्ति की सत्ता को नहीं मानता पर नियमन में अदृष्ट के योगदान को अवश्य स्वीकारता है।

न्याय वैशेषिक तीन तरह के कारण मानता है[3]–(1) समवायिकारण (2) असमवायि कारण (3) निमित्त कारण[4]। इनमें से समवायि कारण[5] वह हैं जिसमें समवेत होकर कार्य उत्पन्न होता है। साथ ही यह कारण कार्य का आधार होकर उसे धारण करता है तथा कार्य की अवस्थिति पर्यन्त बना रहता है। यह समवायि कारण कोई द्रव्य ही हो सकता है

---

1. यद्यपि यहाँ कारण का नाश कथित है पर यहाँ लक्षणा से नाश का अभिप्राय पूर्वस्थिति को छोड़ने से ही लिया जाना चाहिये क्योंकि पदार्थ का पूर्ण विनाश हो जाने पर तो नये पदार्थ का निर्माण ही नहीं संभव होगा।
2. डी. एन. शास्त्री के अनुसार इस कारण की स्थिति के विषय में दो मत दृष्ट होते हैं–प्रथम तो गौतम के न्याय सूत्रों में तथा द्वितीय परवर्ती उद्योतकर, वावस्पति मिश्र आदि के ग्रंथों में। प्रथम मतानुसार तो कार्योत्पत्ति होने पर कारण नष्ट हो जाता है पर द्वितीय मतानुसार कार्य की उत्पत्ति के बाद भी कारण उसके साथ–साथ स्थित रहता है। पर डॉ. महेश चन्द्र भारतीय का मत है कि कणाद का मत भी कारण के नाश को नहीं बताता वरन् उसके अनुसार कार्योत्पत्ति के समय भी कारण आधार रूप में स्थित रहता है। इस सन्दर्भ में वह उनकी समवाय व द्रव्य की परिभाषाओं को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं। द्र. कॉजेशन इन इण्डियन फ्लॉसफी, एम. सी. भारतीय पृ. 188–193.
3. (अ) का. 17

   (ब) अन्य दर्शन प्राय: दो ही तरह के कारण मानते हैं–उपादान व निमित्त पर यहाँ पदार्थ व उसके गुणों में भेद की दृष्टि रखने से उपादान कारण के दो वर्ग कर दोनों को दो स्वतन्त्र कारण माना गया है–समवायि व असमवायि। एक भावात्मक कार्य की उत्पत्ति में ये तीनों कारण आवश्यक हैं पर अभावात्मक कार्य की उत्पत्ति में मात्र निमित्त कारण ही पर्याप्त हैं।
4. सदानन्द भादुडी इसका अनुवाद एक्सेसरी कॉज (accessory cause) रूप में करते हैं। द्रष्टव्य, न्यायवैशेषिक मेटाफिजिक्स, पृ. 293.
5. सांख्य सम्मत उपादान कारण उसी कारण जैसा है पर वहाँ उपादान कारण व कार्य में तादात्म्य है वहीं न्याय में मात्र आधाराधेयभाव सम्बन्ध है। यह समवायिकारण निमित्तकारणवत् बाह्यत: स्थित है वह कार्य के साथ एकात्मता को नहीं रखता।

और इसका कार्य गुण, द्रव्य या क्रिया में से कुछ भी हो सकता है[1]। यह समवायि कारण न केवल कार्य का निर्माता है वरन् कार्य इसमें रहता है, इसके द्वारा धारण किया जाता है, यह कार्य की स्थिति पर्यन्त स्थित रहता है।

द्वितीय प्रकार का कारण[2] केवल न्याय वैशेषिक मत में ही स्वीकृत है[3]। यह कारण वह है जो कार्य के समवायि कारण में प्रत्यासन्न हो कर कार्य को उत्पन्न करता है[4]। यह प्रत्यासत्ति दो प्रकार से हो सकती है साक्षात् व परम्परया। साक्षात् प्रत्यासत्ति में यह असमवयि कारण कार्य के साथ सीधे समवायिकारण में समवेत रहता है जैसे कि तन्तुओं का संयोग रूप असमवायिकारण कार्य रूप पट के साथ उपादान कारणभूत तन्तुओं में समवेत रहता है। परम्परया प्रत्यासत्ति या कारणैकार्थप्रत्यासत्ति की स्थिति में असमवायिकारण अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एक अधिकरण में रहता है जैसे कि तन्तुरूप अपने कार्य पटरूप के समवायिकारण पट के साथ एक अधिकरण तन्तु में रहता है[5]। यहाँ असमवायिकारण का नञ प्रतिषेधपरक न होकर पर्युदासपरक ही है। अतः अभाव अर्थ का प्रतिनिधि न होकर भिन्न अर्थ का ही वाचक है। न्याय सम्मत इस कारण का अपना अलग वैशिष्ट्य है क्योंकि इसी के बल पर यहाँ परमाणुवाद, भेदवाद, आरम्भवाद आदि की धारणायें सत्य सिद्ध होती हैं। यह असमवायिकारण कार्योत्पत्ति के लिये उतना ही अनिवार्य है जितना कि समवायिकारण। न्याय मान्यता कि अवयवों से अवयवी की उत्पत्ति होती है, इसी असमवायिकारण के बल पर सिद्ध हो पाती हैं क्योंकि अवयवों से तब तक अवयवी नहीं उत्पन्न हो सकता जब तक कि वे संयुक्त न हो जायें और यह संयोग उपादान से भिन्न अन्य तथ्य होने से एक स्वतन्त्र कारण रूप में स्वीकारा जाता है। फलतः वैचित्र्यात्मक जगत् की परमाणुवाद के द्वारा व्याख्या संभव हो जाती है। यह असमवायिकारण गुण या क्रिया ही हो सकता है, द्रव्य नहीं[6]। इस कारण की स्वतन्त्रतया स्थिति स्वीकारने की आवश्यकता इसलिये भी है कि कार्य में आगन्तुक गुण या क्रिया की व्याख्या इसी के माध्यम से संभव है क्योंकि असमवायिकारण गुण या क्रिया ही होता है। पर आत्मा के चौदह गुण कहीं असमवायिकारण नहीं हैं। तृतीय कारण निमित्त कारण है

---

1. का. 23.
2. असमवायिकारण सांख्य व वेदान्त में नहीं स्वीकृत है। वहाँ कारण व कार्य के मध्य तादात्म्य नियम स्वीकृत है अतः वहाँ दोनों को परस्पर बाँधने के लिये किसी कड़ी की आवश्यकता नहीं है। राधाकृष्णन, भा. द. भा. 2 पृ. 95, पा. टि.।
3. डॉ. राधाकृष्णन के मतानुसार तो इस असमवायिकारण को एक स्वतन्त्र कारण न मानकर उसकी गणना निमित्तकारणों में ही की जानी चाहिये।
4. न्याय कुसुमाञ्जलि पृ. 101, त. भा. पृ. 31, मुक्तावली, का. मु. पृ. 82–83.
5. कार्यैकार्थकारणैकार्थान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकारणे प्रत्यासन्नं कारणं ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणं ..... ।सि. मु. का ...
6. समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।
   गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम्। वही, 23.

जो कि इन दोनों कारणों से भिन्न है[1]। यह अतिविस्तृत कारण–वर्ग है जिसमें कि कर्ता, करण, सहकारी, कार्य का प्रागभाव और प्रतिबन्धकाभाव आदि सभी दशायें आ जाती हैं। यह निमित्त कारण यों तो पूर्णतः एक बाह्य तथ्य है पर कार्योत्पत्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसके अन्तर्गत कार्य का प्रयोजन व साधन दोनों आते हैं। इस निमित्त कारण को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–साधारण कारण व असाधारण कारण। साधारण कारण वे हैं जो सभी कार्यों में समान रूप से कारण बनते हैं। ये आठ प्रकार के हैं–ईश्वर[2] उसका ज्ञान, इच्छा और कर्म, पूर्ववर्ती अभाव, देश, काल, धर्म व अधर्म। कभी–कभी इनमें प्रतिबन्धकाभाव को भी जोड़ दिया जाता है[3] तथा असाधारण कारण सभी कार्यो में विशिष्ट होते हैं। यहाँ एक अन्य तरह से भी कारण की चर्चा उपलब्ध होती है कि यहाँ कारण द्विविध है–वैदिक और लौकिक। इनमें से वैदिक कारण जहाँ अन्वय मात्र से अवगम्य है वहीं लौकिक कारण अन्वय व व्यतिरेक दोनों से गम्य है[4]। इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार से भी इसका विभाजन उपलब्ध होता है–फलोपहित व स्वरूपयोग्य। इनमें से पहले का उदाहरण है अनुमिति के प्रति परामर्श की कारणता व द्वितीय है अरण्यस्थ दण्डादिसाधारण जनकतावच्छेदक दण्डत्वादि की घट के प्रति कारणता[5]। कारण का विभाजन मुख्य–अमुख्य रूप से भी किया गया है तो घटादि के प्रति कपालादि अथवा मृदादि मुख्य कारण है तथा समस्त सहकारी कारण अमुख्य कारण हैं। न्याय में इसी मुख्य वर्ग का तीन उपवर्गों में विभाजन किया गया है–समवायि, असमवायि व निमित्त[6]।

न्याय वैशेषिक में एक अन्य कारण की भी चर्चा बहुतायत से मिलती है जिसे कि यहाँ 'करण' या असाधारण कारण (कारणविशेष) कहा जाता है। यह निमित्त कारणों में सर्वाधिक आवश्यक कारण है इसी कारण इसे अन्य कारणों से अलग किया जाता है[7]। उद्योतकर के अनुसार करण प्रधान कारण है। केशव मिश्र इसे प्रकृष्ट कारण कहते हैं। यह अन्य कारणों के समान इस अर्थ में है कि इसके बिना कार्य घटित नहीं हो सकता व असाधारण इस अर्थ में है कि इसकी उपस्थिति अनिवार्यतः व तात्कालिक रूप में कार्योत्पत्ति के द्वारा अनुसृत की जाती है। करण उस व्यापार के लिये भी प्रयुक्त होता है

1. त. भा. पृ. 27.
2. ईश्वर सृष्टि का निमित्तकारण माना गया है पर वस्तुतः अदृष्ट ही निमित्तकारण है। ईश्वर को एक चेतन तत्त्व मान कर उसे उस अचेतन अदृष्ट का मार्ग निर्धारक बताया गया है पर ईश्वर भी सर्वोच्च आत्मा ही है और आत्मा चेतना शून्य है तब ईश्वर भी चेतना शून्य होगा अन्यथा तो बद्ध ही होगा क्योंकि केवल बद्धावस्था में ही वह चेतन हो सकता है।
3. तर्क संग्रह, पृ. 207-208.
4. तत्वावलि : परि. 2, श्लो. 50, पृ 40, न्या. को. पृ. 224 पर उदधृत।
5. न्यायकोश पृ. 224.
6. प्रमाणादिपदार्थप्रकाशिका 1, पृ. 2, न्या. को. पृ. 224 पर उदघृत।
7. असाधारणकारणत्वात् प्रधान, प्राधान्याच्च साधकतमत्वेनाभिधीयते। न्या. वृ. 1/1/1

जो कि बिना किसी परिस्थिति या व्यापार की सहायता से कार्य को उत्पन्न करता है[1]। अन्यत्र करण को इस प्रकार भी परिभाषित किया गया है कि यह वह विशिष्ट कारण है जिसमें एक व्यापार रहता है व[2] जिसके तुरन्त बाद कार्य घटित होता है[3]।

कारणता जगत् की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या कि एक कार्य के अनन्त कारण संभव है तो एक विशेष कारण से विशेष कार्य की ही उत्पत्ति का सिद्धान्त कैसे स्थापित किया जा सकता है, का भी समाधान करने का यहाँ प्रयास किया गया है। इस सन्दर्भ में यह सम्प्रदाय मीमांसकों की अतीन्द्रिय शक्ति का निषेध करते हुये कारण आनन्त्य के साथ–साथ कार्य–आनन्त्य भी स्वीकारता है[4]। उसका मत है कि एक विशिष्ट कारण से एक विशिष्ट कार्य की ही उत्पत्ति होती है अतः कारण भेद से कार्य भेद भी होता है फलतः कारणता सम्बन्ध के नियतवाद में कोई बाधा नहीं[5] आती और अनुमान संभव हो जाता है। यह कार्यगत भेद प्रत्यक्षग्राह्य नहीं है वरन् कारणों में दृश्यमान भेद के आधार पर ही अनुमित होता है।

इस कारणमीमांसा में एक अन्य प्रतिपाद्य बिषय यह है कि कारणगुणों को ही कार्य अपने गुण रूप में प्राप्त करता है। इसी दृष्टि से यहाँ जगत् मीमांसा में वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होता है कि अणु के परम कारण होते हुये भी अणु परिमाण को द्वयणुक का कारण नहीं माना गया है[6] वरन् अणुओं में रहने वाली द्वित्त्व संख्या को उसका कारण बताया गया है ताकि उसका परिमाण अणु न हो अन्यथा जागतिक वैचित्र्य का विकास नहीं संभव होगा। इसी प्रकार परममहत्परिमाण, अतीन्द्रिय सामान्य व विशेष को भी किसी का कारण नहीं माना गया है।

इस प्रकार न्यायसम्मत यह कारणता नियम कर्म नियम का सहायक है। यहाँ जगत् का समवायिकारण पृथिवी, जल, आकाश, तेज व वायु के नित्यपरमाणु हैं तथा ईश्वर निमित्तकारण है। सृष्टि का अभिप्राय है अणुओं का संयोग तथा विनाश का अर्थ है उस संयोग का नाश।

सांख्य–योग में कारणता सिद्धान्तः–यह सम्प्रदाय वस्तुवादी दृष्टिप्रधान सम्प्रदाय है व प्रमातृजगत् तथा प्रमेयजगत् के मध्य दृढ़ सीमारेखा खींचते हुये ही अपनी

1. एव च तदनुकूलव्यापारम् अद्वारीकृत्य तज्जनकत्वं फलायोगव्यवच्छिन्नकारणत्वं पर्यवसितं करणत्वमिति लब्धम्। एवञ्चैतन्मते चरमकारणत्वमेव करणत्वम्। भवानन्द, कारकचक्र, 87–88 न्याय वै. मे. पृ. 298 पर उद्धृत।
2. फलायोगव्यवच्छिन्नं कारण करणम्। अनुमितिदोधितिप्रसारिणो पृ. 5
3. जहाँ अन्य नैयायिक करण में गतिशीलता का प्रत्यय सदैव संलग्न मानते हैं अतः करण को व्यापारवद् ही बताते हैं वहाँ नव्यनैयायिक करण को ऐसा कोई पदार्थ नहीं मानते जिसमें व्यापार अथवा क्रिया रहती हैं वरन् उनके मत में वह व्यापार स्वयं करण है।
4. स्वरूपादुद्भवत्कार्ये सहकार्युपबृहितात।
   न हि कल्पयितुं शक्तं शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम्।। न्या. म. भा.। पृ.38
   पाश्चात्य दार्शनिक मिल इस दृष्टि से इस सम्प्रदाय के साथ साम्य प्रस्तुत करता है।
5. न्याय कु. बो. न्या. कु. पृ. 93.
6. पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्। का. 15.

विशिष्ट तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत करता है। फलतः एक तत्त्व तो समग्र जागतिक विकास का स्रोत रह कर उसको नियमित व व्यवस्थित करता है जबकि द्वितीय इन सबसे स्वतन्त्र, निर्मुक्त रहता हुआ मात्र अनादि अविवेक से ग्रस्त होकर उस जागतिक विकास के साथ ममत्व के भाव को जोड़ लेता है पर यथार्थतः वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त व कूटस्थनित्य है जबकि प्रथम परिणामिनित्य है। अतः सारा परिणाम उसी परिणामिस्वभाव का सिद्ध होता है जिसे यह सम्प्रदाय प्रकृति कहता है[1]। इस प्रकृति का उस पुरुष से मात्र इतना सम्बन्ध है कि इसका व्यापार उसी के प्रयोजनों की पूर्ति करता है[2], यद्यपि कि उसे स्वयं उन प्रयोजनों का ज्ञान नहीं है। यही अन्ध प्रयोजनवाद है[3] जहाँ कि प्रयोजन के लिये क्रियाशील तत्त्व स्वयं उन प्रयोजनों से अपरिचित है।

एकमात्र प्रकृति[4] ही सारे उद्विकास का मूल होने से वही उसका प्रथम व अन्तिम, उपादान व निमित्त कारण है। साथ ही सारा जगत् उसका यथार्थ परिणाम होकर भी उससे पूर्णतया विविक्त नहीं है वरन् उसी में अनुस्यूत है, यही सत्कार्यवादी धारणा है[5] जो कि कार्य को कारण व्यापार से पूर्व भी कारण में सत् सिद्ध करती है[6]। फलतः कारण कार्य में तादात्म्य[7] की धारणा को बल मिलता है क्योंकि कारण व कार्य एक ही पदार्थ की

1. सांख्य का विश्वास है कि चित् तत्व जड जगत् का कारण नहीं हो सकता (जैसा कि वेदान्त के अधिकांश सम्प्रदाय व महायान सम्प्रदाय मानते हैं) क्योंकि एक चेतन तत्त्व जड जगत् रूप में परिणत नहीं हो सकता। साथ ही परमाणु भी जड जगत् का कारण नहीं हो सकते (जैसा कि चार्वाक, न्यायवैशेषिक, जैन, हीनयान आदि में स्वीकृत है) क्योंकि वे सूक्ष्मतम तत्त्वों–अहंकार, मन बुद्धि आदि की व्याख्या नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त जगत् की एकता कारण–एकत्व की ओर संकेत करती हैं जबकि अणु अनेक है फलतः नित्यपरिणामी एक शाश्वत अचित् तत्त्व–प्रकृति ही सबका कारण सिद्ध होती है। तु. की. सी. डी. शर्मा, क्रि. स. आ. इ. फि. पृ. 115.
2. अचित् व स्वतन्त्र प्रकृति को प्रयोजनों का ज्ञान किस प्रकार संभव है यह सांख्य की एक जटिल पहेली है। साथ ही अचित् प्रकृति व्यवस्था, एकता, वैचित्र्य व उद्देश्य से पूर्ण जगत् का निर्माण कैसे कर सकती है क्योंकि अचेतन पदार्थों में ऐसी सामर्थ्य नहीं देखी जाती। इस सन्दर्भ में प्रयुक्त उपमाये कोई उपपन्न तर्क नहीं सिद्ध होती।
3. इसे स्वाभाविक प्रयोजनवाद (natural या automatic teleology) भी कहते हैं। हिरियन्ना इसे अर्द्ध प्रयोजनवाद भी कहते हैं क्योंकि एक तो यहाँ प्रयोजनों के लिये क्रियाशील है जबकि दूसरे को प्रयोजनों का ज्ञान ही नहीं है। यद्यपि यहाँ प्रयोजन को ही अन्तिम कारण (rationale) माना गया है पर उसको किसी चेतन इच्छा से नहीं जोड़ा गया है। वस्तुतः तो यह प्रयोजनपरकता चेतन इच्छा की नियामकता की अपरिहार्य स्थिति की पूर्वकल्पना प्रस्तुत भी नहीं करती क्योंकि इच्छा तो उसी व्यापकतर प्रत्यय प्रयोजन का अंश है जो कि उसके बिना भी रह सकता है पर इच्छा स्वयं उसके बिना नहीं।–तु.की. कालिदास भट्टाचार्य, कॉन्सेप्ट ऑफ कॉज, अवर हैरिटेज, खण्ड 1, भा. 1 पृ. 38.
4. सांख्य का प्रकृति का प्रत्यय नाना विसंगतियों का जनक है व इसका स्वतन्त्र तथा अचित् होकर भी एक प्रयोजन के लिये क्रियाशील होना अनेक आलोचनाओं का विषय है। तु. की. सी. डी. शर्मा, क्रि. स. ऑफ इ. फि. पृ. 165–8.
5. सत्कार्यवाद कारणता का अति प्राचीन प्रारूप है। उपनिषदों में उपलब्ध इस मान्यता के बीज इसी धारणा को पुष्ट करते है। 'सदेव सौम्येदमग्रासीत् तद्धीदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' आदि उपनिषद वाक्य भी पूर्वसत् की अभिव्यक्ति की ही कार्यता का पोषण करते हैं। भगवद्गीता का एक उद्धरण 'नासतो विद्यते भाव. नाभावो विद्यते सतः' तो सत्कार्यवादी दृष्टि का मूलमंत्र ही है। सृष्टि को अनादि मानने का सिद्धान्त सत्कार्यवाद का सबसे बड़ा समर्थक है। सृष्टि की प्रक्रिया उसी अनादि का मात्र नामरूप व्याकरण है, किसी नवीन सत्ता का आरम्भ नहीं। यह सत्कार्यवाद का सिद्धान्त कारणों तथा कार्यों की शाश्वतता का सिद्धान्त है।
6. डॉ. भट्टाचार्य के अनुसार यह सत्कार्यवाद एक विशिष्ट प्रकार का स्वभाववाद ही है।
7. तादात्म्य का अर्थ यहाँ दोनों सम्बन्धियों का अभेद है पर यह अभेद वेदान्तवत् एक सम्बन्धी के प्रतिषेधपूर्वक न होकर मात्र भेद का अभाव रूप है।

दो विशिष्ट अवस्थायें हैं[1]। अनभिव्यक्त स्थिति कारणता है व अभिव्यक्त स्थिति कार्य[2]। अब सारा तत्त्व जगत् व उत्तरवर्ती विकास उसी प्रकृति तत्त्व का ही आत्मविकास सिद्ध होता है। इसी दृष्टि से यहाँ उत्पत्ति व विनाश के प्रत्यय भी काफी परिवर्तित रूप में उपलब्ध होते हैं। अब उत्पत्ति अभिव्यक्ति का व नाश विलय का पर्याय बन जाता है फलतः अत्यन्ताभाव, प्रागभाव या ध्वंसाभाव की सत्ता कहीं नहीं सिद्ध हो पाती। इस प्रकार विकास तथा अन्तर्लय की मान्यता ही पुष्ट होती है। अन्तर्निहित के प्रकाशित होने का नाम ही विकास है व प्रकाशित के अव्यक्त हो जाने का नाम ही अन्तर्लय है।

इस प्रकार कारणता सम्बन्ध दो ऐसे तत्त्वों के मध्य का सम्बन्ध सिद्ध होता है जो परस्पर भिन्न होने पर भी साररूप में एक हैं। वस्तुतः तो ये कारण व कार्य की धारणायें संकोचाधायक ही हैं। अनन्त संभावनाओं से पूर्ण प्रकृति व अन्य तत्त्व कारण व कार्य रूप होने पर नियत रूप में ही कार्य करते हैं जो उनकी सीमितता का ही द्योतक है। इसके अतिरिक्त कारणता की व्याख्या स्वात्मविभेदन रूप में भी की जा सकती है। यह स्वात्मविभेदन या आत्मविकास ही परिणाम है[3]। इस स्वात्मविभेदन के द्वारा प्रकृति अपने अन्दर निहित समस्त संभावनाओं को अपने से विविक्ततया भासित करती है। यह स्वात्मविभेदन सारतत्त्व की अभिन्नता को प्रतिपादित करते हुये मात्र आकारगत भेदों का प्रतिष्ठापक है। यद्यपि यह अभिन्नता कहीं योगिप्रत्यक्ष से गृहीत होती है व कहीं लौकिक प्रत्यक्ष का विषय है[4]। इनमें से जहाँ योगिप्रत्यक्ष से उस अभेद का ग्रहण होता है उसे तत्त्वान्तर परिणाम तथा जहाँ लौकिक प्रत्यक्ष से उस अभेद का ग्रहण होता है उसे अतत्त्वान्तर परिणाम कहते हैं[5]। कभी-कभी परिणाम का अर्थ

1. इस कारण कार्य के सम्बन्ध की धारणा की व्याख्या के लिये डॉ. भट्टाचार्य इनडिफिनिट (indefinite) तथा डिफिनिट (definite)की अधिक व्यापक धारणाओं का आश्रय लेते हैं। ये धारणायें बहु अर्थक है व सांख्यगत् कारण कार्य की धारणाओं में अन्तर्निहित अभिप्राय को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम है। वैसे तो इन शब्दों का कई अर्थों में प्रयोग होता है अतः इनका कई प्रकार से अनुवाद संभव है पर सांख्य सन्दर्भ में अव्यक्त व व्यक्त या सूक्ष्म व स्थूल रूप से उनका अनुवाद किया जा सकता है। इस प्रकार वे अनभिव्यक्त व अभिव्यक्त दशाओं की ही अपर संज्ञायें सिद्ध होती है।
2. कार्यस्य अनागतावस्थाश्रयीभूतं कारणम्–सां. त. कौ. पृ. 301, हेगेल के शब्दों में यह अनभिव्यक्तावस्था से प्रकट रूप में आना है (It is the passage from the implicit to explicit) अरस्तू के शब्दों में यह संभाव्य का वस्तुसत् के रूप में संक्रमण है (It is transition from potential being to actual being) इस मत को धर्मशास्त्रों में भी स्वीकृत किया गया है। तु. की., राधाकृष्णन भा. द. भा. 2 पृ. 256.
3. के. सी. भट्टाचार्य, स्टडीज इन फिलॉसफी, भाग 1 पृ. 165.
4. तु. की. कालिदास भट्टाचार्य, कॉन्सेप्ट ऑफ कॉज, अवर हैरिटेज भा. 1, खण्ड 2 पृ. 182.
5. डॉ. कालिदास भट्टाचार्य के अनुसार इस अतत्त्वान्तर परिणाम को कूटस्थ का परिणमन भी कह सकते हैं क्योंकि वहाँ मुख्य तत्त्व सभी विकारों में दृष्ट होता है जैसे मिट्टी घट, शराव आदि सभी विकारों में स्थित, दिखलाई देती है। वह सर्वत्र कूटस्थ है व इसके परिणाम ही परिवर्तनशील है। यद्यपि सांख्य तत्त्वान्तरपरिणाम को इस दृष्टि से नहीं देख सकता पर इस सन्दर्भ में यह शंका संभव है कि वहाँ भी मूलभूत तत्त्व का तो योगिप्रत्यक्ष में भी ग्रहण हो जाता है तब वहाँ भी कूटस्थ का परिणमन क्यों नहीं कहते। तो इसका समाधान यहाँ कुछ के द्वारा यह कह कर दिया जाता है कि योगियों को उच्चतर तत्त्व में निम्न विकारों की लीनता के ही दर्शन होते हैं, उस अन्तिम प्रलय के नहीं जबकि एक तत्त्व की मूल स्थिति रहती है अतः उस योगिप्रत्यक्ष की स्थिति के बल से तत्त्वान्तर परिणाम को कूटस्थ तत्व का परिणमन नहीं कहा जा सकता। तु. की., कॉन्सेप्ट ऑफ, कॉज, अवर हैरिटेज, भा. 2 खण्ड 1 पृष्ठ 116-7.

रूपान्तरण भी किया जाता है पर यहाँ एक रूप का नाश कर अन्य रूप की प्राप्ति इस रूपान्तरण का अभिधेय नहीं हो सकता वरन् एक सत्ता युक्त द्रव्य का एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को प्राप्त करना ही परिणमन या रूपान्तरण है। पदार्थों की तीन अवस्थायें हैं–शान्त या अतीत, उदित तथा अपदेश्य या अनागत। इनमें से प्रथम है अपने कार्य को करके उपरत हो जाना अर्थात् कारण में लीन हो जाना, द्वितीय है कार्य को करते हुये विद्यमान रहना तथा तृतीय है अपने कार्य में अनभिव्यक्त रूप से सूक्ष्मतया अवस्थित रहना। इन्हीं त्रिविध अवस्थाओं के आधार पर परिणमन क्रिया की व्याख्या की जाती है क्योंकि पदार्थों की अवस्थाओं में इस प्रकार के भेद से ही वहाँ परिणमन या रूपान्तरण कथित होता है, वास्तविक उत्पत्ति या विनाश से नहीं।

डॉ. कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य[1] का मत है कि वस्तुतः तो सांख्य मत में यथार्थ परिणमन वहीं स्वीकरणीय है जहाँ कि कारण से कार्य की उत्पत्ति एक नवीन तत्त्व की ही उत्पत्ति को बताती हो। यह नवीनता यहाँ मात्र इस तथ्य में निहित है कि कार्य में विद्यमान कारणात्मक वैशिष्ट्य का अंश इतना सूक्ष्म है कि उसका चर्म–चक्षुओं से ग्रहण नहीं हो पाता[2] फलतः कारण–कार्य के मध्य के तादात्म्य का ग्रहण न होने से दोनों में भेद प्रतीत होता है[3]। इसी दृष्टि से वे मात्र चौबीस तत्त्वों का क्षेत्र ही यथार्थ कारणता का क्षेत्र मानते हैं। उसके बाद के विकास को वे प्रतीतिक कारणता का क्षेत्र बताते हैं[4] जहाँ कि विकल्प रूप देश व काल ही नियामक हैं। वह बाद का सारा विकास इन्हीं चौबीस तत्त्वों की उपज है। वे अन्य पदार्थ इन्हीं चौबीस तत्त्वों के विविध प्रकार (modes) हैं। कारण की कार्य से पूर्वसत्ता आवश्यक है और यहाँ सारा जागतिक विकास इन्हीं तत्त्वों के रूप में सदैव स्थित है क्योंकि एक पदार्थ अपने प्रकारों में ही स्थित रहता है उनसे विलग होकर नहीं अतः सांख्य मीमांसा में इस क्षेत्र में यथार्थ कारणता की धारणा नहीं टिक पाती। इसके विपरीत योग मत में इस अतत्त्वान्तर परिणाम को भी यथार्थ माना गया है क्योंकि यहाँ प्रकारों (modes) से रहित होकर भी पदार्थ की सत्ता संभव है फलतः वहाँ भी यथार्थ परिणमन सिद्ध किया जा सकता है[5]। इस स्तर पर यहाँ तीन प्रकार के परिणाम स्वीकृत हैं–धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम तथा अवस्था परिणाम।

---

1. स्टडीज् इन फिलॉसफी, भा. I पृ. 169
2. डॉ. रमाशंकर भट्टाचार्य का भी मत है कि जहाँ कारण की कार्य में स्थिति लौकिक इन्द्रियों का विषय नहीं होती वहीं यथार्थ सत्कार्यवाद की स्थिति रहती है। सां.का., ज्योतिष्मती टीका, पृ. 87
3. डॉ. कालिदास भट्टाचार्य के अनुसार इस स्थिति के परिणाम को बताने के लिये सबसे अधिक उपयुक्त संज्ञा 'अर्थान्तर' है। –कॉन्सेप्ट ऑफ कॉज, अवर हैरिटेज भा. 1, खण्ड 2, पृ. 182
4. यद्यपि सांख्य सम्प्रदाय के सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ सांख्यकारिका में इस प्रकार के कोई उद्धरण नहीं उपलब्ध होते। यहाँ तो सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिये प्रस्तुत पाँच तर्क (नवीं कारिका) भी इसी जागतिक कारणता (अतत्त्वान्तर परिणाम) का ही आश्रय लेकर प्रस्तुत किये गये है। वाचस्पति मिश्र तो इसकी व्याख्या ही जागतिक उदाहरणों से करते हैं तब इसकी प्रामाणिकता में सन्देह करना कहाँ तक सगत है, यह विचारणीय है।
5. डॉ. राधाकृष्णन इस प्रकार का कोई भेद नहीं करते। उनके विवेचन के अनुसार तो ये धर्म–लक्षण–अवस्था परिणाम सांख्य–योग दोनों में समान दृष्टि से स्वीकृत प्रतीत होते हैं। भा.द.भा. 2 पृष्ठ 257

1. **धर्म परिणाम**– अवस्थित धर्मी के पूर्व धर्म का तिरोभाव हो जाने पर अन्य धर्म के प्रादुर्भाव को धर्म परिणाम कहते हैं जैसे स्वर्ण के विविध परिणाम नेकलेस, कंगन आदि[1]।

2. **लक्षण परिणाम**–यह अवस्थित धर्म के अनागत लक्षण का त्यागकर वर्तमान लक्षण व वर्तमान लक्षण के वर्तमान का त्याग कर अतीत लक्षण को प्राप्त करने पर कथित होता है[2]।

3. **अवस्था परिणाम**–वर्तमान धर्म में पुनः नव, पुरातन आदि रूप परिवर्तन अवस्था परिणाम कहलाते हैं। एक वस्तु प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है अतः जो वर्तमान क्षण में नवीन है वहीं पुनः अगले क्षण में प्राचीन हो जाता है। यद्यपि यह परिणाम प्रतिक्षण घटित होता है, पर प्रतिक्षण दृश्य नहीं होता, एक निश्चित काल के बाद ही दृष्ट होता है[3]।

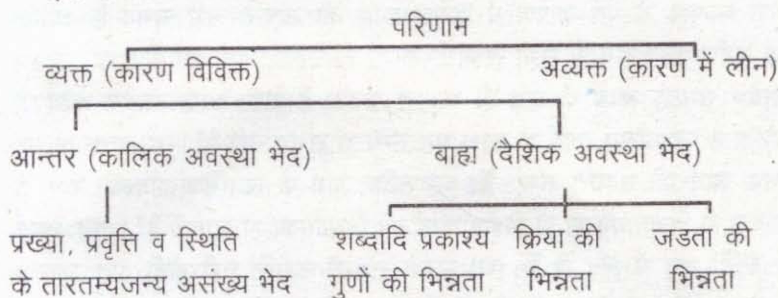
इन्हें अन्तःस्थ परिणाम (immanent change) भी कह सकते हैं। पर सांख्य मतानुसार इस योगसम्मत आन्तरिक परिणाम को हम सदृश परिणाम के ही अन्तर्गत रख सकते हैं जहाँ कि परिणाम का अभिप्राय स्वात्मभेदन न होकर मात्र स्वपुनरावर्तन (self

---

1. यहाँ धर्म का अभिप्राय योग्यतावच्छिन्ना शक्ति है। यह धर्म का प्रत्यय न्याय वैशेषिकों के गुण व बौद्धों के धर्म के प्रत्यय से विशिष्ट है। जहाँ न्यायवैशेषिक सम्मत गुण द्रव्य से भिन्न पदार्थ है व समवाय नामक विशिष्ट सम्बन्ध के द्वारा ही उससे सम्बद्ध होता है, वहीं बौद्धों का धर्म धर्मी से तादात्म्य सम्बन्ध से ही अन्वित रहता है, भेद मात्र उसकी व्यक्तावस्था को लेकर है। अव्यक्तावस्था में वह धर्मी से अभिन्न है और व्यक्तावस्था में ही विविक्ततया भासित होता है।
2. योगदर्शन में लक्षण शब्द का परिभाषिक अर्थ काल है। इसी दृष्टि से हरिहरानन्द आरण्य इसे कालिक परिणाम मानते हैं। (पा.यो.द पृ. 280–81) पर डॉ. कालिदास भट्टाचार्य का मत है कि योगसम्मत ये तीनों परिणाम–धर्म, लक्षण, अवस्था–कालिक परिणाम नहीं है। प्रतीयमान पौर्वापर्य तो विकल्प रूप है और बुद्धि द्वारा आरोपित है। (कॉन्सेप्ट ऑफ कॉज, अवर हैरिटेज, ग्र. 1 खण्ड 2, पृ. 177) वस्तुतः तो तत्त्वों का धर्म, लक्षण, अवस्था रूप परिणाम अतत्त्वान्तर परिणाम है या लौकिक जगत् का परिणाम है जहाँ कि देश काल के विकल्पात्मक प्रत्यय सदैव क्रियाशील रहते हैं तब वहाँ लक्षण से काल के प्रत्यय की स्थिति स्वीकार कर लेना असंगत न होगा। इस सन्दर्भ में डॉ. कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य का यह मत अधिक उपयुक्त लगता है कि सांख्यगत कारणता का क्षेत्र मात्र चौबीस तत्त्वों तक सीमित है। उसके बाद का सारा विकास मात्र विकल्पों का क्रियाकलाप है अतः धर्म–लक्षण–अवस्था रूप परिणामों को अस्वीकार कर भी इस विकल्पात्मक कारण क्षेत्र में देश–कालादि के प्रत्ययों की अनिवार्यता स्वीकृत होती है। (स्टडीज इन फिलॉसफी भा. 1, पृ. 237)
3. धर्म परिवर्तन का अधिकरण जहाँ धर्मी होता है वहीं लक्षण परिणाम का अधिकरण धर्म हुआ करता है अतः धर्मी का परिणाम लक्षण के अन्यथात्व द्वारा तथा धर्म का परिणाम लक्षण के अन्यथात्व द्वारा कहा जाता है। धर्म परिणाम का तात्पर्य कार्याभिव्यक्ति से है। यह कार्याभिव्यक्ति कई रूपों में हो सकती है–पदार्थाभिव्यक्ति रूप में, ज्ञानाभिव्यक्ति रूप में तथा क्रियाभिव्यक्ति रूप में। ज्ञानाभिव्यक्ति रूप परिणाम भी दो रूपों में घटित होता है–अर्थाकार रूप में व प्रतिबिम्बाकार रूप में। (तु.की., विमला कर्णाटक, व्याख्याकारों की दृष्टि से पातञ्जल योग का समीक्षात्मक अध्ययन पृ. 43) इसके विपरीत लक्षण परिणाम का तात्पर्य अभिव्यक्त कार्य के कालपरिवर्तन से है, इसी प्रकार अवस्था परिणाम भी धर्म का होता है। यह लक्षण परिणाम का सहायक है क्योंकि इसके अभाव में धर्म की जो स्वभावतः भग्नावस्था होती है वह उपपन्न नहीं हो पाती। यह परिणमन, वर्तमानलक्षण, अतीतलक्षण व अनागतलक्षण, इन सभी में घटित होता है पर यह अवस्थापरिणाम प्रत्यक्षज्ञेय न होकर अनुमानगम्य ही है। ये धर्मपरिणाम व लक्षणपरिणाम प्रतिक्षण नही होते लेकिन अवस्थापरिणाम प्रतिक्षण हुआ करता है। वस्तुतः तो धर्मी का धर्मरूप से,

reproduction) है या इसे नाममात्र का स्वात्मभेदन कह सकते हैं जो कि यथार्थतः जरा भी यथार्थ नहीं है[1]। योग में तो तीन अन्य परिणामों का भी उल्लेख मिलता है–निरोध परिणाम, समाधि परिणाम तथा एकाग्रता परिणाम पर ये योग की तीन अवस्थाओं के ही परिणाम हैं। कार्यकारणभाव की दृष्टि से इन परिणामों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

इस सम्प्रदाय में परिणाम का एक अन्य तरह से भी विभाजन[2] किया गया है–



श्री कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य के मतानुसार सांख्ययोग की कारणता की धारणाओं में भी परस्पर भेद है। यद्यपि सांख्य व योग दोनों ही कारणता या परिणमन का अभिप्राय कारण के द्वारा स्वयं का नियमन (self-determination) मानते हैं जिसका कि अर्थ है कारण का अपने को नियत रूप में भासित करना। पर इस भासन की क्रिया के विषय में दोनों में भेद है। जहाँ सांख्य में कारण उस पहले से नियत रूप का मात्र आभासन करता है वहीं योग में कारण उस नियत रूप का निर्धारक भी है[3]। यद्यपि कारण में कार्य की पूर्व सत्ता की धारणा योग को भी स्वीकृत है पर वह पूर्वसत्ता एक नियत रूप में है, इस तथ्य को वह नहीं स्वीकारता फलतः यहाँ उस नियतरूपता के प्रदायित्व का कार्य कारण का ही सिद्ध होता है। यहाँ कारण कार्य की आनुपूर्विता तो उत्तरकालिक विकल्पमात्र है जबकि सांख्य में कारण की कार्य से पूर्वस्थिति आवश्यक है तभी कारण से कार्य का आभासन होता है[4], यद्यपि इस पूर्ववर्तिता का ज्ञान हमें कार्याभासन के उपरान्त ही होता है।

इस प्रकार सांख्ययोग में कुछ मूलभूत प्रश्नों पर भेद होने पर भी कारणता का आत्मतत्त्व एक ही है। दोनों ही सत्कार्यवादी हैं, दोनों ही जगत् को प्रकृति का यथार्थ

---

1 वस्तुतः सदृश परिणाम एक तार्किक अनिवार्यता है जिसकी कि स्वीकृति प्रकृति की नित्यपरिणामिता की सिद्धि हेतु ही की गयी है, साथ इसी प्रत्यय की सहायता से नित्यपरिणामी तत्त्व व प्रलय के प्रत्ययों के मध्य सामंजस्य स्थापित किया गया है। अतः यहाँ यथार्थ रूपान्तरणात्मक परिणाम का अभाव है, फलतः उन योगसम्मत अन्तस्थ परिणामों (धर्म–लक्षण–अवस्था) का अन्तर्भाव इसमें करने पर भी किसी भिन्न अर्थ की सिद्धि नहीं होती। वस्तुतः तो सांख्य में ये परिणाम विकल्प की संरचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तभी तो यहाँ चौबीस तत्त्वों का तत्त्वान्तर परिणाम देशकालोत्तीर्ण हैं जबकि उसके बाद का सारा विकास देशकाल की विकल्पात्मक श्रेणियों में आबद्ध है।

2 द. हरि आ., पा.यो.द.पृ. 285

3 स्टडीज़ इन फिलॉसफी भा. 1 पृ. 232

4 हेगेल इन दोनों अवस्थाओं कोएक ही प्रक्रिया के दो पहलू मानता है।

परिणाम मानते हैं, वेदान्तवत् मिथ्या आभास (विवर्त) रूप नहीं। वस्तुतः तो दोनों में ही विविध विषयों के सन्दर्भों में परस्पर आदान–प्रदान उपलब्ध होता है। अतः किसी भी प्रत्यय के विवेचन के लिये दोनों सम्प्रदायों का पृथक्–पृथक् विवेचन न कर एक साथ विवेचन करना अधिक उपयुक्त है।

सांख्य में कारण में कार्य की पूर्वसत्ता को सिद्ध करने के लिये कई तर्क दिये गये हैं[1]– (क) कारण व्यापार से पूर्व कारण में असत् कार्य की उत्पत्ति नहीं संभव है क्योंकि असत्ता के सर्वत्र तुल्य होने से सभी से सभी कार्यों की उत्पत्ति होने लगेगी। (ख) कारण व्यापार सदैव सम्बद्ध कार्य के प्रति ही व्यापार करता है अतः कारण सदैव कार्य से सम्बद्ध रहता है पर असत् कार्य के साथ यह सम्बन्ध संभव नहीं है[2]। (ग) शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति संभव है। वह शक्ति कार्य के अनभिव्यक्तावस्था रूप से सम्बद्ध होकर ही विशेष कारण से विशेष कार्य की नियामिका हो सकती है[3]। अतः कार्य कारण में शक्ति रूप में सत् ही है। (घ) सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं होती अतः कारण विशेष से ही कार्यविशेष की उत्पत्ति का निर्धारण उस विशेष कारण में उस विशेष कार्य की सत्ता के आधार पर किया जाता है। (ङ) कार्य सदैव कारणात्मक होता है अतः यदि कारण सत् है तो कार्य भी सत् होगा[4]।

यद्यपि इन तर्कों से प्रतिपादित सत्कार्यवाद कारण कार्य में तादात्म्य की ही अनुशंसा करता है परतब कारण–कार्य का भिन्न–भिन्न स्वरूप किस तरह प्रत्यक्ष होता है, यह विचारणीय है[5]। सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने इस तादात्म्य की सिद्धि करने में पूर्वपक्षी की सभी संभव शंकाओं का परिहार किया है। उन्होंने वाचिक भेद को ही उस सम्बन्ध का

1. डॉ. राम शङ्कर भट्टाचार्य का मत है कि ये तर्क मात्र कारण व्यापार से पूर्व कार्य की कारण में सत्ता को प्रतिपादित नहीं करते वरन् कार्य सदैव सत् रहता है अर्थात् त्रिकाल में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है, उनके मतानुसार योगवाक्य–अतीतानागतं स्वरूपतः अस्ति अध्वभेदाद्धर्माणाम् (यो.सू. 4/12) ही यहाँ भी सत्य है। यहीं वह जानडेविस के मत को भी उद्धृत करते हैं जहाँ कि यह बताया गया है कि यह कारिका कारण से कार्य की सत्ता प्रतिपादित नहीं करती वरन् कार्य से कारण की सत्ता प्रतिपादित करती है (यद्यपि इस कथ्य से श्री भट्टाचार्य सहमत नहीं हैं)–सां.त.कौ., ज्योतिष्मती टीका, पृ. 84–85.
2. असत्त्वेनास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
   असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः।। सां.त.कौ.पृ. 78
3. यह शक्ति ही अतिशय रूप है। (कारणे तदात्मना वर्तमाना कार्यस्यअव्याकृतावस्थारूपा अनागतावस्थैव कार्यनियामिका शक्तिः, तया सम्बद्धं कार्य च शक्यम.... । वि.त्तो.टी.,वही पृ. 155.
4. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
   शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। सां.का. 9.
5. कारण कार्य में तादात्म्य मानने पर अनेकों शंकायें संभव हैं–
   (क) किसी भी सम्बन्ध हेतु दो सम्बन्धियों की अपेक्षा होती है तो तादात्म्य मानने पर दो सम्बन्धियों के अभाव में वहाँ कारणता कैसे संभव होगी।
   (ख) कारण व कार्य की अर्थक्रियाओं में भिन्नता रहती है अतः एक ही पदार्थ रूप में कारण व कार्य के होने पर वहाँ अर्थक्रियाभेद कैसे संभव होगा।
   (ग) तादात्म्य होने पर कारण से कार्य की उत्पत्ति व नाश रूप कथन कैसे सभव होंगे क्योंकि तब एक ही पदार्थ में दो विरोधी क्रियाओं की संभावना होगी।
   स्वात्मनि क्रियोनिरोधबुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाव्यवस्थाभेदाश्च....सां.त.कौ. पृ. 152.

आधार कहा है साथ ही अर्थक्रियाभेद से भी तादात्म्य की असंगतता का निषेध किया है। उनका मत है कि जगत् में यह संभव है कि एक ही पदार्थ अलग–अलग या मिलकर कई अर्थक्रियाओं को करे। साथ ही एक ही पदार्थ में दो विरुद्ध क्रियाओं की बात भी नहीं सिद्ध हो पाती क्योंकि यहाँ कोई पदार्थ उत्पन्न या नष्ट न होकर कछुये के अंगों के सदृश ही मात्र आविर्भूत व तिरोभूत होता है। अतः कारण कार्य के मध्य तादात्म्य रहते हुये भी कारण–कार्य सम्बन्ध की बात की जा सकती है। डॉ. राम शङ्कर भट्टाचार्य का तो मत है कि उपादान कारण व कार्य में एकान्त अभेद सांख्य की दृष्टि नहीं है क्योंकि अवस्थान भेद की स्वीकृति तो करनी ही पड़ती है। वस्तुतः तो कार्यकारण का विचार दो दृष्टियों से किया जा सकता है–परमार्थ दृष्टि से व व्यवहार दृष्टि से। जिस अवस्था में धर्म धर्मिदृष्टि प्रवर्तित नहीं होती, उस अवस्था में कार्य कारण में भिन्नता नहीं की जा सकती। यही परमार्थ दृष्टि है जो कि गुणों की अवैषम्यावस्था में ही प्रयोज्य है। गुण वैषम्य का क्षेत्र व्यवहार दृष्टि का है जहाँ धर्मधर्मी में भेदभाव माना जाता है पर इस भेदाभेद में कोई विरोध नहीं है क्योंकि जिस दृष्टि से भेद है, उसी दृष्टि से अभेद नहीं है। फलतः श्री भट्टाचार्य के मत में वाचस्पति मिश्र द्वारा कार्य कारण में अभेद सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत युक्तियाँ–धर्मधर्मिभाव, उपादानउपादेय भाव, संयोगाभाव,अप्राप्ति का अभाव तथा गुरुत्वान्तरकार्य का अभाव कारण कार्य के मध्य एकान्त अभेद की साधक न होकर कारण कार्य के मध्य सन्निवेश भेद की उपस्थापक हैं[1]। पर इसका अभिप्राय है कि कारण सदैव किसी न किसी रूप में (उदित, अतीत या अव्यपदेश्य रूप) विद्यमान रहता है। पर अब इसकी कूटस्थता की आशंका होती है तो इसका समाधान यही संभव है कि कार्यों के लयोदय के कारण ही इसको भी परिणामिनित्य कहा जाता है। नित्यता कूटस्थता की साधक नहीं है वरन् अपरिणमनशीलता ही कूटस्थता के लिये उत्तरदायी है।

यहाँ कारण व्यापार से पूर्व कार्य को सत् मानने पर कारण व्यापार की निरर्थकता का प्रश्न भी उपस्थित हो सकता है। यद्यपि कार्य के अभिव्यक्तीकरण रूप में उसकी सार्थकता बताई जाती है पर सत्कार्यवादी मीमांसा के कारण वह अभिव्यक्ति भी यहाँ पूर्वसत् ही है। तब कारण व्यापार का क्या प्रयोजन हो सकता है क्योंकि अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मानने पर अनवस्था दोष का प्रसंग प्राप्त होगा पर अनवस्था यहाँ दोष रूप न होकर बीज–वृक्षवत् प्रामाणिक है[2]।

---

1. सां.त.कौ., ज्योतिष्मती टीका पृ. 85–87
2. (अ) पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत्। (सां.सू. 1/122)
(आ) यद्यपि नैयायिक ऐसी आशङ्का उपस्थित करते हैं पर उनके भी मत में उत्पत्ति का अर्थ आद्यक्षण का सम्बन्ध, स्वसत्तासमवाय या स्वकारणसमवाय ही है, जिसके कि आधार पर नित्य उत्पत्ति की ही उत्पत्ति का प्रसंग वहाँ भी उपस्थित होगा क्योंकि आद्यक्षण सम्बन्ध रूप अर्थ लेने पर उत्पत्ति व कार्य पर्याय ही सिंद्ध होते हैं और तब कार्य की उत्पत्ति कहने से पुनरुक्ति दोष सिद्ध होगा तथा समवाय रूप से अर्थ लेने पर समवाय के नित्य होने वे वह भी नित्य होगी। इस प्रकार जैसे नित्य या पूर्वसत् उत्पत्ति की ही उत्पत्ति हेतु वहाँ भी कारणव्यापार की प्रयोजकता मानी जाती है व उत्पत्ति के सन्दर्भ में अनवस्था को प्रामाणिक स्वीकार किया जाता है वैसे ही यहाँ भी अवधारणीय है क्योंकि दोष के समान होने पर समाधान भी समान स्वीकरणीय है। (उत्पत्तिवद् वादोष। सां.सू. 1/123)

सांख्यचन्द्रिकाकार इसका एक तार्किक समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। उनके अनुसार कारण में सत्त्व रूप से स्थित पर अनभिव्यक्त कार्य तम से प्रतिबद्ध रहता है अतः उसका व्यवहारोपयोगित्व नहीं है पर जब कारणव्यापार (अभिव्यञ्जक सामग्री) उस तमो जन्य प्रतिबन्ध को हटा देता है तब वह कार्य अभिव्यक्त होकर व्यवहारक्षम हो जाता है। इस प्रकार कारण सामग्री का कार्य मात्र उत्तेजन रूप है[1]।

इस प्रकार कारण में सदैव कार्य की सत्ता सिद्ध होती है। अतः कार्य रूप सारा जागतिक विकास एक ही तत्त्व प्रकृति में अनुस्यूत सिद्ध होता है। पर सब कुछ एक ही तत्त्व में निहित होने पर भी उसका एक विशिष्टक्रम में ही उद्विकसित होना विचारणीय है। संभवतः इस क्रम का नियमन उसी प्रयोजन से होता है जिसका कि यद्यपि प्रकृति को स्वयं ज्ञान नहीं है पर उससे निर्दिष्ट होना उसके स्वभाव में निहित है[2]। यहाँ जागतिक कारणता के क्षेत्र में भी सर्वसर्वात्मकता की मान्यता पुष्ट होती है अतः एक नियत कारण से ही नियत कार्य की उत्पत्ति की समस्या उदित होती है जिसकी कि व्याख्या हेतु किसी निमित्त की पूर्वकल्पना की जाती है। कारण में कार्य का सत्त्व देश, काल, आकार रूप उपाधियों से अनविच्छन्न है, इसी कारण वह सर्वात्मक है पर उस अनभिव्यक्त सत्त्व के मार्ग में अनन्त अवरोध है जिसके कारण वह अनन्त संभावनाओं से युक्त रहने पर भी किसी भी रूप में अभिव्यक्त नहीं होता है। कारणव्यापार उस अवरोध को एक निश्चित दिशा में हटाकर उस अव्यक्त सत्त्व के एक नियत अंश को अभिव्यक्त करता है। यद्यपि सांख्य पारमार्थिक स्तर पर प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी कारण को न मानने से उसी के स्वभाव को ही इस नियतरूपता के लिये उत्तरदायी कह सकता है (जबकि योग ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा को ही इसके लिये जिम्मेदार ठहराता है) पर लौकिक जगत में जहाँ मात्र प्रातीतिक कारणता है या विकल्प का साम्राज्य है[3], देश, काल, आकार तथा निमित्त रूप सहकारी दशाओं की स्थिति भी स्वीकारना अपरिहार्य है। इन्हीं के कारण यहाँ सर्व–सर्वात्मकता का प्रतिपादन होने पर भी एक नियत–क्रम की व्यवस्था दृष्ट होती है। ये सहकारी दशायें ही उपादान कारण के साथ मिलकर अनभिव्यक्त की अभिव्यक्ति करती है। योग तो जागतिक स्तर पर इन सहकारियों की स्पष्ट स्थिति स्वीकारता है[4]। यद्यपि जगत् में कुछ ऐसे भी उदाहरण दृष्ट हैं जहाँ अप्रत्याशित कारणों से अप्रत्याशित कार्यों की उत्पत्ति दृष्ट होती है जैसे कि पत्थर से भी पुष्पोत्पत्ति या अग्नि से भी शीतल

---

1. नारायणतीर्थ, सांख्य चन्द्रिका, पृ. 10.
2. इस स्वभाववाद में कारणपदार्थ के स्वभाव को ही उस नियत क्रम में आभासन का जिम्मेदार कह सकते हैं। यहाँ मूल कारण (प्रकृति) का स्वभाव तीनों गुणों की परस्पर क्रिया–प्रतिक्रिया ही है। यह भी उसके स्वभाव में ही निहित है कि वह पुरुष के प्रयोजनों के अनुरूप उद्विकसित हो।
3. तु.की के.सी. भट्टाचार्य, स्टडीज इन फिलॉसफी भा.। पृ. 237–239
   कालिदास भट्टाचार्य, कॉन्सेप्ट ऑफ कॉज, अवर हैरिटेज भा.। ख. 2 पृ. 177.
4. देशकालाकारनिमित्तापबन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति। यो.भा., पा.यो.द., पृ. 291.

स्पर्श की अनुभूति आदि। यहाँ पर उन्हीं सहकारियों के कार्यवैचित्र्य से यह वैषम्य उपलब्ध होता है योगीसृष्टि भी इसी प्रकार की कारण नियम का अतिक्रमण करने वाली सृष्टि है। वहाँ योगी अपनी यौगिक शक्तियों से पदार्थगत अवरोधों को अपनी इच्छित दिशा में दूर करके इच्छित पदार्थ की उत्पत्ति कर लेता है।

इस प्रकार सिद्ध सत्कार्यवाद में कारण सदैव अपने कार्य को व्याप्त किये रहता है पर यहाँ कारण व कार्य में परिमाणात्मक भेद भी प्रतिपादित है। अतः कारण को सदैव कार्य से सूक्ष्म बताया गया है, साथ ही कार्य की दृष्टि से अव्यक्त बतलाया गया है। अव्यक्त कहने का अभिप्राय है वह पदार्थ जिसमें कि कार्य अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान है। कारण कार्य में अभेद रहने से वह कारण भी अव्यक्त कह दिया जाता है[1]। यहाँ सूक्ष्मत्व या व्यापकत्व दो सापेक्ष धारणायें हैं जो जितना सूक्ष्म है वह उतना ही व्यापक है। इसी कारण कारण के कार्य की अपेक्षा सूक्ष्म रहने से वही कार्य में व्यापक है, कार्य उसमें नहीं। प्रकृति सूक्ष्मतम होने से सबमें व्यापक है। यहाँ सत्कार्यवादी दृष्टि के कारण ही कार्योत्पत्ति के पूर्व कार्य की कारण में सत्ता के सदृश ही उत्पत्ति के बाद भी कारण की सत्ता अतीतावस्था रूप में सिद्ध की गयी है[2]। कार्य अनागतावस्था में भी सूक्ष्म रूप से रहता है और अतीतावस्था में भी सूक्ष्मतया रहता है पर कारण व्यापार के द्वारा अनागतावस्थ सूक्ष्म कार्य को ही स्थूलावस्था प्रदान करायी जाती है, अतीतावस्था को प्राप्त कार्य को स्थूलावस्था नहीं प्राप्त करायी जाती क्योंकि ऐसी उपलब्धि नहीं होती। योगभाष्यकार का मत है कि अनागत के बाद वर्तमान आता है व वर्तमान के बाद अतीत पर अतीत के बाद पुनः वर्तमान नहीं आता क्योंकि उसका समनन्तर न होने से उसका उन्मज्जन संभव नहीं है[3]।

सदैव सव्यापार तत्त्व की ही कारणता है। इसी कारण प्रवृत्तिमत्ता को भी कारण का पर्याय बताया जांता है[4]। यह व्यापार यहाँ अभिव्यञ्जन रूप ही है। इस सम्प्रदाय में कारण व कार्य के लिये प्रकृति व विकृति शब्दों का प्रयोग भी उपलब्ध होता है[5]। विकृति व परिणाम शब्द यों तो पर्याय ही हैं पर दोनों में किञ्चित् भेद है। जहाँ विकृति मात्र तत्त्वान्तर परिणाम के लिये उक्त है वहीं परिणाम शब्द सभी प्रकार के रूपान्तरण का अभिधायक है। प्रकृति संज्ञा भी प्रायः तत्त्वान्तरोपादानता के लिये ही प्रयुक्त होती है[6]

---

1. तत्कारणरूपमेवानभिव्यक्त कार्यमपेक्ष्याव्यक्तं भवति। सा.त.कौ.पृ. 195.
2. वह न्यायवत् प्रध्वंसाभाव को नहीं प्राप्त होता।
3. यदि हि अतीतमपि कार्य पुनर्वर्तमानं भवेत तदा 'तदेवेदम्' इत्येव प्रत्यभिज्ञायमान कदाचिदुपलभ्येत, च चोपालभ्यते चेति अतीतावस्थस्य कार्यस्य पुनरनुन्मज्जनमेवावसीयत इति। यदाहुर्योगभाष्यकारा 'यथाऽनागतवर्तमानयोः पूर्वपश्चिमता, नैवमतीतस्य, तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तरः 'तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्तमानस्येति।-सा. बो.टी., सा.का.पृ. 19.
4. यद्धि प्रवृत्तिशीलं तदेव भवति कारणम्, यच्च न तथा तत् कारणमपि न भवति...सा.बो.टी., सा.का0.पृ. 302.
5. सा.का., 3
6. तत्त्वान्तरोपादानत्वञ्च प्रकृतित्वम्...सां.त.कौ.पृ. 95.

अर्थात् वे ही पदार्थ प्रकृति कहलाते हैं जो तत्त्वान्तर को उत्पन्न करते हैं[1]। पर यह कारण की धारणा का सीमित प्रयोग है अन्यथा तो तत्त्वान्तर न होने पर भी नाना जागतिक दृष्टान्तों में कारणता का उल्लेख किया ही जाता है। अतः यहाँ भी प्रकृति संज्ञा का प्रयोग संभव है क्योंकि ये भी कारण हैं पर विद्वत्तोषिणीकार का मत है कि यहाँ प्रकृति शब्द का प्रयोग हानोपादानलक्षणा से ही सिद्ध हो पाता है जिसमें कि प्रकृति के लक्षण में से तत्त्वान्तर को छोड़कर मात्र उपादानत्व रूप अंश को लेकर ही प्रकृतित्व की सिद्धि की जाती है[2]।

सांख्ययोग में मात्र उपादानकारण ही स्वीकृत है[3] निमित्त नहीं[4] या यह भी कह सकते

---

1. प्रकृति शब्दो हि साम्यावस्थोपलक्षितगुणत्रयात्मकत्वलक्षणो, मूलकारणे प्रधाने तत्त्वान्तरोपादानत्वलक्षणश्चा हङ्कारादिकरणे महदादौ, उपादानत्वमात्रलक्षणश्च घटकटकादिकरणे मृत्कनकादौ इत्येवं तत्तल्लक्षणः तत्तदर्थाविशेषे तत्र तत्र प्रयुज्यमान उपलभ्यते....। वि.टी., सां.का.पृ. 69.
2. वि.टी., सां.त.कौ., पृ. 69, पा.टि.1.
3. यद्यपि यहाँ सांख्ययोग का एक साथ ग्रहण कर दोनों में निमित्तकारण की अस्वीकृति बतलायी गयी है पर इसके विपरीत अनेक विद्वान् योगदर्शन में ईश्वर की इच्छा रूप निमित्त कारण की स्वीकृति मानते हैं। यद्यपि योग दर्शन के मूलभूत ग्रंथ योगसूत्र व व्यासभाष्य के निरीक्षण से यही ज्ञात होता है कि वहाँ ईश्वर का निमित्त रूप से कहीं नहीं ग्रहण हुआ है। यद्यपि जागतिक वैषम्य के निरूपण हेतु धर्माधर्म की निमित्तता स्वीकार की गयी है (द्र.व्या.भा., सां.यो.द.पृ. 395–96) पर प्रकृति के उद्विकासार्थ किसी ऐसे निमित्त की कल्पना नहीं की गयी है। ईश्वर भी यहाँ आराधना व अनुग्रह के लिये ही स्वीकृत है, जागतिक उद्विकास में किसी सक्रिय भूमिका को निभाने के लिये नहीं। पर परवर्ती टीकाकारों (वाचस्पति मिश्र व विज्ञानभिक्षु) ने ऐसे तत्त्व को स्वीकारा है (द्र.त.वै., सां.यो.द.पृ. 295–96, यो.वा., सां.यो.द.पृ. 396) और इन्हीं के कथनों को आधार मान कर अन्य विद्वानों ने भी यह धारणा पुष्ट की कि योग में एक ऐसा छब्बीसवाँ तत्त्व है जो जागतिक उद्विकास का निमित्त है (तु.की., राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भा. 2 पृ. 364. एस.एन. दासगुप्ता, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी भा. 1 पृ. 259; के.सी. भट्टाचार्य, स्टडीज इन फिलॉसफी भा 1, पृ. 234) पर कुछ विद्वान इस धारणा के विपरीत है (हरि.आर., पा.यो.द.पृ. 69), वस्तुतः तो विश्लेषण किये जाने पर ईश्वर का निमित्तत्व सध ही नहीं पाता क्यों कि योगसम्मत ईश्वर की परिभाषा के अनुसार नित्ययुक्त, साम्यातिशय से रहित, क्लेशकर्मविपाकाशय से अपरामृष्ट पुरुषविशेष ही ईश्वर है। (यो.सू. 1) उसका ऐश्वर्य मात्र शुद्ध अधिष्ठानरूपता या साक्षिरूपता में ही परिनिष्ठित है (सांख्य तो निर्व्यापार तत्त्व का अधिष्ठातृत्व भी नहीं मानता। (सा.बो.टी., सां.का.पृ. 461) उसकी यह नित्यमुक्त पुरुषरूपता ही उसको समस्त प्रकृतिज् विकारों से मुक्त रखती है फलतः निष्क्रिय होकर या ज्ञानक्रियादि विकारों से शून्य रहकर उसमें उपबन्ध–अपनयन की भी सामर्थ्य संभव नहीं हो पाती। सांख्य की बीजभूत उपनिषदों में भी उद्विकास–प्रक्रिया में ईश्वर की अकृतकार्यता का ही उल्लेख मिलता है जैसे–इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न पर किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः।। (कठ.–1/3/10–11), महाभारत में भी इसी श्रुतिवाक्य की ही प्रतिध्वनि उपलब्ध होती है (शा.प. 247/2) अब इस निमित्त को या तो प्रकृति के स्वभाव में ही निहित कहा जा सकता है या उन त्रिगुणजन्य धर्माधर्म रूप वृत्तियों को ही निमित्त रूप में प्रतिपादित किया जा सकता है पर सृष्टि–उद्विकास के प्रारम्भ हो जाने के बाद तो विषमता निर्धारण में इनकी निमित्तता सध जाती है पर उद्विकास के प्रथम सोपान की व्याख्या इससे भी नहीं हो पाती। अतः वहाँ किसी पृथक् निमित्त (चेतन या अचेतन) की स्वीकृति अनावश्यक है, तो वहाँ मात्र प्रकृति के स्वभाव को ही सारे वैचित्र्यों के लिये उत्तरदायी कह सकते हैं और इस स्वभाव की पृष्ठभूमि में बछड़े के पोषणार्थ जड़ दूधवत् पारार्थ्य प्रयोजन ही निहित मान सकते है, न स्वार्थ प्रयोजन है, न अनुग्रह व न कारुण्या। यद्यपि इस प्रयोजनपरक उद्विकास की इन उपमाओं के सहारे व्याख्या करना अति जटिल समस्या है व नाना विसंगतियों को जन्म देता है)। यह प्रयोजन यहाँ भोगपरक है कर्तृत्वपरक नहीं।
4. इसके विपरीत पाश्चात्य दार्शनिक मात्र निमित्त कारण को स्वीकारते हैं, उपादान को नहीं क्योंकि उनकी दृष्टि में वह अपने कार्य से इतना तादात्म्यीकृत रहता है कि दोनों के मध्य कोई भेद नहीं किया जा सकता फलतः कारण की स्वतन्त्र सत्ता भी नहीं सिद्ध की जा सकती। वे उपादान कारण को द्रव्य (substance) व कार्यों को इसका प्रकार (modes) कहते हैं। इसी प्रकार क्षणिकवादी बौद्ध दर्शन भी मात्र निमित्त कारण की स्थिति ही स्वीकारता है।

हैं कि वैशेषिक के समवायि व निमित्त कारणों का मिश्रित रूप ही यहाँ का उपादान कारण है[1]। फलतः कारण न केवल कार्य में अनुस्यूत है वरन् अपनी ही क्रिया से कार्य रूप में परिणत भी होता है। यहाँ कारण मात्र कार्य के उसी रूप के लिये उत्तरदायी है, न्यायवत् किसी नवीन तथ्य के लिये नहीं। इसी कारण कारण सम्बन्धी यह विशिष्ट दृष्टि प्रतिपादित की गयी है।

डॉ. कालिदास भट्टाचार्य सांख्ययोग की इस विशिष्ट दृष्टि का एक अन्य कारण बताते हैं। उनकी दृष्टि में सांख्ययोग ऐसे प्राचीन दर्शन सम्प्रदाय से सम्बद्ध था जहाँ उत्पत्ति की कोई समस्या नहीं थी। वहाँ मान्यता थी कि एक पदार्थ 'ऐसा' किसी अन्य पदार्थ के कारण नहीं है वरन् अपने स्वभाव से ही ऐसा है[2]। उद्विकास में कारण जिनको आभासित करता है वे सब अपने स्वभाव से ही नियत सत्ता प्राप्त कर चुके हैं और अनभिव्यक्ततया स्थित हैं, कारण मात्र उनको आभासित करता है। इस प्रकार का यह स्वभाववाद विशिष्ट प्रकार का है जो कि यदृच्छावादियों व आकस्मिकतावादियों की भाँति कारणात्मक सम्बन्धों के निषेधपूर्वक प्रसृत नहीं होता वरन् कारणता को अनाभासित के आभासन में ही मात्र सीमित कर देता है। यद्यपि 'सर्वं सर्वात्मकम्' सिद्धान्त के अनुसार एक पदार्थ में अपने स्वभाव से ही अन्य प्रकार से होने की सामर्थ्य है पर वह इसलिये उस 'अन्य' रूप में परिणत नहीं होता क्योंकि वहाँ अन्य भी तुल्यबलीय विकल्प, (सामर्थ्य) हैं। जब इन प्रतिरोधक विकल्पों को हटा लिया जाता है तब गुप्त सामर्थ्य अभिव्यक्त हो जाती है। फलतः निमित्तकारण कार्योत्पत्ति में कोई प्रत्यक्ष सहायता नहीं करता, वह मात्र प्रतिबन्धापनयक है[3]। इस प्रतिबन्धापनयक को मात्र प्रतिबन्धापनयन का कारण कह सकते हैं, कार्य का नहीं अथवा इस स्वभाववाद में प्रतिबन्धापनयन कार्य की अभिव्यक्तावस्था में कोई कारण नहीं है क्योंकि कार्य के आभासित होने के लिये कार्य की अभिव्यक्तावस्था ही उत्तरदायी है। इस प्रकार यदि उपादानकारण को कारण माना जाये तो एक प्रकार के स्वभाववाद का आश्रय लेना होगा। जहाँ कि कोई चेतन या अचेतन

---

1. इसके विपरीत डॉ. राधाकृष्णन् तथा हरिहरानन्द आरण्य का मत है कि सांख्य मत में दोनों कारण स्वीकृत हैं–उपादान भी व निमित्त भी (भा.द.,भा 2, पृ. 257, पा.यो.द.पृ. 294) उनके अनुसार पारमार्थिक स्तर पर संयोग निमित्त है जबकि जागतिक स्तर पर देश, काल, आकार व अन्य सहकारी निमित्त हैं।
2. न्याय वैशेषिक आरम्भवाद को लेकर चलने से सर्वत्र चेतन या अचेतन की निमित्तता स्वीकारता है। वस्तुतः तो मात्र निमित्त कारण को मानने पर आरम्भवाद सत्य सिद्ध होता है पर उपादान कारण की भी कारणता स्वीकारने पर स्वभाववाद को स्वीकारना पड़ता है।
3. यहाँ प्रतिपादित निमित्त की धारणा अन्य दर्शनगत धारणाओं से विलक्षण है जहाँ अन्यत्र (न्यायवैशेषिक, वेदान्त आदि) निमित्तकारण उस प्रयोजक कारण को कहते हैं जिसका धर्म अनिवार्यतः चैतन्य है वहीं यहाँ निमित्तकारण सर्वथा अप्रयोजक प्रतिबन्धापनयक मात्र है। (यो.सू. 4/3) फलतः यह कार्योत्पत्ति में कोई भावात्मक योगदान नहीं देता, मात्र आभासन को सरल बनाता है।

तत्त्व निमित्त रूप से नहीं स्वीकृत है[1]। यद्यपि प्रकृति से उद्विकास प्रारम्भ होने में क्षोभकारक अविवेकज संयोग को भी निमित्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है[2] पर वस्तुतः तो वह नित्यपरिणामी प्रकृति का ही एक परिणाम है, कोई बाह्य तत्त्व नहीं अतः उसकी निमित्तता प्रकृति के स्वभाव में ही निहित है फलतः प्रकृति के अतिरिक्त कोई निमित्त मानना अनावश्यक है।

वस्तुतः तो इस स्वभाववाद को लेकर चलने पर भी तत्त्व जगत् के एक निशिचित क्रम के लिये कोई उपयुक्त समाधान नहीं मिलता। अचित् प्रकृति जिसमें कि समस्त संभावनायें बिना किसी पूर्वापरता के निहित हैं, कैसे एक नियत क्रम में ही उद्विकसित होती है, इसकी व्याख्या मात्र स्वभाव के सहारे करना मात्र हमारे ज्ञान की सीमा को बताता है, कोई तार्किक समाधान प्रस्तुत नहीं करता। संभवतः इसी दृष्टि से उत्तरवर्ती योगटीकाकारों ने इस समस्या के समाधान के लिये छब्बीसवें तत्त्व ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा की निमित्तता को स्वीकार कर उस नियत क्रम की व्याख्या की चेष्टा की और सर्व सर्वात्मकता होने पर भी विशिष्टरूपता का विवेचन किया। यद्यपि सारे तत्त्व सर्वमय हैं, सारा जगत् भी सर्वात्मक है पर सबसे सबकी अभिव्यक्ति इसलिये नहीं होती क्योंकि इस अभिव्यक्ति मार्ग में चार उपबन्ध विद्यमान हैं[3]–(क) दैशिक (ख) कालिक (ग) आकारिक (घ) नैमित्तिक।

उस स्वतन्त्र इच्छा[4] रूप निमित्त से इन प्रतिबन्धों का जिस दिशा में भी अपनयन हो जाता है, उसी विशेष रूप में कार्य अभिव्यक्त हो जाता है। फलतः एक विशेष स्थिति में ही विशेष कार्य की अभिव्यक्ति होती है। जहाँ जागतिक उद्विकास के लिये ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा की ही निमित्तता बताई गयी है वहीं धर्माधर्मात्मक कर्म की भी निमित्तरूपता अक्सर कही जाती है। वस्तुतः ईश्वरीय इच्छा से तात्त्विक उद्विकास का क्रम निर्धारित होता है व कर्म या धर्माधर्म से जागतिक विकास (चौबीस तत्त्वों के बाद का विकास) की

---

1. कालिदास भट्टाचार्य, कॉन्सेप्ट ऑफ़ कॉज़, अवर हैरिटेज, भा. 1, खण्ड 1, पृ. 173
2. यों तो प्रकृति स्वभावतः परिणमनशील है किन्तु बुद्धि आदि संघात या गुणवृत्ति की संहत्यकारिता गुणस्वभावमात्र से नहीं होती। उसे पुरुष के उपदर्शन की अपेक्षा होती है। इसी उपदर्शन का हेतु संयोग है व संयोग का हेतु अविद्या है। यद्यपि इस संयोग की स्थिति स्वयं अति संदिग्ध है क्योंकि नित्य, केवली, कूटस्थ, पुरुष का प्रकृति के साथ न यथार्थ संयोग संभव है न संयोगाभास।
3. देशकालाकारनिमित्तसम्बन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिः....।
4. यह इच्छा ईश्वर को निमित्त कारण मानने वालों के मत में तो उपपन्न हो सकती है पर अन्यत्र इसकी उपपत्ति नही होती वहाँ तो मात्र प्रकृति ही सर्वसक्षम है अतः ये निमित्त उसी के अधीन रहकर ही क्रियाशील होते हैं किसी अन्य चेतन इच्छा के अधीन होकर नहीं। ससार में बद्ध पुरुष की इच्छा की निमित्तता स्वीकृत है पर एक तो वह प्रकृति का परिणाम होने से प्रकृति रूप है साथ ही अविवेकज होने से अविवेकस्वरूपा है फलतः विकल्पात्मक जागतिक विकास में ही उसकी निमित्तता स्वीकरणीय है।

नियतरूपता का निर्धारण होता है। योगी या जीवन्मुक्त प्रमाता[1] विशिष्ट सिद्धियों को अर्जित करने से इन उपबन्धों को किसी भी दिशा में रोक सकता है फलतः वह प्रचलित जागतिक नियमों का उल्लंघन कर अग्नि से भी शीतलता, पत्थर से भी पुष्प, आकाश से भी कमल पैदा कर सकता है पर तत्त्व जगत् में विपर्यास नहीं कर सकता।

इसी प्रकार योग में दो कारण मान्य हैं–उपादान व निमित्त, जबकि सांख्य में एक ही उपादानकारण स्वीकृत है। पर मात्र उपादानकारण की सत्ता मानने वाले सांख्य के सन्दर्भ में यह द्रष्टव्य है कि संसार में एक कार्य के आभासनार्थ कई उपयुक्त स्थितियों की आवश्यकता होती है तो उसकी व्याख्या यहाँ किस प्रकार संभव है। संभवतः इसी दृष्टि से सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने समस्त व्यक्त व अव्यक्त तत्त्वों को सम्भूयकारी कहा है, एकमात्र तत्त्व से किसी की उत्पत्ति नहीं स्वीकृत की है तो फिर उन अन्य तत्त्वों की कारणता को किस कोटि में रखा जाये। इसका समाधान इस प्रकार कर सकते हैं कि 'सर्वसर्वात्मकता' का ही सिद्धान्त इस संभूयकारिता का प्रयोजक है और उसी के ब्याज से संभूयकारिता सिद्ध की जा सकती है क्यों कि एक तत्त्व में स्थित अन्य समस्त तत्त्वों का अंश मिलकर एक विशिष्ट अनभिव्यक्त अंश के आभासन के लिये मार्ग प्रशस्त करता है और यह प्रक्रिया उसी तत्त्व में घटित होती है अतः संभूयकारिता होने पर भी नाना कारणों की कल्पना करना आवश्यक नहीं है। पर जागतिक उदाहरणों में तन्तु या मृद् जो कि यथार्थ कारण है अन्य सहकारियों से सहकृत होकर ही कार्य का आभासन करते हैं तो यहाँ उन सहकारियों की कारणता परोक्षतया स्वीकरणीय ही है[2]।

इस प्रकार सर्वानुस्यूतिपरक तत्त्व के रूप में प्रकृति तत्त्व की सत्ता सिद्ध होने से वही अन्ततः प्रथम व अन्तिम कारण सिद्ध होता है, वही सारे जगत् का उपादान है। उसी का विकास दो प्रकार के तत्त्वों में होता है–(क) जो कारण कार्य दोनों हैं (प्रकृति विकृति) (ख) जो मात्र कार्य हैं (विकृति)। वस्तुतः तो यहाँ जागतिक उद्विकास का मूल पुरुषार्थ भोग ही है जो कि प्रकृति के व्यापार का निर्देशक है, यद्यपि प्रकृति को स्वयं इसका ज्ञान नहीं है। प्रकृति का व्यापार इसी भोग से नियंत्रित

1. यद्यपि किसी चेतन तत्त्व की नियामकता न मानने से इस दर्शन में जीवन्मुक्त प्रमाता या योगी की इच्छा की नियामकता स्वीकरणीय नहीं प्रतीत होती क्योंकि मुक्ति का अभिप्राय है विवेकपूर्ण ज्ञान और इस ज्ञान से युक्त जीव में प्रकृति के विकारों (ज्ञान, क्रिया, इच्छादि) से भी विरक्तिभाव जाग्रत हो जाता है। फलतः योगी की प्राकाम्यत्व आदि रूप सिद्धियों के प्राप्तकर्ता के रूप में व्याख्या उपपन्न नहीं होतीं। वस्तुतः तो ये सब योग की निम्न अवस्थायें हैं जहाँ कि जीव का प्रकृति से किञ्चित् संसर्ग बना रहता है। उससे पूर्ण विमुक्ति की अवस्था में उसमें ऐसी इच्छा की संभावना नहीं है। अतः योगी की इच्छा योग के निम्न स्तरों पर ही इन वैचित्र्यात्मक कृत्यों को प्रस्तुत करती है।

2. वस्तुतः तो यह क्षेत्र विकल्पवृत्तियों से नियमित रहता है अतः यहाँ इन सहकारी कारणों की भी प्रतिबन्धापनयन ः निमित्तता स्वीकार सकते है।

होता है। इस अचेतन प्रयोजनवाद के सन्दर्भ में सांख्ययोग द्वारा प्रस्तुत उद्विकासक्रम[1] जीवविज्ञान सम्बन्धी उद्विकासक्रम से काफी मिलता हुआ है[2]। यहाँ सब कुछ (मानसिक और भौतिक जगत्), यहाँ तक कि विमर्शन भी उसी अचित् तत्त्व का परिणाम है[3]।

यद्यपि पुरुष को भी अरस्तू के पगचिह्नों पर प्रथम व अन्तिम कारण[4] कहा जा सकता है पर उसकी कारणता लाक्षणिक है क्योंकि यहाँ उसकी इच्छामयता कारणता के लिये उत्तरदायी नहीं है वरन् मात्र सान्निध्य ही है जो कि लौहचुम्बकवत् निष्क्रिय आकर्षणक्रिया द्वारा कारण बनता है। वस्तुतः तो सच्चे अर्थों में जहाँ कारण को क्रिया के साथ जोड़ा जाता है वहाँ प्रकृति ही वह प्रथम व अन्तिम कारण सिद्ध होती है। प्रवृत्तिमत्ता के अर्थों में कारण को लेने पर प्रकृति रूप मूल कारण की प्रवृत्ति का हेतु व प्ररूप बताना आवश्यक हो जाता है। यह हेतु तो उसका स्वभाव व पारार्थ्य ही है और वह प्ररूप दो प्रकार है–(क) स्थिति संस्कार से प्रवृत्ति (ख) गति संस्कार से प्रवृत्ति। स्थिति है गुणों की प्रलयकालीन कार्यारम्भरहित साम्यावस्था तथा गति है गुणों की सृष्टिकालीन कार्यारम्भरूपावस्था। प्रकृति में भिन्न–भिन्न कालों में इन दोनों ही संस्कारों से प्रवृत्ति होती है फलतः उसके दो कार्य प्रस्तुत होते हें–प्रलय व सर्ग। इन्हीं दोनों कार्यों को आभासन रूप परिणाम व पुनरुत्पादन रूप परिणाम भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार सांख्य कारणता का सिद्धान्त दो घटनाओं के अनुपाधिक पौर्वापर्य पर आधारित न होकर प्रयोजनपरक उद्विकासवाद है पर चेतन तत्त्व की स्वीकृति के अभाव में यह पूर्णतः यांत्रिक है। साथ ही दो स्वतन्त्र तत्त्वों के सहारे जागतिक उद्विकास की

---

1. पुरुष की सन्निधिमात्र से क्षुब्ध प्रकृति नित्य विरक्त पुरुष के लिये अपनी जटिल सृष्टिप्रक्रिया आरम्भ कर उसके लिये, द्विविध सर्गों को प्रस्तुत करती है–प्रथम लिंग सर्ग व द्वितीय भाव सर्ग। लिंग सर्ग जहाँ पुरुष के लिये भोगायतन प्रदान करता है वहीं भावसर्ग भोग्य पदार्थ। उस भोगायतन के दो प्रकार हैं–मानसिक व भौतिक। मानसिक शरीर का निर्माण बुद्धि, अहंकार, मन, दश इन्द्रियों तथा पञ्च तन्मात्रों के समवाय से होता है तथा भौतिक शरीर, पञ्च महाभूतों से निर्मित होता है। इस प्रकार तेईस तत्त्वों का समग्र जहाँ लिंग सर्ग है वहीं तदुत्तरवर्ती विकास भावसर्ग है जो कि विषयों के साथ मिथ्या एकात्मीभाव को प्रस्तुत करते हुये ही उसके भोग को सम्पादित करता है।
2. (क) इस सन्दर्भ में इसका पाश्चात्य दार्शनिकों में आधुनिक सत्वादियों (modern realists) व व्यवहारवादियों (behaviourists) के साथ पर्याप्त साम्य है।

   (ख) सांख्ययोग का जीववैज्ञानिकों से भेद मात्र इतना है कि जहाँ जीवशास्त्री मानता है कि गति व उद्देश्य समान रूप से पदार्थ के स्वभाव में निहित हैं वहीं सांख्ययोग में उद्देश्य स्वयं पदार्थ का न होकर किसी अन्य विलग तत्त्व का है। इसके विपरीत ईश्वरवादी यह मानते हैं कि पदार्थ उस तत्त्व द्वारा संचालित होते हैं, जिसके प्रयोजन की पदार्थ पूर्ति करते हैं। तु.की. कालिदास भट्टाचार्य, कॉन्सेप्ट ऑफ कॉज, अवर हैरिटेज, भा 1, खं. 1 पृ. 39
3. सांख्य की अचित तत्त्व को ही मानसिक जगत् का कारण बताने की मान्यता कई, आपत्तियों को जन्म देती है और स्वभावतः इस 'अचित्' के प्रत्यय के विश्लेषण की अपेक्षा महसूस होने लगती है कि सांख्य में प्रकृति के लिये सर्वत्र प्रयुक्त 'अचित् शब्द' (जड नहीं) कहीं चित्त्व का भाव न बताकर चित्त्व की आंशिक स्थिति का तो व्यञ्जक नहीं है।
4. तु.की., कॉन्सेप्ट ऑफ कॉज, अवर हैरिटेज, भा. 2, खण्ड 1, पृ. 114

व्याख्या यहाँ उपपन्न नहीं हो पाती फलतः नाना आलोचनाओं का शिकार बनती है[1]। इस सांख्ययोग मत व कान्ट के दर्शन में काफी साम्य है। भेदमात्र इतना है कि जहाँ अनभिव्यक्त के अभिव्यक्तीकरण का हेतु सांख्य में पुरुष का भोग रूप प्रयोजन है वहीं कान्ट के मत में पुरुष का स्वयं कर्तृत्व इसके लिये उत्तरदायी है। पर उसका यह कर्तृत्व इच्छा की कारणता का प्रयोजक नहीं है। यह तो प्रज्ञा (reason) का ही कार्य है। कान्ट इसी शुद्ध प्रज्ञा को 'क्यों' की अन्तिम व्याख्या मानते हैं[2]।

मीमांसा दर्शन में कारणता– मीमांसा दर्शन न्याय वैशेषिक से काफी साम्य रखता है अतः यहाँ न्याय वैशेषिक की ही शब्दावली में कारण की परिभाषा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है अर्थात् कारण यहाँ भी अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्ती रूप में परिभाषित है[3] तथा कार्य अनन्यथासिद्धनियतपरवर्ती रूप में पर इसका न्याय वैशेषिक से काफी अंशों में भेद भी है। यहाँ कारण में एक शक्ति की स्थिति स्वीकारी गयी है जिसे कि न्याय वैशेषिक अस्वीकार करता है। साथ ही यहाँ पाँच अनन्यथासिद्धों के स्थान पर तीन अनन्यथासिद्ध ही स्वीकृत हैं–

(क) गृहीतस्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकानुविधानावच्छेदकधर्मत्वमाद्यम् अर्थात् एक गुण स्वतन्त्र रूप से अन्वयव्यतिरेक के द्वारा किसी पदार्थ का कारण नहीं सभव है जैसे कि घटोत्पत्ति में दण्ड कारण नहीं है।

(ख) अन्यनिरूपितपूर्ववर्तित्वग्रहहेतुककार्यपूर्ववर्तित्वग्रहविषयत्वं द्वितीयम् अर्थात् कोई पूर्ववर्ती अन्य पदार्थ के प्रति कारण होकर उस कार्य का कारण नहीं हो सकता जैसेकि घटोत्पत्ति में आकाश कारण नहीं है।

(ग) क्लृप्तान्वयव्यतिरेकानुविधानराहित्यम् तृतीयम् अर्थात् निश्चित अन्वय व्यतिरेक से रहित पदार्थ कारण नहीं हो सकता[4]।

कार्य की सत्ता सदैव कारण के अधीन है अतः कारण–कार्य के मध्य अविनाभाव नियम रहता है। इसका ज्ञान सर्वत्र प्रत्यक्ष व अनुपलम्भ के द्वारा ही संभव है[5]। कारणों का वर्गीकरण यहाँ द्विविध प्रकार से किया गया है– (क) स्वरूपयोग्य (ख) फलोपहित। स्वरूपयोग्य कारण वह है जो एक कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त है तथा फलोपहित कारण वह है जो कार्य को उत्पन्न कर रहा है या उत्पन्न कर चुका है। इनमें से

1. सी.डी. शर्मा, क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 165–168
2. कालिदास भट्टाचार्य, कॉन्सेप्ट ऑफ कॉज, अवर हैरिटेज, भा–1, ख–1, पृ.–40–42
3. अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तिरूपतया ....। गागाभट्ट, भाट्टचिन्तामणि, पृ. 34, कॉज़ेशन इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ 112 पर उद्धृत।
4. वही, कॉजेशन इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ 112–113 पर उद्धृत।
5. कार्यं हि कारणायत्तात्मलाभं न कारणेन बिना भवितुमलमिति नियतकारणाविनाभावम्। यदात्मा यो भावः स त विना कथ भवेदिति तादात्म्येऽपि युक्त एकाविनाभावनियमः। कार्यकारणभावावगमः प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां सर्वत्र सम्भवति। शा.दी., प्र., पृ. 199

प्रथम कारण अपेक्षित सहकारियों से रहित होने से कार्योत्पत्ति की सामर्थ्य रखने पर भी कार्य उत्पन्न नहीं करता[1] जबकि द्वितीय सहकारियों से सहकृत होने से कार्य उत्पन्न कर देता है[2]। एक अन्य दृष्टि से वर्गीकरण करने पर यहाँ न्याय सम्मत वर्गीकरण ही स्वीकृत प्रतीत होता है जिसके कि अनुसार यहाँ समवायि, असमवायि व निमित्त[3] ये तीन कारण स्वीकृत लगते हैं[4]। पर मीमांसा दृष्टि न्यायवत् एक पदार्थ की उत्पत्ति में इन तीनों कारणों को आवश्यक नहीं मानती। उनके अनुसार तो एक ही कारण के द्वारा किसी कार्य की पर्याप्त व्याख्या की जा सकती है[5] तथा कोई भी कार्य इन तीनों में से किसी एक के अभाव में भी उत्पन्न हो सकता है।

इस सम्प्रदाय में कारणता सम्बन्ध की व्याख्या दो रूपों में उपलब्ध होती है–कुमारिल की दृष्टि में परिणाम रूप में तथा प्रभाकर की दृष्टि में उत्पत्ति रूप में। कुमारिलमतावलम्बियों का मत है कि कार्यभूत पदार्थ कोई नवीन उत्पत्ति नहीं है वरन् परिणाम मात्र है। इस परिणाम की व्याख्या यहाँ भेदाभेद रूप में की गयी है। कारण अपने मूल द्रव्य रूप में तो सदैव स्थित रहता है पर आकार रूपों में निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। इस प्रकार यहाँ सांख्यसम्मत सत्कार्यवाद ही स्वीकृत लगता है पर उससे कतिपय भेद भी हैं–(क) सांख्य में जहाँ सारा जागतिक विकास एकमात्र प्रकृति तत्त्व का ही परिणाम है वहीं यहाँ बहुत्ववादी तत्त्वमीमांसा का पोषण होने से जागतिक विकास में नाना पदार्थों का परिणाम निहित है। (ख) जबकि सांख्य में आत्म तत्त्व निष्क्रिय व कूटस्थ है वहीं यहाँ आत्मा को भी परिणाममय माना गया है।

प्रभाकरमतावलम्बियों के अनुसार कारण कार्य के मध्य तादात्म्य नहीं है अतः कारण कार्य भिन्न भिन्न हैं। कार्य एक नवीन उत्पत्ति है। इस प्रकार यहाँ न्यायवैशेषिकसम्मत असत्कार्यवाद का प्रतिपादन स्वीकृत है।

इस प्रकार की इन द्विविध दृष्टियों की पृष्ठभूमि में दोनों सम्प्रदायों के सम्बन्ध

---

1. सहकार्यन्तराभावावच्छिन्नजनकत्वाभाववैशिष्ट्यमाद्यम्। भाट्टचिन्तामणि, पृ. 35, वही
2. सहकार्यन्तरसाहित्यं द्वितीयम्। वही
3. प्र.प.पृ. 52, कीथ, कर्ममीमांसा, पृ 23, निमित्त कारण के विषय में यहाँ मतभेद मिलता है। इस कारण प्रकार को यहाँ न ही पूर्णतया स्वीकारा गया है और न पूर्णतया इसका खण्डन किया गया है।
4. ये तीन कारण प्रभाकरसम्प्रदाय में तो स्वीकृत हैं पर कुमारिलसम्प्रदाय में नहीं। कुमारिल ने किसी प्रकार का कारण–विभाजन प्रस्तुत नहीं किया है। यहाँ प्रस्तुत यह कारण–विभाजन बिलकुल न्यायवैशेषिक जैसा है, संभवतः वहीं से गृहीत है।
5. नास्मन्मते कार्योत्पत्तौ त्रिविधकारणाकांक्षा। जायते हि भूतभविष्यतोर्विषययोः समवाय्यसमवायिनिरपेक्षेण निमित्तमात्रेण ज्ञानेनैव प्राकट्याभिधानं कार्यम्। अतः कारणमात्रेण विनैव कार्योत्पत्त्यनुपपत्तिरिति कारणमात्रमेव कल्प्यम्। कर्त्रादिक तु यथादर्शनमेवाङ्गीक्रियते। भाट्टचिन्तामणि, पृ. 169–70, कॉजेशन इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 114 पर उद्धृत।

सम्बन्धी विशिष्ट विचार निहित हैं। जहाँ कुमारिल तादात्म्य नामक सम्बन्ध को स्वीकारते हैं[1] जिसकी व्याख्या वे भेदाभेद रूप में करते हैं वहीं प्रभाकर परतन्त्रता नामक सम्बन्धात्मक पदार्थ को मानते हैं जो कि न्याय वैशेषिक के समवाय का ही नामान्तर है। कुमारिल व प्रभाकर दोनों के ही मत में शक्ति नामक पदार्थ के कारण ही सभी पदार्थ कारण बनते हैं व कार्योत्पत्ति के योग्य होते हैं। प्रभाकर के मत में यह शक्ति कारण से पृथक्तया रहती है व अनुमान से ही साध्य है[2]। यदि यह शक्ति उत्पन्न होती है तो कार्य उत्पन्न होता है और यदि नष्ट हो जाती है तो कार्य नहीं उत्पन्न होता। यह शक्ति शाश्वत पदार्थों में शाश्वत है और क्षणिक में क्षणिक पर कुमारिल मत में यह शक्ति पदार्थ से भिन्न न होकर एक गुण है क्योंकि उनके अनुसार इसे भिन्न मानने पर गौरवदोष की आशंका उपस्थित होगी साथ ही वे इसे अनुमान से नहीं वरन् अर्थापत्ति व आगम प्रमाण से ही साध्य मानते हैं। उनके अनुसार लौकिक शक्ति (जैसे अग्नि की दाहिका शक्ति) तो अर्थापत्ति से ज्ञेय है तथा वैदिक शक्ति आगम से ज्ञेय है। इस प्रकार इस सन्दर्भ में भी यह न्याय वैशेषिक मत से भिन्न है क्योंकि न्याय वैशेषिक मत शक्ति को पदार्थ का स्वभाव मानता है जबकि यह शक्ति को कारण से स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। न्याय से एक अन्य भेद यह है कि जहाँ नैयायिक अभावात्मक[3] व भावात्मक दोनों प्रकार की दशाओं को कारण मानते हैं वहीं मीमांसक अभावात्मक दशाओं को कारण नहीं मानते। इसके अतिरिक्त नैयायिक किसी भी कार्योत्पत्ति में समवायि, असमवायि व निमित्त तीनों कारण आवश्यक मानते हैं जबकि मीमांसक तीनों कारणों की अनिवार्यता नहीं मानते। नैयायिक अदृश्य स्थलों पर भी कोई कर्ता अवश्य मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार उसके अभाव में यह कार्य ही नहीं हो सकता। पर मीमांसक मत है कि कर्ता वहीं मान्य है जहाँ दृष्ट हो। मानमेयोदयकार समवायि की जगह उपादानकारण संज्ञा का प्रयोग करता है।

गौडपाद का अजातिवाद– पूर्वशांकरयुगीन दार्शनिकों[4] में गौडपाद[5] द्वारा प्रस्तुत कारणता सम्बन्धी विशिष्ट सिद्धान्त–अजातिवाद का विशेष महत्त्व है। गौडपाद ने सर्वप्रथम प्रस्थानत्रयी में से वेदान्त सम्बन्धी सिद्धान्तों को लेकर उन्हें एक व्यवस्थित

---

1. तस्मादवयवावयविनोः....परस्परं तादात्म्यमेव सम्बन्धः। मानमे. द. पृ. 291
2. सा हि कार्यानुमेयत्वात् तद्भेदमनुवर्तते ।। श्लो.वा. 4/28
3. इसका अभिप्राय प्रतिबन्धकाभाव से है।
4. इस युग के दार्शनिकों में तीन का नाम लिया जाता है–आदिशेष मुनि, वशिष्ठ ऋषि तथा गौडपाद। आदिशेष मुनि ने परमार्थसार नामक ग्रंथ की रचना की थी, वशिष्ठ ने योगवाशिष्ठ की तथा गौडपाद ने माण्डूक्य कारिका नामक ग्रंथ की। इनमें से प्रथम दो आचार्यों ने कारणता की विशिष्ट व्याख्या नहीं की है पर गौडपाद ने अजातिवाद नामक विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।
5. श्री चन्द्रधर शर्मा के अनुसार गौडपाद शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद थे (क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 239) पर डॉ. राधाकृष्णन का मत है कि वे स्वयं गोविन्दपाद थे। (भारतीय दर्शन भा. 2, पृ. 446)

रूप प्रदान किया। वस्तुतः तो महायान सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित गौडपाद ने अपने ग्रंथ 'माण्डूक्य कारिका' में वेदान्त सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते हुये शंकर के विवर्तवाद के लिये आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार की। उनका अजातिवाद का सिद्धान्त विवर्तवाद का ही बीज है[1]। अद्वैतवादी होने से गौडपाद पारमार्थिक स्तर पर मात्र आत्मतत्त्व की ही सत्ता मानते हैं जो कि अज है, स्थिर है पूर्ण है अविनाशी है पर नानात्मक जगत (मानसिक व भौतिक) व नाना जीवों का विकास उससे किस प्रकार होता है इसी दृष्टि से कारणता की समस्या उत्पन्न होती है। गौडपाद के मत में इस स्थल पर न सांख्य परिणामवाद संभव है न न्याय सम्मत आरम्भवाद वरन् यहाँ एक अन्य विशिष्ट प्रकार का ही सम्बन्ध है जिसमें कि प्रथम सम्बन्धी पर तो दूसरा आश्रित है पर दूसरे पर पहला नहीं। यह सम्बन्ध ऐसा है जिसमें अज परतत्त्व (आत्मा) जरा भी प्रभावित नहीं होता मात्र उसकी माया शक्ति जो कि आवरणात्मिका शक्ति है, ही उन विविध प्रतीति रूपों में आभासित होती है, फलतः न यथार्थतः कुछ उत्पन्न होना है न नष्ट[2] इस प्रकार अजातिवाद के सिद्धान्त का उदय होता है[3]। गौडपाद सभी कारणता–प्रकारों का निषेध करते हुये अजातिवाद के सिद्धान्त की स्थापना करते हैं।

गौडपाद का मत है कि सांख्य मतानुसार अव्यक्त (स्थायी कारण) प्रकृति का पूर्वसत् व्यक्त (परिवर्तनशील विकार) रूपों में आभासन उपपन्न नहीं है क्योंकि यदि प्रकृति अज है तो उत्पन्न नहीं हो सकती साथ ही यदि यह नाना विकार रूपों में परिणत होती है तो वह स्वयं स्थायी (अपरिवर्तनशील) कैसे रह सकती है[4]। साथ ही कारण–कार्य में तादात्म्य होने पर तो दोनों का ही सारतत्त्व एक होगा–या तो दोनों ही नित्य होंगे या दोनों ही अनित्य। इसी प्रकार आरम्भवाद भी उपपन्न नहीं है जो कि एक असत् पदार्थ की ही उत्पत्ति बताता है क्योंकि एक असत् को कभी सत् नहीं किया जा सकता। साथ ही मात्र पूर्वा परता को कारणकार्यता का नियामक नहीं बताया जा सकता क्योंकि यह निश्चय करना संभव नहीं है कि कौन पहले हैं व कौन बाद में अतः कौन कारण है व कौन कार्य[5]।

इस प्रकार जगत् में भी इस कारणता की यथार्थ स्थिति नहीं संभव है क्योंकि समस्त जागतिक पदार्थ अयथार्थ है[6] तथा उनके सम्बन्ध भी अयथार्थ हैं फलतः देश, काल,

---

1. मा.का. 2/27–28
2. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
   न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।। वही. 2/32
3. शून्यवादियों का कारणता सम्बन्धी मत इससे काफी साम्य रखता है (तु.की.वही. 1/1)
4. वही 4/11–12
5. वही 4/15
6. गौडपाद जगत् की अयथार्थता सिद्ध करने के लिये निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं–
   (क) इसकी स्वप्नावस्था के साथ समानता है।
   (ख) इसका स्वरूप पदार्थनिष्ठ (objective) है।
   (ग) यह सभी कालों में स्थायी नहीं है।
   (घ) इसकी व्यवस्था करने वाले सम्बन्ध अयथार्थ व दुर्बोध्य हैं। तु.की. राधाकृष्णन, भा.द.मा. 2 पृ. 452

कारण मात्र विकल्प रूप है[1] व अयथार्थ ही है[2]। वे पदार्थ न होकर मात्र ज्ञान की कोटियाँ हैं। यह जगत् प्रत्यक्ष व व्यावहारिक उपयोगिता का विषय है अतः इसकी अयथार्थता संदिग्ध लगती है पर वस्तुतः तो स्वप्नगत् पदार्थों की भी स्वप्नकाल में प्रत्यक्ष व व्यावहारिक उपयोगिता है पर उनकी अबाधित यथार्थता नहीं है वैसे ही जागतिक पदार्थ भी अयथार्थ सिद्ध होते हैं अतः इसी स्तर पर उत्पत्ति के विविध प्ररूपों की चर्चा संभव है[3] पर पारमार्थिक स्तर पर अजातिवाद का सिद्धान्त ही संगत है जो कि यह बताता है कि न कुछ उत्पन्न होता है न कुछ नष्ट। सारी उत्पत्ति सापेक्ष सत् है। यह अजातिवाद का सिद्धान्त दो अभिप्रायों को प्रस्तुत करता है–(क) निषेध परक (ख) भाव परक[4]। प्रथम के अनुसार इसका कथ्य है कि सारा जगत् एक प्रतीतिमात्र है, उसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती व द्वितीय का अभिधेय है कि परम तत्त्व स्वतःसिद्ध है अतः उत्पत्ति का विषय नहीं है। गौडपाद के अनुसार सत् पदार्थ वह है जो अपने आप में पूर्ण है, आकस्मिक नहीं है, यथार्थ है व नित्य है[5]। ऐसा पदार्थ न जीवात्मायें हैं न संसार। मात्र आत्मा (ब्रह्म) ही ऐसा सत् है। ऐसे आदिसिद्ध अज तत्त्व की पुनः उत्पत्ति नहीं सिद्ध होती क्योंकि उत्पन्न की उत्पत्ति कहना अनुपपन्न है और न ही ऐसे अज तत्त्व से अन्य पदार्थों की उत्पत्ति संभव है क्योंकि ऐसा अनुभवसिद्ध नहीं है[6]। फलतः वहाँ किसी प्रकार की कारणता सिद्ध नहीं होती।

गौडपाद के मतानुसार न तो अयथार्थ पदार्थ किसी यथार्थ पदार्थ से उत्पन्न होता है न अयथार्थ से और न ही यथार्थ पदार्थ ही किसी अयथार्थ या यथार्थ पदार्थ से उत्पन्न होता है क्योंकि इस उत्पत्ति को सिद्ध करने में कठिनाइयाँ आती हैं[7]। फलतः यही कह सकते हैं कि कोई भी वस्तु चाहे सत् हो या असत्, न अपने से उत्पन्न होती है न दूसरे से[8]।

---

1. मा.का. 1/18
2. कारणता, उत्पत्ति व लय के प्रत्यय भ्रान्त धारणायें हैं। जब तक इनका विचार है तभी तक जन्म, पुनर्जन्म संसार आदि की अवस्थिति है। इनका विचार करने वाले अज्ञानी ही हैं। वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। (तु.की.वही 4/10)
3. उपलम्भात् समाचाराद् अस्ति वस्तुत्ववादिनाम्।
   जातिस्तु देशिता बुद्धेरजातेस्त्रसतां सदः।। वही 4/42
4. तु.की., सी.डी.शर्मा, क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 242
5. मा.का. 4/9
6. अजाद् वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै।
   जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते।। वही 4/13
7. वही 4/40
8. वही, 4/22, शंकर ने इस पर विशेष टीका की है–किसी भी वस्तु से सत् का उत्पन्न होना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता। अपने आपसे अर्थात् अपनी निजी आकृति से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। कोई भी पदार्थ फिर से अपने को उत्पन्न नहीं कर सकता जैसे कि घड़े से फिर घड़ा नहीं उत्पन्न हो सकता और न ही किसी अन्य वस्तु से कोई वस्तु उत्पन्न हो सकती है जैसे घड़े से कपड़ा नहीं उत्पन्न हो सकता है और पहले कपड़े से दूसरा कपड़ा नहीं उत्पन्न हो सकता और अपने से व अपने अन्य से, इन दोनों से मिलकर कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता है क्योंकि घड़ा व कपड़ा दोनों मिलकर अपने में से किसी भी एक को तथा न अन्य को उत्पन्न कर सकते हैं।–राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भा. 2 पृ. 450 पर उद्धृत।

गौडपाद अजातिवाद को सिद्ध करने के लिये कुछ तर्क प्रस्तुत करते हैं–

(1) कारण में अनिवार्यतया कार्योत्पत्ति की सामर्थ्य रहना चाहिये क्योंकि उसके बिना प्रत्येक से प्रत्येक की उत्पत्ति होगी या किसी से किसी की भी उत्पत्ति नहीं होगी पर यह शक्ति न सत् से सम्बद्ध हो सकती है न असत् से, न ही सत् असत् दोनों से व न सत्–असत् से शून्य पदार्थ से। फलतः इसकी स्थिति सिद्ध नहीं हो पाती[1]।

(2)उत्पत्ति के आदि व अन्त का ज्ञान नहीं संभव है क्योंकि उस प्रथम व अन्तिम कारण को नहीं खोजा जा सकता क्योंकि यह धारा अनन्त है[2] व अनवस्था दोष की वाहक है। यदि किसी अज व नित्य तत्त्व को इस रूप में स्वीकृत करें तो यह संभव नहीं है क्योंकि अज तत्त्व किसी का कारण नहीं हो सकता। साथ ही वह नित्य होकर भी परिणमित होगा तो उसकी नित्यता नहीं टिक पायेगी।

(3)किसी पदार्थ का स्वभाव नहीं बदला जा सकता अतः प्रकृतिस्वभावा पदार्थ विकृतिस्वभावा पदार्थ को कैसे उत्पन्न कर सकता है।

(4)कारणात्मक सम्बन्ध अन्योन्याश्रयत्व के आधार पर भी सिद्ध नहीं किया जा सकता जैसे बीजांकुर में क्योंकि इनकी अनादि धारा है जिसमें यह ज्ञान नहीं संभव है कि कौन पहले आया व कौन बाद में और इस क्रम को जाने बिना कारण कार्य सम्बन्ध की स्थापना नहीं संभव है[3]।

(5)उत्पत्ति किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होती है–

(क) एक असत् वस्तु असत् से नहीं उत्पन्न की जा सकती।

(ख) असत् से सत् नहीं उत्पन्न हो सकता।

(ग) एक सत् से अन्य सत् नहीं उत्पन्न हो सकता।

(घ) एक सत् से असत् नहीं उत्पन्न हो सकता[4]।

इस प्रकार कारण–कार्य के मध्य का सम्बन्ध एक अनबूझ पहेली ही सिद्ध होता है। आगम व तर्क दोनों ही उसे प्रमाणित नहीं कर पाते। फलतः गौडपाद कारणता को असंभव मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर जैसा तत्त्व भी जगत् का कारण नहीं हो सकता[5]। सारा जगत्–पदार्थ व आत्मायें अयथार्थ हैं[6] व उनकी सत्ता तभी तक है जब तक कि मोहात्मिका माया शक्ति की कारणता प्रसृत रहती है।

गौडपाद सृष्टि की भी विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार इसका

---

1. मा.का. 4/11–13, 21, 23,25
2. अशक्तिरपरिज्ञानं कर्मकोपोऽथ वा पुनः।
   एवं हि सर्वथा बुद्धेरजातिः परिदीपिता। मा.का. 4/19.
3. वही 4/20
4. वही, 3/27–28, 4/40
5. वही 4/39
6. वही 4/10, 28, 61

अभिप्राय उत्पत्तिपरक न होकर स्वभावपरक है। जागतिक सृष्टि उस आत्मतत्त्व का स्वभाव है[1] या उसकी मायाशक्ति[2] का अभिव्यक्तरूप है[3]। मायायुक्त आत्मतत्त्व ईश्वर है, शुद्ध आत्मतत्त्व नहीं[4]। यद्यपि जगत् को भ्रम रूप भी कहा जाता है पर वह कथन परमार्थ तत्त्व की चर्चा के स्तर पर ही उपलब्ध होता है[5]। वस्तुतः तो यह जगत् ईश्वर की मोहात्मिका शक्ति का ही प्रतिफल है[6]। ईश्वर व जगत् के मध्य माया रूप सम्बन्ध है, अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं जिसकी कि उत्पत्तिपरक व्याख्या हो सके। उस माया रूप सम्बन्ध का अर्थ है एक का नाना रूप में भासन। इस भासन में न तो उत्पत्ति निहित है न परिणाम और न यथार्थ आभास। वरन् मिथ्या प्रतीति रूप आभास ही उसका अभिधेय है और यही परवर्ती विवर्तवाद के सिद्धान्त का मूल है।

शांकर वेदान्त में कारणता—शांकर मत वेदान्त सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्रचलित सम्प्रदाय है जिसे कि अक्सर अत्यधिक प्रचलित होने के कारण प्रायः पूरे वेदान्त का ही प्रतिनिधि दर्शन समझ लिया जाता है। पर वास्तव में यह वेदान्त के दर्शन सम्प्रदायों में से एक है। यह सम्प्रदाय शुद्ध अद्वैत[7] की साधना में तत्पर दर्शन है अतः समस्त प्रकार के द्वैत की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध करता है। यद्यपि इस अद्वैत तत्त्व की स्थापना की विधा के सन्दर्भ में इस सम्प्रदाय के दार्शनिकों में परस्पर मतमतान्तर उपलब्ध होते हैं पर उस अद्वैत तत्त्व की स्थापना के मूल लक्ष्य में कहीं भी मतभेद नहीं उपलब्ध होता। वह अद्वैत तत्त्व यहाँ कूटस्थ, निर्विकार, विशुद्ध तत्त्व है क्योंकि इस दर्शन के मतानुसार यथार्थ सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं संभव है[8]। पर जगत् जैसे

---

1. मा.का., 1/7-9
2. गौडपाद ने माया शब्द का अर्थ तीन प्रकार से किया है–
   (क) जगत् व आत्मा के मध्य सम्बन्धों की अव्याख्येयता के अर्थ में।
   (ख) ईश्वर के स्वभाव अथवा शक्ति के अर्थ में।
   (ग) जगत् की स्वप्नसदृश प्रतीति के अर्थ में।
   शंकराचार्य ने इनमें से प्रथम अर्थ को ही सर्वाधिक मान्यता दी है। यहाँ गौडपाद स्वीकृत तृतीय अभिप्राय माध्यमिकों के संवृति सत् जैसा ही है। राधाकृष्णन, भा.द.भा. 2 पृष्ठ 455
3. मा.का. 2/12, 3/10.
4. वही, 1/6
5. वही, 3/19, 24, 4/45, 2/18
6. वही, 2/19, 1/16
7. यह शुद्ध अद्वैत वस्तुतः केवलाद्वैत या निर्विशेषाद्वैत है क्योंकि वल्लभाचार्य ने शुद्ध अद्वैत की स्थापनार्थ माया को परमेश्वर की स्वाभाविक शक्ति मानना अपरिहार्य बताया है जबकि यहाँ माया ब्रह्म की शक्ति होकर भी तद्रूप नहीं है वरन् उससे व्यतिरिक्ततया स्थित, अनिर्वचनीय सत् है, साथ ही अन्त में उसका अद्वैत तत्त्व की स्थापना में परिहार ही हो जाता है।
8. इस दृष्टि से ब्रैडले का मत शंकर से काफी साम्य प्रस्तुत करता है जो कि बताता है कि जो वस्तुतः यथार्थ है, वह जरा भी परिणमित नहीं होता। यद्यपि अरस्तू परतत्त्व में सक्रियता की बात करते हैं पर वे भी इस क्रिया का परिणाम कोई परिवर्तन नहीं मानते अतः इस दृष्टि की भी शंकर के परतत्त्व की निर्विकारिता से तुलना की जा सकती है यद्यपि उसमें क्रियामयता व क्रियाशून्यता का भेद अविशिष्ट रहता है। तु.की., राधाकृष्णन्, भा.द.भा. 2, पृ. 527-28
   ...इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं स्वयंज्योतिः स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तते।–ब्र.सू.शा.भा. पृ. 58-59

सतत् परिणमनशील नानाभेदात्मक कार्य हेतु ऐसे अद्वैत तत्त्व की कारणता की कल्पना कई प्रश्नचिह्नों को प्रस्तुत करती है जिन्हें कि यहाँ कई स्तरों पर सुलझाने की चेष्टा की गयी है। यहाँ परमसत्ता के दो रूप स्वीकृत हैं–निष्प्रपञ्च ब्रह्म व सप्रपञ्च ब्रह्म। निष्प्रपञ्च ब्रह्म की स्थिति में किसी प्रकार की कारणता की बात नहीं संभव है[1]। वह सर्वातीत है, एकमात्र अद्वैत तत्त्व है। पर सप्रपञ्च ब्रह्म की स्थिति में जागतिक सन्दर्भों व कारणता की बात आती है। वस्तुतः यहाँ हमें तीन स्तर प्राप्त होते हैं–

(क) **सर्वोच्च स्तर**–इस स्तर की स्थिति निष्प्रपञ्च ब्रह्म की स्थिति से काफी साम्य रखती है क्योंकि यहाँ यथार्थ प्रपञ्चमयता नहीं होती पर प्रपञ्चमय होने की सामर्थ्य रहती है। अतः यहाँ कारणता की द्वैतपरक प्रकल्पनाओं की संभावना के लिये स्थान नहीं रहता क्योंकि यह स्तर भी मात्र एक तत्त्व के विलास का क्षेत्र है। यहाँ द्वैत का पूर्ण अभाव है, केवल एक विशुद्ध निर्विकार केवलतत्त्व की स्थिति है[2]। ऐसे स्तर पर द्वयाक्षेपी कारणता के प्रत्यय की कल्पना पूर्णतया अनुपपन्न हैं क्योंकि अकेला ब्रह्म न तो स्वयं से उत्पन्न हो सकता है न किसी अन्य तत्त्व से। स्वयं से स्वयं की उत्पत्ति का कथन निरर्थक है और उसके अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व की सत्ता है नहीं। फलतः इस स्तर पर शून्यवाद तथा गौडपादस्वीकृत अजातिवाद की ही स्थिति बतायी जा सकती है क्योंकि यहाँ न कुछ उत्पन्न होने की समस्या है, न नष्ट होने की। यहाँ तो उत्पत्ति–नाश से उत्तीर्ण अकेला तत्त्व ही भासित हो रहा है। इस प्रकार यह श्रेणी कारणता की अनुभवपरक धारणा से मुक्त रहती है। इस स्तर पर सारा द्वैत अविद्या या माया रूप बताकर[3] स्वप्नवत् मिथ्या बताया गया है[4]।

(ख) **मध्य स्तर**–इस स्तर पर ब्रह्म की सप्रपञ्चता उसकी मायाशक्ति के द्वारा अभिव्यक्त हो जाती है फलतः कारणात्मक प्रकल्पनाओं को आश्रय मिलता है क्योंकि यहाँ अद्वैत तत्त्व के साथ ही द्वैत को भी स्वीकारते हुये दोनों के मध्य सामंजस्य करने का प्रयास किया जाता है फलतः यहाँ अद्वैत व द्वैत के मध्य सम्बन्धस्थापन की समस्या उपस्थित होती है जिसे कि अन्य दर्शनों की तरह यहाँ भी कारण–कार्य की शब्दावली में प्रस्तुत किया गया है। इस कारण–कार्य के मध्य

---

1. निरस्तमायाकृतसर्वभेदं, नित्यं सुखं निष्कलमप्रमेयम्।
अरूपमव्यक्तमनांख्यमव्ययम् ज्योतिः स्वयं किञ्चिदिदं चकास्ति। वि.चू. 240
2. सर्वसंसारधर्मातीतो ब्रह्मस्वभावश्चैतन्यमात्रस्वरूपः....। ब्र.सू.शां.भा.पृ. 166
3. एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यों विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते, नान्यो विज्ञानधातुरस्ति ....। वही पृ. 234
4. शंकराचार्य संभवतः इसी स्तर की चर्चा में कारणतापरक उल्लेखों की अर्थवाद रूप में उद्‌बोधना करते हैं क्योंकि ब्रह्म को अविकृत तत्त्व मानने पर उसमें किसी भी विकार की स्थिति को स्वीकारना अनुपपन्न है साथ ही कारणता जैसे अनुभवपरक सिद्धान्त का ब्रह्म जैसे अनुभवातीत तत्त्व के सन्दर्भ में नियोजन भी अप्रामाणिक है।

के सम्बन्ध को यहाँ अनन्यत्व, अव्यतिरेकत्व, अपृथकत्व या तादात्म्य रूप से बताया गया है परन्तु ये सभी संज्ञायें एक सम्बन्धी के निषेधपरक अभिप्राय को रखने से कार्य की कारण से पृथक् सत्ताशून्यता को ही सिद्ध करती हैं अर्थात् कारण पर कार्य की अनिवार्य आश्रितता को बताती हैं परन्तु कारण कार्य सम्बन्ध के लिये दो सम्बन्धियों की स्वतन्त्र सत्ता अनिवार्य है अन्यथा तो सम्बन्ध की स्थिति ही नहीं संभव होगी। अतः यहाँ तादात्म्य को ही स्वीकारते हुये कारणता की व्याख्या हेतु कारणता के नवीन सिद्धान्त 'विवर्तवाद' का आश्रय लिया गया है जिसके कि अनुसार कार्य में कारण जैसी सत्ता, लक्षण व स्थिति का अभाव रहता है अर्थात् वह उसका यथार्थ परिणाम न होकर मात्र प्रतीति रूप है[1]। इस प्रकार यहाँ कारणता सम्बन्ध कारण व परिणाम (यथार्थ विकार) के मध्य न होकर कारण व विवर्त (अनिर्वचनीय प्रतीति) के मध्य ही है। यद्यपि यह सम्प्रदाय सत्कार्यवाद का ही अनुगमक कहा गया है पर तब तो द्वैत के बीजों को स्फुट अभिव्यक्ति से पूर्व भी कारण रूप अद्वैत तत्त्व में अनिवार्यतया सत् होना चाहिये और यह मान्यता इस सम्प्रदाय की विशुद्ध निर्विकारी तत्त्व की मूलभूत मान्यता के साथ संगत नहीं सिद्ध होती अतः द्वैत की कल्पना विवर्त रूप में कर यहाँ अद्वैतवाद की रक्षा की गयी है। द्वैत रूप कार्य विवर्त रूप में ही सत् है अतः विशुद्ध निर्विकारी तत्त्व की विशुद्धरूपता की हानि भी नहीं होती व सत्कार्यवाद का हनन भी नहीं होता[2]। परन्तु इस शुद्ध तत्त्व (कारण) व मिथ्या कार्य (विवर्त) के मध्य सम्बन्ध बताना भी अनेकों आपत्तियों को प्रस्तुत करता है। यह दर्शन इस स्थिति को एक विशिष्ट प्रकार से परिभाषित करता है जिसे कि अध्यारोपवाद या अधिष्ठानवाद कह सकते हैं अर्थात् जैसे रज्जु व सर्पभ्रम या शुक्तिका व रजत् के मध्य जनक जन्य भाव सम्बन्ध न होकर अधिष्ठानअधिष्ठेय भाव या आरोपितआरोप्यभाव सम्बन्ध है वैसे ही वह मूल निर्विकार विशुद्ध तत्त्व ब्रह्म (कारण) जगत् रूप परिणमनशील सत्ता (कार्य) का अधिष्ठान है। इस प्रकार कारण कार्य के मध्य तादात्म्य रहते हुये भी न तो कारण की निर्विकारिता की हानि होती है व न ही जगत् की

---

1. दृष्टव्य, ब्र.सू.शां.भा. 2/1/19 पर परिणाम की परिभाषा प्रायः वेदान्त में उपादानसमसत्ताक तथा विवर्त की उपादानविषमसत्ताक रूप में की जाती है (वही 2/1/28 पृ. 100) पर अप्पयदीक्षित अपने ग्रंथ सिद्धान्तलेशसंग्रह में इन दोनों प्रत्ययों की विस्तृत चर्चा करते हुये इन दोनों प्रत्ययों की तीन अनिवार्य असमानतायें बताते हैं। उनके अनुसार परिणामवाद में कारण कार्य में सत्ता की दृष्टि से साम्य रहता है, लक्षण (चिद्–अचिद् रूप प्रकृति) की दृष्टि से साम्य रहता है तथा स्थिति की दृष्टि सेअभिन्नता रहती है वहीं विवर्तवाद में कारण से कार्य सत्ता में भिन्न होता है, लक्षण में भिन्न होता है व स्थिति में भिन्न होता है। (द.सि.ले.सं.पृ. 54–55) यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि जहाँ परिणाम में द्विपक्षीय आश्रितत्व रहता है वहीं विवर्त में एकपक्षीय आश्रितत्व होता है।
2. यहाँ यह दृष्टव्य है कि सत्कार्यवादी दृष्टि कारण कार्य के तादात्म्य की धारणा की ही अग्रसारक है पर वह तादात्म्य यथार्थ परिणाम के साथ संभव नहीं हो पाता। इसी कारण शांकर वेदान्त का विवर्तवाद ही यथार्थ सत्कार्यवाद का पोषक प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ कार्य की स्वतन्त्र स्थिति को मात्र प्रतीतिसत् मानकर उसकी यथार्थ विलग सत्ता का निषेध किया गया है। इस प्रकार अध्यारोपवादी दृष्टि ही शंकर सत्कार्यवाद को यथार्थ सत्कार्यवादी होने का श्रेय देती है।

सत्ता के पूर्ण निषेध का प्रसंग उपस्थित होता है क्योंकि यहाँ द्वैत की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध है, पूर्ण त्रैकालिक सत्ता का नहीं। इसका कारण है कि यहाँ अद्वैत की साधना तो है पर एकत्व का पोषण नहीं है अन्यथा तो कारण कार्य में तादात्म्य प्रतिपादन करने पर उन दोनों को एक दूसरे से स्थानापन्न भी किया जा सकता था अर्थात् कारण (ब्रह्म) को कार्यात्मक (जगतात्मक) व कार्य (जगत्) को कारणात्मक (ब्रह्मात्मक) भी बताया जा सकता था पर यहाँ जगत् तो ब्रह्ममय है पर ब्रह्म जगत्मय नही है। अतः यहाँ तादात्म्य का विशिष्ट सन्दर्भ में प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार के इस विवर्तवाद को ही डॉ. दासगुप्ता सत्कारणवाद कहते हैं। वस्तुतः तो जो कार्य की दृष्टि से विवर्तवाद संज्ञा का वाच्य है वही कारण की दृष्टि से सत्कारणवाद संज्ञा का अभिधेय है[1]।

(ग) **तृतीय स्तर**—इस स्तर पर ब्रह्म की दृष्टि से विवर्तवाद की स्थिति है तथा माया की दृष्टि से परिणामवाद की स्वीकृति है। साथ ही इस मायात्मक जगत् में विवर्तवाद के विशिष्ट प्रकार की स्थिति भी उपलब्ध होती है। रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत आदि की स्थितियाँ ऐसे ही विवर्तवाद की संभावनाओं की अग्रसारक हैं। वैसे तो यहाँ सांख्य सम्मत परिणामवाद[2] ही स्वीकृत है। अतः उसकी सिद्धि के लिये प्रायः वे ही तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं जो कि सांख्य में प्रस्तुत किये गये हैं। यद्यपि यहाँ कुछ नवीन तर्क भी दिये गये हैं पर सबका मूल लक्ष्य पहले से कारण में अनभिव्यक्ततया विद्यमान का अभिव्यक्तीकरण सिद्ध करना है। यहाँ कार्य कारण का विवर्त न होकर यथार्थ परिणाम है क्योंकि विवर्त रूप कार्य से किसी व्यावहारिक प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती[3]। यहाँ कारण व कार्य की प्रकृति एक जैसी ही उपलब्ध होती है अतः सांख्यवत् सत्कार्यवाद सध जाता है[4]।

इस प्रकार इस सम्प्रदाय में मध्य स्तर पर जहाँ कि परमार्थ दृष्टि की प्रधानता है, कारण कार्य की प्रकृति में भेद स्वीकृत है वहीं अन्तिम स्तर पर कारण कार्य की प्रकृति

1. पर श्री रामानन्द तिवारी का मत है कि शंकर का सिद्धान्त सत्कार्यवाद ही है, सत्कारणवाद नहीं, सत्कारणवाद तो उत्तरकाल में विकसित सिद्धान्त है। उनका मत है कि शंकर का अभिप्राय तो मात्र कारण कार्य में अपृथकतादात्म्य की स्थापना से है, एकत्व प्रतिपादन से नहीं। अतः अधिष्ठान रूप कारण की ही एकमात्र सत्ता को लेकर सत्कारणवाद का प्रयोग नही किया जा सकता क्योंकि कार्य पूर्णतया अयथार्थ नहीं है वरन् सत् है। यद्यपि दोनों के सत्ताकाल में भेद है। (शंकराचार्य का आचार दर्शन पृ. 38–39)। वस्तुतः तो विवर्त रूप में कार्य की सत्ता को बताने से कार्यों में कोई यथार्थ सत्ताप्रयोजकत्व नहीं रहता फलतः उसे सत्कारणवाद कह देना कुछ असंगत नहीं लगता फिर भी विवर्तवाद तो इसे सभी ने कहा ही है। वस्तुतः तो यही विवर्तवाद अन्य ढंग से सत्कारणवाद कहा जा सकता है।
2. परिणामवाद को विवर्तवाद की पूर्वभूमि ही कहा जाता है क्योंकि ज्ञेय से अज्ञेय की ओर जाने के सोपान में सर्वप्रथम परिणामवाद व तदुपरान्त विवर्तवाद का स्थान आता है। (संक्षे.शा. 2/61) यह सोपानक्रम ज्ञान की प्रक्रिया के आधार पर है, तात्त्विक आधार पर नहीं क्योंकि तात्त्विक दृष्टि से तो मात्र विवर्तवाद ही सत्य है।
3. वस्तुतः तो वे ही कार्य जागतिक दृष्टि से परिणाम हैं तथा पारमार्थिक दृष्टि से विवर्त है।
4. इन तीनों स्तरों का सादृश्य शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित त्रिविध सत्ता–स्तरों के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है–परमार्थ स्तर, प्रतिभास स्तर, व्यवहार स्तर।

एक जैसी मानी गयी है। यद्यपि दोनों ही स्तरों पर मूल दृष्टि सत्कार्यवादी है। यद्यपि यहाँ सांख्यमतानुयायी यह आक्षेप कर सकता है कि कारण--कार्य में स्वभावभेद सत्कार्यवाद का बाधक है पर आचार्य शंकर का मत है कि ऐसी स्थिति में भी सत्कार्यवाद की एक विशिष्ट स्थिति को सिद्ध किया जा सकता है। उनके मत में तो ऐसा अनुभव से सिद्ध ही है कि प्रकृतिभिन्न कारण से भी प्रकृतिभिन्न कार्य की उत्पत्ति हो सकती है जैसे कि व्यक्ति के शरीर में जीवित अंगों से भी मृत नाखून, बाल आदि उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः तो कारणता की सिद्धि के लिये तादात्म्य के साथ भेद भी आवश्यक है अतः कारण कार्य सम्बन्ध में कार्य का मूल तत्त्व की दृष्टि से कारण के साथ तादात्म्य है जबकि विशिष्ट आकार की दृष्टि से भेद है। अतः जगत् रूप कार्य मूल तत्त्व की दृष्टि से कारणभूत ब्रह्म के स्वभाव का है जबकि नानात्मक आकारों की दृष्टि से भिन्न स्वभाव का है। यही उसकी उपादान विषमसत्ताकता है और यही विशिष्ट दृष्टि विवर्तवाद है[1]।

यद्यपि शंकर अपने मत के स्थापन के सन्दर्भ में सभी प्रचलित कारणतामतों – सत्कार्यवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, ब्रह्म परिणामवाद आदि की आलोचना करते हैं और अन्ततः यही निष्कर्ष निकालते हैं कि कारणता की व्याख्या जागतिक आधार पर नहीं की जा सकती[2]। पर उनकी यह दृष्टि मात्र उस क्षेत्र के लिये है जहाँ वे परमार्थ को प्रधानता देते हैं। जागतिक स्थिति में तो कारणता, देश, कालादि के प्रत्यय प्रयुक्त होते ही हैं। ब्रह्म को कारण रूप मानने पर ही वे समस्त जगत् को माया रूप सिद्ध करते हैं क्योंकि तब उनकी दृष्टि में वही मूल कारण है जो कूटस्थ है, अपरिणमित है व अद्वैत रूप होकर एकमात्र सत्य है, जगत् रूप कार्य उस पर (अध्यारोपवाद के द्वारा) अध्यस्त है। पर यहाँ द्रष्टव्य है कि कारण व कार्य दोनों ही सत्य हैं, मात्र दोनों की सत्ता–इयत्ता में भेद है, एक जहाँ त्रिकालनित्य है वहीं दूसरा मात्र प्रतीतिपर्यन्तपर्यवसायी है अतः अनित्य है। पर ये नित्य व अनित्य के प्रत्यय क्रमशः यथार्थत्व व मिथ्यात्व[3] के वाचक नहीं हैं वरन् मात्र सत्ता की अवधि में भेद को बताते हैं या सत्ता के विशिष्ट प्रकार को बताते हैं[4]। इसी कारण शांकर मत को सत्कार्यवादी दृष्टि के अन्तर्गत ही रखा गया है, असत्कार्यवादी दृष्टि में नहीं। शंकर तो स्वयं असत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं, यद्यपि अन्य दर्शनों की तरह सत्कार्यवाद की यह स्थिति भी उनकी आलोचना का विषय है कि यदि यथार्थ कार्य कारण में पूर्वसत् है तो फिर स्वतःसिद्ध तथ्य होगा अतः तब उसकी पुनः कार्यता

---

1. सांश पदार्थों में ही परिणाम संभव है, निरंश में नहीं। वहाँ तो विवर्त की ही सिद्धि हो सकती है।
2. ब्र.सू.शां.भा. 2/1/18 पर
3. यहाँ मिथ्यात्व का अभिप्राय मात्र सापेक्षत्व से है, पूर्णसत्ताशून्यत्व से नहीं।
4. शांकर मत में तीन तरह की सत्तायें स्वीकृत है–पारमार्थिक, व्यावहारिक व प्रातिभासिक। इनमे से तीनो की सत्ता की अवधि में भेद है। पारमार्थिक सत् जहाँ त्रिकालाबाधित सत है वही व्यावहारिक सत् मात्र व्यवहारजगत पर्यन्त या अद्वैत तत्त्व का ज्ञान होने तक सत् है और प्रातिभासिक सत् तो मात्र प्रतीतिपर्यन्त सत् है। इन तीनो को ही सत शब्द से कहना यह बताता है कि शंकर दर्शन निषेधपरक दर्शन नहीं है मात्र अद्वैत का पोषक दर्शन है।

किसलिये? इसी कारण शंकर कारण में कार्य की स्थिति एक विशेष रूप में मानते हैं जिसे वह कार्य का यथार्थ स्वरूप कहते हैं। वह यथार्थ स्वरूप कारणात्मक ही है। विशिष्ट भेदात्मक रूप जिसे कि शांकर शब्दावली में माया कहा जाता है[1] कारण में पूर्वसत् नहीं है वरन् मात्र आरोपण[2] है। यहाँ यह रूप 'विवर्त' की विशिष्ट संज्ञा से अभिहित है।

शांकर वेदान्त में जागतिक कारणता का श्रेय मायाविशिष्ट ब्रह्म को दिया गया है जिसकी कि पारिभाषिक संज्ञा ईश्वर है[3]। यह ईश्वर निर्गुण, निराकार, कूटस्थ ब्रह्म के विपरीत सगुण, साकार व सक्रिय तत्त्व है[4]। यद्यपि ईश्वर तत्त्व में ब्रह्म अंश पूर्णतया विशुद्ध व निर्गुण है पर माया रूप उपाधि के कारण उसमें सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता आदि गुणों का कथन होता है। सृष्टि का उल्लासन भी इसी माया का परिणाम है। यह माया ही अविद्या[5] है व यह ईश्वर की शक्ति है यद्यपि कहीं–कहीं इसे उपाधि भी कहा गया है[6]। यद्यपि ईश्वर को सृष्टि का कारण बताने पर अन्य ईश्वरवादी दर्शनों की तरह उसकी इच्छा को ही यहाँ भी सृष्टि का निमित्त बताया गया है पर सर्वाप्त तत्त्व में इच्छा की संभावना करना ही अनुपयुक्त है (आप्तकामस्य का स्पृहा)। अतः यहाँ इच्छा को ईश्वर की लीला का ही उच्छ्वास बताया गया है अर्थात् सर्वता से मण्डित ईश्वर किसी भी प्रकार से स्पन्दन करने में समर्थ होने से 'एकोऽहं बहु स्याम' की इच्छा से नाना रूपों में विलसित होता है[7] क्योंकि 'एकाकी किं रमेत्' के अनुसार वह अकेला क्रीडा का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता[8]। फलतः इस कृत्य से ईश्वर की सर्वाप्तता का ह्रास नहीं होता[9]।

---

1. मायामात्रं ह्येतद् यत् परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्ज्वैव सर्पादिभावेन....। शां.भा, पृ. 354
2. इस आरोपण प्रक्रिया का कर्तृत्व वेदान्त के इस सम्प्रदाय का सर्वाधिक विवादास्पद विषय है क्योंकि यहाँ ब्रह्म कूटस्थ होने से व केवली होने से ऐसा कुछ कर नहीं सकता, जीव है ही नहीं तब तद्गत अविद्या का प्रश्न ही कहाँ उठता है, और रह जाती है माया जो ब्रह्म की शक्ति होते हुये भी मिथ्या है, वह कैसे मिथ्यात्व की सीमा में बँध कर किसी भी क्रिया के उत्तरदायित्व को पूर्ण कर सकती है और यदि माया को मिथ्या न कह अनिर्वचनीय कहा जाये तो जगत् व ब्रह्म का सम्बन्ध समझना यहाँ एक अनबूझ पहेली बन जाता है।
3. मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः। वा. वृ. पृ. 45
4. ब.सू. शां.भा. 2/1/22 पर।
5. माया शब्द प्रायः यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त है–(क) सर्वकर्तृत्वसामर्थ्यवान् शक्ति रूप में (ख) भ्रम रूप में। परन्तु माया को इन दोनों ही रूपों में अन्ततः मिथ्या सिद्ध करने से यह सम्प्रदाय प्रायः माया के भ्रम अर्थ का ही समर्थक समझा जाता है। इस सन्दर्भ में इसका नागार्जुन तथा गौडपाद से पूर्ण साम्य है। यद्यपि यहाँ मिथ्या का अर्थ भी सत्ताशून्य न बताकर सत् असत् से उत्तीर्णत्व बताया गया है व उसे अनिर्वचनीय ही कहा गया है।
6. ब्र.सू.शां.भा. 2/1/33
7. ईश्वर की माया शक्ति ही काम व संकल्प रूप दो आकारों में परिवर्तित होती है। इसी संकल्प शक्ति के द्वारा ईश्वर नाना होने की इच्छा करता है।
8. यद्यपि जागतिक वैषम्य को देखकर ईश्वर के द्वारा क्रीडार्थ की हुई ऐसी विचित्र सृष्टि के सन्दर्भ में ईश्वर तत्त्व की क्रूरता की कल्पना संभव है कि जो मात्र निज आनन्द की इच्छा से ऐसी दुःखभरी सृष्टि करता है वह कितना क्रूर है पर इस समस्या के समाधान के लिये यहाँ कर्मसिद्धान्त को ही प्रस्तुत किया गया है। ब्र.सू.शां.भा. 2/1/34 पर
9. स्वातन्त्र्यवादी काश्मीर शिवाद्वयवाद से इस मत का मूलभूत भेद यह है कि जहाँ काश्मीर शिवाद्वयवाद में स्वातन्त्र्य स्वाभाविक है, वहीं यहाँ औपाधिक है, मायाकृत है।

इस प्रकार ब्रह्मकृत सृष्टि न किसी स्वार्थ से प्रेरित है, न संयोग का परिणाम है वरन् उसकी पूर्णता से निःसृत है। इसकी तुलना डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में प्लेटो के 'स्पिरिट' (spirit) के प्रत्यय से की जा सकती है। इस प्रकार वह अपने आनन्द के असीमित उछाह से नैतिकता की मांग को पूरा करने के लिये सृष्टि करता है।

अद्वैतवाद के समर्थन के कारण यहाँ उपादान व निमित्तकारणता दोनों एक ही तत्त्व–ब्रह्म को सौंपी गयी है। पर यहाँ ब्रह्म का तात्पर्य शुद्ध ब्रह्म से लेने पर सत् चित् आनन्द रूप कूटस्थ ब्रह्म की कल्पना ही उपस्थित होती है। यहाँ यह शंका संभव है कि उपादान कारण प्रायः ज्ञानयुक्त नहीं माना जाता पर शंकर का मत है कि ब्रह्म की उपादानरूपता के सन्दर्भ में यह शंका आवश्यक नहीं है क्योंकि ब्रह्म अनुभवज्ञेय तत्त्व न होकर अनुभवोत्तीर्ण तत्त्व है जो कि श्रुति का ही विषय है। इसी प्रकार साधारणतया निमित्त कारण को ज्ञान, इच्छा व प्रयत्न से युक्त माना जाता है पर कूटस्थ ब्रह्म में ये तीनों संभव नहीं हैं अतः यहाँ उसमें मात्र ज्ञानात्मकता या चिन्मयता मानी गयी है ज्ञान का विमर्शन नहीं। शंकर का मत है कि ज्ञान मात्र ही निमित्त कारणता के लिये पर्याप्त है। उसमें इच्छा व प्रयत्न को भी मानना तो पुनः पूर्ववर्ती इच्छा व प्रयत्न की अपेक्षा को प्रस्तुत करेगा फलतः अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। साथ ही उससे कोई क्रिया भी सम्बद्ध नहीं की जा सकती है क्योंकि प्रत्येक क्रिया सप्रयोजन है। इस प्रकार ब्रह्म उपादान व निमित्त दोनों ही प्रकार का कारण हो सकता है, पर उसकी परिणामिता के लिये माया की योजना करनी पड़ती है। अतः वह तत्त्व शुद्ध न होकर ईश्वर (मायोपहित ब्रह्म) ही है जिसका कि ब्रह्म रूप अंश निमित्तता का साधक है जबकि माया या अविद्या रूप अंश[1] उपादानता का। इस प्रकार अभिन्ननिमित्तोपादानता[2] का सिद्धान्त सिद्ध होता है[3]।

---

1. यद्यपि शंकर माया व अविद्या के प्रत्ययों में परस्पर कोई भेद नहीं करते व इनका समानार्थक अभिप्राय में ही प्रयोग करते हैं पर परवर्ती विद्वानों ने इनके मध्य भेद करने का प्रयास किया है। प्रायः माया शब्द का प्रयोग तब किया जाता है जब हमारी दृष्टि विषय जगत् से सम्बद्ध होती है और अविद्या शब्द का प्रयोग तब करते हैं जबकि हमारा निरीक्षण विषयिपरक अर्थात् प्रमातृपरक होता है। अन्यत्र इनके मध्य भेद का उल्लेख इस प्रकार भी मिलता है कि माया शब्द का व्यवहार हम तब करते हैं जबकि हमारी दृष्टि में इसकी असाधारण कार्यों को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है तथा यह कर्ता की इच्छा के अधीन रहती है। दूसरी ओर अविद्या शब्द का व्यवहार तब करते हैं जब हमारे मन में इसकी आवरिका शक्ति तथा स्वतन्त्र सत्ता को व्यक्त करने का भाव रहता है। कुछ अन्य विद्वान माया को ईश्वर की उपाधि व अविद्या को जीव की उपाधि बता कर दोनों में भेद करते हैं। राधाकृष्णन, मा.द.भा. 2 पृ. 585
2. इसी मत की पुष्टि विवरणकार ने की है पर परवर्ती वेदान्तियों में मतभेद हो गया।
3. ब्रह्म की कारणता के सन्दर्भ में कई समस्यायें सम्मुख आती हैं–प्रथम तो कारण को कार्य से विलक्षण नहीं होना चाहिये जबकि ब्रह्म जगत् से विलक्षण है पर शंकर इस समस्या के सन्दर्भ मे कहते हैं कि यही विलक्षणता कारण का अतिशय है जो कारण के परिमाण को कार्य की अपेक्षा अधिक रखने में सहायक है (शां.भा. 2/1/6 पर) द्वितीय, कारण के कार्य की उत्पत्ति, स्थिति, लय तीनों का स्थान होने पर कारण को कार्य के गुण भी लिप्त करेंगे पर इस सन्दर्भ में शंकर का मत है कि जब कार्य कारण में लीन होता है तब अपने विशिष्ट गुणों को छोड़ देता है अन्यथा तो वह लीनता यथार्थ लीनता नहीं होगी (शा.भा. 2/1/9 पर) अतः कार्य कारण में अपने शुद्ध कारणात्मक रूप में ही रहता है।

पर इस ब्रह्म की उपादानता मात्र अधिष्ठान होने में है[1], किसी सक्रिय उत्पत्तिकर्ता रूप में नहीं। उपादानकारण वह कहा जाता है जिसमें कि अन्वित होकर कार्य की उत्पत्ति होती है। यहाँ भी उपादान रूप ब्रह्म में सारा जगत् अन्वित तो है पर मात्र अपने शुद्ध अभेद रूप अंश में। भेदपक्ष तो माया रूप है। यद्यपि अभेद पक्ष से किसी व्यतिरिक्त कार्य का बोध नहीं संभव है। इसी कारण कारणता की व्याख्या हेतु माया विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण कहा जाता है या कहीं–कहीं माया ही अकेली उपादान कारण कही जाती है[2]। पर संक्षेपशारीरककार का मत है कि माया द्रव्य नहीं है, मात्र कारणात्मक व्यापार है अतः स्वयं स्वतन्त्र उपादान कारण नहीं है वरन् ब्रह्म रूपी उपादान से जन्य होकर ही भौतिक जगत् की उत्पत्ति करती है। शंकर के परवर्ती दार्शनिक अभिन्ननिमित्तोपादानता के दोनों पक्षों का विविध प्रकार से वर्णन करते हैं। कुछ के अनुसार ब्रह्म अपरिणामी कारण है जबकि माया परिणामी कारण है। इसे ही दूसरे शब्दों में क्रमशः विवर्त कारण व परिणाम कारण भी कह सकते हैं[3]। वाचस्पति मिश्र ब्रह्म को विवर्त कारण व माया को सहकारी कारण कहते हैं[4]। कुछ अन्य विद्वान् माया व अविद्या में भेद को स्वीकार करते हुये जागतिक पदार्थों का उपादान कारण तो माया को बताते हैं पर मानसिक तथ्यों का कारण अविद्या को मानते हैं[5]। कुछ विद्वानों का मत है कि क्योंकि जीव के प्रति ही ईश्वर तथा जगत् भासित होते हैं अतः ये सभी अविद्यायुक्त जीव के ही आभासन हैं। कुछ अन्य के मतानुसार व्यावहारिक जगत् का उपादान कारण तो ईश्वर है जबकि प्रातिभासिक व स्वप्न जगत् का उपादान जीव है। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि क्योंकि जगत् रूप कार्य में चित् व अचित् या शुद्ध चित्त्व व भौतिकता के अंश समान रूप से विद्यमान दृष्ट होते हैं फलतः ब्रह्म व माया संयुक्त रूप से ही जगत् के उपादान कारण हैं, यद्यपि ब्रह्म कूटस्थ रहता है जबकि माया परिणमित होती है। पर प्रकाशानन्द का मत है कि ब्रह्म जगत् का कैसा भी कारण नहीं है सब कुछ माया का ही परिणाम है अतः वही जगत् का उपादान व सहकारी

---

1. विद्यारण्य के मत में माया परिणामी उपादान है जबकि ब्रह्म अधिष्ठान रूप उपादान है।
2. प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानं माया न ब्रह्मेति सिद्धान्तः। वे. प. पृ.278
3. (अ) प्रपञ्चे उभयोरपि मायाब्रह्मणोरुपादानत्वम् तत्र च परिणामितया मायाया उपादानत्वम्, अधिष्ठानतया च ब्रह्मणः उपादानत्वम्...। कृष्णालङ्काराख्यव्याख्या, सि.ले.सं.पृ. 72
   (आ) तत्र ब्रह्म विवर्तमानतयोपादानम् अविद्या परिणममानतया। सि.ले.सं. पृ. 72
4. वाचस्पतिमिश्रास्तु–जीवाश्रितमायाविषयीकृतं ब्रह्म स्वत एव जाड्याश्रयप्रपञ्चाकारेण विवर्तमानतयोपादानम् इति मायासहकारिमात्रम् ...वही पृ. 77
5. वियदादिप्रपञ्च ईश्वराश्रित मायापरिणाम इति तत्रेश्वर उपादानम्।
   अन्तःकरणादिकन्तु ईश्वराश्रितमायापरिणाममहाभूतोपसृष्टजीवाविद्याकृत भूतसूक्ष्मकार्यम् इति तत्रोभयोरुपादानत्वम् वही पृ. 65–66

दोनों कारण है। पर इतने मतभेद होने पर भी यह मूल दृष्टि कहीं विश्रंखलित नहीं होती कि मूल कारण ब्रह्म सर्वदा अपरिणामी है और माया ही परिणमन का निमित्त है। इस प्रकार का मायाविशिष्ट ब्रह्म सर्वकर्तृत्व में परनिरपेक्ष है। यह बिना किसी बाह्य सहायता के ही मात्र अपनी शक्तियों से सृष्टि करता है[1]। यही ईश्वर पौराणिक साहित्य में तीन कृत्यों–सृष्टि, स्थिति व लय के साधन हेतु ब्रह्मा, विष्णु व महेश रूपों में अवतरित होता है।

यद्यपि माया से विशिष्ट ब्रह्म को मानकर यहाँ जगत् की सृष्टि, स्थिति व लय का एक तार्किक हेतु सिद्ध हो जाता है पर ब्रह्म व माया के सम्बन्ध को स्थापित करने में कई मतभेद उपलब्ध होते हैं। इन मूल मतों को निम्न रूपों में प्रस्तुत कर सकते हैं–
(क) प्रतिबिम्बवाद (ख) अक्च्छेदवाद (ग) आभासवाद।

आचार्य शंकर के ग्रंथों में तो इन तीनों ही सिद्धान्तों के साधक उद्धरण उपलब्ध होते हैं जैसे वह ब्रह्म व माया का सम्बन्ध बताने के लिये, चन्द्रमा या सूर्य की लहरों में प्रतिबिम्बन की उपमा भी देते हैं, आकाश के घट–पटादि रूप में अवच्छिन्न होने का सादृश्य भी प्रस्तुत करते हैं, साथ ही स्फटिक में रक्तिमवर्णीय पुष्प के आभासन से रक्तिमता के आभास का भी सादृश्य प्रस्तुत करते हैं फलतः यहाँ किसी विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन न होकर मात्र रूपकों से उनके मध्य सम्बन्ध की स्थापना का प्रयास ही उपलब्ध होता है। वैसे सर्वत्र जगत् को ब्रह्म का अनिर्वचनीय आभास रूप सिद्ध करने से आभासवाद को शंकर स्वीकृत मत बताया जा सकता है पर इस सन्दर्भ में उनका कोई स्पष्ट कथन उपलब्ध नहीं होता। परवर्ती दार्शनिक ही इन रूपकों के आधार पर तीन मतों का प्रतिपादन करते हैं। पद्मपादाचार्य व प्रकाशात्मन् जहाँ प्रतिबिम्बवाद का पोषण करते हैं वहीं मण्डन मिश्र तथा वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद का तथा सुरेश्वराचार्य आभासवाद का प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि इन तीनों मतों का मूल विवर्तवाद का पोषण है।

इस प्रकार उस मायाविशिष्ट ब्रह्म से[2] ही सारा जगत् व जीवात्मायें उद्विकसित होती हैं[3]। जागतिक उद्विकास का क्रम है–ईश्वर तत्त्व से सर्वप्रथम आकाश, पुनः आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी। ये पञ्चमहाभूत अपने सूक्ष्म रूप में तन्मात्र ही हैं। इन्हीं पञ्चतन्मात्रों के विविध अनुपात में मिश्रण से सारा मानसिक व भौतिक जगत् निर्मित होता है। प्रलयावस्था में विलोमक्रम से इनका परस्पर लय होता जाता है अन्ततः वह ईश्वर ही शेष रहता है जो पुनः कुछ काल बाद जीवों के कर्मानुसार सृष्टि–क्रिया में संलग्न होता है।

---

1. ब्र.सू.शां.भा., 2/1/24 पर, 2/1/30 पर
2. यह माया कुछ वैशिष्ट्यों से युक्त होकर सांख्य के प्रधान जैसी ही सिद्ध होती हैं व उसी कर्तृत्व को सिद्ध करती है। इसे यहाँ प्रकृति संज्ञा से अभिहित भी किया गया है।...ईश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते...ईश्वरस्य माया शक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते। वही प. 369
3. वही पृ. 338

भास्कराचार्य का भेदाभेदपरक परिणामवाद[1] —शंकर के परवर्ती आचार्यों में भास्कराचार्य का विशिष्ट स्थान है। इन्होंने बादरायण सूत्रों पर रचित अपने भाष्य में जगत् की व्याख्या के सन्दर्भ में भेदाभेद[2] नामक एक विशिष्ट सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जो कि जागतिक व पारमार्थिक दोनों कारणताओं की भेदाभेदपरक व्याख्या करता है[3]। कार्य कारण का यथार्थ परिणाम है[4]। इन दोनों के मध्य का सम्बन्ध भेदाभेद रूप है अर्थात् कार्य रूप में कारण कार्य भिन्न–भिन्न हैं जबकि कारण रूप में अभिन्न है। इसी आधार पर यहाँ परम कारण रूप ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं–(क) कारण रूप तथा (ख) कार्य रूप[5]। जहाँ कारण रूप में ब्रह्म समस्त कार्यों–चित् व अचित् से अभिन्न है वहीं कार्य रूप में उन नाना रूपों में भासित होता हुआ भिन्न ही है। यह कारणरूपता ब्रह्म का स्वाभाविक, यथार्थ, तथा नित्य रूप है जबकि कार्यरूपता इसका औपाधिक, यथार्थ पर अनित्य रूप है[6]। इसी कारण रूप में एकता व कार्य रूप में अनेकता को सुवर्ण के उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं जिसके कि अनुसार सुवर्ण अपने कारण पक्ष में तो सर्वत्र एक (अभिन्न) है जबकि अपने कार्य पक्ष में नेकलेस, कंगन, किंकणी आदि रूपों में अनेक (भिन्न) है।

इस भेदाभेद सम्बन्ध का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ भेद व अभेद दोनों ही समान रूप से यथार्थ हैं, शंकरवत्[7] मात्र अभेद की ही यथार्थता नहीं है और न

---

1. कारण कार्य के मध्य के सम्बन्धों का भेदाभेद रूप में वर्णन तो प्रायः सभी दार्शनिकों को करना पड़ता है क्योंकि किसी भी सम्बन्ध का मूल ही यही है। परन्तु उस भेदाभेद को सिद्ध करने के उनके प्रयासों में विशिष्टता उपलक्षित होती है। कुछ भेद व अभेद दोनों को ही समान रूप से सत्य बताते हैं, कुछ मात्र अभेद को तथा कुछ भेद को स्वीकारते हुये भी पारमार्थिक स्तर पर उसकी गौणता मानते हैं। यद्यपि इस तृतीय स्थिति में भी अनेक अवान्तर अवस्थायें द्रष्टव्य हैं। शंकर व उनके अनुयायियों को छोड़कर प्रायः सभी वेदान्त–आचार्य भेद को मिथ्या न मानकर उसकी किसी न किसी रूप में स्थिति स्वीकृत करते हैं। इसी दृष्टि से भेद में अभेद सिद्धि के लिये नाना दृष्टियाँ प्राप्त होती हैं जिन्हें–शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, विशेषाद्वैत आदि रूपों में अभिव्यक्त किया जाता है पर कुछ ने भेद व अभेद में से किसी की प्रधानता न मानकर दोनों की ही परिमार्थिक स्थिति में भी सत्ता स्वीकृत की है। इस वर्ग में भास्कराचार्य व यादवप्रकाश आते हैं।
2. अभेदधर्मश्च भेदो यथा महोदधेरभेदः स एव तरङ्गाद्ययात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते न हि तरंगादयः पाषाणादिषु दृश्यन्ते तस्यैव ताः शक्तयः शक्तिशक्तिमतोश्च अनन्यत्वमन्यत्वं चोपलक्ष्यते यथाग्नेर्दहनप्रकाशनादिशक्तयः...तस्मात् सर्वमैकानेकात्मकं नात्यन्तमभिन्नंभिन्नं वा। भा.भा.पृ. 101.
3. कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
   हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा।। वही पृ. 18
   यादवप्रकाश (रामानुज के गुरु) भी भेदाभेदपरक व्याख्या ही प्रस्तुत करते हैं पर उनका एकमात्र वैशिष्ट्य यही है कि जहाँ भास्कर का ब्रह्म परिणमन प्रक्रिया में उपाधियों से युक्त होने पर जागतिक विशुद्धियों से दूषित हो जाता है वही यहाँ का ब्रह्म सर्वदा शुद्ध रहता है। साथ ही यादवप्रकाश ब्रह्म का परिणमन चित्, अचित् व ईश्वर इन तीन रूपों में मानते हैं वे इन तीनों को ब्रह्म से समान रूप से सम्बद्ध मानते हैं जबकि भास्कर चित् व अचित् इन दो रूपों में ही परिणमन मानते हैं। वे चित् को ब्रह्म से एकात्म व अचित् को भिन्न व अभिन्न दोनों प्रकार का मानते हैं। द्रष्टव्य राधाकृष्णन, ब्रह्मसूत्र, पृ. 45
4. जगत् को यथार्थ परिणाम कहने से इसकी भ्रान्तिरूपता का मत भास्कर को अस्वीकृत प्रतीत होता है। भास्कर जगत् की इस भ्रान्तिरूपता की धारणा को महायान बौद्धों के प्रभाव का ही प्रतिफल मानते हैं।
5. तत् कारणात्मना कार्यात्मना द्विरूपेण अवस्थितम्। भा.भा.पृ. 24.
6. कारणमेव कार्यात्मना घटवद् अवतिष्ठते कारणस्यावस्थामात्रं कार्यं व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तं शुक्तिरजद्वदागमापायधर्मित्वाच्चानन्तमनित्यमिति च व्यपदिश्यते...। वही पृ. 93
7. शंकर के मत में कार्यों की यथार्थ सत्ता न होकर वे वाचारम्भणमात्र ही है। (ब्र.सू.शा.भा. 2/2/14) शंकर के मत में द्वैत या भेद अविद्या का ही परिणाम है फलतः मिथ्या है पर यहाँ यह भी अनुभव का विषय होने से यथार्थ है।

रामानुजवत् भेद विशिष्ट अभेद की ही मान्यता है। यद्यपि एक की सत्ता स्थायी है जबकि दूसरे की अस्थायी अर्थात् कारण(अभेद) स्थायी रूप से सत् है और कार्य (भेद) अस्थायी रूप से[1]। ये स्थायित्व व अस्थायित्व सत्ता व असत्ता के पर्याय नहीं हैं (शंकर इनको पर्याय ही मानते हैं) फलतः कारण व कार्य दोनों की ही समान यथार्थता है यद्यपि इनकी स्थिति में एक अन्तर यह है कि जहाँ कारण रूप पक्ष स्वाभाविक है वहीं कार्यरूप पक्ष औपाधिक है[2]। कारण में कार्य सर्वदा अनुस्यूत रहता है। कारण पूर्वसिद्ध सत्ता है व कार्य बाद में तदाश्रित रूप से ही उत्पन्न होता है।

इस प्रकार की कारणता के क्षेत्र में आदि कारण तक पहुँचने पर वह प्रथम कारण ब्रह्म ही सिद्ध होता है जिसका कार्य है ये चित् व अचित् पदार्थ[3]। ब्रह्म अपनी द्विविध शक्तियों के द्वारा इन दो कार्यों में परिणत होता है[4]। उसकी दो शक्तियाँ हैं–भोक्तृ शक्ति तथा भोग्य शक्ति[5]। इन दोनों शक्तियों के द्वारा दो परिणाम होते हैं–चित् परिणाम तथा अचित् परिणाम। यह ब्रह्म जगत् का निमित्त व उपादान दोनों है[6]। वह कारण ब्रह्म अपनी इन शक्तियों के द्वारा विविध उपाधियों–अन्तःकरण, इन्द्रिय, शरीर, अहन्ता, प्राणवायु आदि–का आश्रय लेकर कार्य रूप औपाधिक स्थिति को प्राप्त करता है। ये उपाधियाँ कारणब्रह्म का स्वभाव न होकर उसके आगन्तुक धर्म हैं फलतः इस कार्यरूपता से उसके यथार्थ स्वाभाविक रूप में कोई विकृति नहीं आती[7]।

वह परतत्त्व जीवों के कर्मों के अनुकूल ही चित् व अचित् तत्त्वों की सृष्टि करता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत होता है पर इसके दोषों व बुराइयों से लिप्त नहीं होता क्योंकि उसकी कारणता का अभिप्राय मात्र उसकी नियामकता से है या उसकी परिणामिता मात्र कार्यों के अन्तस् में विद्यमान रहना है। यद्यपि इस बिन्दु पर विद्वानों में मतभेद है। जहाँ डॉ. राधाकृष्णन उसे इन दोषों से मुक्त मानकर उसकी नियामकता को ही प्रतिपादित करते हैं वहीं चन्द्रधर शर्मा के मत में वह उन दोषों से लिप्त होता है व पाप पुण्य का भोक्ता तथा पुनर्जन्म का विषय भी बनता है[8]। इसी दृष्टि से ब्रह्म के दो रूप हैं–सप्रपञ्च व निष्प्रपञ्च। सप्रपञ्च रूप में वह सबका कारण है जबकि निष्प्रपञ्च रूप में सबसे परे है।

---

1. अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेति स्थितम्। भा.भा. पृ. 18
2. (अ) जीवपरयोश्च स्वाभाविकोऽभेद, औपाधिकस्तु भेदः...भा.भा., पृ. 243
   न चौपाधिकं कर्तृत्वमपारमार्थिकम्। वही, पृ. 139
   (आ) निम्बार्क के अनुयायी सुन्दरभट्ट का मत है कि भास्कर का मत मात्र भेदाभेदवाद न होकर औपाधिक भेदाभेदवाद है क्योंकि यहाँ भेद का कारण उपाधियाँ ही है। तु.की., राधाकृष्णन, ब्रह्मसूत्र भूमिका पृ. 41.
3. ब्रह्म च कारणात्मना कार्यात्मना जीवात्मना च त्रिधावस्थितम्। भा.भा., पृ. 7–8
4. परमात्मा स्वयमात्मानं कार्यत्वेन परिणमयामास...। अनन्ता हि तस्य शक्तयो चिन्त्याश्च। भा.भा. पृ. 85
5. भा.भा. पृ. 105
6. ऐसा ही मत पाञ्चरात्रों का है जहाँ वासुदेव जगत् का उपादान व मिमित्त कारण हैं। तु.की.भा.भा. पृ. 85
7. वही, पृ. 105, पृ 85
8. तु.की. राधाकृष्णन, भा.द.भा. 2 पृ. 674, सी.डी.शर्मा, एक्रि.स. ऑफ इ.फि.पृ. 340–341

इस प्रकार के उस कारण से सारे जगत् की उत्पत्ति व लय होता है फलतः समस्त चिद् व अचिद् विकास उसी का अंश है। संसार का कारण है–चित्, अचित् को ब्रह्म से पूर्णतया व्यतिरिक्त मानना[1]। इसी को अविद्या[2] कह सकते हैं पर वह जगत स्वयं अविद्या रूप नहीं है फलतः यथार्थ ही है। जब तक अविद्या रहती है तब तक उपाधियाँ रहती हैं[3] और अविद्या का नाश होने पर वे कार्य उस परम कारण से अभिन्न रूप में ही गृहीत होते हैं। इस अविद्या के कारण उसमें विषयजगत् के प्रति राग उत्पन्न होता है जिससे बन्धन होता है और जब ज्ञान–कर्मादि के द्वारा अविद्या का नाश हो परमात्मा विषयक राग उत्पन्न होता है तब मोक्ष होता है।

विशिष्टाद्वैत का ब्रह्मपरिणामवाद—वेदान्त की यह शाखा अद्वैत की विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत करती है। यहाँ अद्वैत का अभिप्राय द्वैत का निषेध कर अद्वैत की सिद्धि नहीं है वरन् यहाँ जगत् को भी सत्य मानते हुये अद्वैत की स्थापना की गयी है। जगत् को अद्वैत वेदान्त की तरह ब्रह्म का विवर्त न मानकर ब्रह्म का यथार्थ परिणाम ही माना गया है। फलतः यहाँ कारणता सम्बन्धी सांख्य दृष्टिकोण ही किञ्चित् वैशिष्ट्यों के साथ स्वीकृत प्रतीत होता है[4]। यद्यपि जहाँ सांख्य प्रकृति–परिणामवाद का प्रतिपादन करता है, यह ब्रह्म–परिणामवाद को प्रतिपादित करता है। यह ब्रह्म शंकर के ब्रह्म जैसा नित्य, शुद्ध, निराकार एवं निर्विकार तत्त्व मात्र नहीं है वरन् औपनिषदिक सप्रपञ्च ब्रह्म तथा धार्मिक ईश्वर का मिश्रण है[5] जिसका कि शरीर सारा जगत् है। सारा जगत् चित् अचित् दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है[6]। चित् के अन्तर्गत समस्त जीवात्मायें तथा अचित् के अन्दर समस्त जड पदार्थ आते हैं। इन दोनों की स्वतन्त्र यथार्थ सत्ता होने पर भी ये ब्रह्म की दृष्टि से उसके शरीर हैं क्योंकि रामानुज के मत में स्वतन्त्र स्थिति सत्ता का पर्याय नहीं है। पदार्थ स्वतन्त्रतया सत् (द्रव्य) भी रह सकता है और आश्रित भी हो सकता है। इस प्रकार यहाँ का अद्वैत द्वैत से विशिष्ट हैं और ऐसा विशिष्ट अद्वैत तत्त्व (ब्रह्म) ही सारे जगत् का कारण है, सारा जगत् उसी का परिणाम है। यहाँ परिणाम का वही अभिप्राय है जो सांख्य में है अर्थात् उपादानसमसत्ताककार्योत्पत्ति अर्थात उपादान के समान ही कार्य की भी सत्ता का होना फलतः कार्य भी उतना ही सत् सिद्ध होता है जितना

---

1 देहादिषु विपरीतप्रतिपत्तिर्ब्रह्मस्वरूपाप्रतिपत्तिश्चाविद्या। भा भा. पृ. 219

2 यह अविद्या शंकर की अविद्या से भिन्न है, यह अनिर्वाच्य होकर मिथ्या नहीं है, वरन् यथार्थ ही है। (यस्य कार्यमिदं कृत्स्नं व्यवहाराय कल्पते। निर्वक्तु सा न शक्येति वचनं वचनार्थकम्।। वही पृ. 95)

3 यावदयमात्मा केवलेन द्वैतदर्शनेन संसरति तावत्कालभावी बुद्ध्यादियुपाधियोग।। वही पृ. 137

4 डॉ. एम.सी. भारतीय का मत है कि यहाँ स्वीकृत परिणामवाद जैनियों के सदसत्कार्यवाद के अधिक निकट है क्योंकि कारण में कार्य मूल सत्ता रूप में तो सत् है पर विशिष्ट आकार रूप में असत् है। कॉजेशन इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 84

5 सांख्य जहाँ प्रकृति को ही सारे उद्विकास का मूल मानता है वही यहाँ ब्रह्म जो चित् व अचित् से विशिष्ट है, ही सारे जगत् का मूल है व प्रकृति मात्र उस अचित् का एक पक्षभूत है।

6 कृत्स्नस्य चिदचिद्वस्तुनस्सर्वावस्थावस्थितस्य पारमार्थिकस्यैव परस्य ब्रह्मणश्शरीरतया रूपत्वं। शा.मी.भा. रा.ग. भा. पृ. 79

कि कारण स्वयं। वेदान्तवत् यह मिथ्या आभास रूप नहीं है। यहाँ भी कारण का अभिप्राय है अनभिव्यक्त अवस्था व कार्य का है अभिव्यक्त अवस्था[1]।

वह ब्रह्म ही जगत् का उपादान व निमित्त कारण दोनों है[2]। जहाँ उसका शरीर अर्थात् चित् व अचित् तत्त्व उपादान कारण की भूमिका निभाते हैं वहीं वह स्वयं (आत्मा रूप) निमित्त कारण रहता है[3]। वही जगत् का विश्वमय व विश्वोत्तीर्ण दोनों कारण है। उसकी विश्वमयता उसका अन्तर्यामित्व है जिसके कि द्वारा वह सारे जगत् में अनुस्यूत हो उसका आन्तरिक नियन्ता है तथा उसकी विश्वोत्तीर्णता है उसका सर्वोत्तीर्णत्व।

इस ब्रह्म की वस्तुतः दो अवस्थायें[4] रहती हैं–

1. **कारणावस्था**–यह अवस्था प्रलयकाल में रहती है। तब ईश्वर सूक्ष्म पदार्थ (अचित्) व शरीर रहित आत्माओं (चित्) रूप शरीर से युक्त रहता है। इस समय सारा जगत् उसी में निहित रहता है, सृष्टि का प्रारम्भ नहीं हुआ होता।

2. **कार्यावस्था**–यह अवस्था सृष्टिकाल में रहती है। तब सूक्ष्म पदार्थ स्थूल आकारों को धारण कर लेता है व शरीर रहित निराकार आत्मायें अपने–अपने कर्मों के अनुरूप शरीर को प्राप्त कर लेती हैं।

इस प्रकार ईश्वर स्वयं में परिणामरहित रह कर भी जगत् का नियमन व चालन करता है। उसकी निमित्त कारणता इच्छा–कारणता को प्रस्तुत करती है अर्थात् निमित्त रूप में उस ईश्वर की इच्छा ही उपादान कारण को इच्छानुसार कार्य करने के लिये प्रेरित करती है[5]। यद्यपि चित् तत्त्व की कारणता का नियमन कर्म सिद्धान्त भी करता है जो कि ईश्वर की इच्छा के सर्वनियामकत्व के साथ विरोध उपस्थित करेगा पर रामानुज का मत है कि कर्मसिद्धान्त ईश्वर की इच्छा का ही प्रतिनिधि है अतः उसी इच्छा की ही सर्वत्र निमित्तता सिद्ध होती है। अचित् तत्त्व तीन प्रकार का है–

(क) प्रकृति या मिश्रसत्त्व (ख) नित्य विभूति या शुद्धसत्त्व (ग) काल या सत्त्वशून्य।

इन में से प्रकृति या मिश्रसत्त्व रज तम का ही आधार है। इसी से समस्त भोग्य जागतिक पदार्थों का निर्माण होता है। इसी कारण यहाँ सारा जागतिक उद्विकास सम्बन्धी मत सांख्य की ही पुनरावृत्ति है पर वहीं इसमें सांख्य से कुछ भेद भी उपलब्ध है–प्रथम तो सांख्य की प्रकृति स्वतन्त्र सत् है जबकि यहाँ प्रकृति नित्य–विभूति द्वारा

1 द्रव्यान्तरादर्शनाच्चेति कारणमेवावस्थान्तरापन्नं कार्यम्...। वे.सं., पृ. 60

2 (अ) ..ब्रह्मणः तदात्मानं स्वयमकुरुतेति सृष्टेः कर्मत्व कर्तृत्वं च प्रतीयत इत्यात्मन एव बहुत्वकरणात्तस्यैव निमित्तमुपादानत्वं च प्रतीयते। शा.भी.भा., रा.ग्र.मा.पृ. 214.

(आ) अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यं कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। वही, पृ. 100

3. यह शंकर के सगुण ब्रह्म जैसा है जिसे कि वहाँ ईश्वर ही कहा गया है।

4. एवं सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परम पुरुष एव कार्यावस्थकारणावस्थजगद्रूपेणावस्थित...। वही, पृ. 99

5. स्वयमविच्छिन्नज्ञानानन्दस्वभावोऽत्यन्तसूक्ष्मतयाऽसत्कल्पस्यस्वलीलोपकरणचित्चिद्वस्तुशरीरतया तन्मयः परमात्मा विचित्रामनन्तक्रीडनकोपादित्सया स्वशरीरभूतप्रकृतिपुरुषसमष्टिपरम्परया महाभूतपर्यन्तमात्मानं तत्तच्छरीरकं परिणमय्य तन्मयः पुनस्सत्यच्छब्दवाच्यविचित्रचिदचिन्मिश्रदेवादिस्थावरान्तजगद्रूपोऽभवदिति। वही पृ. 215

सीमित है। नित्य विभूति में मात्र शुद्धसत्त्व की स्थिति रहती है, अन्य दोनों गुणों का अभाव रहता है। इस प्रकार के पदार्थ से सारा प्रत्ययात्मक जगत्, ईश्वर का शरीर, शाश्वत व मुक्त आत्माओं के शरीर तथा ईश्वर का स्थायी निवास वैकुण्ठ निर्मित होता है, साथ ही देवालयों में स्थित मूर्तियाँ भी उसी शुद्धसत्त्व से निर्मित हैं। तृतीय पदार्थ काल जड है, उसमें किसी भी गुण का अभाव रहता है।

इस प्रकार सांख्य जहाँ प्रकृति रूप एक कारणात्मक पदार्थ मानता है, वहीं यहाँ तीन तरह के ऐसे पदार्थ माने गये हैं, साथ ही जहाँ सांख्य में कोई गुण कहीं भी अकेला नहीं रह सकता, मात्र गुणप्रधानभाव से ही उनकी सर्वत्र स्थिति रहती है, वहीं यहाँ नित्यविभूति में अकेले सत्त्व गुण की तथा काल में सभी गुणों के अभाव की स्थिति बताई गयी है।

रामानुज ने शंकर के विवर्तवाद का खण्डन करते हुये बताया है कि कारण ही अकेला सत्य नहीं है, कार्य भी सत्य है। कार्य को इसलिये विवर्त नहीं कह सकते कि वह नाशशील है। इससे तो उसका मिथ्यात्व नहीं वरन् विनाशी स्वभाव ही विदित होता है। कार्य न असत् है, न भ्रम है क्योंकि यह उत्पत्ति के बाद विनाश होने तक एक निश्चित देश व काल में स्थित देखा जाता है। श्रुतिवाक्य जो जगत् को ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध करते हैं, यह संकेतन नहीं करते कि ब्रह्म के अतिरिक्त सब मिथ्या है वरन् यह बताते हैं कि ब्रह्म ही सबका एकमात्र कारण है और कार्य अन्ततः कारण से भिन्न नहीं है[1]। फलतः कार्य कारण की ही रूपान्तरित अवस्था है, उससे भिन्न नहीं[2]। इस प्रकार उत्पत्ति यहाँ पूर्व दशा का नाश व नवीन दशा की उत्पत्ति है। पर द्रव्य सर्वदा उनमें बना रहता है फलतः कारण में कारण व्यापार से पूर्व भी कार्य की सत्ता सिद्ध होती है। अवस्थायें द्रव्य से पूर्णतः भिन्न नहीं है वरन् वही उनका सारतत्त्व है फलतः सत्कार्यवाद की ही सिद्धि होती है। रामानुज का मत है सत्कार्यवाद की स्वीकृति कार्य की यथार्थ सत्ता माने बिना संभव नहीं है क्योंकि दो समानसत्ताक पदार्थों में ही तादात्म्य संभव है, एक सत्य व एक असत्य पदार्थ में नहीं[3]।

जागतिक दृष्टि से तो कारण यहाँ भी तीन प्रकार का बताया गया है–उपादान, निमित्त व सहकारी। जहाँ उपादान कारण वह है जिसमें कार्य रूप में अवस्थाओं का परिणमन हाता है, वहीं निमित्त वह है जो इस परिणमन का प्रयोजक है तथा सहकारी वह है जो इस परिणमन में सहायक है[4]। यद्यपि इनमें से सहकारी को निमित्त कारण में भी

---

1. कार्यावस्थः कारणावस्थश्च स्थूलसूक्ष्मचिदचिदवस्तुशरीरः परं पुरुष एवेति कारणात् कार्यस्य अनन्यत्वेन कारणविज्ञानेन कार्यस्य ज्ञाततया...। शा.मी.भा.,रा.ग्रं.मा., पृ. 100
2. अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता।–वही, पृ. 188
3. पर इस सन्दर्भ में डॉ. एस.एन. दासगुप्ता का मत है कि रामानुज द्वारा यह शंकर को लक्ष्य कर उक्त आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि वहाँ कथित तादात्म्य कारण व कार्य में स्थित यथार्थ कारणात्मक सत्ता के मध्य अपेक्षित है। मात्र उससे व्यतिरिक्त कार्य रूप की ही विवर्तता है। हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भा. 3 पृ. 200
4. कार्यरूपेण विकारयोग्यं वस्तु उपादानम्, कार्यतया परिणमयित्री निमित्तं, कार्योत्पत्त्युपकरणं वस्तु सहकारी।–यतीन्द्रमतदीपिका, पृ 81

कहीं–कहीं अन्तर्भूत किया है अतः वहाँ दो ही कारण प्रकार बचते हैं।

वल्लभ का अविकृतपरिणामवाद—वल्लभाचार्य अन्य वेदान्तमार्गियों से विशिष्ट–तया कारणता की व्याख्या करते हैं। यहाँ कारणता सम्बन्ध की चर्चा के स्तर पर न तो परिणामवाद को स्वीकारा गया है और न तो विवर्तवाद को। यहाँ इन दोनों के मध्य की श्रेणी स्वीकृत है जिसे अविकृतपरिणामवाद कह सकते हैं[1]। कार्य कारण का विवर्त नहीं है क्योंकि वह यथार्थ आभासन है साथ ही उसका परिणाम भी नहीं है क्योंकि इस आभासन में रूपान्तरण निहित नहीं है। वरन् कार्य रूप जगत् ईश्वर का स्वाभाविक उद्विकास है जिसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की धारणा निहित नहीं है अतः अविकृतपरिणाम रूप में ही उस कारण कार्य के मध्य की स्थिति को बताया जा सकता है। फलतः वहाँ ब्रह्म[2] का समस्त जागतिक रूपों में यथार्थ विकास होने पर भी उसमें कोई विकार नहीं उत्पन्न होता[3]। यहाँ कारणता व कार्यता की व्याख्या प्रायः आविर्भाव व तिरोभाव की ही शब्दावली में की गयी है तथा तिरोभाव का अर्थ व्यवहारायोग्यत्व तथा आविर्भाव का अर्थ व्यवहारयोग्यत्व किया गया है। ब्रह्म की परिणामात्मिका शक्ति आविर्भावात्मिका कही गयी है और लयकारी शक्ति तिरोभावात्मिका।

वल्लभ उपादान कारण को यद्यपि समवायिकारण कहते हैं पर यहाँ 'समवायि' शब्द की व्याख्या विशिष्ट है। यहाँ समवाय के मूल में तादात्म्य ही अवस्थित[4] है। उनके मत में कारण ही कार्य रूपों में प्रकट होता है। यहाँ कारण की अविकृत स्थिति को बताने के लिये ही उपादान कारण की जगह समवायिकारण का उल्लेख मिलता है। ब्रह्म सत्–चित्–आनन्द रूप से सर्वव्यापी होने के कारण ही समवायिकारण है[5]। यह विशिष्ट प्रयोग यह बताता है कि कार्य रूप जगत् कारण रूप ब्रह्म से अभिन्न है पर ब्रह्म रूप कारण में कोई विकार नहीं उत्पन्न करता[6]। यह ब्रह्म जगत् का समवायि कारण भी है व निमित्तकारण भी पर स्वयं बिना परिणमित हुये ही इस जगत् को आभासित करता है। यहाँ सृष्टि प्रक्रिया का अभिप्राय है ईश्वर का बिना परिणमित हुये नाना रूपों में आभासन जिसमें कि ईश्वर

---

1. यहाँ कार्य को अनभिव्यक्त अवस्था में कारण में सत् माना गया है जिससे सांख्य सत्कार्यवाद से काफी साम्य प्रस्तुत होता है।
2. यह ब्रह्म रामानुज के सदृश ही सगुण पुरुषोत्तम है, अद्वैत वेदान्तवत् निर्गुण ब्रह्म रूप नहीं।
3. यद्यपि यह मत उपपन्न नहीं लगता कि परिणाम होने पर भी पदार्थ परिणमित न हो और निर्विकार बना रहे। इस संदर्भ में इस दर्शन द्वारा प्रस्तुत 'परिणाम' के प्रत्यय की विशिष्ट व्याख्या द्रष्टव्य है जो कि इन विसंगतियों के निराकरण में सक्षम है। उसके सत्त्व, चित् व आनन्द गुण ही नाना रूपों में आभासित होते हैं अतः सब कुछ उसके यथार्थ स्वरूप से ही उद्विकसित है। वह स्वरूप स्वरूपवान् से अभिन्न है अतः उससे उसमें किसी विकार का प्रश्न नहीं उठता।
4. (अ) वल्लभ, अणुभाष्य, ब्रह्मसूत्र, पृ. 627
   (आ) अनारोपितानागन्तुकरूपेणानुवृत्तिरेव समवाय इति, इदमेव च तादात्म्यम्। –पुरुषोत्तम, अणु.भा.टी.पृ. 90
5. उसके सत्, चित्, आनन्द रूप स्वभाव में सत्त्व अंश से सारा जगत, चित्त्व अंश से अणु परिणामवाली आत्मायें तथा आनन्द रूप अंश से अन्तर्यामी तत्त्व (सभी जीवों में रहने वाला तत्त्व) आभासित होते हैं। इन तीनों में द्वितीय व तृतीय क्रमशः अपने–अपने पूर्ववर्ती गुणों से भी युक्त रहते हैं अर्थात् जगत् में मात्र सत्त्व अभिव्यक्त है, जीवों में चित्त्व व सत्त्व दोनों तथा अन्तर्यामी में सत्त्व, चित्त्व तथा आनन्द ये तीनों ही विद्यमान हैं।
6. अणुभाष्य, पृ. 85

अपने त्रिविध स्वभाव–सत्ता, ज्ञान व आनन्द को विविध अनुपात में अभिव्यक्त करता है और प्रलय है ईश्वर द्वारा उस आभासन को अपने में समेट लेना। यहाँ शंकर आदि से भिन्नतया माया उस परतत्त्व रूप कृष्ण की शक्ति मानी गयी है जिसके कि द्वारा वह सृष्टि करता है[1]। यह माया रूप जगत यहाँ अयथार्थ नहीं है क्योंकि ईश्वर स्वेच्छा से ही इसकी रचना करता है। यह उसकी आत्माभिव्यक्ति है। वल्लभ जगत् को संसार से भिन्न प्रत्यय मानते हैं। जहाँ जगत् ईश्वर का यथार्थ परिणाम है वहीं संसार (जन्म मरण का चक्र) जीव की अविद्या का ही परिणाम है। पर यह संसार अनित्य है क्योंकि ज्ञान प्राप्ति होने पर नष्ट हो जाता है जबकि जगत् तब भी सत्य रहता है।

मध्व का सदसत्कार्यवाद– द्वैतवादी[2] मध्व कारणता की व्याख्या एक नवीन ढंग से करते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित कारणता की विशिष्ट शैली वस्तुतः न न्याय की असत्कार्यवादी धारणा को स्वीकारती है, न सांख्य की सत्कार्यवादी धारणा को क्योंकि न्याय के असत्कार्यवाद को स्वीकारने से तो शशश्रृंग से भी पदार्थों की उत्पत्ति होने लगेगी, साथ ही तब अभाव के सर्वत्र तुल्य होने से सभी से सभी कार्यों की उत्पत्ति की संभावना उपस्थित होगी। इसी प्रकार सांख्य मत भी स्वीकरणीय नहीं है क्योंकि कार्य हमेशा अनभिव्यक्ततया कारण में विद्यमान रहेगा तो कारण से सदैव कार्योत्पत्ति होती रहेगी अतः कारणता की व्याख्या हेतु ऐसी शैली ही स्वीकरणीय है जिसमें इन दोनों धारणाओं का समन्वय हो सके। फलतः मध्व कार्य को कारण में सत् भी मानते हैं व असत् भी। कार्योत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण रूप में स्थित रहता है व उत्पत्ति के बाद कार्य रूप में, अतः उत्पत्ति के पूर्व कार्य रूप से असत् रहता है और बाद में कारण रूप से। एक ही वस्तु के कारण व कार्य दो पक्ष हैं। इस प्रकार कारण कार्य के मध्य भेदाभेद सम्बन्ध[3] ही स्थापित होता है। कार्य कारण से तत्त्वतः अभिन्न है जबकि रूपतः भिन्न है।

यहाँ की कारण की परिभाषा न्याय मत की कारण की परिभाषा से काफी साम्य

---

1. शांकर वेदान्त में माया को ब्रह्म की शक्ति मानते हुये भी उससे एकरूप नहीं माना गया है पर वल्लभमतानुयायियों के मतानुसार ब्रह्म से अतिरिक्त माया की सत्ता मानने से (चाहे वह भ्रमरूपा ही क्यों न हो) शुद्ध अद्वैतवाद में बाधा पड़ती है अतः माया को ब्रह्म की शक्ति मानकर उसे उससे एकरूप ही मानना चाहिये। (पुरुषोत्तम, प्रस्थान रत्नाकर पृ. 159) साथ ही यहाँ माया मिथ्या भी नहीं है वरन् ब्रह्म की यथार्थ शक्ति है अतः उसका परिणाम रूप जगत् भी मिथ्या नहीं सिद्ध होता। इसी दृष्टि–भेद को संकेतित करने के लिये ये दोनों सम्प्रदाय दो विशिष्ट संज्ञाओं–केवलाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत से अभिहित किये जाते हैं।
2. मध्व अद्वैत के पोषक न होकर द्वैतवादी हैं। यहाँ स्वतन्त्र परमेश्वर तथा अस्वतन्त्र जीव व जगत् की पृथक्–पृथक् सत्ता को स्वीकारा गया है। यद्यपि विशिष्टाद्वैत भी इन तीनों की स्थिति मानता है पर अन्ततः ब्रह्म को उन जीव (चित्) व जगत् (अचित्) से विशिष्ट सिद्ध करता है। पर यहाँ इन तीनों की स्वतन्त्र स्थिति ही स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त यहाँ पाँच प्रकार के भेदों को भी स्वीकृति दी गयी है–(क) जीव व ईश्वर के मध्य भेद (ख) जीव और जीव के मध्य भेद (ग) जड़ व ईश्वर के मध्य भेद (घ) जड़ व जीव के मध्य भेद (ङ) जडों का परस्पर भेद। फलतः द्वैतवाद की ही प्रस्तुति होती है। (द्रष्टव्य, सी.डी. शर्मा, क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 372)
3. यह भेदाभेद भास्कर के औपाधिक भेदाभेदवाद तथा निम्बार्क के स्वाभाविक भेदाभेदवाद से विशिष्ट है क्योंकि वे जहाँ अद्वैत दृष्टि में ही पर्यवसित होते हैं वहीं यहाँ द्वैत दृष्टि ही अन्त में भी अवशिष्ट रहती है फलतः यहाँ भेद व अभेद दोनों की सत्ता समान रूप से सिद्ध होती है।

प्रस्तुत करती है[1] पर परवर्ती प्रक्रिया में पर्याप्त भेद है जो कि ऊपर वर्णित किया जा चुका है। यहाँ अभिन्ननिमित्तोपादान[2] के विपरीत दो स्वतन्त्र कारण स्वीकृत किये गये हैं–उपादान व निमित्त। उपादानकारण वह है जिसमें परिणमन होता है[3]। यह कारण अपने कार्य से भेदाभेद सम्बन्ध से ही सम्बद्ध है। वस्तुतः तो ऊपर वर्णित कारण में कार्य की सत्ता के सन्दर्भ में की गयी चर्चा इसी उपादानकारण के सन्दर्भ में सम्यक् है जबकि निमित्तकारण का कार्य से भिन्न प्रकार का सम्बन्ध है। निमित्तकारण कार्य रूप में परिणमित नहीं होता वरन् उस उपादानकारण को परिणत होने के लिये प्रेरित करता है। इस निमित्त कारण को इच्छा–कारण का प्रतिनिधि भी बताया जा सकता है क्योंकि यद्यपि सभी निमित्त इच्छापरक क्रियामय नहीं होते पर एक ऐसे इच्छामय तत्त्व से अनिवार्यतया नियमित अवश्य होते हैं[4]। वह अन्तिम इच्छामय तत्त्व भी इस प्रकार निमित्तकारण ही है जिसकी इच्छा से ही उपादानकारण कार्य रूप में परिणत होता है। ऐसा निमित्तकारण ब्रह्म ही है। यहाँ परिणाम एक यथार्थ तथ्य है। यह दो प्रकार से घटित हो सकता है–धर्म–परिणाम तथा धर्मी–परिणाम। धर्म परिणाम का अभिप्राय है गुणों का परिवर्तन जैसे अमिया का आम रूप में परिवर्तन तथा धर्मी–परिणाम का अभिप्राय है कारण के सार तत्त्व का परिवर्तन जैसे कि दूध का दही रूप में परिणाम।

यहाँ उपादान व निमित्त की एकता की मान्यता को इस कारण अस्वीकृत किया गया है कि परब्रह्म को जगत् का उपादान कहने पर उसकी विकारिता की समस्या उपस्थित होगी। साथ ही उपादान कारण सदैव कार्य में अनुस्यूत रहता है तो ब्रह्म के चेतन होने से उसका कार्यजगत् भी चेतन होगा पर जगत् की जडता इस मान्यता को बहिष्कृत करती है अतः ब्रह्म की उपादानकारणता अनुपपन्न ही हैं, मात्र उसकी निमित्तकारणता ही सध पाती है। मध्वानुयायी दार्शनिक जयतीर्थ के अनुसार प्रत्येक विकार आश्रित है और उसकी उत्पत्ति हेतु उपादान कारण को सर्वदा एक अन्य तत्त्व की अपेक्षा रहती है जो कि परिणाम को प्रेरित कर सके लेकिन ब्रह्म जैसे अद्वैत तत्त्व के लिये ऐसे किसी तत्त्व की स्थिति संभव नहीं है। अतः ब्रह्म को उपादान कारण न मानकर निमित्त कारण मानना ही

---

1. अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्यनियतपूर्ववृत्तिकारणम्। कार्य प्रागभावप्रतियोगी। (प्र.च., पृ. 38)
2. मुख्यतः शांकरवेदान्ती तथा भेदाभेदवादी भास्कर अभिन्ननिमित्तोपादान का प्रतिपादन करते हैं। रामानुज भी ऐसा मानते हैं।
3. परिणामिकारणं हि उपादानमुच्यते। जयतीर्थ, न्याय सु पृ. 194. एन. आउटलाइन ऑफ मध्व फिलॉसफी, पृ. 75 पर उद्धत।
4. जैसे घटोत्पत्ति में दण्ड व कुम्हार दोनों निमित्त हैं। इनमें से दण्ड में यद्यपि इच्छात्मिका क्रिया नहीं है पर वह कुम्हार की इच्छात्मिका क्रिया के द्वारा ही नियमित होती है।
5. He (Berkeley) argued that the only possible cause was a being possessed of will and used this as his chief argument for the existence of God...the activity view of cause has often been used as the basis for an argument to the existence of God in order to get the notion started originally. फन्डामेन्टल क्वेश्चन्स ऑफ फिलॉसफी, पृ. 170.

अधिक युक्तियुक्त है। प्रकृति ही उपादान कारण है जो कि ब्रह्म पर आश्रित रहती है। यह प्रकृति उस ब्रह्म का शरीर ही है फलतः ब्रह्म की इच्छा उसके परिचालन में पूर्ण सक्षम है, ब्रह्म व प्रकृति यहाँ परस्पर व्यतिरिक्त नहीं है[1]। यद्यपि इसी प्रधान से जगत् का उदय व लय होता है पर आगमों में अक्सर ब्रह्म की कारणता के उल्लेख भी मिलते हैं। इस समस्या का समाधान माध्व दार्शनिकों के मत में यह है कि प्रकृति का इससे घनिष्ट सम्बन्ध होने से ही लाक्षणिक ढंग से ब्रह्म की कारणता का कथन अक्सर किया गया है।

सृष्टि का कारण यहाँ ब्रह्म (ईश्वर) की इच्छा बतायी गयी है यद्यपि उसकी सर्वाप्तता के कारण किसी अपूर्ण इच्छा की पूर्ति इसका निमित्त नहीं है वरन् मात्र लीला करने की इच्छा कारण है। इस प्रकार की यह इच्छा अन्य अपूर्णस्वभावा इच्छाओं से विशिष्ट है। यह लीला करने की इच्छा उसके स्वभाव से ही निःसृत है, किसी विषय के प्रति राग से सम्पृक्त होकर नहीं।

निम्बार्क का ब्रह्मपरिणामवाद—भेदाभेदवादी[2] निम्बार्क कारणता की व्याख्या यथार्थ परिणमन रूप में करते हुये इस परिणाम की कर्तृता ब्रह्म को ही सौंपते हैं[3]। यहाँ यद्यपि रामानुज की तरह तीन सत्तायें ही मानी गयी हैं–ब्रह्म (ईश्वर), चित् तथा अचित्। परन्तु ब्रह्म तथा चित्–अचित् के मध्य रामानुजवत् धर्मधर्मीभाव सम्बन्ध न मानकर कारण–कार्य सम्बन्ध ही माना गया है[4] क्योंकि निम्बार्क के मत में ये अशुद्ध चित् व अचित् शुद्ध ब्रह्म का अंग नहीं हो सकते। अतः ब्रह्म ही इस जगत् (चित् व अचित्) का एकमात्र कारण सिद्ध होता है, यद्यपि कार्य को कारण का यथार्थ परिणाम माना गया है। यहाँ कारणता का अभिप्राय सांख्यवत् अनभिव्यक्त काअभिव्यक्तीकरण है। कारण यहाँ वह है जो कार्योत्पत्ति से पूर्व स्थित है तथा उससे नियत सम्बन्ध रखता है।

यह दर्शन द्वैतवादी मध्व के विपरीत अभिन्ननिमित्तोपादानता को ही प्रस्तुत करता है।

---

1. स्वतन्त्रं परतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते।
स्वतन्त्रो भगवान्विष्णुर्निर्दोषोऽशेषसद्गुणः।। –स.द.सं.पृ. 247.

2. यों तो आश्मरथ्य, भर्तृप्रपञ्च, भास्कर, यादवप्रकाश, रामानुज सभी भेदाभेदवादी हैं पर निम्बार्क का मत रामानुज मत के काफी निकट है। यद्यपि यह निम्बार्क का भेदाभेदवाद रामानुज मत से काफी साम्य प्रस्तुत करता है पर उनमें पर्याप्त भेद भी है–प्रथम तो रामानुज भेद और अभेद दोनों को स्वतन्त्र सत न मानकर भेद विशिष्ट अभेद को ही स्वीकृति देते हैं जिसमें कि अभेदप्रधान है। जबकि निम्बार्क के मत में भेद व अभेद दोनों ही समान रूप से यथार्थ है। निम्बार्क का यह भेदाभेदवाद स्वाभाविक भेदाभेदवाद है जबकि भास्कर द्वारा स्वीकृत भेदाभेदवाद औपाधिक है।

3. निम्बार्क के मत में गुणों का कार्य पदार्थों कोअन्यों से विशिष्ट बताना है पर ब्रह्म के सन्दर्भ में अन्य कोई सत्ता न होने से यह बात सध नहीं पाती अतः ये चित् व अचित् उसके गुण न सिद्ध हो उसके कार्य ही सिद्ध होते हैं। इन्हें ब्रह्म का शरीर भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि तब इनकी अपूर्णताओं से ब्रह्म भी अनुरक्त होगा। साथ ही ब्रह्म के एक पक्ष को शुद्ध व दूसरे को अशुद्ध मानने से विसंगति उत्पन्न होगी। जिसे रामानुज ब्रह्म का शरीर कहते हैं वहीं निम्बार्क के मत में उसकी शक्ति है।

4. वे.कौ.प्र., ब्र.सू.नि.भा, पृ. 346

ब्रह्म जगत् का उपादान व निमित्त[1] दोनों ही कारण है[2]। प्रायः उपादान व निमित्त कारण अलग–अलग होते हैं जैसे कि घटोत्पत्ति में मृत्तिका उपादानकारण व कुम्हार निमित्तकारण है। इस दृष्टि से अक्सर प्रकृति को सारे भौतिक पदार्थों का उपादान कहा जाता है पर निम्बार्क दर्शन में प्रकृति कोई स्वतन्त्र तत्त्व न होकर ब्रेह्म की शक्तिमात्र है[3] फलतः ब्रह्म की ही उपादान कारणता सिद्ध होती है। प्रकृति चित् व अचित् की ही सूक्ष्मावस्था है। इस प्रकार ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व लय के लिये उत्तरदायी है[4]।

यह ब्रह्म कृष्ण[5] है। वह स्वभावतः समस्त दोषों से मुक्त है। उसकी निमित्तता का अभिप्राय है कि वह जीवों के कर्मों के अनुसार ही सृष्टि को उद्विकसित करने के लिये प्रेरित करता है तथा उपादानकारणता से अभिप्राय है कि सारा उद्विकास उसकी चित्–अचित् शक्तियों का ही आभासन है। वह ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है अतः संसारोत्पत्ति हेतु उसे किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं पड़ती वरन् वह तो अपनी इच्छा मात्र से ही संसार की रचना करने में समर्थ है[6]। यहाँ जगत् व ब्रह्म के मध्य भेदाभेद सम्बन्ध को ही स्वीकारा गया है[7] पर यह सम्बन्ध अन्य भेदाभेदवादियों से विशिष्ट है। निम्बार्क के अनुसार कार्य (जगत्) यदि कारण (ब्रह्म) से पूर्ण एकात्म होगा तो कार्य की अपूर्णतायें कारण का भी स्पर्श करेंगी। यदि पूर्णतया भिन्न होगा तो ब्रह्म सर्वव्यापक सर्वनियन्ता नहीं हो सकता। फलतः कार्य व्यतिरिक्ततया स्थित होने से कारण से भिन्न भी है व उस पर आश्रित होने से उससे अभिन्न भी है। यह मत स्वीकरणीय नहीं है कि अभेद मात्र यथार्थ है तथा भेद उपाधि अथवा अवच्छेद के कारण है क्योंकि तब ब्रह्म की उन उपाधियों से सम्पृक्तता होगी और इस से तज्जन्य दोषों से युक्तता की समस्या भी उपस्थित होगी।

ब्रह्म रूप कारण से उद्भूत कार्य चित् व अचित् हैं जिनमें चित् भोक्तृ रूप है तथा अचित् भोग्य रूप। यह अचित् तीन प्रकार का होता है–(क) प्राकृत (प्रकृति से उत्पन्न) (ख) अप्राकृत या शुद्धसत्त्व से निर्मित (ग) काल। ये चित् व अचित् प्रलय व मुक्ति की

---

1. ...निमित्तत्वं नाम कार्योत्पत्त्यनुकूलज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वे सति तद्व्यापाराश्रयत्वं, व्यापाराश्रयत्वं च स्वस्वानादिकर्मसंस्कारवशीभूतात्यन्तसङकुचित भोगानर्हज्ञानशक्तिः धर्मकारणानां चेतनानां कर्मफलभोगार्हज्ञानप्रकाशेन तत्तत्कर्मफलतत्तद्भोगकरणैः सह संयोजयितृत्वम्। वे.कौ.प्र.ब्र.सू.नि.भा. पृ. 350
2. इह खलु सर्वेश्वरः सर्वात्मा सर्वजगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपो भगवान पुरुषोत्तमश्रीवासुदेवः....। वेकौ.,ब्र.सू.नि. भा.भा.1 पृ. 2–3
3. वे.कौ.प्र. ब्र.सू.नि.भा.1 भा.पृ. 347–353
4. परमकारणात्सर्वनियन्तुर्भगवतः श्रीपुरुषोत्तमात् अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य विविधविभक्तभोक्तृसंयुक्तस्य नियतदेशकालफलोपभोगाश्रयस्य तर्कागोचररचनस्य सृष्टिस्थितिलयमोक्षाः प्रवर्तन्ते तद्ब्रह्म..। वे.कौ.,ब्र.सू.नि. भा. भा. 1, पृ0 40–41
5. यह ब्रह्म यहाँ कृष्ण है और उनकी पत्नी राधा है। रामानुज के विष्णु व लक्ष्मी ही यहाँ कृष्ण व राधा हो गये हैं।
6. ब्र.सू.नि.भा.,ब्र.सू. 1/1/19 पर भाष्य।
7. मूर्तामूर्तादिकं विश्वं ब्रह्मणि स्वकारणे भिन्नाभिन्नसम्बन्धेन स्थातुमर्हति, भेदाभेदव्यपदेशाद् हि कुण्डलवत्। वे.पा. सौ.ब्र.सू.नि.भा. पृ. 881–2, वे.कौ. 882–3, पृ. 337, पृ. 339

अवस्था में भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं और ब्रह्म में कभी पूर्णतया विलीन नहीं होते। वरन् प्रलय में अपने पृथक् अस्तित्व को बनाये रखते हुये भी ब्रह्म में अनभिव्यक्ततया विद्यमान रहते हैं तथा पुनः सृष्टि होने पर अभिव्यक्त हो जाते हैं। ब्रह्म की दो अवस्थायें हैं–शुद्ध कारणावस्था व कार्यावस्था[1]। कारणावस्था में वह कार्योत्पत्ति के बिना स्थित रहता है। ऐसी स्थिति प्रलय में ही संभव है पर यहाँ भी वह शांकरवेदान्तवत्, निर्विरोध न होकर सविशेष ही है[2]।

इस प्रकार सृष्टि यहाँ ईश्वर की अपनी इच्छा से उसका चिदचिद् जगत् रूप में आभासन है जबकि प्रलय उनका उसी में सूक्ष्मतया अवस्थान है[3]। प्रलय का अन्त होने पर सर्वज्ञ भगवान बहु स्याम की इच्छा करता हुआ अपने में सूक्ष्म शक्ति रूप में विलीन भोक्तृ एवं भोग्य पदार्थों को विभक्त करके प्रस्तुत करता है[4]। ईश्वर की यह इच्छा उसमें किसी अपूर्णता के लिये उत्तरदायी नहीं है क्योंकि यह उसकी स्वाभाविक क्रीडा की अभिव्यक्ति है अर्थात वह आनन्द से उल्लसित हो क्रीडा करने हेतु ही सारे जगत् का निर्माण करता है[5] पर यह लीला उच्छृंखलता नहीं है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन के विविध कारणतावादों का सम्यक् आलोचन करने पर यह सुस्पष्ट होता है कि यद्यपि यहाँ उपलब्ध दर्शन सम्प्रदायों में कारणता की धारणा का पाश्चात्य दार्शनिकों जैसा सूक्ष्म विश्लेषण करने का प्रयास तो प्रायः नहीं किया गया है पर इसकी स्वीकृति अनिवार्यतया की गयी है क्योंकि नियमित व्यवस्था का श्रेय इसी सिद्धान्त को है। कुछ ही भारतीय दर्शन जैसे न्याय वैशेषिक इस धारणा के सूक्ष्म विश्लेषण का प्रयास करते हैं पर फिर भी कई दृष्टियों से भारतीय दर्शनों में कारणता सम्बन्ध के विषय में स्पष्ट विचार नहीं हुआ है। जैसे कारण कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध की स्वीकृति से उत्पन्न समस्या या एकरूपता व सार्वभौमिकता की समस्या, समान कारणों से समान कार्योत्पत्ति की समस्या, कारण कार्य में नियमित क्रम की समस्या, कारण दशाओं व कारण में भेद की समस्या आदि के सन्दर्भ में विचार यहाँ बहुत कम मिलते हैं। इन सभी समस्याओं के समाधान की चेष्टा किसी मत ने नहीं की है। कोई

---

1. ...अविभक्तनामरूपशक्तिकं स्वसमानातिशयशून्यं कारणावस्थं ब्रह्म कार्यकालेऽभिव्यक्तनामरूपशक्तिमत्तया स्वयमेव भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपेण त्रिधावस्थितं भवतीति, नेह केनचिद्वाक्येन विरोध...। वे कौ. पृ. 631
2. नापि निर्धर्मकं ब्रह्म तस्य ज्ञानक्रियादीनां स्वाभाविकशक्तीनां शास्त्रसिद्धत्वात्...। वे.कौ.प्र. ब्र.सू.नि.भा., भा 1, पृ. 5.
3. (अ) ऐसा करने से ब्रह्म में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। विकारः उपादाने लीयमानः स्वधर्मैरुपादानं दूषयति. ..यथा कटककुण्डलादयो विकारा अपीतिं गच्छन्तः स्वधर्मैः सुवर्णपिण्डं न दूषयन्ति। यथा च पृथिवीविकाराः पृथिव्यां लीयमानः स्वधर्मैः पृथिवीं न दूषयन्ति, तर्हि चेतनाचेतनात्मकमिदं जगत् चिदचिच्छक्तिमति ब्रह्मणि लीयमानं चिदचिच्छक्तिमद्ब्रह्म नैव दूषयति...। –वे.कौ., ब्र.सू. नि.भा., भा 2, पृ. 390

   (ब) कार्यस्य सूक्ष्मरूपेण कारणे स्थितिः प्रलयः तथाभूतस्याभिव्यक्ती करणमात्रं खलु सृष्टिरभिप्रेता। –वही, पृ. 238
4. वही, पृ. 238
5. लोके प्राप्तैश्वर्यस्य सार्वभौमस्य फलसङ्कल्पं विनैव विचित्रमंक्षकन्दुकादिभिर्क्रीडनं लीलामात्रं दृश्यते, तथा ब्रह्मणोऽपि लीलाकैवल्यं, केवलविश्वोत्पादनादिक्रीडामात्रम्...। वही, पृ. 476

दर्शन किसी समस्या की व्याख्या का प्रयास करता है, कोई किसी की। वस्तुतः तो यहाँ कारण में कार्य की सत्ता तथा कारण व्यापार की प्रकृति इन दो मूल तथ्यों पर ही विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया गया है और यहाँ की सारी कारणमीमांसायें इन्हीं दो समस्याओं के इर्द गिर्द घूमती हैं।

कर्मसिद्धान्त

भारतीय दर्शनों में कर्म सिद्धान्त की स्वीकृति प्रायः सर्वसामान्य रूप से ही उपलब्ध होती है, मात्र कुछ नास्तिक दर्शन (चार्वाक) इसके अपवाद रूप हैं। यहाँ इसकी स्वीकृति नैतिक नियमनवाद के सन्दर्भ में की गयी प्राप्त होती है। यद्यपि इसके व्यापक सन्दर्भ में कारणता सिद्धान्त भी अन्तर्भूत होता है, पर विशिष्ट सन्दर्भ मात्र नैतिकता के क्षेत्र में सीमित है। प्रायः सभी दर्शन सम्प्रदायों में यह कर्म सिद्धान्त समष्टिपरक व व्यष्टिपरक दोनों अभिप्रायों में एक नियत व्यवस्था का ही प्रेरक है। साथ ही यह कर्मसिद्धान्त अक्सर कारणता सिद्धान्त के अन्तर्गत निमित्त या सहकारी रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है पर इस कर्मसिद्धान्त की पृष्ठभूमि में एक चेतन नियामक है अथवा इसी का स्वतन्त्र निमित्तत्व है, इस सन्दर्भ में इन विविध दर्शन सम्प्रदायों में मतभेद मिलते हैं।

अब विविध भारतीय दृष्टियों में इस सिद्धान्त का विवेचन द्रष्टव्य है–

(क) **वैदिक साहित्य में कर्म सिद्धान्त**–वैदिक साहित्य में कर्म की सज्ञा ऋत है[1]। पर यह ऋत शब्द यहाँ अधिक व्यापक सन्दर्भ का प्रस्तोता है, यह भौतिक व नैतिक दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं का निर्देशक है[2]। यह सिद्धान्त प्रारम्भ में देवताओं से स्वतन्त्र तथ्य के रूप में प्रतिपादित किया गया जिसका कि पालन देवता करते थे[3] तथा उत्तरकाल में विविध देवता इसके नियन्ता कहे गये[4]। मित्र व वरुण इसके नियन्ता रूप में वर्णित मिलते हैं[5]। इसकी एक विशिष्ट संज्ञा यहाँ व्रत भी उपलब्ध होती है[6]। अथर्ववेद में तो उस समष्टि कर्म की धारणा भी मिलती है जोकि सारे जगत् के उदय का निमित्त है[7]। यहाँ कर्म का अति स्पष्ट विवेचन उपलब्ध होता है[8]।

कर्म के दो पक्ष हैं, एक विश्व सम्बन्धी, दूसरा मनोवैज्ञानिक। प्रत्येक कर्म संसार में

---

1. राजंतमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविं। बर्धमानं स्वे दमे। ऋ.वे. 1/1/8
2. डॉ. राधाकृष्णन तो इसे नैतिक शक्ति के संरक्षण का सिद्धान्त कहते हैं। भा.द.भा.। पृ. 224
3. ऋ.वे. 1/65/3
4. वही, 1/163/5
5. वही, 4/23/9
6. त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसि व्रतं।
विभुर्विश्वस्मै भुवनाय मेधिरो द्विमाता शयुः कतिधा चिदायवे।। वही. 1/31/2
मंद्रो होता गृहपतिरग्ने दूतो विशामसि।
त्वे विश्वा संगतानि व्रता ध्रुवा यानि देवा अकृण्वत।। वही. 1/36/5
7. अ.वे. 2/8/6
8. वही 2/7/17

अनिवार्यतया अपना स्वाभाविक परिणाम छोड़ता है। इसके साथ ही साथ वह मनुष्य के मन पर भी एक संस्कार छोड़ जाता है जो प्रवृत्ति के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार सभी कर्म अपना एक स्थायी प्रभाव छोड़ते हैं जिसका फल तात्कालिक रूप से या कालान्तर में घटित होता है[1]। वैदिक साहित्य में इन दोनों ही पक्षों का विवेचन उपलब्ध है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि एक मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही उत्पन्न होता है[2] तथा दूसरे संसारों में भी उसके अच्छे बुरे कर्मों के अनुसार ही उसे फल मिलता है[3]।

वेदों में उपलब्ध इष्टापूर्त का सिद्धान्त भी इसी कर्मसिद्धान्त का संकेतक है जिसके कि अनुसार एक व्यक्ति द्वारा यज्ञ, दान आदि से अर्जित धर्म उसके लिये परवर्ती सुख को उत्पन्न करते हैं। वस्तुतः तो इस कर्मसिद्धान्त का प्रारम्भ यज्ञ अनुष्ठान के विकास से ही हुआ। यहाँ कर्मसिद्धान्त के उच्छिष्ट पुनर्जन्म के प्रत्यय के भी संकेत मिलते हैं तथा इस सन्दर्भ में स्वर्ग–नरक का भी उल्लेख किया गया है।

यह कर्म का सिद्धान्त कारणता के भौतिक सिद्धान्त का ही नैतिकसन्दर्भीय अंश है।

औपनिषदिक साहित्य में इस कर्म सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन मिलता है पर उपनिषदों में यह वैशिष्ट्य है कि वे इस कर्मबन्धन से मुक्ति की संभावना को भी स्वीकारती हैं। मनुष्य कामनाओं से पूर्ण है। वह जैसी कामना करता है वैसे कर्म करता है और वैसे फल पाता है[4]। वह अच्छे कर्मों को करता है तो अच्छा बनता है, बुरे कर्म करता है तो बुरा, पुण्य कर्म करता है तो पुण्यात्मा तथा पाप कर्म करता है तो पापी बनता है[5]। यहाँ बताया गया है कि वह इस लोक में अपने कर्मफलों को भोगने को बाद अपने कर्मफलों को भोगने के लिये अन्य लोकों में जाता है[6]। इस प्रकार अपने कर्मों का भोग करते हुये जीव कभी विविध लोकों में विचरण करता हुआ पुनः आकर इस संसार में जन्म लेता है (पितृयान)[7] तथा कभी विविध लोकों में विचरण करते हुये जाकर ब्रह्म में लीन हो जाता है (देवयान)[8]। वस्तुतः तो समस्त इच्छायें समाप्त हो जाने पर व्यक्ति ब्रह्म

1. एस. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन भा. 1 पृ.227
2. श.ब्रा. 2/7/17
3. वही, 6/2/2/27
4. ...अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति सुक्रतुं कुर्वीत। छा.उ. 3/4/1
5. ...यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापी भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। बृ.उ. 4/4/5
6. गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा, प्राणधिपः संचरति स्वकर्मभिः।। श्वे.उ. 5/5/7
7. छा.उ. 5/10/3–6
8. वही, 5/10

से एकरूप हो जाता है[1]। जीव स्वयं एक ओर नैतिक व मानसिक प्रवृत्तियों का एकत्व है तथा दूसरी ओर भौतिक तत्त्वों का समग्र है अतः वही कर्मों का स्रोत है। यहाँ सब कुछ काम के कारण बताया गया है। कुछ उपनिषदों में व्यक्ति के तीन जन्मों का भी सिद्धान्त मिलता है–

(क) गर्भ में वीर्य का प्रवेश

(ख) शिशु की उत्पत्ति

(ग) मृत्यु के उपरान्त अन्य कहीं जन्म[2]

इस प्रकार वैदिक साहित्य में इच्छा–स्वातन्त्र्य की स्वीकृति होने से कर्म सिद्धान्त की भी स्पष्ट चर्चा के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। पर यहाँ उत्तरकाल में विकसित इस धारणा की जटिलताओं के संकेत नहीं मिलते। इसकी चर्चा यहाँ जागतिक क्यों तथा वैयक्तिक क्यों दोनों के सन्दर्भ में उपलब्ध होती है। सारा जगत् किसी दिव्य सत्ता का ही कर्म है एवं व्यक्ति को प्राप्त भोग, आयु, शरीर आदि उसके द्वारा कृत कर्मों कीं प्रकृति के ही संकेतक हैं।

(ख) **चार्वाक दर्शन में कर्मसिद्धान्त**–चार्वाक दर्शन प्रायः सभी अनुभवोत्तीर्ण सत्ताओं का निषेध करने के कारण कर्म सिद्धान्त का भी खण्डन करता है। इस सम्प्रदायानुसार न ईश्वर है, न परलोक है, न आत्मा जैसा कोई स्वतन्त्र पदार्थ है जो कि संसरण का विषय बनता है[3]। इस मतानुसार यदि कोई ईश्वर जैसा तत्त्व हमारे अच्छे बुरे कर्मों का अधीक्षक है तो वह पक्षपात व क्रूरता का ही पात्र होगा क्योंकि जगत् में उपलब्ध वैषम्य का कारण वही होगा। अतः आत्मा जैसे किसी स्थायी तत्त्व को न मानने से व परलोक की सत्ता न स्वीकारने से कर्म सिद्धान्त का स्वतः तिरस्कार हो जाता है। यहाँ सारी व्यवस्था का एकमात्र कारण पदार्थों का स्वभाव ही है[4]।

जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त–जैन दर्शन में अन्य सम्प्रदायों की भाँति ही जागतिक वैषम्य की व्याख्या हेतु कर्म सिद्धान्त[5] को स्वीकृत किया गया है पर जहाँ कुछ

---

1. तदेष श्लोको भवति। तदेष सक्तः सह कर्मणेति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आप्तकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। बृ.उ. 4/4/6
2. ऐ.उ. 2/1/1–4
3. न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
   नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः।। स.द.सं., पृ. 22
4. नित्यसत्त्वा भवन्त्येके नित्यासत्त्वाश्च केचन।
   विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः।।
   वह्निरुष्णो जलं शीतंसमस्पर्शस्तथाऽनिलः।
   केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः।।
   मानमेयरहस्यलोकवार्तिक पृ. 16
5. यही कर्म अन्य सम्प्रदायों में 'अदृष्ट', 'वासना', 'शक्ति', 'पाश' आदि संज्ञाओं से कथित है।

सम्प्रदाय इस सन्दर्भ में एक चेतन नियन्ता को भी स्वीकारते हैं वहीं यह दर्शन इस सिद्धान्त को अकेले ही सारे संसार की व्याख्या में समर्थ बताता है। यहाँ यह सिद्धान्त स्वत: सक्रिय होता है, किसी चेतन ईश्वर के निर्देशन में कार्य नहीं करता। इस कर्म शब्द की व्याख्या भी यहाँ अन्य दर्शनों से भिन्न है। इसे यहाँ भौतिक स्वभाव का या पौद्गलिक कहा गयाहै। अत: पदार्थ (matter) के सूक्ष्मतम रूप में इसकी व्याख्या की गयी है। यद्यपि अन्य दर्शनों की तरह जीव द्वारा कृत कर्मों के संस्कार ही यहाँ भी कर्मसिद्धान्त में चर्चित कर्म का निर्माण करते हैं पर वह कर्म भौतिक स्वभाव का ही है। यह कर्म ही आत्मा व पदार्थ (matter) के मध्य की कड़ी है और संसार की अवधि पर्यन्त स्थित रहता है। यह कर्म आत्मा का गुण नहीं है क्योंकि वह आत्मा के बन्धन का कारण है[1]। साथ ही इसका आत्मा से संयोग मात्र भी सारे संसार की रचना का कारण नहीं हो सकता अत: जैन दृष्टि में आत्मा से कर्म दूध में जल की तरह एकात्म होकर ही उसके बन्धन का कारण बनता है।

यह कर्म यहाँ द्विविध बताया गया है–(1) द्रव्य कर्म, (2) भाव कर्म[2]। इनमें से प्रथम सूक्ष्म अणुओं से निर्मित है। इसी के द्वारा कर्म शरीर का निर्माण होता है। दूसरा भावकर्म उन अशुद्ध मानसिक स्थितियों का वाचक है जिनके कारण द्रव्य कर्म आत्मा की ओर आकृष्ट होकर उसके लिये कर्म शरीर[3] का निर्माण करता है। यह भावकर्म कर्मशरीर के निर्माण की पूर्व दशा है। इनमें से प्रथम को आवरण और दूसरे को दोष भी कहते हैं[4]। ये दोष ही आवरण के लिये उत्तरदायी हैं। इन दोनों में कारण–कार्य का सम्बन्ध है। जीव की बद्धता की प्रक्रिया को इस प्रकार भी बता सकते हैं कि अज्ञान के कारण आत्मा में कषाय (passions) व योग[5] (मन व शरीर की क्रियायें) उत्पन्न होते हैं जिनसे कि कर्म का प्रवाह आत्मा की ओर होने लगता है फलत: कर्म शरीर का निर्माण होता है और इसी कर्म शरीर के आधार पर स्थूल शरीर की रचना होती है[6]। इस प्रकार कर्म की आत्मा में स्थिति और उसकी विविध

---

1. प्र.क.मा.पृ. 243.
2. (अ) ...तत् कर्म द्विविधं भवति द्रव्यकर्मभावकर्मभेदात्। तत्र द्रव्यकर्म पुद्गलपिण्डो भवति। तस्य पुद्गलपिण्डस्य या शक्ति: रागद्वेषादयुत्पादिका रागद्वेषपरिणामो वा भावकर्म भवति। कर्मप्रकृति पृ. 7

   (आ) जहाँ सांख्योग और वेदान्त केवल भौतिक कर्म (द्रव्य कर्म) की ही सत्ता स्वीकारते हैं वहीं बौद्ध केवल मानसिक कर्म (भाव कर्म) स्वोकारते हैं पर जैन मत इन दोनों को ही स्वीकारता है। इसी प्रकार सांख्ययोग कर्म के द्वारा केवल प्रकृति का बन्धन मानता है जबकि बौद्ध मत मात्र चेतना का ही बन्धन मानता है जबकि जैन मत पदार्थ व आत्मा दोनों का ही बन्धन मानता है।
3. सांख्य योग में स्वीकृत सूक्ष्म शरीर, का इससे पर्याप्त साम्य है।
4. आप्तमीमांसा पर अष्टसाहस्री टीका पृ. 50–51
5. यह योग शब्द यहाँ योग के प्रचलित अर्थों से भिन्न अभिप्राय में प्रयुक्त है। इस योग का अभिप्राय है–मन, वाणी व शरीर के अंगों की गति।
6. जीवस्य भावाश्रवो...कषायादि:...स च कर्मबन्धानुसारतोऽनेकप्रकारो कर्मपुनर्नृणाम् अनेकप्रकारं कषायविशेषाद् भावकर्मण,इति हेतुफलव्यवस्था। परम्पराश्रयान् न तद्व्यवस्थेति चेन्न बीजाङ्कुरवद् अनादित्वात् कार्यकारणभावस्य, तत्र सर्वेषां संप्रतिपत्तेश्च । विद्यानन्दस्वामिन्, त.श्लो.वा.पृ. 447

प्रकार की तीव्रता आदि के निर्धारक आत्मा के ये ही कषाय[1] है। आत्मा में कर्म के इस प्रवेश को जैन शब्दावली में आश्रव कहते हैं। ये आश्रव कर्म के द्विविध विभाजन के अनुरूप ही द्विविध है–भावाश्रव तथा कर्माश्रव।

यद्यपि आत्मा कषायों व योग दोनों के कारण कर्म पदार्थ से जुड़ती है पर जहाँ कषाय उस बन्धन की अवधि व तीव्रता को निर्धारित करते हैं, योग उसके स्थान व स्वभाव को नियमित करता है[2]। पर कषाय केवल अशुभ कर्मों के ही बन्धन को निर्धारित करते हैं, शुभ कर्मों के नहीं। उनका निर्धारण तो आत्मा की शुद्धता–अशुद्धता की मात्रा के आधार पर होता है[3]।

आवरण के विविध ढंगों के आधार पर ही इन कर्मों को आठ वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

(क) ज्ञानावरणीय कर्म–अनन्त ज्ञान को ढँकने वाले कर्म[4]

(ख) दर्शनावरणीय कर्म–अनन्त दर्शन को ढ़ंकने वाले कर्म[5]

(ग) वेदनीय कर्म – जागतिक सुख दु:खादि अनुभूतियों के जनक कर्म[6]

(घ) मोहनीय कर्म – व्यावहारिक व पारमार्थिक मोह के जनक कर्म[7]

(ङ) आयुष्क कर्म – आयु की अवधि के निर्धारक कर्म[8]

(च) नाम कर्म – शरीर के प्रकार के निर्धारक कर्म[9]

(छ) गोत्र कर्म–वर्ण, जाति आदि के निर्धारक कर्म[10]

---

1. उष्मणगुण: सन् दीप: स्नेह वर्त्या यथा समाधत्ते
आदाय शरीरतया परिणामयति चापि तं स्नेहम्।
तदवद् रागादिगुण: स्वयोग–वर्त्यात्मदीपादत्ते
स्कन्धान् आदाय तथा परिणमयति तांश्च कर्मतया।। सिद्धसेनगनिन् त.सू.भा.टी..भा.।पृ. 243.

2. (अ) योगो वीर्यम् शक्तिरुत्साह: पराक्रम इति पर्याय:, तस्माद् योगात् प्रकरणम् प्रकृति: कर्मणां ज्ञानावरणादिस्वभाव: प्रकृष्ट पुद्गलास्तिकाये देश: प्रदेश: कर्मवर्गणान्त पातिन: कर्मस्कन्ध:, प्रकृतयश्च प्रदेशाश्च प्रकृतिप्रदेशं समाहारो द्वन्द्व तद् जीव: करोति इति शेष:, प्रकृतिप्रदेश बन्धयोर्योग हेतुस्त्यिर्थ:। कर्मग्रंथ भा.2 पृ. 121.
(ब) यद्यपि षडशीटीकाशास्त्रे मिथ्यात्वविरतिकषाययोग: सामान्येन कर्मणो बन्धहेतव: उक्तास्तथाप्याद्यकारणत्रयाभावेऽप्युपशान्तमोहादि गुणस्थानकेषु केवलयौगसद्भावे वेदनीयलक्षणा प्रकृतिस्तत्प्रदेशाश्च बध्यन्ते अयोग्यवस्थायां तु योगाभावे न बध्यन्त इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते प्रकृतिप्रदेशबन्धयोर्योग एव प्रधानं कारणम्।–वही, पृ. 121

3. वही पृ 51.
4. वही पृ 27
5. वही, पृ 47
6. वही, पृ 14
7. वही, पृ 55
8. वही, पृ 11
9. वही, पृ 12
10. वही, पृ 13

(ज) अन्तराय कर्म–अन्य कार्यों व भोगों में बाधा पहुँचाने वाले कर्म

इन आठ वर्गों के भी कई उपवर्ग हैं। ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार के हैं क्योंकि जैन दृष्टि में ज्ञान पाँच प्रकार का है। दर्शनावरणीय कर्म नौ प्रकार के हैं–चक्षुर्दर्शनावरणीय, अचक्षुर्दर्शनावरणीय अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रागत[1], निद्रानिद्रागत[2], प्रचलागत[3], प्रचलाप्रचलागत[4], स्त्यानगृद्धिगत[5]। वेदनीय कर्म दो प्रकार के हैं–सद्वेद्य व असद्वेद्य। मोहनीय कर्म को पहले दो उपवर्गों में बाँट सकते है–दर्शनमोहनीय व चरित्रमोहनीय। इनमें से प्रथम के पुनः तीन उपवर्ग मिलते हैं–(क) मिथ्यात्ववेदनीय (ख) सम्यकत्व वेदनीय (ग) मिश्रित। द्वितीय वर्ग के भी दो उपवर्ग मिलते हैं–(क) कषायवेदनीय (ख) न–कषायवेदनीय। इनमें से प्रथम उपवर्ग सोलह कषायों को उत्पन्न करता है। द्वितीय उपवर्ग भी नौ प्रकार का है। आयुष्क कर्म चार प्रकार के हैं जिनसे विविध योनियों में जीवन की अवधि का निर्धारण होताहै। नाम कर्म के असंख्य उपवर्ग हैं जो विविध योनियों की प्राप्ति के लिये उत्तरदायी हैं[6]। गोत्र कर्म एक जीव की उच्च या निम्न स्थिति का निर्धारण करते है[7]। अन्तराय कर्मों के भी पाँच उपवर्ग हैं[8]। इन कर्मों की चार अवस्थायें हैं–(1) औदयिक (2) औपशमिक (3) क्षयिक (4) मिश्रित[9]। इनमें से औदयिक स्थिति में तो कर्म घटित होता है और उसका फल प्राप्त हो जाता है। औपशमिक स्थिति में कर्मों के स्थित रहने पर भी पर्याप्त प्रयास से उन्हें फलित होने से रोक दिया जाता है। क्षयिक स्थिति में कर्मों को पूर्णतया नष्ट कर दिया जाता है तथा मिश्रित अवस्था में इन उपरोक्त तीनों स्थितियों की स्थिति प्राप्त होती है अर्थात् कुछ कर्म सक्रिय रहते हैं, कुछ उपशमित तथा कुछ क्षीण।

इन कमों से उत्पन्न बन्धन दो तरह का है–पाप व पुण्य। ये कर्म एक अन्य तरह से चार प्रकार से भी बन्धन उत्पन्न करते हैं–प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश। प्रथम में कर्म का स्वभाव निर्धारित होता है। इसमें आठ तरह के कर्म आते हैं। द्वितीय में आत्मा के कर्म के स्थितिकाल का निर्धारण होता है। तृतीय में कर्म की तीव्रता का निर्धारण होता है व चौथे में वह कर्म शरीर के किस भाग से सम्बन्धित है, इसका निर्धारण होता है। इन कर्मों के आधार पर उत्पन्न फल लेश्य कहलाते

---

1. स्वापो निद्रा सुखप्रतिबोधलक्षणा। त.सू.भा.टी., भा. 2 पृ. 134
2. दुःखप्रतिबोधल क्षणा निद्रानिद्रा। वही, पृ. 135
3. ऊर्ध्वशयनलक्षणप्रचला। वही
4. चक्रमणम् आचरतः शयनं प्रचलाप्रचला। वही
5. मानवेतर क्रियाओं से युक्त निद्रा। द्र कर्म ग्रंथ, भा. 1, पृ. 12
6. त.सू.भा. 8/12
7. वही, 8/13
8. वही 8/14 इन कर्मों के प्रकृति भेद से 148 प्रकार भी हो सकते है। क.प्र. पृ. 7
9. पञ्चास्तिकायसार, 62

हैं[1]। भावकर्म से उत्पन्न फल–भावलेश्य हैं तथा द्रव्य कर्म से उत्पन्न फल द्रव्यलेश्य हैं। प्रत्येक कर्म फलित होने के बाद नष्ट हो जाता है।

इन विविध कर्मों का स्थिति काल काफी वर्षों का हो सकता है। इन कर्मों में से कुछ पूर्णतः आवरक हैं व कुछ अंशतः तथा कुछ ऐसे कर्म भी हैं जो आत्मा के किसी मूलभूत वैशिष्ट्य को आवरित नहीं करते, मात्र वे आवरक से प्रतीत होते हैं। कर्मों को शुभ व अशुभ इन दो वर्गों में भी बाँट सकते हैं। व्यक्ति निरन्तर क्रिया करता रहता है अतःउसकी असंख्य क्रियायें उसके लिये विविध बन्धनों को उत्पन्न करती हैं पर उनके व्यवस्थित अध्ययन के लिये उन्हें विविध वर्गों में विभक्त करते हैं। उसके शुभ कर्म भी वैसे ही बन्धन उत्पन्न करते हैं जैसे अशुभ कर्म। अतः मोक्ष में सभी कर्मों का नाश होकर मात्र शुद्ध आत्मा की ही स्थिति रह जाती है।

अन्य दर्शनों की तरह यहाँ भी कर्म की तीन तरह की स्थिति मानी गयी है–

(1) बध्यमान (क्रिया कर्म)

(2) अबाधा (बिना फल उत्पन्न किये हुए स्थित

(3) उदय (फलीभूत होते हुये कर्म)[2]।

इन कर्मों को रोकना जैन शब्दावली में संवार व निर्जार की शब्दावली में प्रस्तुत किया जाता है। संवार का अभिप्राय है नवीन कर्मों को घटने से रोकना तथा निर्जार है पुराने कर्मों का नाश। इन दोनों ही कोटियों के दो–दो उपवर्ग हैं–भाव संवार तथा द्रव्य संवार और भावनिर्जार एवं द्रव्य निर्जार। भावनिर्जार में आत्मा के कषायों का नाश किया जाता है जिससे कर्म नष्ट हो जाता है और द्रव्यनिर्जार में उस कर्म का भोग करके या तप द्वारा उनका समय से पूर्व शमन करके विनाश किया जाता है। इसे पारिभाषिक शब्दावली में सविपाक निर्जार तथा अविपाक निर्जार भी कहते हैं। जब सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार ये कर्मजन्य बन्धन जब तप व आत्मानुशासन द्वारा नष्ट हो जाते हैं-तब जीव की अनन्तता वापस आ जाती है। जिन स्तरों से गुजर कर आत्मा का शुद्धीकरण होता है वे चौदह हैं जिनमें कि प्रथम तीन अवस्थायें जैन मत में निष्ठा के विकास, अगली पाँच समस्त रागादि पर नियंत्रण, अगली चार योग के अभ्यास तथा सारे कर्मों के क्षय, तेरहवीं सारे कर्मों से मुक्ति और चौदहवीं मोक्ष प्राप्ति को बताती है। अब वह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द व अनन्त वीर्य से

---

1. लिश्यन्ते इति लेश्यः, मनोयोगावष्टम्भजनितपरिणामः...अनेकत्वेऽपि परिणामस्यपरिस्थूरकतिपयभेदकथनम् एव सुज्ञानत्वात् क्रियते, न त्वशेषपरिणाम्भेदाख्यानम् अशक्यत्वात्...त.सू.भा.टी भा. 2 पृ. 7.
2. जैन सम्मत.कर्म की ये तीन स्थितियाँ अन्य भारतीय दर्शनों में स्वीकृत संचित, संचीयमान व प्रारब्ध कर्मों जैसी हैं। अबाधा काल वाले कर्म संचित कर्मों की कोटि में आते है तथा उदय की स्थिति वाले कर्म पारब्ध कर्म की कोटि में एवं बध्यमान क्रियमाण की कोटि मे आते हैं। नथमल टॉटिया, स्टडीज इन जैन फिलॉसफी. पृ. 260

युक्त हो जाता है और जब देह का बन्धन समाप्त हो जाता है तब वह लोकाकाश के भी ऊपर पहुँच कर वहाँ सदैव के लिये स्थित हो जाता है। इस मुक्तावस्था को यहाँ की पारिभाषिक शब्दावली में अहर्तत्व कहते हैं। ऐसा जीव ईश्वर है जिससे प्रेरणा लेकर अन्य संसारी जीव बन्धन से मुक्ति का प्रयास करते हैं।

बौद्ध मत में कर्म सिद्धान्त—अनात्मवादी होते हुये भी बौद्ध दर्शन जागतिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिये कर्मसिद्धान्त को स्वीकृत करता है। हाँ, अनात्मवाद व क्षणिकवाद की मान्यताओं के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या यहाँ अवश्य भिन्न हो जाती है[1]। यहाँ पुनर्जन्म की धारणा भी प्रतिपादित है, पर इन सभी की पृष्ठभूमि में किसी स्थिर जीवात्मा या विश्वात्मा का स्पष्टतः निषेध किया गया है।

बौद्ध दर्शन में स्वीकृत कर्मसिद्धान्त यहाँ की प्रतीत्यसमुत्पाद की धारणा का ही अंग है। प्रतीत्यसमुत्पाद का विशिष्ट रूप जो बारह निदानों के चक्र की व्याख्या करता है, ही इस कर्म–सिद्धान्त की प्रकल्पना को प्रस्तुत करता है और तदनुरूप पुनर्जन्म की धारणा का पोषक है। यह कर्म सिद्धान्त भी यहाँ क्षणिकवाद व नैरात्म्यवाद के अनुरूप ही पोषित है। यहाँ आत्मा[2] की व्याख्या एक स्थिर एकत्व के रूप में न की जाकर एक प्रवाह रूप में ही की गयी है। यह प्रवाह विविध बौद्ध सम्प्रदायों की मान्यताओं के अनुरूप कहीं विज्ञानसन्तानों का है, व कहीं क्षणों का। जैसे भौतिक जगत् में अनन्तक्षणों के प्रवाह में भ्रान्तिवश एक एकत्व का बोध होता है वैसे ही यहाँ भी उस विज्ञान प्रवाह में भ्रान्तिवश एक स्थिरता का बोध होता है। अतः जीव जो कि पाँच स्कन्धों का समग्र है, अपने द्वारा कृत कर्मों के संस्कारों को भी अपने में सञ्चित करता चलता है। उसके निर्माता तथ्यों में संस्कार स्कन्ध इसी स्थिति का प्रतिपादक है और उसी के अनुसार इस जन्म व अगले जन्मों में वह फलों को प्राप्त करता है। पर इस सन्दंर्भ में इस मत पर आक्षेप किया जाता है कि कर्म को अनिवार्यतया एक स्थिर आधार चाहिये पर जब यहाँ हर चीज प्रतिक्षण

---

1. यह कर्म सिद्धान्त की स्वीकृति ही औपनिषदिक धारा से इसका साम्य है पर जहाँ उपनिषद् इन कर्मों की पृष्ठभूमि में एक कर्ता व स्थिर आधार को भी स्वीकारते हैं वहीं बौद्ध उसे नहीं स्वीकारते। इसी कारण इस दर्शन पर आक्षेप किया जाता है कि बिना एक स्थायी आधार के कर्म सिद्धान्त व पुनर्जन्म की धारणा का प्रतिपादन संभव नहीं है।
2. साधारणतया अस्थायी संवेदनाओं व विचारों का एक अपरिवर्तित आधार आत्मा स्वीकृत किया जाता है जबकि यह सम्प्रदाय इस रूप मे आत्मा को नही मानता। यहाँ संवेदनायें और विचार उस शारीरिक आकार, जिससे कि वह सम्बद्ध है, के साथ स्वयं ही आत्मा है। आत्मा उनसे भिन्न कोई स्थायी सत्ता नहीं है। यह एक संघातमात्र है। इसको अक्सर नामरूप भी कहा जाता है। पर यह नामरूप संज्ञा में एक होने पर भी उपनिषद् के नामरूप से भिन्न है। नाम यहाँ मानसिक संघात का नाम है व रूप भौतिक संघात का। इस प्रकार मनुष्य एक मानसिक–भौतिक प्राणी सिद्ध होता है। यह नाम यहाँ चार स्कन्धो–विज्ञान स्कन्ध, वेदना स्कन्ध, संज्ञा स्कन्ध व संस्कार स्कन्ध–का समग्र है। रूप में केवल रूपस्कन्ध आता है। इनमें से संस्कार स्कन्ध ही कर्मसिद्धान्त की स्वीकृति को संभव बनाता है।

परिवर्तनशील है तो कर्मसिद्धान्त का सम्यक् प्रतिपादन कैसे संभव होगा। तब तो कर्म कोई करेगा व फल किसी और को मिलेगा[1]। पर बौद्ध दर्शन का मत है कि वस्तुतः इससे कोई समस्या नहीं उत्पन्न होती क्योंकि जब कर्ता के बिना क्रिया हो सकती है तो बिना पुनर्जन्म के कर्ता के पुनर्जन्म भी हो सकता है। इस सम्प्रदाय में अन्य भारतीय दर्शनों के अनुरूप आवागमन या पुनर्जन्म मात्र इस जन्म के अन्त में ही नहीं होता वरन् प्रतिक्षण होता रहता है। अतः जैसे एक जीव से सम्बद्ध कर्म एक जीवन में एक धारा की विविध सन्तानों में एक से दूसरे में प्रवाहित होते रहते हैं, वैसे ही यह प्रक्रिया एक शरीर के नष्ट हो जाने पर दूसरे शरीर की प्राप्ति होने पर भी संभव होगी। यहाँ यह शंका संभव है कि जब वह व्यक्ति उन कर्मसंस्कारों को प्राप्त करता नहीं है क्योंकि वह तो पूर्वव्यक्ति से भिन्न है तो वह कैसे तदनुरूप फल प्राप्त करेगा। तब तो कृतप्रणाश व अकृताभ्युपगम की समस्यायें उत्पन्न होंगी। पर सच तो यह है कि वस्तुतः यहाँ एकता की व्याख्या तादात्म्य रूप में न करके निरन्तरता रूप में की गयी है। यहाँ कोई भी पूर्ववर्ती कड़ी अपने गुणों को उत्तरवर्ती में संक्रमित कर ही नष्ट होती है। अतः एक विज्ञान की धारा में प्रतिक्षण वे कर्मसंस्कार एक क्षण से दूसरे क्षण में संक्रमित होते हुये जीवन के अन्तिम क्षण के द्वारा नवीन जीवन के क्षण में संक्रमित हो जाते हैं। यद्यपि व्यक्ति के शरीर का आकार वहाँ बदल जाता है पर विज्ञान की धारा वही है जो पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के संस्कारों को धारण किये हुये है[2]। इस प्रकार कर्मफल व्यवस्था स्थापित हो जाती है[3]।

इस प्रकार यद्यपि यहाँ की क्षणिकवादी दृष्टि के अनुसार एक व्यक्ति जिसने कर्म किया है, कर्मों का भोक्ता नहीं है पर नामरूप की उसी धारा का अगला कोई क्षण ही उनका भोक्ता है। कर्म भी कोई स्थिर प्रत्यय नहीं है। उसके संस्कारों की धारा भी निरन्तर प्रवाहित होती रहती है जिसकी प्रत्येक सन्तान वही तो नहीं है पर उस जैसी अवश्य है क्योंकि एकता यहाँ तादात्म्य नहीं है, वरन् सदृशता है और इसी मान्यता के साथ ही यहाँ कर्मसिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है। इस प्रकार हम जो कुछ करते हैं वह बिना अपना संस्कार छोड़े समाप्त नहीं होता और उसके अच्छे बुरे

1. शान्तरक्षित, त. सं. का. 476–479.
2. यह भी कहा जाता है कि जैसे एक मोमबत्ती से दूसरी मोमबत्ती जलती है वैसे ही एक जीवन से दूसरा जीवन शुरू हो जाता है। जैसे बुझी मोमबत्ती दूसरी मोमबत्ती नहीं जला सकती वैसे ही जन्मोत्पत्ति के कारणों के सुप्त हो जाने पर स्कन्धों का नवीन समग्र बनना रुक जाता है। विज्ञानवाद में आलयविज्ञान को इस कर्म सिद्धान्त के आधार रूप में बताया गया है। यह आलयविज्ञान यहाँ तीन रूपों मे क्रियाशील होता है–
(क) चित्त रूप में–यह अपने में सभी कर्म संस्कारों को सञ्चित करता है।
(ख) मनस् रूप में–यह उनको सम्मिश्रित करता है।
(ग) विज्ञान रूप में–यह पाँच प्रकार के प्रत्यक्ष सम्पादित करता है।
3. त.सं. 504, 537–539.

परिणाम अवश्य निकलते हैं जिनको कि उसके कर्ता को अनिवार्यतया भोगना पड़ता है[1]। इस प्रकार यहाँ भी हमारे भूत कर्म वर्तमान जीवन को तथा वर्तमान कर्म भावी जीवन को निर्धारित करते हैं। अज्ञान कर्म को निर्धारित करता है व कर्म अज्ञान को।

बुद्ध ने इस सिद्धान्त को किसी अतिप्राकृतिक हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रूप में वर्णित किया है। उनके अनुसार इस दृश्यमान जगत् की व्याख्या के लिये किसी परमेश्वर की आवश्यकता नहीं है। मात्र कर्म का सिद्धान्त ही इसकी व्याख्या में पर्याप्त है। इस विश्व व्यवस्था में एक उच्चसत्ता की स्थिति का संकेत तो मिलता है पर वह तर्कसाध्य नहीं है। नैतिक नियम किसी विशिष्ट मस्तिष्क का आकस्मिक आविष्कार नहीं है और न ही किसी ऐसी ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा प्राप्त रूढ़ि है जिसकी सत्ता संशयित है अपितु वह तो वस्तुओं की यथार्थता की अभिव्यक्ति मात्र है[2]। प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या में किसी अलौकिक सत्ता का प्रवेश उपयुक्त नहीं है। अतः यह स्वतः चालित सिद्धान्त है जिसे किसी कर्ता या नियन्ता की अपेक्षा नहीं है।[3] यह वैदिक ऋत और ब्राह्मण धर्मों की मन्त्रशक्ति और अपूर्व की भाँति स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार करता है[4]। उसे एक अविनाशी, आदेशक मस्तिष्क के विनियोजन की आवश्यकता नहीं होती।

पर यह कारणात्मक नियम मात्र बाह्य नहीं है वरन् आन्तरिक भी है। अतः मनुष्य वही नहीं है जो कि पूर्ववर्ती मानसिक दशाओं ने उसे बनाया है वरन् वह अपने वर्तमान विचारों और इच्छाओं को उचित ढंग से नियंत्रित करके जो चाहे वह बन सकता है।

यह संसार का चक्र कर्म की ही शक्ति का परिणाम है[5] और कर्म का कारण अज्ञान है[6]। व्यक्तित्व अविद्या व कर्म की ही उपज है। अज्ञान के कारण जीव कर्म करता है जिनके कि संस्कार एकत्र होते जाते हैं और उनके कारण वर्तमान जीवन

---

1. बुद्धघोष के कुछ पूर्व पिटकों के संग्रह के पश्चात् पाँच प्रकार की व्यवस्थायें बनायी गयीं जिनमें कम्मनियम एक है। यह कम्मनियम यह बताता है कि अच्छे बुरे कर्मों का परिणाम क्रमशः अच्छा व बुरा होता है। यह कम्मनियम कार्य के क्रम व परिणाम पर बल देता है।–तु.की., स. राधाकृष्णन, भा.द., भा. 1 पृ. 344.
2. वही पृ. 328.
3. परम्परावादी हिन्दू दर्शनों में कर्मों का फल एक दैवी शक्ति का कार्य है, जैन दर्शन इसे सूक्ष्म पदार्थ (subtle matter) कहता है जो कि आत्मा को उसकी उच्चता से उतारकर निम्न स्तर तक लाता है पर बुद्ध के अनुसार कर्म एक निर्वैयक्तिक नियम (impersonal law) है जो कि नैतिकता के क्षेत्र में अपने स्वभावानुसार स्वयं क्रियाशील होता है।
4. एच.डी. भट्टाचार्य, बुद्धिस्ट फिलॉसफी, हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, भा 1 पृ. 160–161.
5. कर्मजं लोकवैचित्र्यम्। अ.को. 4
6. यह अज्ञान जो कि सम्पूर्ण धारा (भवचक्र) का कारण है वह यहाँ चार आर्यसत्यों का ही अज्ञान है। यह यहाँ मायावत् जागतिक भ्रम नहीं है, व न जीव एवं ब्रह्म मे तादात्म्य न अनुभव कर सकने की असफलता है और न शून्य के फलक पर मन द्वारा सृजित जगत् का भ्रामक प्रक्षेपण है।

प्राप्त होता है[1]। भूत व वर्तमान जीवन के मध्य की कड़ी है दूसरा जीवन पाने की अस्पष्ट चेतना। यह वर्तमान जीवन उसके पूर्वजन्म के संस्कारों पर आधारित है। उसी के आधार पर उसे नाम (मानसिक स्थितियाँ) व रूप (शारीरिक स्थितियाँ) प्राप्त होता है। अब वह इन्द्रियों द्वारा भोग्य विषयों के सम्पर्क में आता है। फलतः सुखात्मक–दुःखात्मक अनुभूतियाँ उसे प्राप्त होती हैं और तब सुखात्मक पदार्थों के लिये तृष्णा उत्पन्न होती है और तब उससे राग उत्पन्न होता है। इस राग द्वारा प्रेरित कर्मों से उत्पन्न पाप–पुण्य के संचय से पुनर्जन्म की पुनः नवीन इच्छा उद्भूत होती है जो कि नये जन्म के लिये उत्तरदायी है[2]। अक्सर यह भी विचार मिलता है कि मृत्यु के समय के मनुष्य के विचार उसके अगले जन्म के स्वभाव का निर्धारण करते हैं। इस जन्म का विज्ञान भी पूर्वजन्म के विज्ञान से उत्पन्न होता है। मनुष्य की मृत्यु होने पर उसके पूर्वजन्म के फलरूप विज्ञान और अन्य विज्ञान उस माँ के गर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं जिसमें कि अगले स्कन्धों को परिपक्व होना है। यह विज्ञान इस प्रकार नवीन जीवन का सिद्धान्त है। इसी विज्ञान में नवीन नाम व रूप जुड़ जाते हैं। यह विज्ञान संस्कार की ही उपज है। यद्यपि मृत्यु व नवीन शरीर–प्राप्ति समकालिक नहीं है पर यह अगले ही क्षण घटित होता है। पूर्वजन्म की अविद्या व संस्कार इस जन्म के विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान व भव[3] को उत्पन्न करते हैं और यह भव अगले जन्म की जाति व जरामरण का निर्धारण करता है[4]।

यहाँ किसी भी कर्म के तीन पहलू स्वीकारे गये हैं–

---

1. बौद्ध मत में तो कर्मसिद्धान्त की ही पारिभाषिक संज्ञा संस्कार है। व्यक्तित्व निर्माण में इसके महत्त्व को इसे एक स्वतन्त्र स्कन्ध रूप में स्वीकार कर माना गया है।
2. यह कर्मसिद्धान्त या नैतिक कार्यकारणभाव यही बताता है कि इच्छा शक्ति ही समस्त आवागमन का मूल है।
3. यह भव अन्य दर्शनों के धर्माधर्म, अपूर्व, अदृष्ट आदि जैसा ही है। इसे संस्कार संचय भी कह सकते हैं। इसी के द्वारा प्राप्य भोगों की प्रकृति व अवधि का निर्धारण होता है।
4. (क) बारह वर्गों के चक्र में भव उसी कर्म का सूचक है जिसके कि द्वारा पुनर्जन्म घटित होता है। यहाँ भी उपनिषदों वाला तथ्य प्रमाणित होता है कि यत् कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते। चन्द्रकीर्ति भव का अर्थ कर्म लेते हैं। जैसा उपादान होता है वैसा भव है और जैसी तृष्णा होती है वैसा उपादान जाति जरामरण का कारण है जाति है पाँच स्कन्धों के समग्र की प्राप्ति। भव से जाति का निर्धारण होता है। उपादान एक विकसित तृष्णा है जो कि राग को उत्पन्न करती है।

   (ख) पूर्व जन्म का विज्ञान पाँच स्कन्ध रूप क्षणिक सत्ताओं के प्रवाह रूप में प्रवाहित होते हुये कर्म व राग (सत्कार) के द्वारा संस्कृत होकर गर्भ में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार उपयुक्त कर्म व संस्कार से परिपक्व होकर इन अवस्थाओं की सन्तति एक जन्म से दूसरे जन्म में प्रवाहित होती रहती है। वस्तुत: तो यह सतत प्रवाहमान जीवन का चक्र ही यहाँ प्रतीत्य समुत्पाद की शब्दावली में व्यक्त किया गया है जिसको तीन उपवर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं–

   (क) पूर्वजन्म से सम्बद्ध–अविद्या व संस्कार।

   (ख) वर्तमान जीवन से सम्बद्ध–विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा तथा उपादान।

   (ग) भविष्य जीवन से सम्बद्ध–भव, जाति, जरा मरण। (द्रष्टव्य, राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भा. 1, पृ. 378 पा.टि. 31)

(क) ऐच्छिक तैयारी जिसे संकल्प या प्रवृत्ति भी कहते हैं।

(ख) कर्म का अपना रूप

(ग) खेद अथवा हर्ष की अनुभूति जो कि कर्म के बाद उत्पन्न होती है[1]।

यहाँ भी प्रत्येक चयन व प्रत्येक कर्म का एक वास्तविक महत्त्व स्वीकारा गया है जो काल की दृष्टि से अस्थायी अवश्य है पर अपनी विशेषता के कारण स्थायी है। कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका फल तुरन्त या इसी जन्म में मिलता है व कुछ ऐसे हैं जिनका फल कालान्तर या अगले जन्म में मिलता है।

इन कर्मों का विविध प्रकार से विभाजन किया जाता है जैसे इन्हें बौद्धिक, मानसिक अथवा चेतन व चैतसिक आदि वर्गों में वर्गीकृत करते हैं। बुद्धि–प्रधान कर्म बौद्धिक है, इच्छा–प्रधान कर्म मानसिक है। इसी प्रकार चेतन कर्म विचारमय क्रियायें हैं जबकि चैतसिक कर्म विचारों से उत्पन्न क्रियाप्रधान कर्म हैं। इनको पुनः कायिक, वाचिक, मानसिक वर्गों में वर्गीकृत करते हैं। कायिक कर्म भी अविज्ञप्ति रूप व विज्ञप्ति रूप से दो प्रकार के हें। अविज्ञप्ति रूप में जहाँ अचेतन में स्थित विचार क्रियायें आदि आती हैं वहीं विज्ञप्ति रूप में चेतन में स्थित विचार व क्रियायें आती हैं। वाचिक कर्म भी अविज्ञप्ति व विज्ञप्ति इन्हीं दो श्रेणियों में विभक्त किये जाते हैं। कायिक में जहाँ पूरे शरीर की क्रियायें आती हैं वहीं वाचिक में वाणी सम्बन्धी। मानसिक कर्म इन दोनों के मूल में रहते हैं[2]। इसी प्रकार इन्हें सास्रव व अनास्रव रूप कोटियों में भी विभक्त करते हैं। सास्रव कर्म सदोष कर्म हैं जिन्हें दो उपवर्गों में विभक्त कर सकते हैं–शुभ व अशुभ। शुभ कर्मों को पुण्य व अशुभ को पाप भी कह सकते हैं। शुभ कर्म वे हैं जो भ्रान्त भावनाओं, वासनाओं, इच्छाओं आदि पर विजय प्राप्ति हेतु किये जाते हैं। ये कर्म लोकोत्तर सुख प्राप्ति हेतु सम्पादित होते हैं। अशुभ कर्म दु:खदायी दण्ड पूर्ण कर्म हैं जो इसी लोक के सुख की प्राप्ति हेतु किये जाते हैं। इनमें स्वार्थ प्रधान रहता है। शुभकर्मों में लोभ, मत्सर, द्वेष, भ्रान्ति व मोह का अभाव रहता है। अशुभ कर्मों में मिथ्या दृष्टि, विषय–वासना व विद्वेष की प्रधानता रहती है। निरास्रव कर्म वे हैं जो वासना, इच्छा एवं अज्ञान से मुक्त रहते हैं। इनके फलभोग का प्रश्न नहीं उठता। ये नये जन्म में प्रवृत्ति ही नहीं यहाँ तक कि उसकी संभावना को भी पूरी तरह नष्ट कर देते हैं जैसे आर्य सत्यों का पालन। ये इच्छा का नाश करते हैं व निर्वाण का पथ प्रशस्त करते हैं। इन कर्मों को फलों की दृष्टि से भी चार वर्गों में बाँट सकते हैं–(क) बुरे कर्म जो मल उत्पन्न करते हैं। (ख) अच्छे कर्म जो पवित्रता उत्पन्न करते हैं। (ग) सदसद्कर्म–जो अच्छाई–बुराई दोनों पैदा करते हैं। (घ) न सद् न असद् कर्म–ये अन्य कर्मों के नाश में सहायक होते है[3]। साथ ही संचित, आगामिन् व प्रारब्ध रूप से भी यहाँ कर्मों को वर्गीकृत किया गया है।

---

1. द एस. राधाकृष्णन, भा. 1 पृ. 385.
2. एस एन. दासगुप्ता, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भा 1 पृ. 123–124.
3. अत्थशालिनी पृ. 89. एस.एन. दासगुप्ता, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भा. 1 पृ. 108 पर उद्धृत।

इन कर्मों का क्षय कठिन तपस्या से नहीं वरन् त्रिविध विशुद्धि प्रकारों–शील, समाधि व प्रज्ञा से किया जा सकता है। पर उस स्कन्ध संघात का विलय तो आस्रवों के विनाश से ही संभव है[1]। वस्तुतः निर्वाण प्राप्ति में जीव जीवन की क्षणिकता का प्रत्यभिज्ञान कर लेता है फलतः उसकी पदार्थों से आसक्ति समाप्त हो जाती है और वह अब उनसे विविध अनुभूतियों की प्राप्ति भी नहीं करता क्योंकि अब उसके कर्म समाप्त हो जाते हैं। कर्मसमाप्ति का हेतु है इच्छा का उपशमन और तब व्यक्तित्व भी नष्ट हो जाता है।

यहाँ कर्मसिद्धान्त में एक वैशिष्ट्य यह द्रष्टव्य है कि यहाँ यह नहीं स्वीकृत है कि एक व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में अपने द्वारा कृत कर्मों के फलों को भोगने से नहीं बच सकता वरन् यहाँ एक बोधिसत्त्व अपने सद्कर्मों को दूसरों को देकर उनको दुःखों से मुक्त होने में सहायता दे सकता है। वह अपने सभी पुण्यों को अपने साथियों के बचाव के लिये दे सकता है। यह स्थिति प्राणी को दयालु बोधिसत्त्व के प्रति पूर्ण समर्पणात्मक भक्ति के लिये प्रेरित करती है[2]।

न्याय वैशेषिक मत में कर्मसिद्धान्त—न्याय वैशेषिक शुद्ध वस्तुवादी सम्प्रदाय होने पर भी कर्मसिद्धान्त'[3] के नियमनवाद को स्वीकार करता है। उसकी इस मान्यता की पृष्ठभूमि में उसकी प्रयोजनवादी दृष्टि ही है जो कि सिद्ध करती है कि जगत् में एक नियत व्यवस्था है। यद्यपि यहाँ बहुत्ववाद को ही प्रश्रय दिया गया है पर बहुत्व के संयोजन से ही सृष्टि के विकास की धारणा पुष्ट की गयी है और इस संयोजन की दिशा के निर्धारक रूप में अन्य तत्त्वमीमांसाओं की तरह कर्मसिद्धान्त को ही स्वीकृत किया गया है। 'कर्म' यहाँ 'अदृष्ट' संज्ञा का वाच्य है और यह संज्ञा भी सार्थक है। 'अदृष्ट' का अभिप्राय है 'न दिखलाई देता हुआ' अर्थात् वे क्रियायें जो अब प्रत्यक्षतः दृष्ट न होकर संस्कार रूप में ही अवस्थित है तथा जिनका फल अभी प्राप्त करना शेष है। व्यक्ति विविध विषयों के सम्पर्क में आकर कुछ न कुछ क्रिया करता है[4] जिनका कि फल भी उसे मिलता है पर वह फल तात्कालिक भी हो सकता है व कालान्तरवर्ती भी। यह कालान्तर कभी एक जीवन का व कभी कई जीवनों का संभव है। उन अवस्थाओं में जहाँ कर्म का परिणाम तत्काल प्राप्त नहीं होता उसका कारण उन विशेष परिस्थितियों से उत्पन्न हुई बाधा होती है जो फलीभूत होते हुये अवशिष्ट कर्मों के कारण उपस्थित हो जाती है

1. निर्वाण प्राप्ति हेतु एक स्थायी आत्मा में विश्वास, सन्देह, नीतिशास्त्र व धार्मिक कर्मकाण्डो में विश्वास का त्याग आवश्यक है। (द्र हि. ऑफ फि भा. 1 पृ. 163)
2. द्रष्टव्य, हिरियन्ना, आउटलाइस ऑफ इण्डियन फिलॉसफी पृ. 224
3. यहाँ कर्म शब्द की द्विविध व्याख्यायें की गयी हैं प्रथम तो एक पदार्थ कोटि रूप में इसे बताया गया है व दूसरे धर्माधर्मात्मक रूप में इसकी व्याख्या की गयी है (क्रियते फलार्थिभिरिति कर्म धर्माधर्मात्मक बीजाङ्कुरवत्प्रवाहरूपेणानादि। सर्व द.स. पृ. 188 न्याय को पृ. 205 पर उद्धृत)
4. जीव अज्ञान के कारण देह के साथ तादात्म्य करने से ही विविध कर्म करता है। इन कर्मों से धर्माधर्म उदभूत होते है। इस धर्म–अधर्म का मूल है राग–वैराग्य।

अथवा उन अन्य प्राणियों के कर्मों के द्वारा उपस्थित की जाती है जो प्रस्तुत मनुष्य के कर्म में साझीदार हैं अथवा यह भी संभव है कि धर्म व अधर्म जैसे सहायक कारण उस समय उपस्थित नहीं रहते[1]।

जीव द्वारा कृत ये क्रियायें सर्वदा कोई न कोई संस्कार अवश्य छोड़ जाती हैं। ये संस्कार कर्म की कोटि के अनुसार शुभ व अशुभ हो सकते हैं[2]। अच्छे कर्मों का संस्कार शुभ व बुरे कर्मों का अशुभ होता है[3]। इन शुभ–अशुभ संस्कारों को इस दर्शन की शब्दावली में धर्म व अधर्म कहते हैं[4] और इस धर्माधर्म को यहाँ अदृष्ट की संज्ञा से अभिहित किया गया है[5]। यह अदृष्ट उपयुक्त समय, स्थान तथा पदार्थ मिलने पर सुख व दुःख को जन्म देता है।

वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में यह अदृष्ट–धर्म अधर्म[6], गुणों की ही कोटि में रखा गया है जो कि 'आत्मा' रूप द्रव्य में रहते हैं। यह एक निश्चेतन पदार्थ है। समस्त जागतिक व्यवस्था का नियमन इसी के द्वारा होता है[7]। यद्यपि प्रारम्भिक न्याय–वैशेषिक ग्रंथों में मात्र अदृष्ट की ही निमित्तता को सारी सृष्टि का मूल[8] कहा गया है पर परवर्ती दार्शनिक एक अचेतन तत्त्व को इस जटिल व्यवस्था के नियमन में उत्तरदायी मानना उपयुक्त नहीं समझते अतः उन्होंने ईश्वर नामक एक अन्य तत्त्व स्वीकृत किया है। यह ईश्वर वैशेषिक सम्प्रदाय में स्वीकृत नौ द्रव्यों में से आत्मा वर्ग का है पर उनसे कुछ विशिष्ट होने से

---

1. उद्योतकर, न्यायवार्तिक 3/2/60; तु.की. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भा. 2 पृ. 163
2. न्या. कु. 1/8–9
3. अच्छा क्या है? बुरा क्या है?–इसका निर्धारक यहाँ वेद जैसे किसी बाह्य साधन को नहीं माना गया है, वरन् यहाँ यह नियम आन्तरिक ही है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अन्तःप्रज्ञा से यह नहीं समझ सकता अतः उसे उन लोगों के अनुभवों की सहायता लेनी पड़ती है जिन्होंने आत्मनियंत्रण कर अपने को पवित्र कर लिया है व यौगिक शक्तियाँ अर्जित कर ली हैं।
4. ये ही अन्यत्र पाप व पुण्य भी कहे जाते हैं।
5. का. 161, 163; डॉ. एस.एन. दासगुप्ता के मत में अदृष्ट को ईश्वर की वह इच्छा भी कहते हैं जो विविध आत्माओं में एक विशिष्ट योग्यता के साथ सक्रिय होती है। (द्रष्टव्य हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भा. 1 पृ. 324) पर यह मान्यता इस दर्शन की तत्त्व मीमांसा के साथ उपयुक्त नहीं ठहरती।
6. प्र.भा., पृ. 225, पृ. 233.
7. पर न्याय वैशेषिक का यह अदृष्ट काफी आलोचना का विषय है। कई विद्वानों के अनुसार तो जब प्राकृतिक समाधान असफल हो जाते हैं तब ही न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय अदृष्ट का आश्रय लेता है। अदृष्ट तो व्याख्या की एक सीमामात्र है।
8. जगतो यच्च वैचित्र्यं सुखदःखादिभेदतः।
   कृषिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षणफलोदयः।।
   अकस्मान्निधिलाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित्।
   क्वचितफलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित्।।
   तदेतददुर्घटं दृष्ट्वा कारणादव्यभिचारिणः।
   तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किंचन कारणम्।।
   अदृष्टो भूतधर्मस्तु जगद्वैचित्र्यकारणम्। मा.मे.र.श्लो.वा. पृ./202

परमात्मा संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यह नैयायिकों के प्रमेय वर्ग में ही अन्तर्भूत है। यह ईश्वर शरीर रहित रहकर ही क्रिया करता है। इसकी क्रिया के सन्दर्भ में कोई प्रश्न नहीं संभव है क्योंकि जैसे आत्मा अशरीरी होकर भी शरीर के अंगों में क्रिया उत्पन्न करती है वैसे ही यह भी कर सकता है। पर अगर फिर भी उसके लिये शरीर मानना आवश्यक है तो अणु ही उसका शरीर बताये जा सकते हैं। यद्यपि यहाँ इस ईश्वर को सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् कहा गया है पर यह स्वीकृति इस सम्प्रदाय की अन्य मान्यताओं के साथ काफी विसंगति उत्पन्न करती है[1]। इस प्रकार इस सम्प्रदायानुसार तो सृष्टि के आदि में तीन पदार्थ ही सिद्ध होते हैं–(1) अणु (2) आत्मायें (3) ईश्वर।

ये आत्मायें अदृष्ट से सहकृत रूप में ही अवस्थित रहती हैं[2]। ईश्वर सर्वप्रथम आत्माओं के अदृष्ट के अनुसार अणुओं में क्रिया उत्पन्न कर द्वयणुक, त्रयणुक आदि के प्रक्रिया–क्रम से स्थूल तत्त्वों को उत्पन्न करता है[3]। अब इन स्थूल तत्त्वों से ही इसी संयोजन क्रम का अनुसरण कर नाना जागतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है। सर्वप्रथम वायु के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, फिर जल में, फिर तेज में तथा अन्त में पृथिवी में। इस सृष्टि–क्रम में ईश्वर सर्वप्रथम स्थूल तत्त्वों की उत्पत्ति कर तब ब्रह्मा व अन्य सभी संसारों की रचना करता है। अब आगे की सृष्टि का उत्तरदायित्व ब्रह्मा का हो जाता है जो कि जीवों के अदृष्ट के अनुसार उन्हें विविध फल प्रदान करता है[4]। इस अदृष्ट के तीन फल होते हैं–जाति, आयु व भोग अर्थात् जन्म की कोटि, आयु की अवधि तथा नाना पदार्थों व सुख–दुःख का भोग। जन्म का अभिप्राय है आत्मा का देह के साथ संयोग। अतः देह के प्रकार का निर्धारण जीव के अदृष्ट के अनुसार होता है। प्रलय भी पूर्ण विनाश की स्थिति नहीं है वरन् ईश्वर की समस्त जीवों को कुछ काल के लिये आराम देने की इच्छा है।[5] इस समय अदृष्ट की क्रिया रुक जाती है फलतः अणु व आत्मायें (अदृष्टसहकृत) परस्पर विश्रृंखलित हो जाते हैं। यह विश्रृंखलन अणुओं में

1. ईश्वर को सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान कहना तो ईश्वर को बद्ध आत्मा की ही स्थिति में पहुँचा देता है क्योंकि शुद्ध आत्मा तो समस्त प्रकार के ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि धर्मों से परे है और आत्मा वर्ग का ही होने से ईश्वर को भी उनसे मुक्त ही होना चाहिये। ज्ञान, इच्छा आदि धर्म तो बद्धावस्था में देह के साथ उसके मिथ्या तादात्म्य का ही परिणाम है। साथ ही वह सदैव अणुओं व आत्माओं द्वारा नियंत्रित है तथा कर्मसिद्धान्त द्वारा निर्देशित है अतः उसका सर्वज्ञत्व व सर्वकर्तृत्व यथार्थ नहीं सिद्ध होता।
2. सृष्टि अनादि है इसलिये यह प्रश्न नहीं किया जा सकता है कि आत्मायें अपनी शुद्ध अवस्था मे तो अदृष्ट से मुक्त ही हैं अतः सृष्टि के आदि में अदृष्ट से सहकृत होकर कैसे अवस्थित हैं।
3. ईश्वर अदृष्ट के आधार पर अणुओ को मात्र सक्रिय करता है, उनको उत्पन्न नहीं करता। समस्त सृष्टि का उपादान कारण जड परमाणु ही है जो कि चार प्रकार के है–पृथिवी, वायु, जल व तेज के परमाणु। ये चारो परमाणु नित्य है पर निष्क्रिय व निश्चेतन है। इन्ही के विविध आनुपातिक संयोगो से बहुविध सृष्टि सभव होती है।
4. एवं प्रवृत्तिलक्षणाद्धर्मादधर्मसहितादृदेवमनुष्यतिर्यङ्नारकेषु पुनः पुनः ससारबन्धो भवति।–प्र का भा, पृ. 234
5. इन सृष्टि व प्रलय के सिद्धान्तों का उल्लेख प्राय परवर्ती साहित्य मे ही मिलता है। प्रारम्भिक साहित्य (सूत्रादि) तो इस विषय में मौन हैं।

संयोजन के विपरीत–क्रम से ही घटित होता है।

यहाँ जागतिक सर्जन के दो आयाम हैं–(क) सार्वभौमिक (ख) वैयक्तिक। इनमें से सार्वभौमिक स्तर पर अणुओं में क्रिया जीवों के सामूहिक अदृष्ट का परिणाम है। इसी से सारी सृष्टि का विकास होता है तथा द्वितीय स्तर पर प्रत्येक जीव का निजी अदृष्ट स्वयं उसके लिये जाति, आयु व भोगों का निर्धारण करता है। इस प्रकार यही अदृष्ट यहाँ भौतिक नियमन व नैतिक नियमन इन दोनों का भी निर्देशक है।

अतः यहाँ इस अदृष्ट के माध्यम से सृष्टि के 'क्यों' की तार्किक व्याख्या हो जाती है कि यह विविध प्रकार की विषमताओं से पूर्ण विश्व का सर्जन किसी स्वार्थ या कारुण्य का परिणाम नहीं है, मात्र जीवों के द्वारा स्वयं संचित कृत्यों का ही परिणाम है[1]। यद्यपि यहाँ कहीं-कहीं सृष्टि व प्रलय को ईश्वर की लीला का परिणाम भी कहा गया है पर यह लीला का प्रत्यय यहाँ अपने सच्चे अर्थों में उपयुक्त नहीं ठहरता।

सांख्ययोग में कर्मसिद्धान्त—जागतिक वैषम्य के नियमनार्थ तथा नैतिकता के अनिवार्य प्रतिपादनार्थ कर्मवाद का सिद्धान्त इस सम्प्रदाय में भी प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि सांख्य के मूल ग्रन्थों में इसका विशेष विवेचन नहीं उपलब्ध होता पर योगसूत्र इसका स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करता है। यहाँ स्वीकृत यह कर्मसिद्धान्त अन्य दर्शनों से विशिष्ट है क्योंकि यहाँ यह किसी चेतन नियामक से स्वतन्त्रतया ही क्रियाशील है। प्रकृति यहाँ सर्वसमर्थ तत्त्व है जो कि अन्य किसी बाह्य तत्त्व की अपेक्षा के बिना क्रियाशील रहती है अतः सृष्टि के प्रथम विकास में इस कर्मसिद्धान्त की कोई निमित्तता नहीं है वहाँ तो पुरुष का अनादि अविवेक ही निमित्त है[2]। इसका कार्यक्षेत्र तो अनादि अविद्याग्रस्त पुरुष के लिंग शरीर को धारण कर लेने पर ही प्रसृत होता है। लिंग शरीर धारण किया हुआ पुरुष अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुरूप ही विविध शरीरों व भोगों को प्राप्त करता है[3]। यह कर्म प्रकृतिस्थ रजोगुण का ही परिणाम है पर यह अन्तःकरणत्रय, इन्द्रियों व प्राणवायु के द्वारा निष्पादित सामान्यक्रिया[4] मात्र नहीं है वरन् एक नैतिक सिद्धान्त भी है।

---

1. कर्मवासना सर्वकार्याणामुत्पादिकाऽवस्थापिका च....। न्या.वा.ता.टी., पृ. 62.
2. अदृष्ट या कर्म महत् तत्त्व का परिणाम है अतः वह अहङ्कार आदि की उत्पत्ति में तो सहायक है पर प्रकृति के विकासारम्भ में इसकी निमित्तता नहीं है। वहाँ तो अविवेक ही निमित्त है। द्र.सां.सू. 3/68.
3. द्र.सां.का. 40, यद्यपि यहाँ यह प्रश्न संभव है कि जब सर्वप्रथम पुरुष ने अविद्याग्रस्त होकर लिंग शरीर धारण किया होगा, उस समय उसके पूर्वकृत कर्मों का अभाव होने से उसके जाति, आयु, भोग आदि का निर्धारण किस प्रकार हुआ होगा तो इस सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि अविवेक अनादि है फलतः सृष्टि भी अनादि है तब ऐसी स्थिति की कल्पना ही नहीं संभव है जबकि पुरुष की ऐसी स्थिति हो।
4. क्रिया वस्तुतः द्विविध होती है–(क) पुरुषकार अर्थात व्यक्ति द्वारा अपनी इच्छा से कृत (ख) स्वाभाविक अर्थात् जो स्वतः होती है। इस सन्दर्भ में शरीर की सहज क्रियाओं या दैव को भी प्रस्तुत किया जा सकता है। दैव या अदृष्ट वस्तुतः पुरुष की स्वतन्त्र इच्छा द्वारा ही निर्मित है पर निर्मित हो जाने के बाद पुरुष की इच्छा से स्वतन्त्रतया ही व्यापार करता है।

यह सम्प्रदाय कर्म को धर्माधर्म रूप में विवेचित करता है तथा जागतिक उद्‌विकास की प्रक्रिया में उसका इतना ही कर्तृत्व बताता है कि यह जागतिक उद्‌विकास की प्रक्रिया को नियमित करता है[1]। प्रकृति के साथ मिथ्या तादात्म्य[2] स्थापन ही अविवेक है और इस अविवेक से युक्त पुरुष ही जीव है। ऐसे ही जीव के कर्मों से प्रकृति का विकास प्रभावित होता है[3] और उसके लिये विशेष प्रकार के भोगायतन व भोग्य पदार्थ प्रस्तुत करता है। भोगायतन द्विविध हैं–मानसिक व भौतिक। यह मानसिक शरीर तीन अन्तःकरण, दश इन्द्रियों तथा पञ्च तन्मात्रों से निर्मित है, यही लिंग शरीर है तथा वेदान्त की दृष्टि में सूक्ष्म शरीर है जिसका कि अस्तित्व स्थूल शरीर या भौतिक शरीर जो कि पञ्च महाभूतों से निर्मित है, के नष्ट हो जाने पर भी बना रहता है। यही वस्तुतः कर्मसिद्धान्त का साधक है क्योंकि कर्माशय इसी में वासना रूप में रहते हुये उसके नाना जन्मों में संसरण का कारण बनते हैं[4]। स्थूल शरीर कर्मानुसार परिवर्तित होता रहता है। अन्तिम विवेक ज्ञान की दशा में यह लिंग शरीर प्रकृति में लीन हो जाता है और पुरूष अपने केवली रूप में वापस आ जाता है। ये कर्म प्रकृति के विकास मार्ग में आने वाली बाधाओं को एक निश्चित दिशा में हटा कर जागतिक वैषम्य की एक युक्तियुक्त व्याख्या प्रस्तुत करते हैं[5]।

यद्यपि सांख्य योग में प्रकृति के यांत्रिक विकास की स्वीकृति में इच्छा–स्वातन्त्र्य की स्थिति अति संदिग्ध हो जाती है पर विश्लेषण करने पर यहाँ भी इसकी स्थिति एक विशिष्ट रूप में सिद्ध होती है फलतः नैतिक जीवन की भी संभावना संभव होती है और इस प्रकार कर्मवाद का सिद्धान्त सम्बल प्राप्त करता है पर यह कथन कर्मस्वातन्त्र्य या कर्मचयन का स्वातन्त्र्य रहने पर ही संभव है।

---

1. धर्माधर्मनिमित्तः संसारः....सां.त.कौ.पृ. 276.
   जागतिक उद्‌विकास के दो स्तर हैं–प्रथम स्तर है प्रकृति तत्त्व का महत् आदि बाइस तत्त्वों के रूप में परिणमन तथा द्वितीय स्तर है उन तत्त्वों का पुनः धर्म, लक्षण, अवस्था रूप परिणाम। सांख्ययोग मत में उस द्वितीय स्तर पर ही धर्माधर्म रूप कर्म नियामक है, प्रथम स्तर पर नहीं। प्रथम स्तर पर उस प्रकृति के उद्‌विकास का निर्धारण ईश्वर (योगमत में) ही करता है (सांख्य में कोई ऐसा नियामक नहीं स्वीकृत है। वहाँ तो एक निश्चित पथक्रम का अनुकरण प्रकृति के स्वभाव में ही निहित है।)
2. त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपने सभी कार्यों में व्याप्त है फलतः सभी कार्य त्रिगुणात्मक सिद्ध होते हैं अतः प्रकृति से मिथ्या तादात्म्य स्थापित किये हुये पुरुष में भी सभी प्रकृतिज विकारो की स्थिति सम्पन्न होती है फलतः प्रकृतिगत कर्म उसका ही स्वभाव प्रतीत होते हैं।
3. प्रत्येक प्रलय के बाद प्रकृति इन अनन्त जीवों के कर्मों के अनुरूप ही नवीन सृष्टि प्रारम्भ करती है। पर यहाँ कर्म प्रयोजक नहीं है, मात्र प्रकृति की दिशा निर्धारण करते हैं।
4. धर्माधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणि भावा, तदन्विता बुद्धिः, तदन्वितं च सूक्ष्म शरीरमिति तदपि भावैरधिवासितम् यथा सुरभिचम्पककुसुमसम्पर्काद् वस्त्रं तदामोदवासितं भवति। तस्माद्भावैरधिवासितत्वात् संसरति। सा.त.कौ. पृ. 276.
5. कर्म द्विविध रूप है–धर्मरूप व अधर्म रूप। जहाँ धर्म अधर्मकृत बाधाओ को हटाता है वहीं अधर्म धर्मकृत नियमन को। अधर्मकृत बाधाओ को हटाने पर प्रकृति का विकास सद्‌मार्ग की ओर होता है जबकि धर्मकृत बाधाओं को हटाने पर प्रकृति का विकास असद्‌मार्ग की ओर होता है। द्र.व्या.भा. यो.सू. 4/3

अविद्याग्रस्त जीव प्रकृति द्वारा प्रस्तुत लिंग शरीर व भाव शरीर को धारण कर समस्त क्रियाओं का निष्पादन करता है। यह अविद्या[1] ही अस्मिता को जन्म देती है जिससे कि राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि विकारों की प्राप्ति होती है[2]। ये सभी वृत्तियाँ क्लेश कहलाती हैं[3] फलतः सभी क्लेशों का मूल वह अविद्या है। समस्त क्लिष्ट कर्म इन्हीं क्लेशों से आबद्ध है क्योंकि इन्हीं के प्रभाव में वे कर्म किये जाते हैं[4]। इसके विपरीत विवेकमूलक कर्म अविद्या का नाश कर पुरुष को यथार्थ कर्म का ज्ञान कराकर कैवल्य–प्राप्ति कराते हैं। अविद्यामूलक कर्म कर्माशय कहलाते हैं जिनका तीन प्रकार से विपाक (फलीभाव) होता है–जाति, आयु व भोग। जबकि विवेकमूलक कर्म क्रियायोग कहलाते हैं जिनमें तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान आदि आते हैं। इनका कोई विपाक नहीं होता।

कर्माशय का अभिप्राय है कर्मों के संस्कार। चित्त में घटित किसी भाव के नाशोपरान्त उसके अनुरूप जो स्थितिभाव बना रहता है, वही संस्कार है। ये संस्कार सबीज तथा निर्बीज दो प्रकार के हो सकते हैं। सबीज द्विविध हैं–क्लिष्टवृत्तिज तथा अक्लिष्टवृत्तिज अर्थात् अविद्यामूलक संस्कार तथा प्रज्ञामूलक संस्कार। इनमें से क्लिष्टवृत्तिज या अविद्यामूलक संस्कार ही कर्माशय कहलाते हैं। इनके क्लिष्टवृत्तिज होने का तात्पर्य है–इन कर्मों के पीछे काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ रूप पञ्च विकारों का रहना। ये कर्म अच्छे भी हो सकते हैं व बुरे भी। अच्छे कर्मों का प्रचलित नाम धर्म है जिन्हें पुण्य भी कह सकते हैं जबकि बुरे कर्मों का प्रचलित नाम अधर्म है जिन्हें पाप भी कहा जाता हैं। इन द्विविध कर्मों को पारिभाषिक शब्दावली में क्रमशः शुक्ल कर्माशय व कृष्ण कर्माशय भी कहते है तथा इन दोनों का मिश्रितरूप शुक्ल–कृष्ण कर्माशय है[5]।

इन कर्माशयों के तीन प्रकार के फल होते हैं–जाति, आयु तथा भोग। जाति है विविध प्रकार के भौतिक शरीर, आयु है उस देह की स्थिति की अवधि तथा भोग है इस जन्म में उपलभ्य सुख–दुःख। जाति के नाना भेद हैं, जिनको चार कोटियों में रखा जा सकता है–दिव्य, नारक, मानुष तथा तिर्यक्। इसी प्रकार भोग भी द्विविध

---

1. अनित्यशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। यो.सू. 2/5.
2. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छन्नोदाराणाम्। यो.सू. 2/4 अस्मिता (यो.सू. 2/6), राग (यो.सू. 2/7), द्वेष (यो.सू. 2/8), अभिनिवेश (योग.सू. 2/6).
3. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः। यो.सू. 2/3
4. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। यो.सू. 2/12, द्रष्टव्य व्या.भा. 2/13, सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति, नोच्छिन्नक्लेशमूलः। व्या.भा., यो.सू. 2/13.
5. इसकी अन्य कोटि भी है जो न शुक्ल है न कृष्ण। ऐसे कर्माशयों का विपाक नहीं होता क्योंकि ये प्रज्ञामूलक कर्माशय हैं। योगियो का कर्माशय ऐसा ही है क्योंकि फलसंन्यास के कारण उनका कर्माशय अशुक्ल तथा निषिद्ध कर्मत्याग के कारण अकृष्ण रहता है जबकि अन्य जीवों के कर्म इन्हीं त्रिविध कोटियों में अन्तर्भूत रहते हैं। पापियों का कर्म कृष्ण, साधारण व्यक्तियों का शुक्ल–कृष्ण तथा जो बाह्योपकरणनिरपेक्ष तप–ध्यानादि करते है उनका कर्म शुद्ध शुक्ल है।

है–सुख दु:ख। इन कर्माशयों के विपाक के लिये तदनुरूप वासना का रहना अनिवार्य है[1]। वासना का अभिप्राय है उनका अनुभवमूलक संस्कार। इसके अतिरिक्त मात्र एक कर्माशय से न तो एक जन्म का व न अनेक जन्मों का तथा न अनेक कर्माशयों से अनेक जन्मों का निर्धारण होता है अपितु एक जन्म में संचित सभी कर्माशयों से एक जन्म का निर्धारण होता है तथा उसी से आयु तथा भोग का भी निर्धारण होता है[2]। कभी ये कर्माशय एक विपाकारम्भी होते हैं, कभी द्विविपाकारम्भी तथा कभी वे तीनों विपाकों को उत्पन्न करते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि ये कर्माशय कब फल देंगे तो इस सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि कर्माशयों की तीव्रता के आधार पर ही उनकी फल देने की अवधि निर्धारित होती है[3]। ये विपाक नियतफल रूप व अनियतफल रूप दो प्रकार के होते हैं। नियतफल वाले विपाक वे कर्माशय हैं जो अपने फल को पूर्ण रूप से उत्पन्न करते हैं तथा अनियतविपाक वे हैं जो दूसरे कारणों के द्वारा नियमित होने से पूर्ण रूप में फलित नहीं होते। इसी जन्म में विपाक को प्राप्त कर्माशय (दृष्टजन्मवेदनीय) नियतविपाक है जबकि अन्य जन्म में विपाक को प्राप्य कर्माशय (अदृष्टजन्मवेदनीय) अनियतविपाक हैं क्योंकि इनके विपाक को प्रायश्चित्तादि के द्वारा रोका भी जा सकता है अथवा नियतविपाक, प्रधान कर्माशय के द्वारा अभिभूत होकर चिरकाल तक सुप्त भी रह सकते हैं। कभी कभी ये स्वतन्त्रतया फलित न होकर अन्य प्रधान कर्माशय के विपाक के साथ मिलकर ही फलित होते हैं जैसे यज्ञीय पशुहिंसा यज्ञजन्य स्वर्गफल के साथ ही फल देती है, स्वतन्त्रतया नहीं[4]।

कुछ विपाक इसी जन्म में दृष्ट होते हैं कुछ अन्य जन्म में। इसी जन्म में वेदनीय विपाक भोग व आयु हैं जबकि जाति अन्य जन्म में वेदनीय विपाक है। सामान्य व्यक्तियों के कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय व अदृष्टजन्मवेदनीय दोनों हैं पर नारकों के कर्माशय मात्र दृष्टजन्मवेदनीय है जबकि जीवन्मुक्त के केवल अदृष्टजन्मवेदनीय ही है[5]। दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयों में भी पापकर्मराशि पुण्य कर्मराशि के द्वारा नष्ट हो जाती है। वस्तुत: तो वे ही कर्माशय फल देते हैं जिनके मूल में क्लेश है। उसके नष्ट हो जाने पर कर्माशय फलित

1. वासना का स्वयं विपाक नहीं होता पर विपाक हेतु इसकी आवश्यकता होती है। यही सूक्ष्म शरीर के साथ अवस्थित रहकर उसके साथ नाना शरीरों में संसरण करती रहती है। यही धर्माधर्म संस्कारों का संचय स्थल है अत: इसी के नाश से अज्ञान का नाश होता है। द्र. हरि.आ., पा.यो.द.पृ. 148–149
2. व्या.भा. यो.सू. 2/13.
3. तीव्र वैराग्य के साथ आचरित मन्त्र, तप और समाधि इन सबके द्वारा निष्पादित अथवा ईश्वर, देवता, महर्षि या महानुभाव की आराधना से परिनिष्पन्न जो पुण्य कर्माशय हैं वे शीघ्र ही विपाक प्राप्त कर लेते है. इसी प्रकार तीव्र अविद्या आदि क्लेशपूर्वक कृत कर्म पाप कर्माशय है, ये भी शीघ्र विपाक प्राप्त कर लेते है। इस सन्दर्भ मे बालक नन्दीश्वर का (पुण्य कर्माशयों के सन्दर्भ में) व नहुष का (पाप कर्माशयों के सन्दर्भ में) उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। द.हरि.आ., पा.यो.द., पृ. 148.
4. व्या.भा. यो.सू. 2/13, हरि.आ. पा.यो.सू. पृ. 151–52
5. व्या.भा. यो.सू. 2/12

नहीं होते।

प्रज्ञामूलक कर्म अविद्या का नाश कर मोक्ष का कारण है। योगी के कर्म इसी प्रकार के हैं। यह कर्म गुणों के व्यापार को समाप्त कर देता है चाहे वह भोगार्थ हो या कैवल्यार्थ। यही कर्म क्रियायोग है जिसमें तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान आते हैं। ये क्रियायोग के तीन प्ररूप मानवस्वभाव के तीन पक्षों को प्रस्तुत करते हैं–इच्छा, ज्ञान व क्रिया (समर्पणपरक)। इस क्रियायोग के द्वारा संस्कारों को शीर्ण किया जाता है, उनका विलय नहीं[1]। पूर्ण विलय तो विवेक के द्वारा ही संभव है।

इस प्रकार जीव के संचित, संचीयमान व प्रारब्ध तीनों ही कर्म मिलकर उसके समस्त भोगों, जन्मकोटियों तथा आयु सीमा को निर्धारित करते हैं। इनमें से संचित व संचीयमान कर्माशय तो इस जन्म में भी फलित हो सकते हैं व अगले जन्म में भी पर प्रारब्ध कर्माशय मात्र इसी जन्म में वेदनीय हैं। ये तीन प्रकार से फलित होते हैं–

(1) स्वेच्छा से फल देते हैं अर्थात इसमें मानव प्रयत्नों की अपेक्षा होती है।

(2) मानवप्रयत्नों की अपेक्षा के बिना मात्र अपनी सामर्थ्य से फलीभूत होते हैं।

(3) सत्यसंकल्प परमेश्वर के प्रयत्न की अपेक्षा से प्रयत्नशील होते हैं[2]।

इस प्रकार इस कर्मसिद्धान्त से जागतिक वैषम्य का यथोचित नियमन हो जाता है, किसी अन्य चेतन तत्त्व की इच्छा की इस कार्य हेतु अपेक्षा नहीं होती।

मीमांसा दर्शन में कर्मसिद्धान्त—मीमांसा दर्शन एक अनीश्वरवादी दर्शन है[3] पर यहाँ ईश्वर की सत्ता अस्वीकारने पर भी परलोक की सत्ता से इन्कार नहीं किया गया है तथा कर्मसिद्धान्त तथा पुनर्जन्म की प्रकल्पनाओं का पोषण किया गया है। कर्मसिद्धान्त यहाँ 'अपूर्व' की विशिष्ट शब्दावली में प्रस्तुत है[4]। अपूर्व का अभिप्राय है 'कर्मों' से उत्पन्न धर्माधर्म। यह अपूर्व रूप संज्ञा भी अन्वर्थक है। इसका अभिप्राय है मानान्तरापूर्वता अर्थात् जिसका ग्रहण पहले किसी प्रमाण से नहीं किया गया है। इस सम्प्रदाय में कार्य व नियोग भी इस अपूर्व के वाचक हैं। यद्यपि कर्म का अभिप्राय यहाँ विशेषतः यज्ञ से लिया जाता है पर सामान्यतः समस्त जागतिक क्रियायें ही कर्म हैं। प्रत्येक कर्म स्वयं तो होने के तुरन्त बाद नष्ट हो जाता है पर उससे उत्पन्न धर्माधर्म रूप संस्कार अवशिष्ट रहते हैं[5]। इन धर्माधर्म की संज्ञा ही अपूर्व है। पर यह अपूर्व कहाँ उत्पन्न होता है इस सन्दर्भ में कुमारिल व प्रभाकर इन दोनों के सम्प्रदायों में मतभेद है जहाँ कुमारिल के मत में यह अपूर्व आत्मा में ही उत्पन्न होता है वहीं प्रभाकर के मत में यह उस क्रिया में ही रहता है[6]

---

1. यो.सू. 2/1–2
2. सा.बो.टी., सा.त.कौ.पृ. 39.
3. पर परवर्ती मीमांसक जैसे आपदेव और लौगाक्षिभास्कर ने ईश्वर की सत्ता स्वीकृत की है।
4. मी.सू. 2/1/2/5.
5. मी.श्लो.वा.पृ. 112–117, पृ. 145.
6. तस्मादस्त्यपूर्वं फलसाधनस्य कर्मणोऽवान्तरव्यापाररूपम्। शा.दी.पृ. 133

अथवा उस क्रियाहेतुक प्रेरणा में रहता है[1]। इस अपूर्व की स्थिति तब तक रहती है जब तक कि इसके फलों का भोग नहीं शुरू हो जाता। यह अपूर्व श्रुतार्थापत्ति से ही सिद्ध किया जा सकता है जैसे स्वर्गकामो यजेत की व्याख्या तब तक नहीं संभव है जब तक कि यज्ञ और उसके स्वर्ग रूप फल के मध्य कोई जोड़ने वाली कड़ी न स्वीकारी जाये क्योंकि यज्ञ जो कि कुछ विशेष क्रियाओं का समूह है तब तक नहीं स्थित रहता जब कि उसका फल प्राप्त होता है[2]।

वस्तुतः तो इस संसार में की हुई क्रियायें कर्ता की आत्मा में एक अपूर्व को उत्पन्न कर देती हैं जो कि तब फलीभूत होता है जब कि बाधायें हट जाती हैं और उनके पकने के लिये उचित समय आता है।

यह सम्प्रदाय इस अपूर्व के संचालक रूप में किसी ईश्वर को नहीं स्वीकारता क्योंकि यहाँ अपूर्व ही स्वयं कर्मों के अनुरूप फलों का बँटवारा करने में सक्षम है[3]। इस सन्दर्भ में तर्क दिया जाता है कि यदि ईश्वर हो भी तो वह भी इस अपूर्व की सर्वोच्चता को तिरस्कृत नहीं कर सकता अतः इसी के अनुरूप उसे कार्य करना पड़ेगा। यद्यपि यहाँ असंख्य देवता स्वीकृत हें पर वे मात्र कर्मों के फलों का उपभोग करने की ही शक्ति प्रदान करते हैं, अन्य कुछ नहीं।

न्यायवैशेषिकवत् ही यहाँ भी सारे कर्मों के मूल में सुख या दुःख प्राप्ति की इच्छा रहती है[4]। ये कर्म त्रिविध कोटि में विभाजित किये जा सकते हैं–

(1) **अनिवार्य कर्म**–ये ऐसे कर्म है जिनका सम्पादन अत्यन्त आवश्यक है और जिन्हें न करना पाप का प्रयोजक है; पर करने से किसी विशेष पुण्य की प्राप्ति नहीं होती। इनमें से कुछ नित्य करणीय हैं व कुछ विशेष अवसरों पर ही किये जाते हैं।

---

1. तस्मादवश्यं यागस्य वा फलोत्पादिका शक्तिः, आत्मनो वा फलोपभोगयोग्यता, फलस्य वाङ्कुरावस्थाद्यपूर्वशब्देनाभिधीयते...। ता.टी., मी.श्लो.वा. पृ. 94.

2. शा.दी.पृ. 132–133.

क्रिया हि क्षणिकत्वेन न कालान्तरभाविनः।
स्वर्गादिः काम्यमानस्य समर्था जननं प्रति ।। 21 ।।
इष्टस्याऽजनिका सा च नियोज्येन फलार्थिना।
कार्यत्वेन न सम्बन्धमर्हति क्षणभङ्गिनो ।। 22 ।।
तस्मान्नियोज्य सम्बन्धसमर्थं विधिवाचिभिः।
कार्यं कालान्तरस्थायि क्रियातो भिन्नमुच्यते ।। 23 ।।
क्रियादिभिन्नं यत्कार्यं वेदयं मानान्तरैर्न मत।
अतो मानान्तरापूर्वमपूर्वमिति गीयते ।। 25 ।।
कार्यत्वेन नियोज्यञ्च स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ।
नियोग इति मीमांसानिष्णातैरभिधीयते ।। 26 ।।

3. देशकालावस्थादिसहकारसाहिताभ्यां धर्माधर्माभ्यामेव फलम्, न चेतनव्यापारापेक्षम्। प्र.प., पृ. 308.

4. पर प्रभाकरमतावलम्बियों का मत है कि मात्र काम्य व निषिद्ध कर्मों के मूल में सुख दुःख प्राप्ति की इच्छा रहती है पर नित्य कर्म ऐसे नहीं हैं, वे किसी प्रयोजन के लिये सम्पादित नहीं हैं वरन् स्वयं में प्रयोजन है।

(2) **काम्य कर्म**—इनका करना न करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है इनको करने से वैसे पुण्य की प्राप्ति होती है पर न करने से किसी पाप की प्राप्ति नहीं होती।

(3) **निषिद्ध कर्म**—इनको करने से पाप होता है पर न करने से कोई पुण्य नहीं मिलता।

इन त्रिविध कर्मों के अतिरिक्त कुछ प्रायश्चित परक कर्म भी हैं जिनका सम्पादन व्यक्ति प्रायश्चित हेतु करता है। इन उपर्युक्त कर्मों में अनिवार्य कर्म धर्मपरक क्रियायें हैं जबकि निषिद्ध कर्म अधर्मपरक हैं। क्या अनिवार्य है व क्या निषिद्ध यह वेद की सहायता से ही जाना जा सकता है[1]।

इस प्रकार कर्म सिद्धान्त की स्वीकृति यहाँ अपूर्व रूप में मिल जाती है। जगत् के मूल कारण अणुओं को आत्मा में स्थित अपूर्व कार्योत्पत्ति के लिये प्रेरित करता है। यहाँ सृष्टि अनादि व अनन्त रूप मानी गयी है फलतः सृष्टि के आदि में अपूर्व कहाँ से आया इस प्रश्न की संभावना ही नहीं उठती।

अद्वैत वेदान्त में कर्मसिद्धान्त—अद्वैत वेदान्त विवर्तवाद का पोषक सिद्धान्त है पर यहाँ भी जागतिक सन्दर्भ में परिणामवाद को ही प्रवृत्त कर सारे जागतिक व्यापारों को संभव बताया गया है अतः जागतिक वैषम्य के निदानार्थ कर्मसिद्धान्त यहाँ भी स्वीकृत है।

इस सिद्धान्त की संज्ञा यहाँ कर्म ही है जिसकी कि व्याख्या धर्म-अधर्म रूप में की गयी है। कहीं-कहीं इसे अदृष्ट संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। यह कर्म यहाँ क्रिया व व्यवस्था रूप दोनों सन्दर्भों में स्वीकृत है। क्रियापरक सन्दर्भ में जागतिक सर्जन के प्रसंग में यह माया रूप सर्जनात्मिका शक्ति का कर्तृत्व है तथा जागतिक व्यवस्था व नियमन के सन्दर्भ में जीवों द्वारा कृत कर्मों के संस्कारों का संचय है। अतः ईश्वर या सगुण ब्रह्म जागतिक व्यवस्था हेतु सर्जन करते समय इस कर्म सिद्धान्त की सहायता लेता है जिससे सृष्टिप्रक्रिया माया शक्ति का ही कर्तृत्व होने पर भी मायाशक्ति के द्वारा कर्म से सहकृत होकर ही सम्पन्न की जाती है। वस्तुतः तो ईश्वर जगत्रचना में साधारण कारण है तथा कर्म असाधारण कारण[2]।

ये कर्म अविद्या का ही परिणाम है। आत्म तत्त्व में अनात्म तत्त्वों का अध्यास ही अविद्या है[3]। अतः जीव देह, प्राणादि अनात्म तत्त्वों से मिथ्या तादात्म्य स्थापित कर विविध कर्मों का निष्पादन करता है[4]। उन कर्मों के धर्म अधर्म रूप संस्कार एकत्र होते जाते हैं व भावी जन्म,

---

1. तस्माद्यद्यादृशं कर्म यत्फलोत्पत्तिशक्तिकम्।
शास्त्रेण गम्यते तस्य तादृशस्यैव तत्फलम्।। मी.श्लो.वा 254-5
2. ...सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमासृष्टिः...। ...एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति। देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति...। ब्र.सू.शां.भा.पृ. 396
3. एवम्...प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः। तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यते। वही पृ. 12.
4. तमेतमविद्याख्यमात्मनात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः...। वही, पृ. 13.

आयु तथा भोगों को निर्धारित करते हैं[1]। जीव इन कर्मों का कर्ता व भोक्ता है पर ईश्वर ही उन कर्मों के फलों को नियत करने वाला है। यहाँ इन कर्मों को आरब्ध व अनारब्ध रूप दो कोटियों में वर्गीकृत किया गया है। आरब्ध कर्म वे है जिनका फलभोग प्रारम्भ हो गया है तथा अनारम्भ कर्म वे हैं जिनका फलभोग अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है। अनारब्ध कर्मों में संचित व संचीयमान दोनों प्रकार के कर्म आते हैं[2]। यह कर्मचक्र अनादि है जब शुद्ध ज्ञानादि से यह कर्म चक्र रोक दिया जाता है और समस्त प्रारब्ध कर्मों को भोग लिया जाता है तब जीव मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्त तो प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिये देह धारण किये रहता है पर अब उसके अनारब्ध कर्म शेष नहीं रहते। वस्तुतः अविद्या से मुक्ति ही कर्मचक्र से मुक्ति है।

भास्कर मत में कर्मसिद्धान्त—भास्कर भी सारे संस्कार का निमित्त कर्म मानते हैं और कर्मों के निष्पादन के लिये एक बुद्धिमत् कर्ता की आवश्यकता होती है[4] अतः जीव अपने यथार्थ रूप को विस्मृत कर देने से अपने द्वारा कृत कर्मों के अनुरूप ही विविध प्रकार के सांसारिक बन्धनों में बँधता है। जीव के सुख दुःख भोग में उसके अपने कर्म ही कारण हैं, ईश्वर उनके लिये किसी भी दृष्टि से उत्तरदायी नहीं है[5]। वस्तुतः तो जीवों के धर्माधर्म रूप कर्म भोग के लिये जगत् उत्पन्न होता है[6]। यहाँ कर्म सिद्धान्त एक चेतन नियामक के बिना स्वतः क्रियाशील नहीं है वरन् एक चेतन ईश्वर के द्वारा ही नियमित होता है। यहाँ तीन प्रकार के कर्मों की चर्चा मिलती है—काम्य, प्रतिषिद्ध और नित्य[7]। साथ ही शंकर की भाँति आरब्ध व अनारब्ध रूप से भी उनका विभाजन किया गया है[8]। यहाँ भी कर्म शब्द द्विविध सन्दर्भों में प्रयुक्त है जगत् रूप अभिप्राय में व नैतिक नियामक रूप में।

ईश्वरवादी वेदान्त में कर्म सिद्धान्त[9]—ईश्वरवादी वेदान्त सम्प्रदायों में वे समस्त दर्शन सम्प्रदाय अन्तर्भूत होते हैं जो कि परमार्थतः एक साकार ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता स्वीकारते हैं। यहाँ निर्विशेष ब्रह्म की कल्पना न होने से निर्विशेष अद्वैत की भी कल्पना नहीं की गयी है अतः विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि का

---

1. वर्तमानमिदं याभ्यां शरीरं सुखदुःखदम्।
   आरब्धं पुण्यपापाभ्यां भोगादेव तयोः क्षयः।। नै.सि. 1/12
2. न्या. को. पृ. 206
3. यह ज्ञानादि शब्द चार तथ्यों का प्रतिनिधि है–(क) नित्यानित्यवस्तुविवेक (ख) इहामुत्रार्थभोगविराग (ग) शमदमादिसाधनसंपत् (घ) मुमुक्षत्व।
4. कर्मनिमित्तत्वात् संसारस्य कर्मणश्च बुद्धिमत्पूर्वकत्वात्। भा.मा. पृ. 2.
5. जीवस्य हि सुखदुःखभोगे कर्म निमित्तं नेश्वरस्य अपहतपाप्मादिगुणश्चासौ श्रूयते। वही पृ. 40.
6. ...कर्मेति धर्माधर्मलक्षणं कर्म प्रसिद्धं तद्भोगार्थं जगदुत्पद्यत...। वही, पृ. 78.
7. वही, पृ. 2
8. अपि चानेकजन्मसञ्चितानां कर्मणामारब्धानारब्धफलानां...। वही, पृ. 21.
9. इस वर्ग में यहाँ रामानुज मत, माध्व मत, बल्लभ मत तथा निम्बार्क मत संग्रहीत हैं।

प्रतिपादन किया गया है। पर इन सम्प्रदायों में कर्म सिद्धान्त एक मत से स्वीकृत है और अधिकांशतः उसका प्रतिपाद्य भी सर्वत्र समान है। कर्म सिद्धान्त की 'कर्म' संज्ञा ही इन सभी सम्प्रदायों को स्वीकृत है तथा सभी 'कर्म' संज्ञा का वाच्य जीवों के द्वारा कृत कर्मों के धर्माधर्म रूप संस्कार को मानते हैं। ये कर्म ही जीवों को प्राप्त भोगों के निर्धारक हैं। पर कहीं भी कर्म को एक स्वतन्त्र नियामक नहीं माना गया है। ईश्वर ही उन कर्मों को विशेष फलों से नियत करता है।

जागतिक सर्जन में भी इन कर्मों का सहकृतत्व तो है ही। साकार ब्रह्म (कृष्ण, विष्णु, नारायण या वासुदेव) अपनी शक्ति[1] से सर्जन करते समय जागतिक वैषम्य के निदानार्थ तथा वहाँ एक व्यवस्था के स्थापनार्थ जीवों के कर्मों का ही आश्रय लेता है। इन सभी के मत में कर्म ही बन्धन का कारण है तथा आसक्तिमय क्रियायें ही संस्कार छोड़ जाती हैं। इन कर्मों का आरब्ध–अनारब्ध रूप में विभाजन ही यहाँ भी उपलब्ध होता है।

रामानुज के अनुसार ईश्वर जीवों के कर्मों के अनुरूप ही विविध प्रकार की सृष्टि करता है[2]। समस्त सुख–दुःख कर्मों के ही अधीन है अतः जीव कर्मों के वश में ही रहता है[3]। रामानुज शरीर की व्याख्या कर्मफलभोग के साधन रूप में करते हैं[4]। वस्तुतः तो अपने यथार्थ स्वरूप को न जानने वाला जीव कर्मों के ही वश में है और न चाहने पर भी अपने कर्मों के फलों के उपभोग से बच नहीं सकता[5]। कर्म का प्रयोग यहाँ दो अर्थों में मिलता है एक तो पुण्यापुण्यलक्षण[6] रूप में व दूसरे परमपुरुष के साथ कार्य जगत् के सम्बन्ध के वाचक रूप में[7]। इस प्रकार समस्त व्यवस्थाओं का मूल यही पुण्यापुण्यात्मक कर्म सिद्ध होता है[8]।

वल्लभ व मध्व का भी ऐसा ही मत है। वल्लभ का कहना हैकि कर्म बन्धन जीव के सन्दर्भ में ही घटित होते हैं ईश्वर या आत्मा के सन्दर्भ में नहीं[9]। वही जीव अपने द्वारा

---

1. शक्ति का भी मानवीकरण कर यहाँ उसे लक्ष्मी व राधा रूप में कहा गया है। यह शक्ति सर्जनात्मिका है पर मात्र सर्जनकारी न होकर स्थिति प्रलय आदि के कर्तृत्वों का भी निष्पादन करती है।
2. भगवता हि परेण ब्रह्मणा क्षेत्रज्ञपुण्यपापानुगुणं तद्भोग्यत्वाखिलं जगत्सृजता सुखदुःखोपेक्षाफलानुभवानुभाव्याः पदार्थास्सर्वसाधारणानुभवविषयाः,केचन तत्तत्पुरुषमात्रानुभवविषयास्तत्तत्कालावसानास्तथातथाऽनुभाव्यास्सृज्यन्ते। शा.श्री.भा., रा.ग्रं.मा.पृ. 92.
3. कर्माधीनसुखदुःखभागित्वेन कर्मवश्या हि जीवाः। वही, पृ. 138
4. शरीरं हि नाम कर्मफलरूपसुखदुःखभोगसाधनभूतेन्द्रियाश्रयः पञ्चवृत्तिप्राणाधीनधारणः पृथिव्यादिभूतसङ्घातविशेषः ..वही पृ. 222.
5. कर्मवश्यस्य तु स्वस्वरूपानभिज्ञस्य कर्मानुगुणफलोपभोगायानिच्छतोऽपि तत्सम्बन्धोऽवर्जनीय ।वही, पृ. 138.
6. कर्म च पुण्यापुण्यलक्षणं क्षेत्रज्ञस्यैव संभवति। वही, पृ. 204.
7. ...कर्मशब्दस्य परमपुरुषकार्यभूतजगद्वाचित्वात्। वही, पृ. 205
8. अथ पुण्यापुण्यरूपकर्मशक्तिनिबन्धना.।
   सर्वाः व्यवस्थाः सिध्यन्ति कृतमीशेन तादृशाः।। मा.मे.र.श्लो.वा.पृ. 219
9. यथा जले चन्द्रमसः प्रतिबिम्बितस्य तेन जलेन कृतो गुणः कम्पादिधर्मः आसन्नो विद्यमानो मिथ्यैव दृश्यते न वस्तुत चन्द्रस्य एवं अनात्मनो देहादिधर्मो जन्मबन्धदुःखादिरूपो द्रष्टुः आत्मनो जीवस्य न तु ईश्वरस्य। वल्लभ, सुबोधिनी टीका, श्रीमद्भागवत 3/7/11

कृत कर्मों के अनुकूल विविध फलों को प्राप्त करता है।

निम्बार्क भी कर्म की द्विविध व्याख्यायें करते हैं–पुण्यापुण्य रूप में और जगत् प्रपञ्च के पर्याय रूप में[1]। उनके अनुसार भी जगत्, जन्म आदि का निमित्त कर्म ही है[2]। वह अज्ञानवश अपने यथार्थ स्वरूप को विस्मृत कर अपने द्वारा कृत कर्मों के अनुरूप विविध योनियों में भ्रमण करता है[3]। इस प्रकार इस ईश्वरवादी वेदान्त में कर्म का सिद्धान्त स्वतः सक्रिय न होकर ईश्वर की पृष्ठभूमि पर ही सक्रिय होता है।

इस प्रकार समस्त भारतीय दर्शन, चाहे आत्मवादी हों या अनात्मवादी, आस्तिक हों या नास्तिक, एकमत से इस कर्मसिद्धान्त को स्वीकारते हैं जिसका कि उपयोग प्रधानतः नैतिक व्यवस्था की स्थापना के सन्दर्भ में होता है।

---

1. न च कर्मशब्देनात्र पुण्यापुण्यलक्षणं कर्मैव वाच्यम् अतश्चिदाचिदात्मकप्रपञ्चकार्यत्ववाच्येन कर्मशब्दो न पुण्यापुण्यमात्रवाची क्रियामात्रवाची वा । वे.कौ. ब्र.सू.नि.भा.भा. । पृ. 321.
2. जगज्जन्मादेश्च कर्मनिमित्तत्वात् वही पृ. 9 ।
3. जीवस्तु नित्यज्ञानरूपोऽपि अनादिमायावृतज्ञानधर्मोबन्धमोक्षार्थेऽल्पज्ञो हि ब्रह्मांशभूतो भगवत्पराङ्मुखत्वात्सहकृतैः कर्मभिः नानायोनिषु बभ्रममाणः प्रसिद्ध एव 'स आत्मा'। वही, पृ. 101–102.

8

काश्मीर शिवाद्वयवाद में कारणता

काश्मीर शिवाद्वयवाद की सर्वानुवृत्तिमूलक तत्त्वमीमांसा एकता व अनेकता के दो परस्पर विरोधी प्रत्ययों को एक सूत्र में पिरोकर एक ही तत्त्व के दो पक्षों के रूप में प्रस्तुत करती है फलतः यहाँ उस सूत्र रूप सम्बन्ध के प्रत्यय के रूप में भी अन्य दार्शनिक विधाओं से एक वैशिष्ट्य संलक्षित होता है। वह सम्बन्ध यहाँ दो प्रकार का कथित है ज्ञाप्यज्ञापकभाव व कार्यकारणभाव। इनमें ज्ञाप्यज्ञापकभाव सम्बन्ध जहाँ ज्ञान मीमांसा से सम्बन्धित है वहीं कार्यकारणभाव तत्त्वमीमांसा से। इनमें एकता तथा अनेकता एवं उस अनेकता में भी परस्पर सम्बन्ध स्थापन की दिशा में इस कार्य–कारण सम्बन्ध का विशेष स्थान है। इन द्विविध दिशाओं में से प्रथम तो परमार्थ व जगत् के मध्य सम्बन्ध का निर्देश करती है और द्वितीय उस जागतिक प्रपञ्च के मध्य सम्बन्ध स्थापन में विश्रमित होती है। इसी दृष्टि से कारणता की धारणा के द्विविध विवेचन इस दर्शन में उपलब्ध होते हैं–(क) स्वतन्त्रइच्छानुप्राणित कार्यकारणभाव (ख) नियतिअनुप्राणित कार्यकारणभाव[1]। पर यहाँ कार्यकारणभाव संज्ञा का प्रयोग न कर एक विशिष्ट प्रयोजन से उसे कर्तृकर्मभाव रूप में ही परिवर्तित कर दिया गया है[2]। यही विशिष्ट दृष्टि इस दर्शनविधा को अन्य अद्वैतवादी, द्वैतवादी तथा द्वैताद्वैतवादी दृष्टियों से वैशिष्ट्य प्रदान करती है जिनमें कि अधिकांश अचेतन पदार्थों की ही कारणता की प्रतिपादक हैं तथा जो चेतन की कारणता की पोषक भी हैं वे भी उसे एक निरपेक्ष कारण न मानकर मात्र निमित्त कारणता ही प्रदान करने में अपनी कृतकार्यता समझती हैं। हाँ, अद्वैत वेदान्त अवश्य परब्रह्म को ही कारण मानकर अभिन्ननिमित्तोपादानता का प्रतिपादन करता है पर उपादान रूप में गृहीत माया जैसा अनिर्वचनीय तत्त्व उसकी इस व्याख्या को सम्यक् नहीं सिद्ध होने देता, वहाँ यह लक्षणा से ही सिद्ध हो पाता हे, अभिधा से नहीं। साथ ही

---

1. यद्यपि इच्छा की कारणता तो दोनों में है पर प्रथम में उसकी एकमात्र कारणता है (कार्यकारणभावो यः शिवेच्छापरिकल्पितः – तं.आ.भा. 6 .पृ. 7) तथा दूसरे में उसकी गौणता होकर उसके द्वारा प्रर्थित नियति के ही कारणत्व का प्राधान्य है। ई.प्र. वि, भा.भा.। पृ. 25–26

2. ....कर्तृकर्मतत्त्वैव कार्यकारणता ततः। ई.प्र.का. 2/4/2..... कार्यकारणभावसमाख्याबलात् कर्तृकर्मभाव एव आश्रयणीयो। तं.आ.भा. 6 पृ. 10.
इस संज्ञा के परिवर्तित हो जाने पर भी अक्सर इस धारणा का उल्लेख कार्यकारणभाव रूप में भी उपलब्ध होता है जिसका कारण है संभवतः लोकप्रचलित संज्ञा के प्रयोग की रूढ़िवादिता। वस्तुतः तो इस प्रत्यय का अभिधेय विशिष्ट ही है।

निर्विमर्श ब्रह्म की कारणता का प्रतिपादन भी अनुपपन्न है क्योंकि वह कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। इन सबके विपरीत काश्मीर शिवाद्वयवाद जो कि वास्तविक अर्थों में अद्वयवाद का पोषक सम्प्रदाय है, कारणता की ऐसी मान्यताओं को अनुपपन्न मानता हुआ मात्र स्वतन्त्र[1] चित् तत्त्व की ही सार्वत्रिक (पारमार्थिक व व्यावहारिक) कारणता को सिद्ध करता है तथा इसी मत के परिपोषणार्थ इस धारणा के सर्वप्रचलित अभिधान को परिवर्तित कर कारण को कर्ता का व कार्य को कर्म का पर्याय बना देता है[2]।

यद्यपि कर्ता की धारणा कारण की धारणा से पूर्णतया भिन्न कोई धारणा नहीं है क्योंकि सामान्यतया जिसके अनन्तर कोई वस्तु आभासित होती है वह उसका कारण कही जाती है[3]। इसी दृष्टि से नियतपूर्वभावी को कारण व नियतपश्चाद्भावी को कार्य कहा जा सकता है[4]। काश्मीर शिवाद्वयवादी दृष्टि में भी कर्ता की कर्म से पूर्व नियत अवस्थिति ही रहती है परन्तु यह कर्तृत्व की धारणा कारणता की धारणा से कहीं अधिक व्यापक है[5]। कर्तृत्व की व्याख्या द्विविध प्रकार से संभव है–जानाति, इच्छति, यतते तथा इच्छति, जानाति यतते[6]। यह यतते का प्रत्यय कारण तथा कारणात्मक व्यापार दोनों को अपने अन्दर संगृहीत कर लेता है। यही कर्तृत्व स्वातन्त्र्य संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है[7]। ये ज्ञान, चिकीर्षा तथा कृति के प्रत्यय किसी अचेतन पदार्थ में किसी तरह उपपन्न नहीं हो सकते अतः वे कर्तृत्व की चेतनता के ही पोषक हैं फलतः कर्तृत्व कर्तृनिष्ठ ही माना जाता है[8]। इस सन्दर्भ में यह दर्शन धारा वैयाकरण सिद्धान्त 'स्वतन्त्रः कर्ता' से काफी प्रभावित प्रतीत होती है। ऐसा कर्तृत्व ज्ञानात्मक या क्रियात्मक किसी भी कर्म के निमित्त अनिवार्यतया अपेक्षित है[9]। कार्यता का भी इस विशिष्ट विचार मीमांसा में एक

---

1. यहाँ स्वतन्त्र की व्याख्या इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप त्रिविध शक्तिरूप में ही की गयी है–तिसृभिः शक्तिभिराभिः शिवः कुविन्दो भवन् कुलालो वा। अनुभवति सुखं स्मरति च बहु च विकल्पयति विश्ववैचित्र्यम्। म.मं.पृ. 136.
2. कर्तृत्वमेव हि कारणत्वं कर्मतैव च कार्यत्वं न त्वन्यत्। प्र.का.वृ.पृ. 50
3. इस नियम की ग्राहिका अन्वय व व्यतिरेकव्याप्ति है।
   अतो यन्नियमेनैव यस्मादाभात्यन्तरम्।
   तत्तस्य कारणं ब्रूमः सति रूपान्वयेऽधिके।। तं.आ. 9/24
   यह अन्वय–व्यतिरेक प्रत्यक्ष व अनुपलभ्भ के द्वारा ही निश्चित होता है। ई.प्र.वि.,भा.भा. 1, पृ. 232.
4. निर्बाधो नियम एव कार्यकारणताया निबन्धनम्...। तं.आ.,भा. 6 पृ. 34 पौर्वापर्यात्मा नियमोः...। वही, पृ.33.
5. तत्समर्थाचरणेनेति कारणमपि कर्तर्येव विश्रान्तम्। वही पृ. 10
6. ज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं, कर्तृत्वम्...। भा.भा. 2 पृ. 28.
7. कर्तृत्वं नाम चेतनस्य स्वातन्त्र्यं तच्च तदनतिरिक्तम्...। तं.आ., भा. 6 पृ. 159.
8. कर्तृनिष्ठं यत् कर्तृत्वं...। भा.भा. 2 पृ. 205
9. (अ) कर्तृत्वे ज्ञातता भवेत्, नहि कर्तृत्वं बिना ज्ञानक्रियायामपि कर्तृत्वं भवेद् ...तं.आ.भा.6 पृ. 201
   (ब) यहाँ प्रतिपादित इसी कर्ता के सिद्धान्त को लेकर बौद्ध सांख्य, न्याय आदि की कारणमीमांसा का खण्डन किया गया। बौद्ध जो किसी भी धर्मी की सत्ता का खण्डन करता है तथा क्षणों के प्रवाह को ही क्रियारूप मानकर उसी मान्यता के आधार पर 'अस्मिन् सति इदं भवति' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, न्याय जो जड़ अणुओं में कारणता मानता है तथा चित्तत्त्व को केवल निमित्त कारणता प्रदान करता है, सांख्य जो अचित् प्रकृति की सक्रियता को ही कारण मानता है, ये सभी सिद्धान्त अनुपपन्न होते हैं क्योंकि सन्निवेशविशेष का कारण बुद्धिमान् कर्ता ही हो सकता है जो कि शैव मान्यता में ही संभव है।

पृथक् रूप ही परिलक्षित होता है। यहाँ कार्यता का अभिप्राय है बाह्याभासन जो कि अन्तराभासित पदार्थ के इन्द्रियसंवेद्यता[1] की परिधि में आ जाने मात्र से सम्बद्ध है[2] पर इस प्रक्रिया में उस कार्य का पूर्वरूप भी ज्यों का त्यों अवशिष्ट रहता है[3]। ऐसी ही कार्यता की कोटि में अन्तर्भूत पदार्थों का पारिभाषिक अभिधान यहाँ कर्म है। यह कर्म रूप अभिधान भी सोद्देश्य है जिसका कि प्रयोजन संभवतः यहाँ की चेतनानुप्राणित कारणमीमांसा का ही पोषण करना है जहाँ कि कर्ता की ही कारणता है और उसका कारणात्मक व्यापार मात्र आभासन क्रिया[4] है फलतः क्रिया का अभीष्ट कर्म संज्ञा से ही कथित होता है, कार्य संज्ञा से नहीं[5]। यद्यपि कर्ता के मन में नाना विषय हैं पर जो जिस काल में उसे ईप्सिततम होता है वही उसकी क्रिया का विषय बन जाता है। इसी कारण पाणिनि कर्म को कर्ता का ईप्सिततम कहते हैं। ये कर्म स्वातन्त्र्य से ही निःसृत हैं क्योंकि कर्म क्रियात्मक है व क्रिया स्वातन्त्र्यमयी है। यही पारमार्थिक सृष्टि का कर्म सृष्ट सृष्टि में कार्य संज्ञा से कथित होता है। इस प्रकार का यह विशिष्ट प्रत्यय एक ओर तो इस दर्शन की आभासवादी मीमांसा को सुस्थिर करता है तथा दूसरी ओर उस पदार्थ की स्वतन्त्र स्थिति का निराकरण कर इसकी कर्तृसापेक्षता का भी भान कराता है क्योंकि बिना कर्ता के कोई पदार्थ कर्म नहीं हो सकता। यह विशिष्ट अभिधान इस दर्शन वर्ग में स्वीकृत इच्छाशक्ति के माहात्म्य का भी अभिव्यञ्जक है[6]।

---

1. यह इन्द्रियसंवेद्यता का कथन उनकी स्फुट अर्थक्रियासामर्थ्य का द्योतक है।– ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 159.
2. कार्यकारणता लोके सान्तर्विपरिवर्तिनः।
   उभयेन्द्रियवेद्यत्वं तस्य कस्यापि शक्तितः।। ई.प्र.का. 2/4/4
3. ...अन्तराभासमानस्यार्थस्य तथारूपापरित्यागेनैव बहिराभासनं नाम कार्यत्वं, ततश्च यदपेक्षयैव अन्तरवस्थितोऽर्थः तदपेक्षयैवान्तरवस्थितो बहिर्भवेत्...। तं.आ.भा.6 पृ.14, पृ.11.
4. (अ) इस सम्प्रदाय में आभास शब्द अति व्यापक अर्थों में प्रयुक्त है क्योंकि यहाँ सब कुछ आभास रूप है, मात्र स्वातन्त्र्य की मात्रा के आधार पर कोई आभासक है तो कोई आभास्य पर इस सन्दर्भ में आभास शब्द के द्विविध अभिप्रायों को बताना यहाँ आवश्यक हो जाता है। प्रथम अभिप्राय में आभास शब्द संज्ञा के रूप में प्रयुक्त है जिसका अभिप्राय यह द्योतित करना है कि यहाँ सब कुछ, परतत्त्व से लेकर लौकिक जगत् तक प्रकाश रूप है, प्रकाश शब्द यहाँ ज्ञान व सत्ता दोनों का पर्याय है। अतः जो सत् है वही ज्ञेय है और वही प्रकाश रूप है। यही प्रकाश संकुचित रूप में आभास है। आभासन क्रिया के सन्दर्भ में प्रयुक्त आभास शब्द क्रियापरक अर्थ का अभिधायक है जो कि आभास्य को आभासक की आभासन–क्रिया का विषय बताता है। यहाँ प्रयुक्त 'आभासन–क्रिया' शब्द इसी द्वितीय स्थिति का प्रस्तोता है।
   (ब) आभासमात्रपरमार्थो हि कार्यकारणभावः... तं.आ.भा. 6 पृ. 44.
5. यह धारणा भी व्याकरण सूत्र 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' या 'कर्तुः क्रियया यद् व्याप्यते तद्वा क्रियाव्याप्य कर्मेति केचित्' रूप मत से अनुप्राणित है। सारमंजरी में भी कहा गया है कि जो कर्ता के व्यापार के द्वारा साध्य है, वही कर्म है। इस प्रकार एक ही धातु कृम से निष्पादित ये दोनों शब्द 'कार्य' व 'कर्म' प्रत्ययभेद से भिन्न–भिन्न अर्थों के संकेतक हैं। कार्य शब्द कृ + ण्यत् से निष्पन्न होकर करणीय विषय का सूचक है जो कि एक प्रकार से विषय को अभिव्यक्त करता है, फलतः नवीन उत्पत्ति का नहीं मात्र अभिव्यक्ति या आभासन के प्रत्यय का अभिधायक है। तस्मात् क्रियाशक्त्या भास्यमानं कर्मैव कार्यं, भासयिता च कर्तैव कारणम्। ई.प्र.वि.वि., भा. 3 पृ. 186.
6. यहाँ प्रायः इच्छा को जगत् के हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया है फलतः आभासन प्रक्रिया में भी क्रिया को बहुधा इच्छा रूप से व्याख्यात कर चेतन कर्ता द्वारा ईप्सिततम के आभासन को ही निर्माणक्रिया रूप संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

इन कारण व कार्य की धारणाओं के रूपान्तरित हो जाने से उनके मध्य की कारणात्मक प्रक्रिया का अर्थ भी यहाँ परिवर्तित हो जाता है। अन्यत्र कहीं तो इस कारणात्मक प्रक्रिया का अर्थ पूर्णतया नवीन उत्पत्ति या सृष्टि से लिया जाता है तो वहीं कुछ दर्शन इसे विवर्त व कुछ अभिव्यक्ति की संज्ञा से भी अभिहित करते हैं परन्तु विवेच्य सम्प्रदाय आभासजीवित है अतः यह समस्त प्रक्रियाओं के मूल में आभासवाद को ही स्वीकार करता है[1]। इसी दृष्टि से इस सम्प्रदाय में यह कारणात्मक प्रक्रिया भी आभासनमात्रसारतत्त्ववाली है[2]। यद्यपि इस आभासन व अभिव्यक्ति में परस्पर साम्य प्रतीत होता है पर फिर भी दोनों प्रक्रियाओं में मूल सिद्धान्त की दृष्टि से नितान्त भेद है। आभासन व अभिव्यक्ति में निम्न प्रकार से भेद संभव है–

(क) आभासन परिणामपरक (रूपान्तरण–मिश्रित) न होने से मूल स्रोत को विकृत नहीं करता जबकि अभिव्यक्ति परिणामपरक है अतः वहाँ स्रोत भी परिणमित होता है। (प्रकृति तत्त्व भी महत् रूप में अभिव्यक्त होने के लिये परिणमित होता है।)

(ख) आभासन जहाँ ज्ञानपरक है वहीं अभिव्यक्ति क्रियापरक। यहाँ आभासनसंज्ञा का प्रयोग इस तत्त्वमीमांसा में बोधरूपता के प्राधान्य को ही व्यञ्जित करता है।

(ग) आभासन जहाँ कर्तृसम्बन्धी है वहीं अभिव्यक्ति कर्म (वस्तु) सम्बन्धी है।

(घ) आभासन में जहाँ गोपनान्तरं गोपितस्यैव अगोपनम् रहता है वहीं अभिव्यक्ति में गोपितस्य अगोपनम् रहता है।

पूर्वसत् का ही आभासन यहाँ भी मान्य होने से यद्यपि यह मीमांसा भी सांख्यवत् आक्षेपों का शिकार बनती है पर यहाँ के दार्शनिकों का मत है कि एक ही सिद्धान्त सर्वत्र समभाव से लागू नहीं किया जा सकता अतः पदार्थ तो कारण में कार्योत्पत्ति से पूर्व भी सूक्ष्मावस्था में सत् रहते हैं पर उनके 'आभासन' के सन्दर्भ में 'सत्'–'असत्' की शङ्काओ को नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। आभासन तो पदार्थों से एकरूप ही है अन्यथा तो अनाभास का आभासन ही नहीं संभव होगा। जैसे कि दीपक प्रकाशस्वरूप घट को ही प्रकाशित करता है वैसे ही कारण व्यापार आभासात्म पदार्थों का ही आभासन करता है[3]।

यह आभासन–क्रिया महेश्वर की कर्तृत्व शक्ति का ही स्फार हैं क्योंकि वही शक्ति इस दर्शन में समस्त आभासवैचित्र्य के प्रथन में उत्तरदायी है[4]। परन्तु यह क्रियाशक्ति दो

---

1. व्यक्तिः स्थिता पदार्थानां घटो व्यक्तोऽभिधीयते।
तस्मात्स एव व्यक्तात्मा न व्यक्तेर्व्यतिरिक्तता।। शि.दृ. 4/41–42
2. आभासमात्रसतत्त्व एव कार्यकारणभावः...। त.आ.भा. 6 पृ. 40
3. शि.दृ.पृ. 161–166
4. यथावष्टम्भयोगेन नानाक्रीडामयीं स्थितिम्।
नारीव भर्तुर्भजते सा क्रिया तं स्तुमः शिवम्।। भा.भा. 2. पृ. 5

प्रकार की है–पारमार्थिक व लौकिक। पारमार्थिक क्रिया निर्विकल्पक क्रमहीन परतत्त्व से सम्बद्ध होने से क्रमहीन ही रहती है जबकि लौकिक क्रिया जागतिक विषयभूत कर्मप्रपञ्च से रूषित हो जाने से कालशक्ति के बल पर क्रमिक रूप में आभासित होती है[1]। यद्यपि नाना प्रकार के आभासवैचित्र्य की प्रथनकर्त्री होने से इस क्रिया में पूर्वापरीभूत अवयवरूपता रहती है अतः यह सक्रम ही है पर यह क्रमजीवी क्रिया अपने अधिष्ठान की एकता के ह्रास का कारण कभी नहीं बनती क्योंकि दर्पणनगरन्याय एकता में अनेकतासिद्धि में प्रबल प्रमाण है[2]। इस कर्मरूप आभास्य जगत् के स्फुट बाह्य आभासन से पूर्व उसके अन्तस्थतया स्थिति काल में विद्यमान चिकीर्षा भी क्रिया रूप से संलक्षित की जाती है[3]। किसी भी क्रिया हेतु इसी चिकीर्षा की पूर्वापेक्षा होती है। यह इच्छा ही उस क्रियाशक्ति का प्रथम आभोग है तथा उसका स्थूल रूप क्रमजीवी स्थूल क्रिया है। इनमें से प्रथम अवस्था क्रमहीन है जबकि द्वितीय अवस्था में क्रमिक आभासन की प्रक्रिया का प्ररोह हो जाता है[4]। यह क्रिया कर्ता व कर्म दोनों में अवस्थित रहती है। विशेषरूपता के दर्शन के पूर्व पर्यन्त यह क्रिया मात्र कर्तृस्थ कही जाती है पर विशेषरूपता के अतिशय के दर्शन के उपरान्त कर्मस्थ कही जाती है। ऐसा यह कर्तृस्थ व कर्मस्थ रूप भेद लौकिक क्रिया में तो संभव है पर पारमार्थिक क्रिया में नहीं क्योंकि महेश्वर की निर्माण क्रिया कर्म में वैशिष्ट्य का आधान करने पर भी कर्म के संविद् रूप ही सारतत्त्ववाला होने से तुल्यकक्ष्यतया कर्तृस्थ व कर्मस्थ की जाती है[5]। यह निर्माण–क्रिया बहिराभासन की ही प्रक्रिया मात्र है[6]। इस आभासन क्रिया का कर्ता ही कारण है तथा कर्म ही कार्य।

प्रायः कारण शब्द की तीन प्रकार से व्याख्यायें संभव हैं–

(क) कारण वह है जिसके कि द्वारा अपनी शक्ति से कार्य आभासित किया जाता है। (कर्ता)

(ख) कारण वह है जिसके कि द्वारा कार्य किया जाता है। (करण)

---

1. ई.प्र.वि., भां भा. 2 पृ. 10–11
2. अत्र च उक्तं चित्स्वभावस्य दर्पणस्येव एकातानपबाधनेन आभासभेदसंभवे क इव विरोध इति, तस्मात् प्रत्यभिज्ञानबलात् एकोऽपि असौ पदार्थात्मा स्वभावभेदान् विरुद्धान् यावत् अङ्गीकुरुते तावत् ते विरोधादेव क्रमरूपतया निर्भासमानाः तमेकं क्रियाश्रयं सम्पादयन्ति...। ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 9.
3. (क) ...परमेश्वरस्य अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपाविच्छिन्नस्वात्मपरामर्शमयी अनन्योन्मुखतारूपा इच्छैव क्रिया... चैत्रमैत्रादेरपि पचामि इति यैव अन्तरिच्छा सैव क्रिया...यथातु इच्छा रूप...क्रमारूषितं आभाति तथा भगवदिच्छा प्रमातृप्रमेयंभेदपर्यवसिता तत्क्रमोपश्लिष्टा भाति दर्पणतलमिव विततप्रवहन्नदीप्रवाहक्रमसमाश्लिष्टम, अत्र च केवलं दर्पणस्य तथा इच्छा नास्ति परमेश्वरस्य तु सा अस्ति इति उभयथा अस्य क्रियाशक्तिः क्रमरूपक्रिया निर्माणसामर्थ्य क्रमरूपक्रियोपरागयोगश्च। वही पृ. 24–27

   (ख) ...तस्यैव सा चिकीर्षा बहिष्पर्यन्ततां प्राप्ता क्रियाइत्यभिधीयते सैव च कर्तृता। तदेव च हेतुत्वं नान्यत् किञ्चित्। ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 207
4. इस प्रकार यह क्रिया क्रमात्मिका क्रिया के निर्माणसामर्थ्यवाली भी है तथा साथ ही क्रमरूपा क्रिया के उपराग से भी उपरक्त है।
5. ई.प्र.वि.वि. भा. 3 पृ. 190
6. अन्तराभासमानस्य तथारूपापरित्यागेनैव बहिराभासनं निर्माणम्। ई.प्र.वि., भा.भा. 2, पृ. 161

(ग) कारण वह है जिस पर कार्य किया जाता है। (अधिकरण)[1]

इस प्रकार से त्रिविध दृष्टिकोणों से की गयी कारण शब्द की ये तीन व्याख्यायें बहुत्ववादियों के लिये तीन स्वतन्त्र तत्त्वों की अपेक्षा की अनिवार्यता प्रस्तुत करती हैं परन्तु प्रस्तुत सम्प्रदाय अद्वयवादी विचारधारा का संपोषक होने से इन त्रिविध प्रत्ययों की विश्रान्ति एक ही तत्त्व में मानता है[2], साथ ही उसकी अखण्ड चिद्‌रूपता व परनिरपेक्षता के अभिव्यञ्जन हेतु उसे 'कर्तृ' रूप अभिधान से अभिहित करता है[3]। प्रायः अन्य दर्शनों में परमकारणता भी जड़ पदार्थों को सौंपी जाती है फलतः वहाँ वे परम कारण भी परापेक्ष ही सिद्ध होते हैं पर स्वातन्त्र्य का प्रबल पोषक यह सम्प्रदाय उस परमकारण को चेतन मानकर परम स्वतन्त्र ही सिद्ध करता है अतः ऐसे किसी अभिधान का प्रयोग नहीं करता जो उसके द्वारा स्वीकृत परतत्त्व के अतुलित ऐश्वर्य के जरा भी ह्रास का कारण हो। इसी प्रकार कार्य का कर्म रूप अभिधान जो कि इस दर्शन सम्प्रदाय की तत्त्वमीमांसा शैली की विशिष्टविधा को संदर्शित करता है और 'पाणिनि' के शब्दों में 'कर्तुरीप्सितमं कर्म' रूप अर्थ का अभिधायक है, इस दर्शन वर्ग में स्वीकृत इच्छाशक्ति के माहात्म्य का अभिव्यञ्जन करता है। यहाँ इच्छा को जगत् के हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया है[4]। फलतः आभासन प्रक्रिया में भी क्रिया को इच्छा रूप से व्याख्यात कर चेतन कर्ता द्वारा ईप्सिततम के आभासन को ही निर्माण क्रिया रूप संज्ञा से अभिहित किया जाता है पर इच्छा शक्ति को आभासन में हेतु मानने पर परतत्त्व रूप परमकर्ता की सापेक्षता की आशंका उत्पन्न हो सकती है। इस शंका का समाधान यहाँ की शक्ति–शक्तिमान में अभेद की धारणा[5] कर देती है। इसी इच्छा को स्पन्द वर्ग में कार्योन्मुख प्रयत्न की संज्ञा से निरूपित किया गया है[6]। विषय प्रपञ्च से अनारूषित इस कार्योन्मुख प्रयत्न की मात्र उपस्थिति से कार्य का स्थूल रूप में प्ररोह नहीं होता परन्तु विषयों से उपरक्तता के साथ यह प्रयत्न स्फुट बाह्यावभास को जन्म देता है।

इस प्रकार ये कर्तृता व कार्यता (कर्मता) परतत्त्व की दो अवस्थायें हैं[7]। जहाँ

---

1. कार्यते स्वशक्त्या आभास्यते अनेन कार्यमिति कारणं कर्ता विशेषानुपादानात् सर्वत्र तथा कार्यतेऽनेन कार्यं. कार्यतेऽस्मिन्निति च कारणं...। स्व.त.उ., भा. 6 पृ. 3
2. तेन स्वतन्त्रः कर्ता स्वशक्त्यैव स्वभित्तौ सर्वमाभासयति। ज्ञातासि कर्तासि सदैव सिद्धः कर्मापि सत्कर्तृतयैव भासि।
3. तृच्वाच्यस्य महेश्वरस्य कुरुते कृञ्वाच्यतासादनात्। स्वातन्त्र्यं परिपूरितं सह तलौ वाच्येन भावेन या।। भा.भा. 2, पृ. 209
4. चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः। योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।। ई.प्र.का. 1/5/7.
5. शक्तिश्च शक्तिमद्रूपात् व्यतिरेकं न वाञ्छति। तादात्म्यमनयोर्नित्यम् वह्निदाहकयोरिव।। भा.भा. 2 पृ. 153
6. 'कार्ये' निर्मेये वेद्ये वा वस्तुनि 'उन्मुखः' तस्य तथासंपादने प्रवणो 'यः प्रयत्नः' कर्तृत्व सहजः उत्साहः 'स केवल' स एव परं कारणं व्यापारहेतुः...। स्प.का.वि. पृ. 51.
7. अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम्। कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्व पुनरक्षयम्। स्प.का. 1/14

कर्तृतावस्था भोक्ता, वेदक और चेतन स्वतन्त्र तत्त्व का पर्याय है वहीं कार्यतावस्था (कर्मावस्था) इसके विपरीत भोग्य, वेद्य, जड़ व परतन्त्र पदार्थों की समानार्थिका है। इन दोनों अवस्थाओं के मध्य मात्र संज्ञा भेद है, यथार्थ भेद नहीं[1]। इनमें से कर्तृतावस्था नित्य व सर्वव्यापक है जबकि कार्यता क्षणभंगिनी है[2]।

इस आभासन क्रिया का परिणाम बाह्यतया आभासन रूप में निश्चित हो जाने पर उस 'बाह्यता' की धारणा की व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है। यहाँ उसकी व्याख्या 'उभयेन्द्रियवेद्यता' रूप में की गयी है[3]। उभयेन्द्रियों में अन्तरिन्द्रिय व बाह्येन्द्रियाँ आती हैं। अन्तरिन्द्रिय एक है मन तथा बाह्येन्द्रियाँ दस हैं जो कि द्विविध वर्गों में विभक्त की जाती हैं–पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियाँ। यद्यपि वेद्यता का सम्बन्ध मात्र पाँच इन्द्रियों से है पर यह वेद्यता शब्द कार्यता का भी उपलक्षक है अतः यह सभी दस इन्द्रियों का ग्राहक है[4]। पर इस प्रकार कार्य–कारण का अभिप्राय अन्तःकरण व बहिष्करण दोनों इन्द्रियों को वेद्यरूप से पदार्थों का बाह्यतया आभासन लेने से कुछ मात्र अन्तःकरणवेद्य पदार्थ इसकी परिधि में सम्मिलित नहीं हो पाते जैसे दुःख सुख आदि मानसिक अनुभूतियाँ। परन्तु बाह्याभासन का प्रथम आभोग जो बहिःचिकीर्षा मात्र है, इन मानसिक अनुभूतियों में भी विद्यमान है अतः उनकी भी बाह्याभासन रूप में कर्मता सिद्ध होती है[5]।

इस प्रकार इस शिवाद्वयवादी कारणमीमांसा के मूल तत्त्व निम्न हैं–(क) कर्ता (ख) कर्म (ग) क्रिया (घ) कारणात्मक सम्बन्ध।

कर्ता—शिवाद्वयवादी कारणमीमांसा में इस प्रत्यय की आवश्यकता सर्वप्रमुख है। कर्ता का अभिप्राय उस चेतन तत्त्व से है जो क्रिया का निष्पादन करता है अथवा जो कर्म करता है, अथवा क्रिया के अनुकूल कृतिमान है[6]। कर्म करणादि कारक चक्र का प्रयोक्ता

1. स्प. का वि. पृ. 49
2. इत्थंभूते अवस्थायुगले 'कार्यताक्षयिणी' कार्यरूपावस्था क्षणभङ्गिनी, यत् यत् इदं मुकुलिततत्त्वपरामर्शतया कार्यरूपत्वेनैव अवसीयते, तत् सर्वम् उदयव्ययसम्बन्धात् प्रतिक्षणविनश्वरम् 'कर्तृत्वं पुनरक्षयम्' कर्तृरूपावस्था नित्या नित्योदितसर्वावस्थाव्यापकत्वोपलब्धृत्वमात्रधर्मकत्वात् अविनाशि। वही, पृ. 50.
3. ...अयमेव कार्यकारणभावो यदन्तःपरिस्फुरत् एवार्थस्यान्तर्बहिष्करणोभयवेद्यत्वमाभास्यते...। (तं.आ.भा.6, पृ. 11), यहाँ उभय शब्द का ग्रहण उपलक्षणमात्र है। वास्तव में तो जिसकी जितने में अर्थक्रिया पूर्ण होती है, उतने में ही उसकी समाप्ति माननी चाहिये, जैसे सुखादि को मात्र अन्तःकरणवेद्यता की प्राप्ति ही उसका निर्माण है। बाह्याभासन की व्याख्या अभेदाख्याति रूप में भी की जाती है–न अन्तवस्थितस्य अर्थस्य बहिरवभासनं नामापूर्वं किंचित् अपि तु अभेदाख्यातिमात्रम् – वही, ई.प्र.का. 2/4/4, ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 156–157.
4. ई.प्र.वि. भा. 2 पृ. 156–158.
5. तदा च बहिर्चिकीर्षामात्र प्रथमाभोगः। एतच्च सुखादावपि योज्यम्। ई.प्र.वि.वि.भा. 3 पृ. 191.
6. करोति क्रियां निष्पादयति वा। क्रियानुकूलकृतिमत्त्वं इति सारमञ्जरी। (श.क.भा. 2 पृ. 44) शब्दकल्पद्रुम में कर्ता की त्रिविध कोटियाँ बतायी गयी हैं–योग्य कर्ता–स्वाध्यायो अध्येतव्यः, प्रतिषिद्ध कर्ता – अहरहर्दद्यात् दीक्षितो न ददातीत्यत्र, विशेषणपदान्वयेन... स्वर्गकामो कर्ता यत्। ...यहाँ कर्ता की अन्य तरह से भी परिभाषा उद्धृत की गयी है–चेतनान्तरव्यापाराव्यवधानेन धात्वर्थनिष्पादकश्चेतनः कुर्म्मकरणादिकारकचक्रप्रयोक्ता वा–इति प्रायश्चित्तविवेकः। कर्ता को भी अन्य तरह से वर्गीकृत किया गया है–(क) क्रिया मुख्य (ख) हेतु कर्ता (ग) प्रयोजक (घ) अनुमन्ता (ङ) ग्रहीता। (श.क.पृ. 44) कारक प्रकरण में कर्ता की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है–क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्। स्वातन्त्र्यं धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वम् फलानुकूलो व्यापारः धात्वर्थः। वै.सि.कौ. (कारक प्रकरण) पृ. 7।

तथा धातु अर्थ का सम्पादक चेतन तत्त्व ही कर्ता अर्थ में विवक्षित है। ऐसे व्यापारों में प्रयुक्त तत्त्व स्वतन्त्र होकर ही अपने समस्त व्यापारों के निष्पादन में सक्षम हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसी दृष्टि से पाणिनि ने कर्ता को स्वतन्त्र बताकर उसे अन्य कारकों के प्रेरण व संयोजन वियोजन में सक्षम माना है[1]। शिवाद्वयवाद में भी ऐसे ही स्वतन्त्र तत्त्व को सर्वत्र कर्ता बताया गया है[2]। ऐसा स्वतन्त्र तत्त्व परमशिव ही हो सकता है क्योंकि वही मात्र स्वप्रकाश रूप है व सभी प्रकार की परप्रकाशन सामर्थ्य से युक्त है। अन्य पदार्थ तो प्रकाश्य होने से परतन्त्र ही हैं[3]। यद्यपि सीमित प्रमाताओं को भी संयोजन–वियोजनस्वातन्त्र्य से युक्त मानकर उनको भी कर्ता सिद्ध किया जा सकता है पर वस्तुतः उनका वहाँ यथार्थ कर्तृत्व नहीं है, उन्हें तो मात्र कर्तृत्व का अभिमान होता है जैसे कि प्रतिभू को ऋणी होने का अभिमान होता है[4]। यह अभिमान भी ईश्वर की इच्छा द्वारा ही नियमित है अतः जब उसको यह इच्छा होती है कि यह अभिमान विरमित हो जाये तब वह कर्ता नहीं रहता[5]। वस्तुतः तो वहाँ उन प्रमाताओं के संविद् का ही कर्तृत्व है जो कि परमसंविद् से भिन्न नहीं है अतः वहाँ भी उसी परमसंविद् की ही कारणता सिद्ध होती है। इस प्रकार कर्तृत्व के दो भेद किये जा सकते हैं (क) मुख्य (ख) अमुख्य। मुख्य कर्तृत्व परमशिव का है जबकि अमुख्य कर्तृत्व कुलालादि का है[6]। मुख्य व अमुख्य का यह भेद मात्र स्वातन्त्र्य की मात्रा में भेद के आधार पर किया जाता है। इसी प्रकार कर्ता के भी दो भेद किये जाते हैं–(क) असंकुचित (ख) संकुचित। इन्हीं की अन्य संज्ञा अकल्पित व कल्पित रूप है। अकल्पित या असंकुचित कर्ता देशादि व्यवच्छेदों से

---

1. करणात् कर्तुराधिक्यमन्यैरभ्युपगम्यते।
स्वतन्त्रः खलुकर्तेति शाब्दिकैरप्युदीर्यते।।
तच्च स्वातन्त्र्यमन्येभ्यः कारकेभ्यः प्रधानता।। म.मं. पृ. 15
2. (अ) संवेदनस्वातन्त्र्यस्वभावः परमेश्वर एव विश्वभावशरीरो घटादेर्निमाता...।
तं.सा., पृ. 71, म.मं. पृ. 15.
(आ) तत्ततसंयोजनवियोजनादावेकस्य परमेश्वरस्य कर्तृत्वे विश्वमिदमुन्मिषेत्। तं. आ.भा. 6, पृ. 38.
3. प्रकाश्यतैव च पारतन्त्र्यम, प्रकाश्यता च प्रकाशान्तरापेक्षितैव...। तं.सा.पृ. 6
4. पर एंव शिवः स्वेच्छया नियतिदशायां कुम्भकारस्य मृदादेश्च परस्परापेक्षया कार्यमुपजनयेत,यस्तु तस्य सत्यपि मृत्पिण्डादौ 'मयेदं कृतम्' इत्यभिमानः सोऽपि तन्महिम्नैव।। तं.आ.भा. 6 पृ. 12. व्यक्ति की उत्पत्ति मे माता–पिता के होने वाला 'जनक–जननी' का अभिमान भी इसी प्रकार का है।
5. भा.भा. 2, पृ. 168–169.
6. तं.आ., भा. 8, पृ. 228–29. इस सन्दर्भ में काश्मीर शिवाद्वयवादी ग्रथों में कुलाल का उदाहरण बहुतायत से प्रस्तुत किया गया है। वहाँ कुलाल की घटोत्पत्ति की इच्छा, कर्तृत्वाभिमान आदि को ईश्वर की नियति शक्ति द्वारा ही नियमित बताया गया है (भा.भा. 2, पृ. 169, तं.आ.भा. 6, पृ. 38–39) कुलाल तो दण्डादिवत मात्र सहकारी कारण है, यथार्थ कर्तृत्व (कारणता) तो परमशिव का ही है। इस प्रकार ईश्वर ही सर्वत्र कर्ता सिद्ध होता है। (तं.आ.भा. 6 पृ. 39-40) वह व्यक्ति जिसने शिवैकात्म्य की प्राप्ति कर ली है, ईश्वरवत् ही सर्वत्र कर्ता है

रहित है जबकि कल्पित या संकुचित कर्ता इन व्यवच्छेदों से युक्त है[1]।

यहाँ कारणत्व कर्ता में ही विश्रमित है अतः कारण के सन्दर्भ में उपलब्ध सम्पूर्ण विवरण इसी कर्ता की ही स्थिति के प्रतिपादक है। कारण के सन्दर्भ में यहाँ विविध कथन प्राप्त होते हैं–कारण कार्य की अपेक्षा से होता है (तं.आ.,भा. 6 पृ. 228), समस्त कार्यरूपविकल्प कारण में ही स्थित हैं (म.मं., पृ. 115), कारण में कार्य का उपचार होता है (तं.आ.,भा. 6, पृ. 116), कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसकी असत्ता आवश्यक है अन्यथा कारणत्व या कार्यत्व घटित नहीं हो सकता (तं.आ.,आ. 11, पृ. 79), कार्य की उत्पत्ति में भविष्यत् व वर्तमान की सामर्थ्य नहीं है क्योंकि उन दोनों के बिना भी कार्य का आविर्भाव संभव है[2] (तं.आ., भा. 6, पृ. 18–19) आदि। इन सभी विवरणों में मूल दृष्टि जागतिक कारण तक ही सीमित है पर कारण की धारणा यहाँ कर्ता की धारणा से ही अपना सन्दर्भ प्राप्त करती है अतः ये उल्लेख यहाँ की तत्त्वमीमांसा में कोई विशिष्ट स्थान नहीं रखते। यहाँ लौकिक दृष्टि से भी कारण की परिभाषा प्रस्तुत की गयी है–'यन्नियमेनैव यस्मादाभात्यनन्तरम् तत्तस्य कारणं ब्रूमः सति रूपान्वयेऽधिके[3]। इस परिभाषा से तीन मुख्य तथ्य सम्मुख आते हैं–(क) नियम (ख) अपेक्षा (ग) अन्वय[4]। यद्यपि कारण की यह परिभाषा प्रायः समस्त जागतिक कारणों के सन्दर्भ में सत्य ठहरती है पर कुछ स्थलों–योगिसृष्टि व स्वप्नसृष्टि (मानसी–सृष्टि) में इसका अपलाप भी दृष्ट होता है।

---

1. द्विविधः कर्ता संकुचितश्चासंकुचितश्च...।
कर्ता च द्विविधः प्रोक्तः कल्पिताकल्पितात्मकः।
कल्पितो देहबुद्धादिव्यवच्छेदेन चर्चितः।। तं.आ. 4/165. यद्यपि कर्ता का इस प्रकार विभाजन किया जाता है पर विश्लेषण करने पर एक ही मूल कर्ता सिद्ध होता है जो कि अपने स्वातन्त्र्य के द्वारा विविध रूपों में प्रथित होता है इसी स्वातन्त्र्य के कारण वह छह कारण रूपों–ब्रह्मा, विष्णु, हर, ईशान, सुशिव, अनाश्रित–में भासित होता है। वस्तुतः एक के साम्राज्य के विकेन्द्रीकरण हेतु ही विविध कृत्यों के लिये विविध कारणों का कथन किया गया है। इनके अतिरिक्त अनेकत्र अशुद्धा सृष्टि में अनन्तेश तथा प्रकृति सर्ग में अधोरेश को कारण कहा गया है। ब्रह्मा, विष्णु, हर क्रमशः सृष्टि, स्थिति संहार के कारण हैं। इस प्रकार परमार्थतः एक की ही सर्वत्र कारणता रूप कर्तृता है पर उसी के स्वातन्त्र्य के द्वारा उसके अनेक प्रतिनिधि कुछ सीमित क्षेत्र में कर्तृत्व के अधिकारी घोषित किये गये हैं (तं.आ. 9/57–58) इस प्रकार किसी भी कार्य की उत्पत्ति में प्रधान कारण परमशिव है। उसके द्वारा ही अन्य कारण रूप से कथित पदार्थों की सामर्थ्य व्यञ्जित होती है। इसके सहकारित्व के बिना वे अपने कार्य को उत्पन्न करने में जरा भी समर्थ नहीं होते। (वही.भा. 6, पृ. 111)
2. भविष्यत् की सामर्थ्य इसलिये नहीं है क्योंकि वह उस काल में अकिंचिद्रूप है व वर्तमान समकालिक है। समकाल लब्धसत्ताक वस्तुओं का ही संभव है अतः अलब्धसत्ताक में वर्तमान अकिंचित्कर है। इस प्रकार भूतकालिक में ही कार्योत्पत्तिसामर्थ्य है। वही पृ. 19–20
3. वही, पृ. 30.
4. यह अन्वय ही व्यतिरेक का भी ग्राहक है क्योंकि अन्वय व व्यतिरेक प्रत्यक्ष व अनुपलब्धि पर ही आधारित हैं और इस दर्शन में अनुपलब्धि कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है वरन् प्रत्यक्ष के अन्दर ही अन्तर्भूत है। यहाँ तो अनुपलब्धि का अर्थ है 'अन्यस्य उपलब्धि' जैसे भूतले घटाभावः का अर्थ है–अत्र भूतलो अस्ति न तु इदं यत् घटस्य अभावः किञ्चित्।

यद्यपि इस प्रकार इस मीमांसा में बार–बार लौकिकमीमांसावत् कारण, करण, निमित्त, हेतु आदि शब्दों का प्रयोग व चर्चा उपलब्ध होती है पर वस्तुतः वे विविक्त पदार्थ न होकर परम कारण (परम शिव) के ही विविध पक्ष हैं। अतः अन्ततः उनका पर्यवसान उसी में होता है। इस प्रकार परतत्त्व ही सबके कारण या यहाँ की उपयुक्त शब्दावली में कर्ता रूप में सिद्ध होता है[1]। यहाँ इसी कर्ता के सिद्धान्त को लेकर बौद्ध, न्याय, सांख्य आदि की कारणमीमांसाओं का खण्डन किया गया है। इस सन्दर्भ में यह तर्क दिया जाता है कि सन्निवेशविशेष का कारण कोई बुद्धिमान कर्ता है अतः एक चेतन कर्ता ही कारण रूप में स्वीकरणीय है[2]।

यहाँ विविध तर्कों से सीमित प्रमाता[3] की तथा जड पदार्थों की कारणता रूप कर्तृता का निषेध किया गया है। वस्तुतः तो यहाँ सामग्रीकारणवाद स्वीकृत है जिसकी सिद्धि एक सर्वानुवृत्तिमूलक चित्तत्व की पृष्ठभूमि पर ही संभव है[4]। जड पदार्थों में अपने को अन्दर व बाहर विविध आभासों के रूप में आभासित कर सकने की सामर्थ्य नहीं है अतः वे यथार्थ कारण नहीं है। एकमात्र चित्तत्व ही इस कर्तृत्व में समर्थ है। वह चित्तत्व सर्वकर्तारूप है अतः अपनी प्रतिबिम्बसहिष्णु निर्मल भित्ति पर पदार्थों को प्रतिबिम्ब रूप से भासित करता है[5] और तभी नानाविध कार्यकारणभाव को भासित करता हुआ कर्ता होता है[6]। इस प्रकार यह परमकर्ता ही समस्त कारणों का अधिष्ठान है[7] व व्यावहारिक जगत् में प्रतीयमान कोई भी कारण इससे अनुग्रहीत हुये बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं है[8]। अन्य कथित कर्ता–अनाश्रित आदि उसकी इच्छा से ही सृष्टि करते हैं। यद्यपि वहाँ उसका साक्षात् आवेश नहीं होता पर निमित्तता रहती है जैसे 'विद्यया यज्ञः' आदि में[9]।

---

1. शि.दृ. पृ. 197–208
2. यद्यत्संनिवेशविशेषवत् तत्तद्बुद्धिमत्कर्तृनिमित्तं यथा घटः...। ई.सि.,वृ, ई.सि. पृ.1 सन्निवेशविशेषस्य बुद्धिमन्मात्रेण अन्वयः प्रदर्श्यते, न तु बुद्धिमद्विशेषेण कुम्भकारेण ईश्वरेण वा। ई.सि.वृ., ई.सि.पृ. 5.
3. सीमित प्रमाता परमशिव से पूर्णतया भिन्न न होकर परतत्त्व का सीमित रूप ही है। उसमें परतत्त्व की कर्तृत्व व ज्ञातृत्व शक्तियों की सीमित स्थिति तथा अन्य मलों वश अपने यथार्थ स्वरूप की अख्याति रहती है फलतः उसे नाना भेद प्रतीतियाँ होती हैं तथा देहादि जड पदार्थों से तादात्म्य की प्रतीति होती है।
4. शि.दृ., पृ. 27 पा.टि. 6
5. वह ईश्वर उन पदार्थों को भासित मात्र करता है, भारूपता की प्राप्ति नहीं कराता। वे तो स्वयं भारूप हैं अन्यथा तो वे भासित ही नहीं हो सकते थे क्योंकि जो जिस रूप का नहीं है उसे उस रूप की प्राप्ति कोटि प्रयासों के बावजूद नहीं करायी जा सकती।
6. चिद्रूप एव परमेश्वरः स्वेच्छावशात् इयद्विश्वमवभासयति किं तु नियतिदृशायां प्रथान्तरव्यवधानेन येन बीजादङ्कुरो, मृदो घट इत्येवमाद्यात्मिका लोकस्य प्रतीति। तं.आ., भा. 6 पृ.10
7. कारणं च पर्यन्ततः परमशिवात्मा कर्तेति स्वीकार्यम् यतः संयोगसमवायौ तदनुबन्धिनोऽन्येऽपि सम्बन्धा संयोजकाद्यवान्तरकर्तृसद्भावेऽपि पर्यन्ततः परमेश्वरेच्छानुविधायितया तस्यैव कर्तुः कार्यतयाऽनुभूयन्ते। म.मं. पृ. 35
8. सः स्वस्वातन्त्र्यच्छायानुवेधेन सृष्ट्यादिकारित्वे योग्यं कुर्यात्...। तं.आ.,भा. 5, पृ. 262
9. वही पृ. 267.

इस प्रकार वह परमकर्ता इस स्वातन्त्र्य के कारण ही निरुपादाना सृष्टि करता है[1] या यह भी कह सकते हैं कि वही स्वयं निमित्तकारण भी है व उपादान भी। फलतः उसकी सृष्टि को बताने के लिये योगी सृष्टि का उदाहरण दिया जाता है। अन्य स्वप्न, संकल्प मनोराज्य आदि की स्थितियों में भी यद्यपि अन्तःस्थ का बहिःभासन होता है पर उनमें स्थैर्य व सर्वप्रमातृसाधारणरूपता का अभाव है[2]।

(ख) **कर्म**—कर्ता की क्रिया का जो विषय है वही कर्म है[3]। कर्ता के मन में नाना विषय हैं जो जिस काल में उसे ईप्सिततम होता है वही उसकी क्रिया का विषय बन जाता है। इसी कारण पाणिनि ने कर्म को कर्ता का ईप्सिततम कहा है। इन कर्मों का कारण मल नहीं वरन् स्वातन्त्र्य है क्योंकि कर्म क्रिया रूप है और क्रिया कर्तृता रूप स्वातन्त्र्य से ही संभव है[4]। मल तो अकर्तृतात्मक अस्वातन्त्र्य रूप है[5]। वह कर्म इसलिये कहा जाता है क्योंकि आभासन क्रिया का विषय है। यही कर्म ही सृष्ट–सृष्टि में कार्य संज्ञा से अभिहित होता है। कार्य क्रिया शक्ति के द्वारा भास्यमान है अतः कर्म ही है। इस प्रकार वह कर्ता के कृत्य के द्वारा ही आविष्कृत होता है[6]। यहाँ नियतिप्राणितकार्यकारणभाव के अन्तर्गत अन्य दर्शनों के सदृश ही कार्य की परिभाषायें प्रस्तुत की गयी हैं पर इन परिभाषाओं में भी कुछ वैशिष्ट्य निहित है। यहाँ कहा गया है कि जो जिसका नियम से अनुविधान करता है वह उसका कार्य है[7]। अनुविधान का अभिप्राय है स्वरूपलाभ के लिये अपेक्षा करना जैसे घट को स्वरूपलाभ के लिये मृत्तिका की अपेक्षा होती है। कारण व कार्य के मध्य प्रयोजकप्रयोज्य सम्बन्ध है[8]। कार्य की उत्पत्ति कारण के अनुरूप ही होती है[9]। वह अनेक सहकारियों से सम्पाद्य होने से कारण की अपेक्षा स्थूल होता है[10] व जैसे–जैसे कारण रूप सामग्री का

1. सर्वतोभद्र, पृ. 4–6
2. ई.प्र.वि., भा.भा.।पृ. 226.
3. कार्यम् आभासनक्रियाविषयत्वात् कर्मैव...तं.आ., भा. 6 पृ. 10.
   शब्दकल्पद्रुम में कर्म शब्द की विविध प्रकार से व्याख्या की गयी है–कर्तुः क्रियया यद्व्याप्यते तद्वा क्रियाव्याप्यं कर्म्मेति केचित्, परसमवेत धात्वर्थजन्यफलशालित्वं कर्म्मत्वम्। (श.क.पृ. 45–46), इसी प्रकार यहाँ इसका विविध प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। कहीं कर्म चतुर्विध है–निर्वर्त्य विकार्य, प्राप्य, अनीप्सित (पृ. 46) कहीं पञ्चविध है नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित्त, निषिद्ध आदि। (पृ. 46) पद मंजरी में कर्म सात प्रकार का कथित है।
4. किं च कर्मापि न मलाद्यतः कर्म क्रियात्मकम्।।
   क्रिया च कर्तृतारूपात् स्वातन्त्र्यान्न पुनर्मलात्। तं. आ. 9/98–99.
5. वही.भा. 6 पृ. 82.
6. ...कार्य क्रियाशक्त्या भास्यमानं कर्मैव इति कृत्येनैव आविष्कृतम्, कार्यते अनेन कर्ता तत्समर्थाचरणेनेति कारणमपि कर्तरि चेतने विश्राम्यति। ई.प्र.वि., भा.भा. 2, पृ. 154.
7. यत् यस्य नियममनुविधत्ते (स्वरूपलाभं प्रति अपेक्षते) तत् तस्य कार्यं इति प्रतिघटं मृत्तिकादिरूपहेतु तदवन्मात्रस्य आभासात्। वही भा. 1, पृ. 233.
8. प्रयोज्याप्रयोजिका च सत्ता तयोः कार्यकारणयोः...। वही, भा. 2 पृ. 193.
9. ...कारणानुरूपेणैव हि प्रायः कार्यस्योत्पादो भवेत ...। त. आ भा 3 पृ 3
10. अनेकसहकारिसम्पाद्यविशेष कारणात्कार्यं स्थूलं भवति व्यक्ततरत्वात् न तु सूक्ष्मम्। शि.दृ.वृ., शि.दृ. पृ. 26

अन्यथाभाव अधिक होता जाता है, कार्य की भी विजातीयता बढ़ती जाती है[1]। कार्य की दो अन्य परिभाषायें भी यहाँ उपलब्ध होती हैं–'जो जिसके अन्वय व व्यतिरेक का अनुविधायी हो वह उसका कार्य है[2], और 'जो अचेतन होने पर अनेक हैं, वह कार्य है'[3]। इन तीनों परिभाषाओं में कोई विरोधाभास नहीं है वरन् ये तीनों परिभाषायें मिल कर कार्य के समग्र रूप को प्रस्तुत करती हैं–'कार्य अपने स्वरूपलाभ के लिये कारण की अपेक्षा करता है, उसके अन्वयव्यतिरेक का अनुसरण करता है तथा अचेतन व अनेक है।' पर यह तो लौकिक सृष्टि में प्रचलित धारणा की बात हुई। वस्तुतः तो सर्वत्र परमशिव की ही कर्तृता है अतः उसकी दृष्टि से इन सबकी कर्मता है। लौकिक सृष्टि में परमेश्वर की नियतिशक्ति का ही कर्तृत्व है वहीं ये कारण–कार्य की धारणायें स्थान प्राप्त करती हैं। पर कार्य के आभासन की प्रक्रिया सर्वत्र एक है–अन्तःस्थ पदार्थ का बहिःतया भासन एवं बहिःभासन की अवस्थाओं में आन्तरावस्था का अपरित्याग[4]। यही निर्माण है[5]।

(ग) **क्रिया**–कारण कार्य के विवेचन की दृष्टि से क्रिया का विशेष महत्त्व है। क्रिया शक्ति तो समस्त आभासों के लिये उत्तरदायी है पर कारण कार्य या कर्तृकर्मभाव की दृष्टि से क्रिया का अभिप्राय कारणात्मक प्रक्रिया से है। इस प्रक्रिया का स्वरूप यहाँ अन्य दर्शन सम्प्रदायों से विशिष्ट है। इसका अभिप्राय ऊपर स्थल–स्थल पर बताया जा चुका है कि मात्र आभासन ही इस क्रिया का स्वरूप है जिसके कि कारण यहाँ सत्कार्यवाद की मान्यता की पुष्टि होती है। वह आभासन पूर्वस्थ के ही आभासन[6] से सम्बन्धित होने पर सत्कार्यवाद की ही पुष्टि करता है। यहाँ की सर्वसर्वात्मकता की धारणा भी इसी सत्कार्यवादी दृष्टि की पोषक है[7]। यह पूर्वस्थता अन्तःस्थता रूप है। इस अन्तःस्थता में विशेष प्रमाण है हमारा इच्छामर्श[8] अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति विविध प्रकार की इच्छायें करता है पर वे नियमित विषयों से विशिष्ट होने से संकर दोष से उपरंजित नहीं होती। अब यदि विषय पहले से प्रमाता में अन्तस्थ नहीं हैं तो इच्छायें उन विविध विषयों से नियंत्रित कैसे होंगी। अतः विषय अनिवार्यतया प्रमाता में विचार रूप में अवस्थित हैं। परमेश्वर की इच्छा शक्ति या प्रमाता की इच्छा शक्ति से[9] उसका एक विशिष्ट रूप में बाह्यतया प्रथन होता है।

---

1. ...तथाभूताया हि अन्यथाभावो यथा यथा अधिको भवति तथा तथा कार्यस्यापि विजातीयत्वं तारतम्येन पुष्यति...। तं.सा.पृ. 71.
2. यद्धि यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तत्कार्यं भवेद्...। तं.आ.,भा. 5, पृ. 22.
3. यत् अचेतन्ये सत्यनेकं तत्सर्वं च कार्यं यथा घटः...। वही पृ. 119.
4. अन्तराभासमानस्यार्थस्य तथारूपापरित्यागेनैव बहिराभासनं नाम कार्यत्वं...। तं.आ., भा. 6, पृ. 14.
5. अन्तराभासमानस्य तथारूपापरित्यागेनैव बहिराभासनं निर्माणम्। ई.प्र.वि., भा.भा. 2.पृ. 161.
6. ई.प्र.का. 1/5/7.
7. म.मं.पृ. 65,75.
8. ई.प्र.का., 1/5/10
9. परमेश्वर का अंशभूत होने से प्रमाता में भी इच्छा शक्ति का अंश रहता है पर वह संकुचित सामर्थ्य वाली होती है।

इस प्रकार की सत्कार्यवादी कारणमीमांसा का पोषक[1] होने पर भी यह दर्शन अपनी विशिष्ट तत्त्वमीमांसा के कारण सांख्यगत आरोपों[2] से मुक्त रहता है[3]। यहाँ अभिव्यक्ति को स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर पदार्थों का स्वरूप ही माना गया है[4]। उसके अतिरिक्त सांख्य सत्कार्यवाद की निष्पादिका प्रकृति है जो जड है और एक जड पदार्थ में संयोजन–वियोजन का स्वातन्त्र्य मानना अनुपपन्न है। इसी दृष्टि से यह दर्शन परमशिव को स्पन्दमय मानता है। यह स्पन्दमय तत्त्व किसी भी व्यापार में समर्थ है।

यद्यपि अभिव्यक्तिवादी सांख्य मत की ही भाँति यहाँ भी आशंका हो सकती हैं कि कर्म रूप आभास्य विश्व कर्ता रूप कारण में पूर्वसत रहता है अथवा नहीं तो इसका यह समाधान है कि यहाँ पदार्थ तीन तरह से आभासित होते हैं–आन्तरतया, ग्राह्यतया व बाह्यतया। आन्तरतया भासित पदार्थ संविद् से एकात्मतया परिस्फुरितरूपवाले हैं, ग्राह्यतया भासित पदार्थ अन्तःकरणैकवेद्य होने पर सुखादिवत् ग्राह्य होते हैं व बाह्यतया भासित पदार्थ अन्तःकरण, बहिष्करण दोनों को वेद्य होने से घटादिवत् बाह्य होते हैं। इस प्रकार संविदात्मा में ही अवस्थित पदार्थ का बहिरवभासन होता है जैसा कि अन्यत्र भी कथित है–स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् (ई.प्र.का. 1/5/8)। यह अन्तस्थ का बहिरवभासन कोई अपूर्व वस्तु नहीं है, मात्र अभेदाख्याति अर्थात् अभेद का तिरोभाव या अज्ञान है।

इस क्रियातत्त्व में काल व क्रम के प्रत्यय भी लिपटे हुये हैं। कारणता की दृष्टि से इन दोनों प्रत्ययों का विशेष महत्त्व है। काल आभासविच्छेदन या आभाससद्भाव–असद्भाव से अनुप्राणित है। यह स्थिति पूर्वा परता क्रम में ही विचारणीय है अतः कारणता सम्बन्ध में यह क्रम मूलभूत दृष्ट होता है[5]। कालगत भेद सूर्यसंचारादिक्रियारूपभेद है। इस दृष्टि से पारतात्त्विक सृष्टि में परमेश्वर के स्वातन्त्र्य को व नियतिउपजीवी क्षेत्र में नियति को एक विशेष काल में विशेष कर्म के आभासन के नियामक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है[6]। फलतः सत्कार्यवादी मीमांसा का अनुगमक होने पर भी यहाँ सब कार्यों का सर्वदा आभासन नहीं होता व जगत् में दृष्ट नियमनवाद की व्याख्या भी हो जाती है।

क्रम तो आभास–अनाभास जीवित है। आभासन क्रिया में अनाभासित की बाह्यभासता

---

1. इसी सत्कार्यवादी दृष्टि के कारण यहाँ सृष्टि व प्रलय की संज्ञायें अन्वर्थक सिद्ध होती हैं क्योंकि सृष्टि शब्द की निर्मात्री सृज धातु का अर्थ है बाहर फेंकना तथा प्रलय शब्द का अभिप्राय है प्रकर्षण लयः।
2. सांख्य मत के सन्दर्भ में सत् कार्य की उत्पत्ति के प्रति कारण व्यापार की निरर्थकता तथा असत् कार्य की उत्पत्ति की असंभावना का आरोप बहुतायत से प्रचलित है। (ई.प्र.वि., भा. भा. 2, पृ. 155)
3. काश्मीरशिवाद्वयवाद के आभासन व सांख्य की अभिव्यक्ति में भेद पिछले पृष्ठों पर प्रस्तुत किया जा चुका है।
4. शि.दृ. 4/41–42.
5. ई.प्र.का. 2/1/4–5, भा.भा. 2 पृ. 11.
6. यद्यपि अन्य दर्शन देशकाल की भी सहकारी कारणों में गणना करते हुये इस नियमनवाद का पोषण करते हैं, पर यह दर्शन नियति के व्यापार के अन्तर्गत ही देश व काल की व्यवस्था को स्वीकार करता है। यद्यपि इनको भी अन्य दर्शनवत् भिन्नतया सहकारी कारण कह सकते हैं पर वस्तुतः नियति के व्यापार में ही इनका व्यापार अन्तर्भूत है।

ही कर्मता है तथा अनाभासित रूप में अन्तःस्थ होकर विद्यमान रहना ही कारणता है[1]। फलतः कारणता के प्रत्यय में आभास–अनाभास जीवित क्रम सदैव विद्यमान दृष्ट होता है।

(घ) **कारणता सम्बन्ध**—अब कारण व कार्य के मध्य सम्बन्ध की बात आती है। वह यहाँ की कारण प्रक्रिया पर ही आधारित है जिसके अनुसार यह सम्बन्ध आभास्य–आभासक रूप या कर्तृ–कर्म रूप[2]। सिद्ध होता है। कहीं कहीं इसे आश्रयाश्रयीभाव व प्रयोज्य–प्रयोजक रूप भी कहा गया है। इस कारणता सम्बन्ध का अभिप्राय मात्र कारण में छिपी शक्ति को भासित करना है। यह भासन है माया रूप तिरोधानकारी शक्ति कृत आवरण को हटाना[3]। इस जगत् में यह कारणता सम्बन्ध द्विविध प्रकार से दृष्ट होता है–(क) प्रत्यक्ष रूप से (ख) परोक्ष रूप से। प्रत्यक्षतया दृष्ट सम्बन्ध में परमेशेच्छा की या स्वातन्त्र्यमंडित परम चित्तत्त्व की ही कारणता है जबकि परोक्षतया दृष्ट सम्बन्ध में माया या नियतिकृत व्यवधान विद्यमान रहते हैं[5]। यह परोक्षकारणता माया का ही आभासन है जहाँ कि असंख्य सीमित प्रमाता, प्रमेय व प्रमाण रूप आभास आभासित होंते हैं फलतः उनसे लोक व्यवहार की सिद्धि हेतु उनके मध्य सम्बन्ध भी स्थापित किया जाता है। यह कारणता असंख्य सम्बन्धियों के कारण असंख्य प्रकार की हो सकती हैं जैसे कर्ता व कर्म के मध्य कारक–कार्य रूप में व वस्तु तथा प्रमाण के मध्य ज्ञापक–ज्ञाप्य रूप में। जहाँ माया के आभासन रूप सीमित प्रमाता का अन्तःक्षेप रहता है वहाँ परोक्षकारणता होती है पर जहाँ यह अन्तःक्षेप नहीं रहता वहाँ प्रत्यक्षकारणता होती है[6]।

इस प्रकार इस सम्प्रदाय में कारणता की धारणा की चर्चा हो जाने पर यहाँ की इस कारणमीमांसा के कुछ विशिष्ट तथ्य दृष्टव्य हैं जिनके कि कारण कई लोक प्रचलित कारण सम्बन्धी तथ्यों का स्वरूप यहाँ बदल जाता है। वे परिवर्तन नीचे दृष्टव्य हैं–

कर्तृतत्त्व में ही कारणत्व की विश्रान्ति—प्रायः कारण का अभिप्राय नियतपूर्वभावी से लिया जाता है पर वस्तुतः यह परिभाषा इसके यथार्थ स्वरूप की गमक नहीं है। इसी

---

1. यहाँ न्याय के अर्थों में क्रम को ही कारणकार्यरूपता का मूल केन्द्र नहीं माना गया है। वहाँ पूर्वापरीभाव ही कारण कार्य का नियामक है। मात्र वह पूर्वापरीभाव नियत व अनन्यथासिद्ध हो। फलतः वहाँ कारण का नाश हो जाने पर ही कार्य की उत्पत्ति संभव होती है पर यहाँ सत्कार्यवादी मीमांसा का प्रतिपादन करने से सब कुछ आभासन से पूर्व भी सत् है (महेश्वर के विचार रूप में) तथा आभासन के बाद भी (उभयेन्द्रिय कर्म रूप में)। यहाँ सांख्यवत ही किसी की उत्पत्ति या नाश नहीं संभव है मात्र आविर्भाव व तिरोभाव होता है जो कि इस दर्शन की शब्दावली में आभासन व अनाभासन रूप ही है। अतः यहाँ पूर्वता व परता मात्र प्रातीतिक है। उनका रूप बदलकर यहाँ अन्तःस्थता व बहिःस्थता कर दिया गया है।
2. कर्तृकर्मतत्त्वैव कार्यकारणता ततः। ई.प्र.का. 2/4/2.
3. ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 193.
4. वही, भा.भा. 1 पृ. 59.
5. द्विधा हि कर्तृत्वं शुद्धं मायीयं च। तत्राद्यमनवच्छिन्नाहंपरामर्शमयं कार्यानारूषितमेव, अन्यच्च घटक्रियापटक्रिया इत्यादिकार्यारूषितम्। तं. आ.भा. 6 पृ. 159.
6. ई.प्र.वि., भा.भा. 1 पृ. 24–25.

कारण यहाँ कारण की परिभाषा दी गयी है–जो जिसका अन्वय व्यतिरेक से अनुविधान करता है वह उसका कारण है (यत् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तत्तस्य कारणम्...)[1]। इसके अतिरिक्त अन्यत्र पूर्वापरता की दृष्टि से भी इसकी परिभाषा उपलब्ध होती है... जो नियम से जिसके बाद भासित होता है वह रूपान्वय के होने पर उसका कारण कहा जाता है...(यन्नियमेनैव यस्भादाभात्यनन्तरम्। तत्तस्य कारणं ब्रूमः सति रूपान्वयेऽधिके)[2]। यह कारण विषमता को प्राप्त कर ही किसी भी कार्योत्पत्ति में समर्थ हो सकता है[3]। विषमता का अभिप्राय है क्षोभावस्था की प्राप्ति जिसे कि दूसरे शब्दों में उच्छूनावस्था भी कह सकते हैं। इस प्रकार यहाँ कारण की दो अवस्थायें बतायी गयी हैं–(1) अनुच्छूनावस्था (2) उच्छूनावस्था। उच्छूनावस्था को प्राप्त कारण ही कार्योत्पत्ति में समर्थ है[4]। निर्बाध नियम कार्यकारण का निबन्धक है। यह नियम पौर्वापर्य रूप है[5]। कारण के भेद से ही कार्यों में भेद होता है[6]। कोई भी कारण अपने कार्य को उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकता। उसकी हेतुता ही उसकी कार्यजननयोग्यता है, फलानन्तर्यभाविता है[7]। एक ही वस्तु एक दृष्टि से कारण व दूसरी दृष्टि से कार्य कही जा सकती है[8]। कारण कार्य का अव्यभिचारी होने से उसका व्यापक है और कार्य व्यभिचारी होने से व्याप्य है[9]। कारणगुण के क्रम से ही कार्य उत्पन्न होता है[10]। नियति दशा में कोई पदार्थ जिसका किसी रूप से अनुसरण करता है वह उसका कारण कहा जाता है जैसे मिट्टी ही घट का मुख्य कारण है[11]। कार्य से कारण इसी अर्थ में भिन्न समझा जाता है कि वह कार्योत्पत्ति में समर्थ है। यह कारण ही विषयभेद से अकारण भी हो जाता है[12] जैसे कि बीजहेतुक अङ्कुर अन्य है, मृज्जन्य घट अन्य है। इसी प्रकार अपने–अपने कार्य व रूप के विषयभेद के कारण बीज अङ्कुर का ही कारण है, घट का नहीं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की द्विरूपता

---

1. तं.आ.,भा. 6 पृ. 30.
2. वही पृ. 24.
3. न च वैषम्यमनापन्नं कारणं कार्यं जनयेत्, बीजं हि जलादिसम्पर्कादुच्छूनतामापन्नं सत् अङ्कुरादि उत्पादयेत् नान्यथा, तथात्वे हि मूलादपि तदुत्पादः स्यात्...। तं.आ.भा. 5 पृ. 174.
4. कारणस्य हि उच्छूनेन अनुच्छूनेन रूपेण च भाव्यम्...। तं.आ.भा. 6 पृ. 120.
5. निर्बाधो नियम एव कार्यकारणताया निबन्धनम्...तं.आ., भा. 6, पृ. 34. पौर्वापर्यात्मा नियमः...। वही पृ. 33.
6. कारणभेदात् कार्यभेदस्याविवादात्...। वही, पृ. 42.
7. नहि हेतुः कदाप्यास्ते विना कार्यं निजं क्वचित्।
   हेतुता योग्यतैवासौ फलानन्तर्यभाविता।। वही, 9/122.
8. ...यदेव कार्यं तदेव कारणं यदेव कारणं तदेव कार्यम्...मायापेक्षया कला कार्यं विद्यापेक्षया च कारणम्...। वही, पृ. 129.
9. कारणं कार्याव्यभिचारितया तद्व्यापकं, कार्यं च तद्व्यभिचारितया व्याप्यम्...। वही, पृ. 245.
10. कारणगुणप्रक्रमेण हि कार्येण भवितव्यम्...। वही.,भा. 8, पृ. 233.
11. नियतिदशायां हि यदेव यस्य केनचिद्रूपेणानुयायि भासते, तदेव तस्य मृदिव घटस्य मुख्यं कारणं...। वही, पृ. 5.
12. कारणमेव कथं अकारणं भवति...विषयभेदात् – ई.प्र.वि, भा.भा. 2, पृ. 37. अङ्कुरादि प्रति कारणभूतं बीजादि एव घटादि प्रति कथं कारणं न भवति...विषयभेदात्...बीजहेतुरङ्कुरोऽन्यः मृज्जन्यो घटोऽन्य इत्येवं स्वस्वकार्यरूपयोः विषयभेदात् बीजमङ्कुरस्यैव कारणं न घटस्य...। कारणाकारणतापरामृष्टबीजमृङ्कुरं प्रत्येव कारणं भवति न तु घट...। भा.भा. 2 पृ. 37.

है–कारणरूपता व अकारणरूपता। एक ही बीज रूप पदार्थ की अङ्कुर के प्रति कारणता है तो घटादि के प्रति अकारणता। इसी प्रकार एक ही वस्तु में विविध कारणरूपता भी हो सकती है। वह एक के प्रति उपादान व अन्य के प्रति सहकारी भी हो सकता है जैसे मृदात्मक वस्तु की घट के प्रति उपादानता है तथा अङ्कुर के प्रति सहकारिता है। इसी प्रकार एक ही वस्तु के एकता व अनेकता रूप से भी द्विविध रूप उपलब्ध होते हैं–(क) वस्तु की अन्तःकरण से एकात्मता होने से एकता (ख) बाह्य देश, काल व आकार रूप से कल्पित होने पर अनेकता[1]। कारण में कार्य सूक्ष्म रूप से अवस्थित रहता है[2]। कारण सदैव कार्य का आपूरक (ओतप्रोत) है[3]। समस्त बाह्य पदार्थों की उत्पत्ति में कारण की अपेक्षा होती है। कोई भी वस्तु स्वयंभू नहीं है, पर उत्पन्न होकर पुनः वह निरपेक्ष रहती है। इसको पुनः उत्पत्ति हेतु किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती[4]।

पर यह समस्त कारण विवेचन कर्ता में ही विश्रान्त होकर अपना सन्दर्भ प्राप्त करता है[5] क्योंकि कारण स्वयं में जड है और जड पदार्थ किसी भी प्रकार का व्यापार करने में सक्षम नहीं है[6]। इसके अतिरिक्त यहाँ कारणकार्यमीमांसा की व्याख्या का ढंग भिन्न होने के कारण कर्ता में ही विश्रान्त सिद्ध होता है क्योंकि यहाँ अन्तःस्थ का बाह्याभासन ही उत्पत्ति है अतः जिसकी अपेक्षा से पदार्थ अन्तः अवस्थित है उसी की अपेक्षा से बाह्य भासित होता है। इस प्रकार चेतन प्रमाता ही उन घटादि कार्यों में कारण है, जड मिट्टी आदि पदार्थ नहीं। अतः प्रमाता के कर्तृत्व के अतिरिक्त अन्य कोई कारणत्व नहीं है[7]। यह प्रमाता बाह्याभासन व आन्तराभासन दोनों में कारण होने पर भी एक ही रहता है, इन द्विविध प्रकार के आभासों से भिन्न–भिन्न नहीं होता, इसलिये यहाँ एक का ही कर्तृत्व सिद्ध होता है[8]। कुछ लोग इस कर्ता के प्रत्यक्ष कारणत्व को न मान कर उसे मात्र

---

1. कारणाकारणवदुपादानसहकारिवत्।...यथा एकस्यैव बीजात्मनो वस्तुनः अङ्कुरं प्रति कारणत्वं घटादि प्रत्यकारणत्वमिति कारणाकारणात्मकं द्विरूपं प्राप्तम्। किञ्च एकस्यैव मृदात्मनो वस्तुनः घटं प्रत्युपादानत्वमङ्कुरं प्रति सहकारित्वमिति द्विरूपं प्राप्तम् तद्वदेवैकस्यैव वस्तुनः अन्तरन्तःकरणैकविषयत्वादेकत्वं बहिर्देशकालाकारकलितत्वेनानेकत्वम्...। भा.भा. 2, पृ. 39–40
2. कारणे हि कार्यस्य सूक्ष्मेण स्वरूपेणवस्थानमुचितम्...। तं.आ.भा. 5, पृ. 222.
3. कारणेन हि स्वकार्यापूरकेण भाव्यम्। यदाहुः 'कारणमापूरकं च तस्यैव' आपूरणमेव च 'ओतप्रोतः' इत्यादिना विभक्तम्। वही, पृ. 214.
4. बाह्यस्य च सर्वस्यैवोत्पत्तौ कारणापेक्षास्ति, नहि स्वयंभू किञ्चित् वस्तु संभवति, उत्पन्नं पुनरन्यनिरपेक्षमेवास्ते, यथा चक्रादिपरिहारेण घटः, इदं पुनरुत्पत्तिनिमित्तं दर्पणादि उपेक्ष्य स्वातन्त्र्येण च किञ्चिदपि सत्तां लभते...। वही, भा. 2, पृ. 28–29.
5. (अ) तत्समर्थाचरणेव कारणमपि कर्तर्येव विश्रान्तम्। वही., भा. 6 पृ. 10.
   (ब) रूपान्वयोपकृतपौर्वापर्यनियमात्मक कार्यकारणतया यतोऽवभासनं परमेशेच्छया न तु वास्तवतया।–त.सा., पृ 70 पा.टि.
6. न कर्तृत्वादृते चान्यत् कारणत्वं हि लभ्यते। त.आ. 9/10
7. यदपेक्षयैव अन्तरवस्थितोऽर्थः तदपेक्षयैवान्तरवस्थितो बहिर्भवेत्, प्रमातुरेव चान्तःस्थितोऽयमिति तत एव बहिर्भायान्नान्यतः...प्रमातुश्च न कर्तृत्वात् अन्यत् कारणत्वम्। वही., भा. 6 पृ. 14, भा.भा. 2 पृ. 161–162
8. प्रमातैव कारणं स च बाह्याभ्यन्तरकार्याभासक्रमोऽप्येक एवेत्येवमप्येकस्य कर्तुः सिद्धा क्रिया। प्र.का.वृ. पृ. 52

निमित्तकारणता प्रदान करते हैं और जड पदार्थों को उपादानकारण कहते हैं पर यह मत उपपन्न नहीं है। यहाँ तो बाह्यतापादन ही उत्पादन है[1]। अतः एक स्वतन्त्र प्रमाता अथवा अहंभाव ही प्रमाता में प्रमेयों की विश्रान्ति का स्थान है, वही पूर्ण स्वातन्त्र्य की स्थिति है, वही परम कारणता है, वही परम सर्जनात्मिका शक्ति है। इसी में समस्त जागतिक इच्छाओं व क्रिया की विश्रान्ति होती है। वस्तुतः एक ही वस्तु के कर्ता व कारण रूप दो अभिधान दो अभिप्रायों से उक्त है, सामान्य अभिप्राय से वह कर्ता कथित होता है व विशेष अभिप्राय से कारण[3]।

करण का कर्ता में अन्तर्भाव—करण का अभिप्राय प्रायः 'साधकतम' से लिया जाता है या जो क्रिया के निष्पादन में प्रकृष्ट कारण हो उसे करण कहा जाता है। काश्मीर शिवाद्वयवाद में करण की व्याख्या कर्त्रंशस्पर्शी रूप में की गयी है। यह कर्त्रंश यहाँ अहंकार है[3]। यह अहंकार शुद्धा सृष्टि में शुद्ध अहं रूप है तथा अशुद्धासृष्टि में द्वैतमिश्रित अहं है। कर्ता ही अपने स्वातन्त्र्य से अपने शरीर को भेदता हुआ अपने कर्मांशस्पर्शी अंश को स्वयं करण बनाता है। यदि करण कर्ता से भिन्न हो तो वह करण ही कैसे होगा, तब तो वह प्रेरणा का विषय होने से कर्म ही होगा। कोई भी क्रिया अकरणिका नहीं है अतः यदि करण को कर्ता से भिन्न माने तो वह प्रेर्य ही होगा फलतः वहाँ अन्य करण खोजने की आवश्यकता होगी और यदि वह भी भिन्न है तो पुनः अन्य को। इस प्रकार अनवस्था दोष की ही सम्भावना उपस्थित होगी[4]। अतः करण का पर्यवसान कर्ता में ही होता है[5] कर्ता की अव्यतिरिक्त शक्ति ही करण बनती है। शुद्धा व अशुद्धा दोनों सृष्टियों में यह करणत्व भिन्न–भिन्न प्रकार का है। शुद्धा सृष्टि में कर्मकर्त्रविशमयी शक्ति कर्तृता का स्पर्श करती हुई करण कही जाती है[6] और शिव कर्ता रहता है और अशुद्धासृष्टि में संकुचित प्रमाता करणीकृत बुद्धिकर्मेन्द्रियों से अभिन्नता का अभिमान कर अत्यन्त पृथक् कुठारादि को करण बनाता है[7]। इसी दृष्टि से यहाँ करण के द्विविध भेद

---

1. बाह्यतापादनमुत्पादनमिति चिद्रूपस्यैव कारणता ततोऽङ्कुरादौ निमित्तकारणत्वेनेश्वरः कैश्चिदिष्टः। प्र.का.वृ., पृ. 53.
2. कारणता इति सामान्याभिप्रायेणोक्तम्। कर्तृता इति तु प्राधान्यात् विशेषाभिप्रायेण। भा.भा. 2, पृ. 206–7.
3. करणत्वेन च अवश्यं कर्त्रंशस्पर्शित्वम्, अन्यथा करणान्तरयोजनायाम् अनवस्थाद्यापातात्। कर्त्रंशश्च अहङ्कार एव...। तं.सा., पृ. 87–88 कर्त्रंशस्पर्शित्वात्...करणत्वम्...। तं.आ., भा. 6, पृ. 196.
4. तस्मात् स्वातन्त्र्ययोगेन कर्ता स्वं भेदयन् वपुः।
कर्मांशस्पर्शिनं स्वांशं करणीकुरुते स्वयम्॥ कर्तुर्विभिन्नं चेत् करणम्...करणमेव कुतो भवेत...प्रेरणक्रियाविषयत्वात् कर्मैव...। न च अकरणिका क्रिया...करणान्तरमन्वेष्यं तच्च भिन्नत्वात्प्रेर्यमेवेति तत्रान्यत्करणमित्यनवस्था। तं.सा., पृ. 94, पा.टि. 8
5. करणभेदस्य कर्तृभेदपर्यवसानात्... शक्तेरेव च अव्यतिरिक्ताया करणीकर्तुं शक्यत्वात्...। वही. पृ. 94.
6. कर्मकर्त्रविशमयी शक्तिश्च कर्तृतां स्पृशत् करण, शिवश्च कर्ता...। तं.आ.भा. 8 पृ. 108 करणं...कर्तृप्रयोज्यं भवति...। वही.भा. 6 पृ. 142.
7. संकुचित एव हि प्रमाता करणीकृतेन तेन बुद्धिकर्मेदियाद्यात्मना स्वांशेन यत् तन्मयीभवनमविभागाभिमानः, तन्महिम्ना व्यतिरिक्तहस्तादिकमपेक्ष्य अत्यन्त व्यतिरिक्तमपि कुठारादिकं करणीकुरुते...एवं कर्तुः स्व एवांशः पृथक् कृतः–इति मुख्यतया करणातमियाद्...। वही भा. 6, पृ. 198.

किये गये हैं–(क) शुद्ध (ख) कर्तृतास्पर्शी[1]।

वस्तुतः तो कर्तृता को भी करण कह सकते हैं क्योंकि करण का लोकप्रचलित अभिप्राय शैव मीमांसा में 'कर्ता' में ही पूर्ण घटित होता है अतः वही मुख्यतया करण है और जो व्यावहारिक जीवन में करण रूप से व्यवहृत पदार्थ हैं उनकी अमुख्य कारणता है[2]।

कारणात्मक शक्ति का कर्तृत्व में अन्तर्भाव–कारण मीमांसा के परिप्रेक्ष्य में कारणात्मक शक्ति का प्रश्न भी सम्मुख उपस्थित होता है क्योंकि किसी कारण सामग्री से एक विशेष समय में ही कार्य की उत्पत्ति होती है अतः उस विशेष काल में ही वह कारण कहलाने की अधिकारी होती है। इस समस्या को सुलझाने के लिये प्रायः कुछ दर्शनों में एक 'शक्ति' की कल्पना कर ली जाती है और समस्त कार्यों का सम्पादक उस शक्ति को बताया जाता है कि जब कारण में वह कारणात्मक शक्ति उत्पन्न हो जाती है तब कारण कार्योत्पत्ति में सक्षम हो जाता है और जब यह शक्ति नष्ट हो जाती है तब असमर्थ रहता है। परन्तु वस्तुतः इन असंख्य शक्तियों की कल्पना करना निरुद्देश्य है। इसी कारण शक्ति व शक्तिमान के मध्य अभेद की उद्घोषक शैव तत्त्वमीमांसा ऐसी किसी कारणात्मक शक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं स्वीकारती वरन् कारण को कर्तृत्व में ही विश्रान्त कर कर्ता के स्वातन्त्र्य को सर्वत्र कर्माभासनार्थ उत्तरदायी बताती है। वह स्वातन्त्र्य ही उसके कार्योत्पत्ति में कभी सक्षम होने व कभी न होने के विषय में सबल प्रमाण है। यह स्वातन्त्र्य अन्य समस्त अपेक्षित शक्तियों को क्रोडीकृत करके अवस्थित है अतः वही समस्त कार्यसमूह के उत्पादनार्थ निमित्त रूप से स्वीकरणीय है।

जड के कारणत्व का खण्डन–इस दर्शन की विशिष्ट तत्त्वमीमांसा सर्वत्र कर्तृकर्मभाव की धारणा का ही पोषण करने से जगत् में सर्वत्र जड[3] के कारणत्व का निषेध करती है और अपने इस मन्तव्य की सिद्धि हेतु लोकप्रसिद्ध दो दृष्टान्तों का पूर्ण खण्डन प्रस्तुत

---

1. तं.स.पृ. 110, यहाँ कर्तृता का स्पर्श तो इन दोनों ही भेदों में रहता है, प्रथम में शुद्ध अहं रूप कर्तृता का स्पर्श है व द्वितीय में अहंभाव से एकात्म इदं चेतना की कर्तृता का। वस्तुतः तो करण कर्ता के बिना कार्य करने में समर्थ ही नहीं है। उसके बिना तो उसके स्वभाव के अपलाप का प्रसंग होगा। (करणानां च कर्तृव्यतिरेके कार्यकारित्वानौचित्यात् स्वस्वभावावसादप्रसङ्गाच्च...अतःकश्चित् कर्तृविशेषोऽप्यर्थत आक्षिप्यते। म.मं., पृ. 13).
2. तं.आ., भा. 6 पृ. 200.
3. यह तत्त्वमीमांसा चित्त्व की अनुस्यूति जगत् के कण कण में मानती है अतः यहाँ जड का अभिप्राय पूर्ण निषेधात्मक नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ मात्र परिमाण में भेद है, गुण में नहीं। पर यह द्रष्टव्य है कि यद्यपि अति अल्प परिमाण में घटित परिमाणात्मक परिवर्तनों से पदार्थ में कोई गुणात्मक भेद नहीं आता पर यह परिमाण बढ़ते–बढ़ते एक सीमा पर पहुँच कर गुणात्मक परिवर्तनों को भी जन्म दे सकता है। इसी कारण काश्मीर शिवाद्वयवाद में ऐसे सन्दर्भों में परस्पर विरोधीस्वभावासंज्ञाओं का प्रयोग उपलब्ध होता है जैसे चित्त्व की परिमाण में अल्पता एक निश्चित सीमा पर पहुँच कर जड संज्ञा से वाच्य हो जाती है या ज्ञान अल्पता की एक सीमा पर पहुँच कर अज्ञान रूप में परिवर्तित हो जाता है, आनन्द ही दुःख बन जाता है तथा विमर्श ही विकल्प बन जाता है पर यह स्थिति सर्वानुवृत्तिमूलक तत्त्वमीमांसा में उपपन्न नहीं सिद्ध होती अतः शैव ग्रंथों मे सर्वत्र परिमाणात्मक भेद पर ही बल देते हुये गुणात्मक भेद का बार–बार निषेध किया गया है।

करती है[1]। यह खण्डन जड की कारणता का भी निषेधक है, साथ ही परमसंविद् के अतिरिक्त अन्य किसी के कारणत्व का भी खण्डक है[2]। इन दो उदाहरणों में प्रथम उदाहरण है बीज से अंकुरोत्पत्ति का व द्वितीय है मिट्टी से घटोत्पत्ति का। प्रथम में मात्र जड बीज की ही कारणता दृष्ट होती है जबकि द्वितीय में चेतन कुम्हार का निमित्त रूप से कर्तृत्व भी अपेक्षित होता है। इनमें से प्रथम उदाहरण के खण्डन का एकमात्र उद्देश्य है जड में कारणत्व के अभाव की धारणा का पोषण क्योंकि जड कुछ भी करने में अक्षम है[3]। जड बीज व अङ्कुर की कारणकार्यता चार विकल्पों–'सत्, असत्, सदसत्, न असत् न सत्' में से किसी रूप से भी नहीं संभव है[4]। अतः यहाँ परमसंविद् का ही कर्तृत्व है[5]। वह अपनी इच्छा से नियतिशक्ति के द्वारा बीजाभास को कारणाभास व पूर्वाभास से मिश्रित करके भासित करता है तथा अंकुराभास को कार्याभास व परताभास से युक्त करके प्रस्तुत करता है फलतः उनमें कारण–कार्य की प्रतीतियाँ होती हैं। इसी प्रकार कुम्हार के उदाहरण में भी यद्यपि दृष्ट चेतन पदार्थ का कर्तृत्व विद्यमान प्रतीत होता है पर वस्तुतः उसे भी मिथ्या अभिमान मात्र रहता है[6] क्योंकि जड पदार्थों (देह, प्राण आदि) के साथ तादात्म्य का अभिमान होने से वह मानवीय प्रमाता जड की ही कोटि में आता है अतः उसका कर्तृत्व भी उपपन्न नहीं होता[7]। परमेश्वर की नियति शक्ति ही वहाँ घट को कार्य तथा मिट्टी व कुम्भकार आदि को कारण कोटि में मर्यादित करती है[8]।

---

1. तं.आ., भा. 6, पृ. 11–14.
2. तस्मात् सर्वपदार्थानामुत्पत्तिकाले सर्वतत्त्वमयशिवतत्त्वोपयोग...कुम्भकारस्यापि घटकरणे सर्वशक्तिशिवात्मता, तदपरिज्ञानात्तु कुम्भकारतेर्त्यः–शि.दृ.वृ., शि.दृ.पृ. 19.
3. अचेतनकार्यकारित्वं हि कादाचित्कत्वात् सनिमित्तम, न चान्यदस्य निमित्तमुपपद्यते अनुपलम्भात्, इति तत् चेतनप्रेरणं. ..।ई.प्र.वि.,भा.भा. 2, पृ. 166.
4. (अ) जडस्य तु न सा शक्तिः सत्ता यदसतः सतः। कर्तृकर्मतत्त्वैव कार्यकारणता ततः।। ई.प्र.का. 2/4/2
   (ब) स्वतन्त्रता च चिन्मात्रवपुषः परमेशितुः, स्वतन्त्रं च जडं चेति तदन्योन्यं विरुध्यते। तं.आ. 9/9.
5. अत एवाङ्कुरेऽपीष्टो निमित्तं परमेश्वरः।
   तदन्यस्यापि बीजादेर्हेतुता नोपपद्यते।। वही, 2/4/8.
6. कुम्भकार का यह कर्तृत्व अभिमान तब समाप्त होता है जबकि ईश्वर की यह इच्छा होती है कि अब इसे यह मिथ्या अभिमान न उत्पन्न हो। यही प्रक्रिया शक्तिपात है। ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 169, म.मं., पृ. 36.
7. तं.आ., भा. 6, पृ. 12.
8. ईश्वरकृतया नियत्यैव कुम्भकारोऽपि मृदादिकं घटकरणे प्रेरयितुं शक्नोति...कुम्भकारः ईश्वरस्थित्या व्यवस्थयैव घटं जनयेत् न स्वतन्त्रतया...अन्यथा स कुम्भकारः घटकरणे तन्तूनपि प्रेरयेत्। व्यवस्था–तत्तन्मृदादिसंस्कारक्रमेण प्रदर्शितनियतिशक्तिविजृम्भारूपया...।ई.प्र.वि., भा.भा. 2, पृ. 168.
   इस प्रकार के उदाहरण में एक दृष्ट चेतन कर्ता के विद्यमान होने पर भी अदृष्ट, चेतन तत्त्व की पूर्वकल्पना निष्प्रयोजन प्रतीत होती है पर यहाँ इस आशंका का विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। यहाँ बताया गया है कि कुम्हार अपनी इच्छा मात्र से घट उत्पन्न नहीं करता अपितु मृदादि की अपेक्षा करके ही उसे उत्पन्न करता है अतः उसका मात्र मृद्संस्कार में ही योगदान रह जाता है। यहाँ मृदादि कारणों से कुम्हार का मात्र इतना वैशिष्ट्य है कि चिकीर्षित घटादि जिस समय उसके चित्त में स्फुरित होंगे तभी कार्योत्पत्ति संभव होगी, उसके बिना नहीं। पर वास्तव में वह भी जड कारणसामग्री में ही परिगणित होता है। वस्तुतः तो परमशिव ही कुम्हार व मृदादि की परस्पर अपेक्षा से कार्य को उत्पन्न करता है। कुम्हार को होने वाला 'मयेदं कृतम्' रूप अभिमान भी परमशिव की महिमा से होता है। द्र.तं.आ.,भा. 6 पृ. 12.

कार्यकारण में एक नियम रहता है। इस नियम में अन्योन्यापेक्षा ही जीवन है और वह जड पदार्थों में संभव नहीं है[1]। यह अपेक्षा द्विविध होती है– अन्योन्यानुषङ्गितात्मिका रूप व अभिप्रायात्मिका रूप। ये दोनों ही जड में किसी भी प्रकार संभव नहीं है। किसी भी सम्बन्ध हेतु अनुसंधानात्मक प्रक्रिया अपरिहार्य है और यह अनुसंधान की प्रक्रिया चैतन्य पर ही निर्भर है। जहाँ अनुसंधान होता है वहाँ चैतन्य होना अनिवार्य है अन्यथा घट को भी पटविषयक अनुसंधान होगा जो उपपन्न नहीं है[2]। अतः चेतन का ही सर्वत्र कर्तृत्व उपपन्न है। स्वातन्त्र्य उसी चिन्मात्र वपु परमेश्वर का स्वरूप है। वह चेतन तत्त्व अपने स्वातन्त्र्य से जड पदार्थों को भी स्वातन्त्र्य रूप चेतनता प्राप्त कराता है क्योंकि जड पदार्थ में स्वयं अन्य वस्तु के आविष्करण की सामर्थ्य नहीं है[3]। यद्यपि जड के कर्तृत्व की बोधक लौकिक प्रतीतियाँ यहाँ उपलब्ध होती हैं जैसे काठ जलते हैं या प्रधान ही जगत है आदि, पर वहाँ भी चेतन का अधिष्ठान रूप से ग्रहण किया गया है[4]। अतः जड का अभिप्राय है परप्रकाश्य व स्वतन्त्र का अभिप्राय है स्वप्रकाश्य तथा स्वातन्त्र्य ही कर्तृत्व है अतः वह जड पदार्थों में कैसे संभव होगा[5]। जड पदार्थों की व्यवस्था तो संवित् में निष्ठ होकर ही संभव है[6]। उन्हें स्वात्मसिद्धि हेतु परप्रकाशात्मक प्रमाता की अपेक्षा होती है अतः वे स्वतन्त्र ही नहीं हो सकते। यद्यपि यहाँ यह आशंका संभव है कि जड पदार्थ में कर्तृत्व का तो निषेध हो जाता है पर कारणत्व की संभावना तब भी बनी रहती है। पर शिवाद्वयवादी मत में यह संभावना भी सुस्थिर नहीं रह पाती क्योंकि यहाँ कारणता कर्तृता से भिन्न कुछ नहीं है। कारणता तो तभी संभव हो सकती है जबकि कार्यता का अभिप्राय बाह्याभासन से अन्य कुछ हो पर शिवाद्वयवादी मत में ऐसा संभव नहीं हैं यहाँ तो अन्तःस्थ भावजात को द्वयेन्द्रियवेद्यता

---

1. नियमे हि अन्योन्यापेक्षा–जीवितम्, सा च जड़ानां न संभवति...। तं. आ. भा. 6 पृ. 16.
2. यत्र यत्र हि अनुसंधानं तत्र तत्र चैतन्यम्, अन्यथा घटस्यापि पटविषयानुसंधानप्रसंगात्। भा.भा. 2, पृ. 190.
3. यहाँ यह शंका संभव है कि इस तत्त्वमीमांसा में सर्वत्र सर्वशिवतायोग स्वीकृत है तब किसी भी पदार्थ (जड) की कारणता संभव हो सकती है तो इस सन्दर्भ में यह समाधान प्रस्तुत किया जाता है कि यहाँ अचेतन वह है जिसका स्वातन्त्र्य आवरित हो गया है पर पूर्ण विलुप्त नहीं। अतः उसका कर्तव्य भी आवरित है, और अब शिवतायोग होने पर भी उसकी कारणता उपपन्न नहीं हो पाती। अतः सभी का पर्यवसान संविद् में ही होने पर उनकी कारणता सिद्ध होती है पर तब उनका अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता। (शि दृ.पृ. 185–188) इसी प्रकार सीमित प्रमाता में भी माया के द्वारा शक्तियों का अंशतः तिरोधान हो जाता है फलतः उसका कर्तृत्व भी संकुचित हो जाता है।
4. तं.आ.भा. 6, पृ. 12–13
5. वही, पृ. 13
6. इत्थ जडभावनां संविद्विश्रान्तिं विनाअसत्कल्पत्वात् स्वात्मन्यसत्स्वभावानां ज्ञातुः प्रकाशस्वभावस्य सम्वन्धितयैव सत्त्वं...अ.प्र.सि.वृ.पृ. 6

की प्राप्ति कराना ही कारणता है। अतः यहाँ जिसकी अपेक्षा से पदार्थ अन्तःस्थ है उसी की अपेक्षा से बाहर भासित होगा फलतः वही कारण है, जड पदार्थ नहीं क्योंकि उसकी अपेक्षा से कार्य का अन्दर व बाहर भासन नहीं होता[1]। यद्यपि यहाँ भी नियतिबद्ध लौकिक जगत् में अन्य बाह्यवादी दर्शनों की दृष्टि के अनुकूल अचेतन पदार्थों में कारणत्व की प्रतीति की जाती है पर वस्तुतः वह मायीय जगत् की मायिक प्रतीति मात्र है। यथार्थतः तो वहाँ भी कर्तृकर्मभाव ही है। इस कर्तृकर्मभाव का कर्तृत्व यों तो परतत्त्व को सौंपा जाता है पर ऐसा कर्तृत्व परमेशेच्छा से समाविष्ट जीवन्मुक्त प्रमाता जिसे 'योगी' भी कहा जाता है, के अधिकार क्षेत्र में भी संभव है। इसी दृष्टि से लौकिक–सृष्टि के अन्दर की योगि–सृष्टि की कारणता को भी पारमार्थिक कार्यकारणभाव की ही परिधि में सीमित किया जा सकता है।

इच्छा की कारणता व कर्तृता–इस दर्शन में अक्सर इच्छा को कारण व कर्ता रूप में उल्लिखित किया गया है। साथ ही बहुधा चित तत्त्व को भी कर्ता बताया गया है। वस्तुतः तो इच्छादि मानसिक क्रियायें चेतन तत्त्व में ही संभव हो सकती है अतः शक्ति व शक्तिमान के मध्य की अभेद की मान्यता इन दोनों प्रकार के प्रयोगों में प्रतीयमान आपातित विरोध की संभावना का परिहार करती है। किसी भी क्रिया हेतु इच्छा की सर्वप्रथम अपेक्षा होती है। इसी दृष्टि से अनेकत्र इच्छा के बाह्य या स्थूल रूप को ही क्रिया कहा गया है[2]। इच्छा जब क्रिया बनती है तभी क्रमरूषित होती है। इसका क्रम है–इच्छति, जानाति, यतते और यह भी कहा जाता है कि–'जानाति, इच्छति, यततें[3]। चित तत्त्व के कर्तृत्व का भी अभिप्राय यही है अतः चाहें सीधे इच्छा को ही कारण व कर्ता कह दें[4] याचित् तत्त्व को कहें जो कि उस इच्छा शक्ति से युक्त होने से उस कर्तृत्व व कारणत्व का अधिकारी होता है, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। इसी कारण इच्छा को भी अक्सर कारण व कर्ता कहा गया है।

कारण प्रकार–किसी कार्य की उत्पत्ति हेतु प्रायः अनेक पदार्थों की अपेक्षा होती है जिन्हें विविध दार्शनिक मीमांसायें अपने–अपने मतानुसार विविध कारण

---

1. प्रमातुश्च न कर्तृत्वात् अन्यत् कारणत्वम्...कर्तृत्वमात्रसतत्त्वं जडस्य कारणत्वं न युज्यते।–तं.आ.भा. 6, पृ. 14.
2. तत्त्वतः परमेश्वरस्य अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपाविच्छिन्नस्वात्मपरामर्शमयी अनन्योन्मुखतारूपा इच्छैव क्रिया...ई.प्र.वि. भा.भा. 2, पृ. 24.
3. इन दोनों मतों में द्वितीय मत ही ज्यादा उपपन्न है क्योंकि इच्छा के लिये इष्यमाण का पूर्वज्ञान आवश्यक है।
4. (अ) इच्छया सर्वभावत्वमनेकात्मत्वमेव च।
   नात्र स्वात्मविकारेण जनयेद्भावमण्डलम्।।–शि.दृ. 3/35
   (ब) चिद्वपुषः स्वतन्त्रस्य विश्वात्मना स्थातुमिच्छव जगत् प्रति कारणता कर्तृतारूपा...।
   म.मं.पृ. 39, प्र.का.वृ.पृ. 58.

कोटियों में वर्गीकृत कर देती हैं पर शैव सम्मत कर्तृकर्मभाव में कारणों को ऐसी किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता। वहाँ तो एक ही कर्ता रूप परमशिव में ही सब कुछ अन्तःस्थ है अतः उसे किसी व्यतिरिक्त पदार्थ की अपने कर्म हेतु अपेक्षा नहीं होती। फलतः अन्य दर्शनों में उपलब्ध कारण विभाग यहाँ संभव नहीं है। पर परमार्थतः ऐसी स्थिति होने पर भी सृष्ट कार्यकारणभाव का क्षेत्र द्वैतता की विकल्पात्मक प्रतीतियों का ही अधिकार क्षेत्र है अतः यहाँ यह विभाजन औपाधिक रूप से स्वीकरणीय है। यहाँ त्रिविध कारण भेद किये जा सकते हैं–(क) निमित्त कारण (ख) समवायि कारण (ग) असमवायि कारण। यद्यपि यह कारण–विभाजन बिलकुल न्याय जैसा है पर यहाँ न्याय से विशिष्टतया असमवायिकारण को सहकारी कारण वर्ग के साथ समीकृत किया गया है। कहीं–कहीं दो ही वर्गों में भी कारण का विभाजन यहाँ उपलब्ध होता है–उपादान व निमित्त[1]। पर ये कारण शिव से विविक्त नहीं है वरन् परम शिव ही एकमात्र कारण है, मात्र उसकी अपनी इच्छा से उसका संज्ञाभेद से त्रित्त्व दृष्ट होता है। इस दृष्टि से यह भी कह सकते हैं कि परम शिव स्वयं निमित्त कारण है, उसकी इच्छा समवायि कारण है तथा घटादि वस्तु का सत्ता व इच्छा से अन्वय होने से वह अवयव संयोग ही सहकारी असमवायि कारण है[2]। यद्यपि इस दर्शन में मायापद में सारी प्रक्रिया न्यायवत् ही स्वीकृत की गयी है[3] पर अपनी तत्त्वमीमांसा की आवश्यकता के अनुरूप उसमें यथास्थान परिवर्तन भी कर लिये गये हैं अतः न्याय के समवाय के प्रत्यय को ग्रहण कर भी उसका अभिप्राय यहाँ बदल दिया गया है। समवाय यहाँ दो भिन्न पदार्थों को जोड़ने वाला सम्बन्ध न होकर तादात्म्य सम्बन्ध का ही पर्याय है। फलतः समवायिकारण की बजांय उपादानकारण शब्द का प्रयोग अधिक उपपन्न होता पर फिर भी अन्य दर्शनमीमांसाओं के प्रभाव से प्राप्त यह प्रयोग यहाँ अक्सर उपलब्ध होता है पर इसका अभिप्राय यहाँ न्याय से भिन्न है। यहाँ समवायिकारण वह है जो कार्य की उत्पत्ति से नित्य सम्बद्ध रहता है जैसे कि घटोत्पत्ति में मृत्तिका व दधि की उत्पत्ति में दूध[4]।

---

1. हेतुश्च द्विविधः–उपादानं निमित्तं च, उपादानं यथा घटादौ मृदादि, निमित्तं यथा तत्रैव दण्डादि तं.आ., भा. 2 पृ. 68.
2. शिवस्यैवेकस्य कारणत्वे निमित्तसमवाय्यसमवायित्यवैचित्र्येण तस्य विचित्रता त्रितयात्माख्या न दोष...। अथ वा स्वयं स तावन्निमित्तकारणं, तदिच्छा समवायिकारणं, घटादिवस्तुनः सत्तेच्छान्वयात् स एव चावयवसंयोग् सहकार्यसमवायिकारणम्...।–शि.दृ.वृ., शि.दृ पृ. 131.
3. नैयायिकक्रमस्यैव मायापदे पारमार्थिकत्वम्...ई.प्र.वि., भा.भा.।पृ. 43.
4. यत्कार्योत्पत्तौ नित्यमेव सम्बद्धं तत् समवायिकारणं यथा घटोत्पत्तौ मृत्तिका, दध्नि वा क्षीरम्। शि.दृ.,पृ. 61, पा. टि. 8.

समवायित्व होने पर उपादान व उपादेय की एक प्रवाह रूप से अभिन्न योगक्षेमता[1] प्राप्त हो जाती है फलतः कालभेद होने पर भी उनमें अन्यथात्व नहीं होता[2]। इसके अतिरिक्त अनेकत्र 'उपादान कारण' संज्ञा का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ कहा गया है कि उपादान कारण वह है जो स्वरूप विकार को प्राप्त करके कार्यानुगामी रूप से विद्यमान रहता है जैसे घटादि में मृत्तिका[3]। इसी प्रकार अणु की उत्पत्ति में माया ही उपादान कारण है जिसका जो रूप किसी धर्म के द्वारा अनुयायि रूप से भासित होता है वह उसका उपादान कारण है[4]। इस उपादान कारण के बिना जगत् की उत्पत्ति नहीं संभव है। जैसे कर्ता के बिना कार्य नहीं संभव है वैसे ही उपादान व करण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं संभव है[5]। उपादान कारण में कोई सन्निवेश विशेष रूपता नहीं होती अन्यथा एक ही उपादान से कई प्रकार के सन्निवेश वाले पदार्थों की उत्पत्ति संभव नहीं होती[6]।

सहकारी कारण वे हैं जो उपादान कारण के साथ सहभावता को प्राप्त कर कार्य को आविर्भूत करते हैं[7]। ये सहकारी कारण उपादान का प्रगुणन, परिवर्तन आदि रूप से उपकारमात्र करते हैं[8]। अन्य दर्शनों में स्वतन्त्र कारण रूप में अभिगणित 'करण' भी सहकारी कारण के अन्तर्गत आता है। कभी-कभी इन सहकारियों के अभाव में भी कार्योत्पत्ति होती है जैसे कि योगी सहकारियों के बिना भी कार्योत्पत्ति में सक्षम है[9]। ये सहकारी परस्पर मिलकर कार्योत्पत्ति करते हुये परस्पर योग में विचित्र वृत्त वाले देखे जाते हैं जैसे कि बीज भूमि जल आदि से मिलकर विशिष्ट सन्निवेशवान् अंकुर को जन्म देता है[10]। इन सहकारी कारणों की व्यवस्था हेतु भी बुद्धिमत् कर्ता की आवश्यकता होती है[11]। ये ही नैयायिकों के असमवायिकारण भी हैं।

---

1. योगक्षेम का इस प्रसंग में अभिप्राय है-योग-स्वरूप से स्थिति, क्षेम-अर्थवत्तया स्थिति। शि.दृ.पृ. 61, पा.टि. 9
2. समवायित्वे तु क्षीरस्यैव दध्युपादानकारणत्वे सति उपादानोपादेययोरेकप्रवाहरूपत्वेनाभिन्न योगक्षेमता प्राप्ता, कालभेदेप्यन्यथात्वं न स्यात्। शि.दृ.वृं., शि.दृ. पृ. 61.
3. उपादानकारणं हि स्वरूपविकारमासाद्य कार्यानुगामित्वेन वर्ततै यथा घटादौ मृत् नैवमस्याः,...अस्या मायैव उपादानकारणम्। तं.आ., भा. 6, पृ. 139, तं.सा., पृ. 80, पा.टि.
4. ...यदीयमेव यस्य रूपं केनचिद्धर्मेणानुयायि भासते तदैव तस्योपादानकारणम्...। तं.आ., भा. 6, पृ. 31.
5. उपादानं विना जगदुत्पत्त्ययोगात्। वक्ष्यति चात्र कर्त्रा विना न कार्यं न तथोपादानकरणाभ्याम्।-त.प्र.पृ.13, पृ. 75
6. ई.सि., पृ. 2, 4.
7. ...ये ते सहभावमापन्नाः कार्यमाविर्भावयन्ति ते परस्परं योगे विचित्रवृत्तयो दृश्यन्ते। तथा हि बीजान्तर्गमेनन बीजभूता जलभूम्यादौ यो रसादिपरिणामात् दीर्घप्रचितसंनिवेशमङ्कुरं सहकारितया कुर्वन्ति।-ई.सि., पृ. 10.
8. सहकारिकारण-प्रगुणन-परिवर्तनाद्युपकारमात्रचरितार्थत्वात्...। तं.आ. भा. 6, पृ. 36.
9. सहकारिणश्च कदाचिदसंभवेऽपि न काचित् क्षतिः-तं.आ.वि.,तं.आ.भा. 11, पृ. 82....
10. ई.सि., पृ.10
    सामर्थ्य योगिनो यद्वद्विनापि सहकारिणाम्। त.आ., 28/211.
11. वही, पृ. 11.

प्रायः निमित्त कारण का अभिप्राय ऐसे कारण से लिया जाता है जो उपादान व सहकारी को कार्योत्पत्ति हेतु प्रेरित करता है जैसे कि विश्वोत्पत्ति में न्याय अणुओं को उपादान तथा ईश्वर को निमित्त मानता है या वेदान्त माया को उपादान व ब्रह्म को निमित्त मानता है पर इस दर्शन में परम शिव ही निमित्त भी है व उपादान भी है। जबकि अन्यत्र निमित्त कारण की स्थिति बदल जाती है। वहाँ निमित्त कारण की परिभाषा दी जाती है कि जो कार्य की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक है पर फिर भी असम्बद्ध है वह निमित्त रूप कारण है[1]। पर यह दर्शन अभिन्ननिमित्तोपादानवादी है और यह अभिन्न निमित्तोपादान यहाँ वेदान्तवत् लक्षणा से सिद्ध न होकर अभिधा से ही सिद्ध होता है। इन विविध कारणों में से सभी सर्वत्र कारण नहीं होते वरन् कोई किसी विशेष स्थिति में कारण होता है व किसी विशेष स्थिति में अकारण। साथ ही एक ही कारण कहीं उपादान है व कहीं सहकारी[2]।

इन कारणभेदों के अतिरिक्त अनुमिति की दृष्टि से हेतु[3] चर्चा के प्रसंग में यहाँ द्विविध हेतु उपलब्ध होते हैं–(क) स्वभाव हेतु (ख) कारण हेतु। इनके प्रसंग में इस दर्शन में बौद्ध मान्यताओं व सिद्धान्तों का ही पर्याप्त मात्रा में अनुसरण किया गया है। स्वभाव हेतु में स्वभाव ही हेतु बनता है। इसमें दो सम्बन्धियों के मध्य समानाधिकरण्य या तादात्म्य सम्बन्ध रहता है जैसे 'वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्' में। इसमें हेतु व हेतुमान का आधार एक ही है तथा द्वितीय है कार्य हेतु जिसमें कार्य ही हेतु बनता है। इसमें दो सम्बन्धियों के मध्य कार्य कारण सम्बन्ध रहता है जैसे 'वह्निमानयं पर्वतो धूमवत्त्वात्' में। पर वस्तुतः तो दोनों ही उदाहरण तदुत्पत्तिमूलक है[4] क्योंकि प्रथम हेतु में भी वह शिंशपा का बीज ही वृक्ष को उत्पन्न करने के साथ–साथ उसका स्वभाव भी नियत कर देता है। फलतः कार्यकारणभाव दोनों के मूल में रहा, एक में अप्रत्यक्षतया और दूसरे में प्रत्यक्षतया[5]। यद्यपि कहीं इनकी दो हेतु रूप में चर्चा उपलब्ध होती है और कहीं–कहीं

1. यत्कार्यसिद्धौ बहूपकारकमसम्बद्धं च तन्निमित्ताख्यं कारणं यथा पटोत्पत्तौ वेमादि।...कार्येण असदृशम, कार्यकारणयोः पृथक्स्थित्वात्। शि.दृ.,पृ. 61, पा.टि. 5–7.
2. कारणाकारणवत् उपादानसहकारिवत्।...यथा एकस्यैव बीजात्मनो वस्तुनः अङ्कुरं प्रति कारणत्वं घटादि प्रत्यकारणत्वमिति कारणाकारणात्मकं द्विरूपं प्राप्तम्। एकस्यैव मृदात्मनो वस्तुनः घटं प्रति उपादानत्वमङ्कुरं प्रतिसहकारित्वमिति द्विरूपं प्राप्तम्। भा.भा. 2 पृ. 39–40.
3. हेतु मानसिक या बौद्धिक कारण तथा कारण उत्पादक कारण रूप में समझा जाता है। इनका ही अंग्रेजी पर्याय 'रीजन' व 'कॉज' है। यहाँ हेतु से तात्पर्य ज्ञापक कारण है जिसकी चर्चा प्रमाण शास्त्र का ही विषय है।
4. अतएव कार्यं स्वभावो तदुत्पत्तिगर्भो योगिनिर्मितत्वाभाव...तन्निश्चये पुनरीश्वरनियत्यपेक्षया हेतुता स्यात्।–प्र.का.वृ.पृ. 54.
5. ...कार्यं हेतुः स्वभावो वात एवोत्पत्तिमूलजः। ई.प्र.का. 2/4/11

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अनुमान हेतु व्याप्ति निर्धारण के लिये तदुत्पत्तिं नियम की सहायता ली जाती है और उस तदुत्पत्ति का निर्धारण कार्यकारणभाव के द्वारा होता है। वह कार्यकारणभाव अन्वय–व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर निश्चित होता है फलतः अन्योन्याश्रयदोष की आपत्ति की संभावना संभव है। परन्तु इन दोनों के व्यापारों में भेद होने से यह दोष ठहर नही पाता क्योंकि जहाँ व्याप्ति कार्यकारणभाव में ज्ञापक कारण है वहीं व्याप्ति–ग्रहण मे कार्यकारणभाव कारक कारण है।

एक ही स्वभाव हेतु के ये दो भेद किये गये हैं–

(क) अन्तर्लीन कार्यकारणभाव वाला स्वभाव हेतु।

(ख) तद्विपरीत स्वभाव हेतु[1]।

इन दोनों के ही उदाहरण हैं क्रमशः 'वह्निमानयं पर्वतो धूमवत्त्वात्' तथा 'अनित्योऽयं कृतकत्वात्'। तद्विपरीत स्वभाव हेतु के अभिप्राय के सन्दर्भ में दो विकल्प संभव हैं कि जिसमें कार्यकारणभाव अन्तर्लीन न हो अथवा जहाँ कार्यकारणभाव हो ही नहीं। पर इनमें से द्वितीय विकल्प तो संभव ही नहीं है क्योंकि यहाँ सब कुछ तदुत्पत्तिमूलक है। अतः प्रथम विकल्प ही स्वीकरणीय है। यद्यपि तदुत्पत्ति की ही सर्वत्र प्रधानता है पर फिर भी इसे स्वभाव हेतु कहने में कुछ विचित्रता प्रतीत होती है। संभवतः इस प्रयोग का उद्देश्य है इस दर्शन की अद्वैतपरक तत्त्वमीमांसा का बोध कराना जिसके कि अनुसार समस्त पदार्थ एक दूसरे से तादात्म्य सम्बन्ध से ही सम्बद्ध है। कार्यकारणरूपता तो मात्र नियति की क्रीडा है। व्यावहारिक जगत् के तो सभी स्वभावहेतु नियति की अपेक्षा से ही सिद्ध होते हैं। प्रायः वस्तु प्रसिद्ध स्वकारण से ही उत्पन्न होती है पर योगिसृष्टि में इस स्थिति का विपर्यास भी उपलब्ध होता है[2]।

कारणसामग्रीवाद—यद्यपि एक कार्य की उत्पत्ति में कई कारणों की अपेक्षा होती है पर उन भिन्न–भिन्न कारणों की स्वतन्त्रतया कारणता उपपन्न नहीं है। क्योंकि कोई भी कारण अकेले किसी कार्य को उत्पन्न करने में सक्षम नहीं है[3]। इसी कारण इन कारणों के समग्र रूप को ही कारण कहा जा सकता है क्योंकि वही कार्योत्पत्ति में सक्षम है। इन सब व्यस्त कारणों की एक स्थल पर विश्रान्ति होती है वह भित्तिस्थानीय विश्रान्तिस्थल चेतन परम प्रमाता ही है[4]। यहाँ यह आशंका संभव है कि यदि कारणों की व्यस्त रूप से कारणता नहीं संभव है तो मात्र उनको समग्र रूप से ही कारण मान लिया जाये, सामग्री रूप इनका एक अतिरिक्त वपु मानने का क्या प्रयोजन है। तो यहाँ इसका यह समाधान प्रस्तुत किया गया है कि यदि समस्त रूप से इनका किसी एक रूप से ऐकात्म्य नहीं होगा तो उन देशकाल से विप्रकृष्ट समकोटिक पदार्थों की भी हेतुता का प्रसंग होगा। पर यदि

1. इह द्विविधो हि स्वभावहेतुरन्तर्लीनकार्यकारणभावस्तद्विपरीतश्च, वह्निमानयं पर्वतो धूमवत्त्वात् इति, अनित्योऽयं कृतकत्वात् इति। ई.प्र.वि., भा.भा. 2, पृ. 179.

2. यद्यपि योगिसृष्टि में नियत कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति दृष्ट होती है अतः अनुमान की संभावना का ह्रास होता है तो इस सन्दर्भ में यही कथित है कि योगीच्छा पदार्थ की उत्पत्ति मात्र में कारणता का विपर्यास करती है पर पदार्थ के साध्य अर्थात् फल में कोई अन्तर नहीं उत्पन्न होता। इस प्रकार वहाँ अनुमान की कोई क्षति नहीं होती।

3. अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान करने वाला पदार्थ ही कारण कहा जाता है और यह स्थिति व्यस्त मृद्दण्डादि पदार्थों में नहीं संभव है वरन् समग्र रूप मे ही संभव है।

4. समग्राणामेकप्रमातृविश्रान्तिसतत्त्वमेक रूप सामग्री, न पुनर्व्यस्ताः समग्राः दण्डादयः कारणम्...। तं.सा., पृ. 71

कहें कि विप्रकृष्ट पदार्थों का अन्वय व व्यतिरेक से अनुविधान ही प्रसिद्ध है अतः यह प्रसंग ही नहीं संभव है, तो प्रश्न है कि अनुविधान हेतु देशकालसन्निकर्ष विवक्षित है या रूप सन्निकर्ष। रूप सन्निकर्ष शैवों को अभीष्ट नहीं है व देशकालसन्निकर्ष तो अन्य पदार्थों का भी संभव होगा अतः यदि वह विवक्षित है तो वे अनपेक्षित पदार्थ भी वहाँ कारण होंगे। अतः नियत देश काल में स्थित पदार्थों की ही कारणता सिद्ध करने के लिये उनकी एक प्रमाता में विश्रान्तिरूपता अवश्य स्वीकरणीय है[1]। इस प्रकार उसी पारमार्थिक भित्तिस्थानीय रूप की पृष्ठभूमि पर यह सम्पूर्ण कार्यकारणभाव उल्लसित होता है[2]।

इस प्रकार समस्त कारणों की एक प्रमाता में विश्रान्ति रूप सामग्री की ही सर्वत्र कारणता है। समस्त कर्म, करणदि एक कर्ता में विश्रान्त होकर ही एक सामग्री का अंशभूत होकर कारण है[3]। वह सामग्री स्वतन्त्र संवेदन की महिमा से समस्त भावसन्दर्भों से युक्त होने पर भी नियत देश काल में विविध वस्तुओं की निष्पत्ति के समय तथाभूतता को प्राप्त करती है[4]। यह सामग्रीवाद यहाँ के कर्तृकर्मवादी सिद्धान्त का ही पोषक है तथा विश्वमय परमशिव की ही एकमात्र कर्तृता में उपोद्बलक है[5]। इस प्रकार घट की उत्पत्ति में सामग्री ही हेतु[6] है।

यद्यपि यहाँ समस्त (सामग्री) की ही कारणता कथित है पर अक्सर व्यस्त (अलग–अलग प्रत्येक कारण) की कारणता के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। पर व्यस्त की कारणता के प्रसंग में कई समस्यायें संभव हैं जैसे कि तब कारणभेद भी नहीं संभव हो सकेगा और फल में भी असामंजस्य होगा क्योंकि मिट्टी व बीज आदि समान रूप से कई कार्यों के कारण हैं तो कैसे कारणभेद से कार्यभेद संभव होगा। जैसे बीज जामुन के पेड़ में भी कारण है व आम के पेड़ में भी तो उसकी विशिष्ट रूपता कैसे सिद्ध हो सकेगी। साथ ही यदि प्रत्येक अपेक्षित पदार्थ की व्यस्त रूप से कारणता मानी जाये तो सबसे अलग–अलग अनेकों कार्यों की उत्पत्ति होगी, समग्रतया एक कार्य की नहीं क्योंकि

---

1. तं.आ., भा. 6, पृ. 38.
2. पारमार्थिके हि भित्तिस्थानीये स्थिते रूपे सर्वं इदम् उल्लिख्यमानं घटते न अन्यथा, अतएव सामग्र्या एव कारणत्वं युक्तं। त.सा. पृ. 70.
3. यदुक्त–आरम्भे भव सर्वत्र कर्म वा करणादि वा।
विश्वमस्तु स्वतन्त्रस्तु कर्मतत्रैकको भवान्।। वही. पृ. 71 प.टि. 10.
4. सा हि समस्तभावसन्दर्भमयी स्वतन्त्रसंवेदनमहिम्ना तथा नियतनिजनिजदेशकालभावराशिस्वभावा प्रत्येकं वस्तुस्वरूपनिष्पत्तिसमये तथाभूता...। वही, पृ. 71.
5. ...सामग्रीवादोऽपि विषयशरीरस्य संवेदनस्यैव कर्तृतायामपोद्बलकः। वही.पृ. 72. इस अद्वयवादी मीमांसा के कारण जैसे यहाँ सामग्रीकारणवाद मान्य है वैसे ही सामग्रीप्रामाण्यवाद भी स्वीकृत है। द्र.भा.भा. 2 पृ. 83, तं. आ.भा. 3, पृ. 88–92.
6. इसको हेतु इसी दृष्टि से कहा गया है कि यहाँ पदार्थ की उत्पत्ति नहीं, मात्र आभासन होता है और हेतु का कार्य ज्ञापन कराना है।

कारणभेद से कार्यभेद होता है[1] अतः अनेकों घटों की उत्पत्ति होगी जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध तथ्य है[2]। यही कारण–बहुत्व की समस्या भी उपस्थित होती है। तब विविध कारणों से उत्पन्न कार्य जैसे गोमय, कीटादि विविध कारणों से उत्पन्न वृश्चिक एक कैसे होगा व एक ही अर्थक्रिया की पूर्ति कैसे करेगा अतः यहाँ इस समस्या के समाधान रूप में विमर्श के अभेद की मान्यता को प्रस्तुत किया जाता है अर्थात् सभी कारणों से उत्पन्न कार्य के विमर्श में अभेद रहता है अतः विविध कारणों से एक ही कार्य की उत्पत्ति स्वीकृत होती है, नाना कार्यों की नहीं[3]। विमर्श भेद से ही विमृश्य में भेद होता है। वस्तुतः तो व्यस्तों की कारणता के जो विवरण मिलते हैं उनके पीछे यही दृष्टि है कि यद्यपि यहाँ सामग्री ही हेतु है पर उस विशिष्ट कारणदशा की उस सामग्री में प्रधानता है क्योंकि अन्य कारणात्मक दशाओं के विद्यमान रहने पर भी अनिवार्यतया कार्योत्पत्ति नहीं होती पर इसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति तुरन्त कार्य की सत्ता या असत्ता को प्रभावित करती है अतः उसे विशिष्ट कारण रूप में प्रस्तुत किया जाता है[4]।

शैव सत्कार्यवाद या सत्कारणवाद–शिवाद्वयवादी कारणमीमांसा का विश्लेषण करने पर यह मीमांसा सत्कार्यवाद व सत्कारणवाद के दो छोरों तक पहुँचने का प्रयास करती प्रतीत होती है। वस्तुतः तो यहाँ की सर्वानुवृत्तिमूलक तत्त्वमीमांसा इन दोनों ही विपरीत छोरों को अद्वयवाद के ऐसे दृढ़ बन्धन से आबद्ध करती है कि इन दोनों धारणाओं का आपातिक भेद मिट कर वे एक धारणा या प्रक्रिया के द्विविध पहलू बनकर हमारे समक्ष आते हैं। यों तो कार्य व कारण दोनों को सत् मानना प्रायः बहुत्ववादी तत्त्वमीमांसा को ही पुष्ट करता है पर यह दर्शन प्रत्ययवाद का सहारा लेकर उस बहुत्ववाद की आशंका का परिहार कर प्रतिबिम्बवाद के द्वारा एक की ही अनेकता कहते हुये कार्य कारण दोनों को सत् कहता है। यह कारण व कार्य का सम्बन्ध एक से अनेक का सम्बन्ध है, मध्यवर्ती प्रक्रिया प्रतिबिम्बन रूप है। डॉ. दासगुप्ता के मत में तो केवल वेदान्त ही सत्कारणवाद का पोषक है पर यह दर्शन भी विश्वोत्तीर्ण तत्त्व की दृष्टि से सत्कारणवादी कहलाने का अधिकारी हो सकता है। यहाँ कार्य प्रत्ययात्मक सत्ता रखते हैं अतः वे वेदान्तवत् विवर्तरूप न होकर सांख्यवत् सत् हैं पर कारण से अभिन्न भी हैं अतः यह सिद्धान्त सत्कारणवाद का भी पोषक सिद्ध होता है।

इस प्रकार यह कर्तृकर्मभाव की धारणा सत् के ही आभासन की धारणा का पोषण करती है क्योंकि शिवाद्वयवादी सर्वशिवता की मान्यता का प्रमुख आधारस्तम्भ यही

1. अवश्यमेव हेतुभेदात् फलभेदः इति नायमेकान्तः। तं.आ.भा. 1, पृ. 201.
   कारणस्य वैचित्र्यात् कार्यमपि तथैव भवेद्....। वही., भा. 6, पृ. 111.
2. वही पृ. 35.
3. वही पृ. 42–44; भा. 4, पृ. 85–86.
4. कभी कभी पर्याप्त कारण के विद्यमान होने पर भी कार्य नहीं उत्पन्न होता। वहाँ यही कारण है कि दृष्ट कारण–सामग्री के विद्यमान रहने पर भी कोई ऐसा अदृश्य प्रतिबन्धक कारण वहाँ अवश्य है जिससे कि कार्योत्पत्ति नहीं होती। द्र., वही भा. 7, पृ. 105

सत्कार्यवादी तत्त्वमीमांसा है। इसी दृष्टि से यहाँ कथित है कि सम्पूर्ण आभास्य जगत् कर्म रूप कार्यावस्था को प्राप्त करने से पूर्व शिव रूप कर्ता में ही शक्ति रूप से अवस्थित है और उत्तरकाल में कर्ता की इच्छानुसार कर्म रूप में आभासित होता है[1]। पर सत्कार्य के अवभासन की धारणा का प्रतिपादन करने से इस दर्शन में सांख्यवत् ही विविध आक्षेपों की शंका उत्पन्न होती है[2]। क्योंकि सत् कार्य का आभासन कारण व्यापार की निरर्थकता का प्रतिपादन करता है पर यदि इस कारण व्यापार की कृतकार्यता पूर्वसत् की अभिव्यक्ति मात्र में मानें तो इस शंका का समाधान हो जाता है पर अन्य दर्शन इस अभिव्यक्ति के विषय में भी पुनः पूर्वसत् या असत् की आशंका उपस्थित करते हैं जो कि शिवाद्वयवादी मत के अनुकूल नहीं है। यहाँ तो अभिव्यक्ति या आभास पदार्थ का स्वरूप ही है[3], जैसे दीपक के द्वारा पूर्वसत् घटादि की ही अभिव्यक्ति की जाती है वैसे ही परमसंवित् रूप कर्ता भी पूर्वसत् पदार्थों की ही बाह्यतया अभिव्यक्ति या आभासन करता है[4]। यदि पदार्थों (कार्य) को पूर्वसत् न माना जाये तो कार्यकारण सम्बन्ध के क्रियाकारकसम्बन्ध से युक्त होने से कारक किसका आश्रय लेकर प्रवर्तित होंगे और विषय का अभाव होने पर उनकी किञ्चिदुत्पत्ति की सामर्थ्य की भी अनुपपत्ति होगी क्योंकि वह सामर्थ्य विषयसापेक्ष है[5]। इस सन्दर्भ में पूर्वकाल में अन्यत्र दृष्ट विषय भी उनके आधार रूप मं नहीं बताया जा सकता क्योंकि अन्य के द्वारा अन्य का कलन संभव नहीं है। इस प्रकार सत् कार्य का ही आभासन उपपन्न होता है परन्तु कार्य की उत्पत्ति के लिये कारण व कार्य में अवस्था, लक्षण व परिणाम सम्बन्धी भेद होना अनिवार्य सिद्ध होता है। साथ ही कारण में कार्य चाहें सत् हो या न हो पर कारण का स्वरूपनाश होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है अतः विश्वरूप कार्य की उत्पत्ति में उस चित्तत्त्व रूप कारण के स्वरूप नाश का प्रसंग उपस्थित होता है, पर इन सब का समाधान यहाँ यही प्रस्तुत किया गया है कि ये सब समस्यायें वस्तुतः कार्यकारणभाव के ही प्रसंग में उपस्थित हो सकती हैं, कर्तृकर्मभाव में नहीं। इसमें तो शिव ही समस्त भावजात को गर्भीकृत रूप में धारण किये हुये उनके बाह्यतया प्रकटन के समय स्वयं ही उन–उन रूपों में अवस्थित होता है[6]।

---

1. स एवास्ते परा तादृक्शक्तिरूपस्वरूपकः।
स एव कार्यरूपेण भगवानवकल्पते।। शि.दृ., 4/34
यद्यपि महासामान्य रूप परमशिव में भावों का कार्य रूप से अवस्थान उचित नहीं है पर उस पर विशेषानुगम से कल्पित अपरसामान्यवत् ही उस कार्यता का आरोपण किया जाता है। इसी दृष्टि से कार्य व कर्ता में कुछ भी भेद नहीं हैं। वही.पृ.165 प.टि.।
2. वही. 4/35–37
3. व्यक्तिश्च प्रकाशमानता प्रकाशात्मकता, अङ्कुरादेरनादिनिधनस्य सत् एव चित्प्रकाशस्य तेन तेन आत्मना अवस्थानमभित्यभिव्यक्तिवादिनां सत्कार्यवाद उक्ता भवति। शि.दृ.वृ.शि.दृ.पृ. 165.
4. दीपेन क्रियते व्यक्तिर्घटादेः सत् एव वा।। 42।।
यथा सतः क्रियाव्यक्तिर्व्यक्ते सत्त्वे तथा कृतिः।। शि.दृ., आ. 4
5. शि.दृ.वृ., शि.दृ., पृ. 166.
6. शि.दृ.,पृ. 160, पा.टि. 4

उपादानकारण व कार्य के मध्य का अविनाभाव सम्बन्ध भी कार्य रूप जगत् तथा कारण रूप परमशिव की एकता के उपपादन द्वारा सत्कार्य के ही आभासन की धारणा का साधक है क्योंकि दोनों में मात्र नामसंस्थान का भेद है, अन्य कोई विशेष भेद नहीं[1]।

इसी प्रकार सत् कारण की धारणा भी यहाँ सम्यक् सिद्ध है। जब परम कारण समस्त कार्य रूप भावजात को अपने अन्तस्तल में गर्भीकृत करके सर्वोत्तीर्ण रूप से **अवस्थित** होता है तब मात्र कारण की ही सत्ता रह जाती है, कर्मभूत कार्य की कहीं प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती। इसी दृष्टि से इस मीमांसा को सत्कारणवाद का भी नाम दिया जा सकता है।

परमशिव के कर्तृत्व की विविध विधायें—यह परम शिव का कर्तृत्व यहाँ त्रिविध रूपों[2] में दृष्ट होता है–

(1) पारमार्थिक सृष्टि में

(2) नियत्यनुप्राणित सृष्टि में

(3) योगिसृष्टि में

1. **पारमार्थिक सृष्टि**—इस सृष्टि को ऐश्वरी या अलौकिक सृष्टि भी कहते हैं। यहाँ कार्यकारणभाव की प्रतीतियाँ न होकर सीधे कर्तृकर्मभाव ही उपलब्ध होता है। यहाँ चिद्रूप परमेश्वर ही कर्ता है, विश्व ही उसका कर्म है, मध्यवर्ती क्रिया आभासन है तथा इस क्रिया का प्रेरक वही स्वातन्त्र्य या स्वेच्छा है। यहाँ मात्र परमशिव या परमेशेच्छा का ही कर्तृत्व है। यह कर्तृत्व यहाँ पाँच रूपों में अभिव्यक्त होता है–(क) सृष्टि (ख) स्थिति (ग) संहार (घ) तिरोभाव (ङ) अनुग्रह। इन पाँचों रूपों में ही आभास्य पदार्थ के रूप में एक वैशिष्ट्य उत्पन्न हो जाता है। सृष्टि की दशा में उसका अन्तःस्थ से बाह्यतः भासन होता है जो कि कर्तृकर्मभाव की स्पष्ट प्रक्रिया है, स्थिति की दशा में कुछ क्षण पदार्थ उसी रूप में स्थित रहते हैं पर यह स्थिति नदी–प्रवाह या दीपक–ज्वालवत् ही है। अतः कार्यकारण की प्रक्रिया वहाँ भी चलती रहती है, संहार की दशा में बाह्य का अन्तः संहरण होता है, (यहाँ कारणात्मक प्रक्रिया रूप आभासन का तात्पर्य वस्तुओं का बाह्यतया अवभासन न होकर अभीष्ट कर्म का आभासन मात्र है अतः इस स्थिति में भी उसकी कारणात्मक कर्तृता सिद्ध हो जाती है), तिरोभाव में स्वस्वरूपसंकोच[3] की ही इच्छा है, तथा अनुग्रह में उस पदार्थ से ऐकात्म्य की स्वीकृति है। छत्तीस तत्त्वों का विकास इसी

1. शि.दृ. 4/51–52
2. यद्यपि शैव ग्रंथों में द्विविध कार्यकारणभाव के ही उल्लेख प्राप्त होते हैं पारमार्थिक व सृष्ट (तं.सा., पृ. 69–70 पा.टि. 4) पर इन में से सृष्ट को ही पुनः दो वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं–नियत्यनुप्राणित सृष्टि व योगिसृष्टि।
3. यह स्वरूप संकोच यहाँ उस आभास्य पदार्थ को अहं से विविक्त करके भेदात्मक इदं की स्थिति की प्राप्ति कराना भर है। इस स्थिति का स्वरूप संकोच से साम्य यों है कि सब कुछ शिव से एकात्म है अतः शुद्ध अहं रूप है पर शिव जब अपने स्वरूप का संकोच करता है तब इस पदार्थ का शुद्ध रूप आवरित हो जाता है और वह इदं की द्वैतात्मक प्रतीति का विषय बन जाता है।

क्षेत्र में आता है[1]।

यह सृष्टि सर्वप्रमातृसाधारण है पर यहाँ पदार्थ शुद्धविमर्शमय ही रहते हैं। यह ईश्वरीय सृष्टि द्विविध रूप में दृष्ट होती है–

(क) साधारण–स्पष्ट रूप से भासित जैसे घटादि।

(ख) असाधारण–स्पष्ट रूप से आभासित पर विकल्पात्मक जैसे द्विचन्द्रादि[2]।

शुद्धा सृष्टि में यही शुद्ध कर्तृत्व दृष्ट होता है और उसके बाद का सृष्टि–विकास नियत्यनुवर्ती होने से सृष्ट–सृष्टि के अन्तर्गत आता है जहाँ कि परमेश्वर का दूसरे प्रकार का कर्तृत्व दृष्ट होता है।

2. **सृष्ट–सृष्टि**–इस सृष्टि को पाशवी सृष्टि या लौकिक सृष्टि भी कहा जाता है। यहाँ उपलब्ध कारणता को सृष्ट या नियत्यनुवर्ती कार्यकारणभाव कहते हैं, यद्यपि इसका भी नामान्तरण कर्तृकर्मभाव ही किया जा सकता है[3]। यहाँ परमशिव का प्रत्यक्ष कर्तृत्व न होने पर भी उसकी नियति शक्ति[4] के माध्यम से उसका ही कर्तृत्व उपपन्न हो जाता है[5] इसका कारण है कि यह दर्शन शक्ति व शक्तिमान में अभेद की धारणा का ही प्रतिपादक है। यहाँ यह भी कह सकते हैं कि परमशिव निमित्त कारण है तथा उसकी नियति शक्ति उपादान कारण है। अब यहाँ पुनः शक्ति शक्तिमान के अभेद की धारणा के बल पर

---

1. काश्मीर शिवाद्वयवाद में सृष्टि के उद्विकास के सन्दर्भ में द्विविध मत मिलते हैं। एक के अनुसार उद्विकास का प्रथम तत्त्व शिव है तथा दूसरे के अनुसार शिव और शक्ति तो परतत्त्व के दो पक्ष हैं, सदाशिव ही उद्विकास का प्रथम तत्त्व है। शिव तत्त्व से उद्विकास का प्रारम्भ मानने वालों की दृष्टि अधिक विश्लेषणात्मक है। अतः सिसृक्षा के होते ही वे परमशिव के द्वैधीभाव की कल्पना करते हैं तथा परमशिव के शुद्ध प्रकाश पक्ष व विमर्श पक्ष को द्विविध तत्त्व रूप में ग्रहण करते हैं यद्यपि क्षण मात्र को भी न प्रकाश विमर्श के बिना रह सकता है न विमर्श प्रकाश के बिना तथा द्वितीय दृष्टि के प्रतिपादकों के मत में इदंभाव का अनुप्रवेश ही तत्त्वरूपता का उद्भावक है। यहाँ इन छत्तीस तत्त्वों के रूप में कथित तत्त्वविकास की तीन दशायें बताई जा सकती हैं–

   (क) बीजावस्था–इस दशा में परमशिव का प्रथम अभेद प्रधान आभासन आता है जिसमें कि शुद्धासृष्टि के पाँच तत्त्व आते हैं।

   (ख). अंकुरावस्था–इस दशा में पाँच क ञ्चुक, माया तथा पुरुष आते हैं।

   (ग) परिणतावस्था–यह भेदप्रधान दशा है। इसमें प्रकृति से लेकर पृथिवी तक के चौबीस तत्त्व आते हैं।

2. भा., भा. 2 पृ. 300–301.

3. (अ) सृष्टो नियत्यवस्थापितः। (तं.सा., पृ. 70 पा टि). कल्पितस्तु कार्यकारणभावः परमेशेच्छया नियतिप्राणया निर्मितः स च यावति यदा नियतपौर्वापर्यभासनं सत्यपि अधिकं स्वरूपानुगतम् ...वही पृ. 70

   (ब) नियतेश्च कार्यकारणयोर्नियमनं रूपं, कार्यकारणभावश्च कर्तृत्वमात्रपर्यवसायि एव...कर्तृत्वं च प्रमातुर्धर्मः....। तं.आ., भा. 6 पृ. 163.

4. परमशिव अनन्त शक्ति मंडित हैं पर उन शक्तियों में विमर्श व स्वातन्त्र्य शक्तियाँ प्रमुख है जो कि क्रमशः ज्ञानात्मक व क्रियात्मक क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं। अन्य समस्त शक्तियाँ इन्हीं दो में अन्तर्भूत होती हैं। ये दो शक्तियाँ भी वस्तुतः दो न होकर एक ही शक्ति के दो पक्ष हैं। नियति शक्ति इस विमर्श शक्ति का ही व्यवस्थापनकारी पक्ष है जिसके स्फुट कर्तृत्व का प्रकाशन अशुद्धा सृष्टि में ही होता है अतः वही इसका कार्यक्षेत्र है। शुद्धासृष्टि में यह व्यवस्थापन विमर्श का ही कार्य है। इस नियति शक्ति के व्यापार की दो विधायें हैं– (1) सामान्य व्यापार (व्यवस्थापनमात्र) (2) विशिष्ट व्यापार (नियामकता व प्रतिबन्धकता)। इसी का संकुचित अभिप्राय मात्र पूर्वापरता के निर्धारण में निहित है।

5. वस्त्वन्तरस्य च तेन साकं कार्यकारणभावनियमः सामानाधिकरण्यनियमश्च ईश्वरनियतिशक्त्युपजीवन एव अवधार्यो भवति न अन्यथा।–ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 84.

अभिन्ननिमित्तोपादानता की सिद्धि की जा सकती है। इस स्तर पर चिद्रूप परमेश्वर ही कर्ता है तथा विश्व कर्म एवं प्रक्रिया आभासन है पर प्रक्रिया के मध्य में अन्य पदार्थों की अपेक्षा होने से तत्प्रथनकृत व्यवधान आते हैं जैसे बीज मृत्तिका आदि रूप कारण सामग्री तथा नियतिकृत नियम। इन सबके समन्वय से ही इस सृष्ट सृष्टि या पाशवी सृष्टि का उदय होता है[1]।

यहाँ नियति शक्ति के द्वारा एक स्वलक्षण रूप आभास, जो कि विविध आभासों (सामान्यलक्षणों) का मिश्रण है, में विविध आभास एक ही कार्य में नियमित कर दिये जाते हैं फलतः अनेक कार्यों को करने की योग्यता वाले आभासभेदों का एक अधिकरण ही समानाधिकरण्याभास के कारण एक वस्तु रूप में भासित होता है[2]। तब उससे कार्योत्पत्ति होती है। इस प्रकार समस्त आभास अलग--अलग हैं पर उनका संयोजन नियतिशक्ति का कार्य है[3]। पर यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कारणविरोधी स्वभाव के आभास परस्पर संयुक्त नहीं होते जैसे रूपाभास वायु के आभास से नहीं मिल सकता, उष्णता का आभास शीतलता से नहीं मिल सकता आदि[4]। यह नियतिशक्ति विविध वस्तुओं के सन्दर्भ में विविधतया व्यापार करती है। यही अग्न्याभास को पूर्वता, उष्णता व कारणता के आभास से संयुक्त कर भासित करती है और धूमाभास को परता व कार्यता के आभास से मिश्रित करके। साथ ही उष्णताभास को अग्न्याभास से अविनाभाव से संयुक्त करती है और इसी प्रकार कुछ काल के लिये अग्नि, वह्नि आदि की पर्यायता को भी भासित करती है[5]। यह नियति शक्ति तीन तरह से क्रियाशील होती है–देश, काल व कारण रूपों में।

इसी नियति शक्ति के बल से कार्य व कारण के मध्य अन्वय व व्यभिचार सम्बन्ध के द्वारा व्याप्ति[6] का ग्रहण होकर एक निश्चित कार्य से एक निश्चित कारण का अविनाभाव सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और यह स्थापित निर्बाध नियम ही कार्यकारणभाव

---

1. तं.आ., भा. 6 पृ. 10.
2. (अ) एकस्मिन्नेव स्वलक्षणे प्रत्याभासं नियतिशक्त्या कार्यं नियमितं तथाभूतानेक कार्यकृदाभासभेदाधिकरणमेकं च सामानाधिकरण्याभासवशाद् वस्तु, अनेकस्यैकता हि समानाधिकरण्यम।–प्र.का.वृ., पृ. 45.
   (ब) सिद्धान्तिदर्शने तावदनन्ताभासवर्गो नियतिशक्त्या मिश्रीभूतः सन् पदार्थेऽर्थक्रियाकारी, तस्य रुचितेन अंशेन व्यपदेशो भवति। ई.प्र.वि.वि., भा.1 पृ. 139.
3. ...सृष्टो नियत्यवस्थापितः। तं.सा.पा.टि. 5 पृ. 70, कल्पितस्तु कार्यकारणभावः परमेशेच्छया निर्मितः स च यावति यदा नियतपौर्वापर्यावभासनं सत्यपि अधिके स्वरूपानुगतम्...। तं.सा., पृ. 70
4. भा.भा. 3, पृ. 157.
5. रूपान्वयोपकृतपौर्वापर्यनियमात्मककार्यकारणतया। यतोऽवभासनं परमेशेच्छया न तु वास्तवतया। तं.सा.पृ. 70 पा.टि. 7.
6. लोकप्रसिद्ध कार्यकारणभाव का निर्धारण प्रत्यक्ष व अनुपलम्भ द्वारा ग्रहीत अन्वय व व्यतिरेक व्याप्तियों के द्वारा होता है। किसी कार्यकारणभाव के निर्धारण में तीन अनुपलम्भों तथा दो उपलम्भों की सहायता ली जाती है। इस सम्बन्ध में शैव मतानुयायी बौद्ध मत से काफी प्रभावित होते हैं और संभवतः उन्होंने इस मान्यता को उन्हीं से ग्रहण कियाहै। एक कार्यकारणभाव की स्थिति के ग्रहण की प्रक्रिया में इन पाँचों की स्थिति इस प्रकार समझी जा सकती है–(क) पृ. अग्नि का प्रत्यक्ष (ख) धूम का अनुपलम्भ (ग) धूम का प्रत्यक्ष (घ) अग्नि का अनुपलम्भ (ङ) धूम का अनुपलम्भ। ये पाँचों जब एक ही व्यक्ति द्वारा दृष्ट होते हैं तब उस पर आधारित व्याप्ति का ग्रहण करा कार्यकारणभाव सम्बन्ध का ग्रहण करा सकते हैं। इसी प्रकार एक प्रमाता (संविद्) में जब ये पाँचों तथ्य अन्तर्लीन हो जाते हैं तभी उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति से परस्पर सम्बद्ध होकर नियत व्याप्ति की प्रतीति कराते हैं। द्र.,ई.प्र.वि, भा.भा.1, पृ. 101

का जीवन है। किसी प्रकार की व्याप्ति चाहें स्वाभाविक हो या अस्वाभाविक, सबका कारण नियतिशक्ति का व्यापार है[1]। फलतः नियति ही कार्यकारण–विषयक नियतपरता व नियतपूर्वता की आभासिका है[2]। इस नियति के द्वारा ही इसी कारण से यह कार्य उत्पन्न होगा, यह नियम निर्धारित होता है। इसी कारण नियत अर्थक्रिया के सम्पादन की इच्छा होने पर नियत वस्तु का ही ग्रहण किया जाता है[3]। पर अन्वय व व्यतिरेक के कथन किसी नियम के होने पर ही संभव हैं और कोई भी संभावित नियम यहाँ अपेक्षा जीवित होगा। वह अपेक्षा जड पदार्थों में संभव ही नहीं हो सकती अतः इन पदार्थों का स्वतन्त्रतया कारणत्व या कार्यत्व संभव नहीं है फलतः यही निष्कर्ष निकलता है कि समस्त पदार्थों की विश्रान्ति एक चिदात्मक प्रमाता में होती है, अब उसकी नियतिशक्ति उन पदार्थों या आभासों को विशिष्टतया संयोजित करके भासित करती है फलतः कार्य–कारणात्मक प्रतीतियाँ होती हैं[4]। यह नियति ईश्वर की इच्छा का ही आभासन है।

इसी नियति शक्ति के बल से सीमित प्रमाता को मिथ्याकर्तृत्व का अभिमान होता है तथा वह विशिष्ट कारणसामग्री को एक विशिष्ट कार्योत्पत्ति हेतु विशिष्ट ढंग से परिचालित करता है। अचेतन पदार्थों में किञ्चितकरणसामर्थ्य नहीं है, सीमित प्रमाता भी निर्मेय पदार्थों की तरह परमेश्वर की इच्छा से सर्जित है अतः वह भी अचेतन हैं अतः यहाँ भी पारमार्थिक दृष्टि से कारणता उसी परमसंवित् की है। यद्यपि इस सृष्ट–सृष्टि में अचेतन पदार्थों की कारणता भी दृष्ट होती है पर तब भी यहाँ ईश्वर निमित्त कारण रूप में अवस्थित रहता है। इसप्रकार यहाँ ईश्वर इस प्रकार के मिथ्या कर्तृत्व व कारणत्व के अभिमान को उत्पन्न कर सांसारिक धर्माधर्म की व्यवस्था की भी रक्षा करता है अन्यथा सर्वत्र समान रूप से शिव के ही कर्ता होने पर पदार्थों में वैषम्य कैसे दिखता।

इस कारणता क्षेत्र में सृष्टि प्रतिप्रमातृनियत है, व ईश्वर द्वारा सृष्ट पदार्थों पर ही आधारित है[5]। यहाँ अघोरेश का कर्तृत्व बताया गया है। वैसे यहाँ सीमित प्रमाता का ही कर्तृत्व प्रतीत होता है। स्मृति, मनोराज्य, उत्प्रेक्षा, स्वप्न संकल्प आदि ऐसी ही सृष्टि के प्रतिपादक हैं।

इस नियति–उपजीवी सृष्टि में ही कार्यकारणभाव के विविध रूपों, हेतुओं आदि की चर्चा उपलब्ध होती है। अन्य दर्शनों द्वारा चर्चित तत्त्वमीमांसाओं के कारणता सम्बन्धी मत इसी क्षेत्र से सम्बद्ध हैं पर जड पदार्थों की कारणता सम्यक् न सिद्ध होने से हमें एक सोपान ऊपर जाना पड़ता है और तब मिलता है कर्तृकर्मभाव जिसका अधिकार क्षेत्र पूरा विश्व है।

---

1. ई.प्र.वि. भा. भा. 2, पृ. 108–110.
2. रूपान्वयोपकृतपौर्वापर्यनियमात्मा कार्यकारणभावः त.आ., भा. 6, पृ. 32.
3. ...नियतेः कार्यकारणविषयनियमनव्यापारः तत्त्वं प्राग्भावि कारणं, पश्चाद् भावि कार्यम्...। वही, पृ. 161, नियतिर्हि 'अस्मादेव कारणात् इदमेव कार्यं भवेत्' इति नियममादधीत, अतः नियतामर्थक्रियामर्थयिता नियतमेव वस्तु उपादातव्यम्...। वही.
4. सर्वत्र च ऐश्वरे पारमार्थिके स्वातन्त्र्ये स्थितेऽपि तन्नियतिशक्तिमहिम्ना अवान्तरोऽपि अयं कार्यकारणभावो निर्भासमानत्वेन सत्य इति सोऽपि अङ्गीक्रियत एव।–ई.प्र.वि.वि.भा. 1, पृ. 99
5. सर्वा पाशवी सृष्टिः प्रत्ययसृष्टिरीश्वरसृष्ट्युपजीवनी, ई.प्र.वि., भा.भा. 2, पृ. 298

योगिसृष्टि—यह परमशिव के कर्तृत्व की एक अन्य विधा है जहाँ कि शिवैकात्म्य प्राप्त प्रमाता स्वयं उसी के सदृश स्वातन्त्र्य को प्राप्त कर शुद्ध–स्तरीय पञ्चकृत्यों के निष्पादन में सक्षम हो जाता है। इस योगिसृष्टि का प्रमुख वैशिष्ट्य है, मात्र संकल्प से सर्जन[1]। यह संकल्प–स्वातन्त्र्य उस योग से प्राप्त होता है जिसका कि अभिप्राय है शुद्ध अहंभाव को ग्रहण कर परमशिव से तादात्म्य की प्राप्ति[2]। ऐसे योग को समावेश भी कह सकते हैं। उस समावेश के कारण जीव को अपने यथार्थ स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है[3] फलतः उसे समस्त ईश्वरोचित विभूतियों की प्राप्ति हो जाती है और वह परमशिवतुल्य ही ज्ञान–क्रिया स्वातन्त्र्य से मंडित हो जाता है[4]। तब जैसे परमशिव मात्र

---

1. योगिनामापि मृदबीजे विनैवेच्छावशेन तत्।
घटादि जायते तत्तत्स्थिरस्वार्थक्रियाकरम्।। ई.प्र.का. 2/4/10, शि.दृ. 144
2. (अ) एतदेव हि नाम योगिनो योगित्वं यत् निखिलमिदं विश्वं शिवात्मतया परिजानाति। (तं.आ.,भा. 3, पृ. 249)
(ब) ...विचित्रैः शुद्धविद्यांशरूपैः विकल्पैः यत् अनपेक्षितविकल्पं स्वाभाविकं परमार्थतत्त्वं प्रकाशते तस्यैव सनातनतथाविधप्रकाशमात्रतारूढ़ये तत्स्वरूपानुसंधानात्मा विकल्पविशेषो योगः। तं.सा., पृ. 27.
3. शिवतुल्यो जायते। शि.सू. 1/25.
4. इस योगी की स्थिति की प्राप्ति में सहायक है 'नेति नेति' विमर्श (पर यह वेदान्तवत् इतरनिषेधपूर्वक न होकर इतरसमावेशपूर्वक ही है) (नेति नेति विमर्शेन योगिनां सा परादशा। तं.आ. 6/10) या 'सर्वमंहम्' रूप विमर्श द्वारा सबको स्वात्मविश्रान्तिरूपता की प्राप्ति (सर्वमहम् इति विमर्शनेन स्वात्मविश्रान्तिमयतामापादयन् योगी शीघ्रमेव परसंविदैकात्म्यमियात्। वही.भा. 5 पृ. 4)। योगी का योगित्व यही है कि उसे यह सम्पूर्ण विश्व शिव रूप ज्ञात होता है। ऐसे संविद् के साथ अद्वैत की प्रतीति रखने वाले योगी के लिये कार्य–अकार्य का विभाग नहीं रहता। (संविदद्वैतशालिनो योगिनः कार्याकार्यविभागो नास्ति...। वही.भा. 3, पृ. 113) प्रायः योगी को प्राप्त ऐश्वर्य में अणिमा, महिमा, लधिमा, प्राप्ति, प्राकाम्यत्व, ईशितत्व, वशित्व व कामावसायित्व रूप अष्टसिद्धियों तथा नव निधियों की गणना की जाती है। पर शिवाद्वयवादी दृष्टि में इन अष्टसिद्धियों का अभिप्राय भी परिवर्तित हो जाता है जैसे अणिमा का सामान्यतः अभिप्राय है अपने शरीर को अणुरूपतापादन की सामर्थ्य पर शिवाद्वयवाद में यह है शुद्ध प्रकाश रूप से समस्त पदार्थों के अन्तर्भाव की सामर्थ्य, महिमा अन्यत्र है गमनादिव्यापकत्वकौशल और यहाँ है वैसे ही व्यापक होना, लधिमा अन्यत्र है समुद्रसलिल आदि में भी पैदल जाने पर उसका अस्पर्श और यहाँ है भेद रूप गौरव का पर्युदास, प्राप्ति अन्यत्र है इच्छित पदार्थ की प्राप्ति और यहाँ है स्वात्मविश्रान्तिलाभः, प्राकाम्यत्व अन्यत्र है संकल्प मात्र से सर्वत्र अप्रतिहत गति और यहाँ है वेद्यविलासोपलालनः ईशितत्व अन्यत्र है सार्वत्रिक प्रभुत्व जबकि यहाँ है अनवच्छिन्न ऐश्वर्यशालित्व; वशित्व अन्यत्र है इन्द्रियार्थोपभोग में स्वेच्छा मात्र के अधीन हानोपादान का होना जबकि यहाँ है विमृष्टतया सर्वसहत्वः; कामावसायित्व है अन्यत्र अपनी अभिलाषा मात्र से तुरन्त स्वर्ग नरक आदि की अनुभूति जबकि यहाँ है पूर्ण अहंभाव। (दृ0म.म. पृ. 126–127) यद्यपि इन सिद्धियों का सामान्य अभिप्राय भोगजालासक्तिकारी है अतः बन्धन रूप है पर विशिष्ट अभिप्राय तो योगी के सन्दर्भ में ही संभव है। इस प्रकार योगी को शिवरूपता की प्राप्ति हो जाने पर समस्त शिवोचित ऐश्वर्यों की प्राप्ति हो जाती है फलतः उनमें भोगादि का संस्पर्श भी नहीं रहता है। ये योगी चार प्रकार के हैं–संप्राप्त, घटमान, सिद्धयोग तथा सुसिद्ध। (तं.आ., भा. 8, पृ. 198) इनमें से संप्राप्त वह है जिसे मात्र योग का उपदेश प्राप्त हुआ है, घटमान वह है जो उसके अभ्यास मात्र में लगा हुआ है, सिद्धयोग वह है जिसे उस ज्ञान का स्वयं अभ्यास हो गया है और सुसिद्ध वह है जो सदैव अस्खलित रूप वाला होने से शिवरूप ही है। परम योगी तो विषयों में लगा होने पर भी समाविष्ट रहता है अर्थात् परमशक्ति के विकास का अनुभव करता रहता है। इसी समावेश के बल पर उसे अपने उस संवित् देवता के समूह पर प्रभुत्व की प्राप्ति होती है जो समूह सारे विश्व की सृष्टि करता है। यह संवित् देवताचक्र समष्टि की दृष्टि से खेचरी चक्र, गोचरी चक्र, दिक्चरी चक्र और भूचरी चक्र है तथा व्यष्टि की दृष्टि से परिमित प्रमाता, अन्तकरण, बहिष्करण व प्रमेय रूप है।

अपनी इच्छा से समस्त कर्माभासन में सक्षम है वैसे ही वह भी मात्र संकल्प से सर्वकर्मसम्पादन में समर्थ हो जाता है। पर उसकी यह संकल्पसृष्टि जनसामान्य की संकल्पसृष्टि से भिन्न होती है क्योंकि जनसामान्यकृत सृष्टि अस्थिर, असर्वजनसंवेद्य तथा प्रतिपुंनियत होती है तथा यहाँ कारण रूप में पूर्वकालिक संस्कार विद्यमान रहते हैं, साथ ही उसे यहाँ भी इच्छित पदार्थ के सर्जन हेतु विकल्पात्मक सृष्टि का आश्रय लेना पड़ता है क्योंकि वह मात्र इच्छा से कुछ उत्पन्न करने में सक्षम नहीं है, उसे तो उपादान, सहकारी निमित्त सभी कारणों की अपेक्षा होती है। इसके विपरीत योगीकृत सृष्टि में मात्र संकल्प की कृतकार्यता रहती है साथ ही वह स्थिर, सर्वजनसंवेद्य तथा अप्रतिपुंनियत होती है[1]। योगी की यह संकल्प शक्ति अप्रतिहत फल वाली है। योगी अपनी इच्छा के अनुकूल सब कुछ करने में स्वतन्त्र है। इसे अपने कार्य में किसी नियत निमित्त की अपेक्षा नहीं होती।

जैसे सारा जगत परमशिव की शक्ति रूप है वैसे ही परमयोगी जो कि शिव रूप है का भी जगत् शक्तिरूप ही है फलतः महेश्वरवत् ही वह सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान तथा अनुग्रह रूप कृत्यों में सक्षम है[2] तथा उसी की तरह इन कृत्यों को करने पर भी अविकृत रहता है।

योगिसृष्टि में यह द्रष्टव्य है कि वह विविध कार्यों का आभासन किसी उपादान, निमित्त या सहकारी से निरपेक्ष रहते हुये ही करता है यदि यहाँ भी कहें कि यहाँ भी उसकी इच्छा की कर्तृता परमाणुओं को उपादान रूप में लेकर ही घटित होती है तब तो अन्य समस्त सहकारियों–धर्माधर्म, दण्ड, चक्रादि साधन, कार्य सम्पादनार्थ अपेक्षित कर्म शिक्षा आदि–की स्वीकृति की भी संभावना होगी और तब योगी के योगित्व का ही उल्लंघन होगा। अतः योगिसृष्टि हेतु किसी उपादान की अपेक्षा नहीं होती। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि योगिसृष्टि इच्छामात्र से संचालित है पर वहाँ भी नियत कारण से नियत कार्य के नियम का विपर्यास नहीं होता। बीज का कार्य वहाँ भी अङ्कुर ही होता है, अन्य नहीं। साथ ही वे नियत अर्थक्रिया के भी पूरक होते हैं अन्यथा तो भ्रम मात्र ही होंगे और यदि ऐसा नहीं मानें तो योगी की इच्छा की विसंवादिता होगी फलतः उसका योगित्व ही नहीं सिद्ध होगा[3]।

---

1. ईश्वरेण सह स्वस्यैकात्म्यं येन तादृशस्य सर्गः साधारण एव भवति येन योगिकल्पितं वस्तु सर्व एव पुरोऽनुभवन्ति। भा. भा. 2 पृ. 302.
2. यही इस दर्शन सम्प्रदाय का अन्य दर्शन सम्प्रदायों से वैशिष्ट्य है कि जहाँ अन्य दर्शनों में मुक्तावस्था में ईश्वरवत् ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है पर विश्व के सर्जन व संहार का कर्तृत्व नही प्राप्त होता वहीं यहाँ जीवन्मुक्त प्रमाता तत्तुल्य समस्त कर्तृत्वों (पञ्चकृत्य के निष्पादन) में सक्षम है। यहाँ तो पञ्चकृत्यकारिता सीमित प्रमाता में भी स्वीकृत है मात्र उसका अभिप्राय संकुचित है (म.मं. पृ. 23) सीमितता के विलय के साथ ही वह संकोच भी दूर हो जाता है और परतत्त्ववत् उसका कर्तृत्व स्फुरित हो जाता है।
3. तं.आ.भा. 6, पृ. 33

यह योगिसृष्टि कर्तृकर्मभाव की सिद्धि में प्रबल प्रमाण है क्योंकि यदि चेतनप्रेरित कारण–मृत्तिका अथवा चेतन की अपेक्षा न करने वाला कारण बीजादि क्रमशः घट व अङ्कुरादि की उत्पत्ति में परमार्थतः कारण कहे जायें तो योगी सृष्टि में उन कारणों का अभाव होने से उन कार्यों की उत्पत्ति ही संभव नहीं होगी अथवा वहाँ अकारणकत्व की आशङ्का उपस्थित होगी। यदि कहें कि योगी की इच्छा से उत्पन्न घट व अङ्कुर मृद् व बीज से उत्पन्न घट व अङ्कुर से भिन्न हैं तो यह संभव नहीं है क्योंकि विमर्श के अभेद से उनमें अभेद रहता है। साथ ही योगीच्छा से उत्पन्न पदार्थ भी उन्हीं अर्थक्रियाओं की पूर्ति करते हैं जिनका निष्पादन स्वाभाविक कारणों से उत्पन्न पदार्थ करते हैं[1]। यद्यपि कुछ अन्य दार्शनिकों (तार्किक) का मत है कि उपादान के बिना घटादि की उत्पत्ति नहीं होती है अतः योगी भी अपनी इच्छा से परमाणुओं को देखता हुआ ही निर्माण करता है पर उनके विरोध में यह कहा जा सकता है कि यदि उनको यही अभीष्ट है कि अन्वयव्यतिरेक व आगमादि से परिदृष्ट कार्यकारणभाव का योगियों की सृष्टि में भी विपर्यास नहीं होता तो केवल परमाणु का ही ग्रहण क्यों करें, वरन् अन्य कारण भी स्वीकार किये जाने चाहिये। पर तब वहाँ लौकिक कारणता ही होगी जिसमें नियत कारण भी ग्रहीत होंगे व एक नियत देश–काल की स्थिति भी स्वीकरणीय होगी और तब योगीच्छा के तुरन्त बाद उत्पन्न घटदेहादि कार्यों की संभावना भी नहीं होगी[2]। अतः चेतन तत्त्व ही उन–उन भाव रूपों में भासित होता है ऐसा मानने पर ही यह उपादाननिरपेक्ष सृष्टि संभव है क्योंकि स्वतन्त्र के लिये कुछ भी अशक्य नहीं है। माहेश्वर्ययुक्त भगवान महादेव नियति के उल्लंघन के स्वातन्त्र्य से भी मंडित है व नियति के अनुवर्तन के स्वातन्त्र्य से भी। अतः वह नियति उल्लंघी लोकोत्तर योगी सृष्टि का भी भासन कर सकता है तथा नियत्यनुवर्ती लौकिक सृष्टि का भी। अतः वह परमशिव ही जीवन्मुक्त प्रमाता (योगी) तथा बद्ध प्रमाता के रूप में अवतरित होकर पञ्चकृत्यों का सम्पादन करता है।

पर इस योगिसृष्टि के सन्दर्भ में अनुमान सम्बन्धी समस्या उपस्थित होती है[3]। यों

---

1. तस्य तस्य स्थिरस्य अर्थक्रियान्तरानुबन्धिनः कालान्तरानुबन्धिनश्च स्वस्य आत्मीयस्य अर्थक्रियाविशेषस्रा करणे हेतुतच्छीलानुकूल रूपं घटादि जायते...।ई.प्र.वि., भा. भा. 2 पृ. 171.

2. ये त्वाहुः–नोपादानं बिना घटाद्युत्पत्तिः, योगी तु इच्छया परमाणून् पश्यन् संघट्टयतीति। ते वाच्याः–यदि खलु अन्वयव्यतिरेकागमादिपरिदृष्टः कार्यकारणभावो योगिषु न विपर्यति–इति हृदयमावर्जयति वः तत् किं परमाणुग्रहणेन, नो चेत् घटस्य कपालानि शरीरस्य स्वावयवाः, तेषां निजं निजं प्रसिद्ध तृणशस्तिलशोऽपि अन्यथाभवनमसहमानं लौकिकमेव कारणम्, इति घटे मृद्दण्डचक्रादि, देहे स्त्रीपुरूषसयोगादि उभयमपेक्ष्यं परिदृष्टदीर्घतरकालपरिवासमिति। योगीच्छया तु समनन्तरोदितघटदेहादिसंभवो दुःखमर्थ एव। वही., वही, पृ. 171–172.

3. ननु यदि प्रसिद्धकारणोल्लङ्घनेनापि तत्कार्यविशेषतुल्यवृत्तान्येव कार्याणि जायन्ते, भग्नास्तर्हि अनुमानकथाः। भा.भा. 2 पृ. 173.

तो समस्त लौकिक सृष्टि प्रत्यक्ष, अनुमान का विषय बनती है पर योगिसृष्टि के क्षेत्र में इन प्रमाणों की स्थिति कुछ बदल जाती है। अन्य प्रमाण तो यहाँ भी अपना स्थान बहुत कुछ उसी रूप में बनाये रखते हैं पर व्याप्तिजीवितअनुमान[1] की संभावना यहाँ समाप्त हो जाती है क्योंकि यहाँ कारणों का उल्लंघन होने पर भी उनसे उत्पन्न कार्यविशेषों के तुल्य वृत्त वाले कार्यों की उत्पत्ति होती है पर कारणाभाव से व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो पाता। जबकि यह व्याप्ति तो अनुमान का जीवन है तो इस समस्या का यहाँ यही समाधान प्रस्तुत किया जाता है कि यदि प्रमाणान्तर से अथवा लोकप्रसिद्धि से योगिनिर्माणता के अभाव का निश्चय हो जाये तभी अनुमान की प्रवर्तना होगी, अन्यथा नहीं[2]।

कार्यकारण सम्बन्धी अन्य मतों का खण्डन—यह काश्मीर शिवाद्वयवाद अपनी सर्वानुवृत्तिमूलक तत्त्वमीमांसा के प्रतिपादनार्थ कारणता सम्बन्ध की व्याख्या विशिष्ट अर्थों में करता है और साथ ही इस सन्दर्भ में वह अन्य वादियों के मतों की तार्किक अनुपपन्नता भी बतलाता है। फलतः यहाँ विविध सम्प्रदायों के कारणता सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विश्लेषण उपलब्ध होता है—

चार्वाक मत की अनुपपन्नता—चार्वाक सम्प्रदाय में अभिगणित विविध सम्प्रदायों—स्वभाववाद, यदृच्छावाद, कादाचित्कवाद, आकस्मिक उत्पत्तिवाद आदि द्वारा प्रतिपादित कारणता सिद्धान्त अनुपपन्न है क्योंकि ये सम्प्रदाय कारण कार्य के मध्य किसी अपेक्षा सम्बन्ध को स्वीकारने से इन्कार कर देते हैं वे मात्र कारण के स्वभाव या संयोग को ही कार्योत्पत्ति के लिये आवश्यक मानते हैं। उनके मतानुसार तो कारण व कार्य की समकाल में स्थिति नहीं संभव है अतः उनकी मात्र क्रमिक स्थिति रहती है फलतः उनके

---

1. अनुमान को प्रायः 'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्' या 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं' रूप में परिभाषित किया जाता है। यहाँ लिङ्ग या हेतु पदार्थ (साध्य) का ज्ञान व्याप्ति के बल से ही कराता है। यहाँ दो प्रकार के लिंग या हेतु माने गये हैं—कार्य व स्वभाव। ये दोनों हेतु व्याप्ति सम्बन्ध के आधार पर ही साध्य का ज्ञान कराते हैं। व्याप्ति सम्बन्ध का अर्थ है अविनाभाव सम्बन्ध जिसका कि निर्धारण प्रत्यक्ष व अनुपलब्धि के बल पर होता है। यह अविनाभाव दो प्रकार की व्याप्तियों—अन्वय व व्यतिरेक के बल पर गृहीत होता है अन्वय है तत्सत्त्वे तत्सत्ता तथा व्यतिरेक है तदभावे तदभावः। इनसे दो पदार्थों के मध्य द्विविध सम्बन्धों—तादात्म्य व तदुत्पत्ति का निर्धारण हो जाता है। यद्यपि सूक्ष्म विश्लेषण करने पर 'तदुत्पत्ति' ही तादात्म्य के मूल में भी दृष्ट होती है। यहाँ यह व्याप्ति भी दो प्रकार की है—(क) स्वाभाविक—जिसमें कार्य व कारण में अव्यभिचरित नियम विद्यमान रहता है जैसे अग्नि व उष्ण स्वभावता के मध्य (ख) अस्वाभाविक—यह नियम सार्वभौमिक रूप से नहीं विद्यमान रहता है जैसे कि अग्नि की अग्निशब्दवाच्यता की पुरुषकृतसमयादिमुखप्रेक्षिता।
2. योगिनिर्माणताभावे प्रमाणान्तरनिश्चिते।
कार्यं हेतुः स्वभावो वात एवोत्पत्तिमूलजः।। ई.प्र.का. 2/4/11
योगिनिर्माणताभाव के निश्चायक प्रमाण हैं— (1) यौक्तिक (योगज) प्रत्यक्ष (2) मानस प्रत्यक्ष (3) लोकप्रसिद्धि (4) आगम (5) अनन्त जन्मों के अभ्यास से प्राप्त प्रतिभाविशेष, (6) प्रत्युत्पन्नमति (7) अर्थापत्ति (द्र. ई.प्र.वि. वि. भा. 3 पृ. 197)

मध्य अपेक्षा सम्बन्ध ही नहीं स्थापित किया जा सकता । परन्तु काश्मीर शिवाद्वयवाद कहता है कि चार्वाक मत उपपन्न नहीं है व अतिप्रसंग दोष से दूषित है क्योंकि कारण की अपेक्षा के बिना उत्पन्न पदार्थ घट की बजाय पट भी हो सकता है। अपेक्षासम्बन्ध स्वीकारने पर ही कारणवैचित्र्यवशात् एक विशिष्ट सामग्री से घट की ही उत्पत्ति होगी, पट की नहीं। घट व पट के कारण भिन्न–भिन्न हैं। परन्तु कपाल कारण है व घट कार्य है, यह क्यों नहीं कहा जाता, ऐसी शंका का समाधान अन्वय–व्यतिरेक रूप दो व्याप्तियों के बल से गृहीत नियम के द्वारा ही किया जा सकता है। यद्यपि इस व्याप्तिज्ञान की भ्रमरूपता की आशंका संभव है पर कालान्तर में इसी कारण को उपादान रूप में ग्रहण कर कार्य के लिये प्रवर्तित होने पर उस ज्ञान की अविसंवादिता का निश्चयन हो जाता है अतः कार्य आकस्मिक व निष्कारण नहीं संभव है। यदि आकस्मिक दु:खादि का उदाहरण प्रस्तुत किया जाये कि वहाँ कोई कारण नहीं है तो वस्तुतः वहाँ भी कोई अदृष्ट कारण अवश्य विद्यमान रहता है। यद्यपि दृष्ट कारण न दिखलाई पड़ने पर अदृष्ट कारण की कल्पना की बजाय कार्य को अकारण ही उत्पन्न भी माना जा सकता है। पर यह सार्वभौमिक तथ्य है कि कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, तो इस तथ्य के अपलाप का प्रसंग आयेगा। कार्य के लिये कारण को ही उपादान मानने पर समीचीन फल–पर्यवसायिनी प्रवृत्ति संभव होगी, अन्यथा नहीं क्योंकि जगत् में कार्य के लिये ही कारण में प्रवृत्ति देखी जाती है अतः यह लोकायत मत उपपन्न नही है।

नैयायिक मत की अनुपपन्नता—नैयायिक जड अणुओं की ही उपादान कारणता मानते हैं। ये परमाणु सूर्यरश्मि में उपलब्ध त्रसरेणु का छठा भाग है। ये जड परमाणु प्राणी के परिपक्व अदृष्ट से सहकृत ईश्वर की इच्छा द्वारा जब क्रियाशील होते हैं तब दो परमाणु जुड़ते हैं जिससे एक द्वयणुक की उत्पत्ति होती है। पुनः ईश्वर की इच्छा से द्वयणुकों में क्रिया होती है तब क्रम से संयुक्त हुये तीन द्वयणुकों से एक त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है फिर इसी रीति से आगे भी ईश्वरीय इच्छा के द्वारा उत्पन्न क्रियावश घट[1] पर्यन्त पदार्थों की उत्पत्ति होती जाती है। ये द्वयणुक आदि कार्य परमाणु आदि कारणों से अत्यन्त भिन्न हैं तथा कार्य विनाश के अनन्तर वे नर शृंग तुल्य हो जाते हैं परन्तु यह मत उपपन्न नहीं है क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व व नाश के अनन्तर असत् रूपता को प्राप्त पदार्थ मध्यकाल में भी सत् नहीं हो सकता, क्योंकि सत् व असत् के मध्य का विरोध तो पूर्व प्रतिपादित ही है साथ ही सत्त्व पदार्थ में व्याप्यवृत्ति से रहता है अतः उसका विरोधी स्वभाव उसमें किसी भी विधि से नहीं रह सकता। साथ ही जड़ पदार्थों में

1. घट यहाँ पदार्थ विशेष का प्रतिनिधि न होकर मात्र स्थूलत्वापादन का संकेतक है। सूक्ष्म परमाणु किस तरह स्फुट स्थूलता तक पहुँचते हैं यही बताना यहाँ अभीष्ट है।

कारणता मानने पर यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर की इच्छा मात्र से कैसे जड पदार्थ (परमाणु) में क्रियोत्पत्ति संभव है क्योंकि कोई भी इच्छा अचेतन पदार्थ को सक्रिय नहीं कर सकती। यदि ईश्वर की इच्छा का अचेतन पदार्थ अनुसरण करेंगे तो सैनिकों के बिना भी राजा की इच्छा से मात्र शस्त्र ही शत्रुओं से युद्ध करने लगेंगे।

सांख्यमत की अनुपपन्नता—यह मत कार्य व कारण के मध्य तादात्म्य का पोषक है जिसके कि अनुसार कार्य व कारण स्वात्म मात्र में विश्रान्त नहीं हैं अतः प्रयोज्य–प्रयोजक सत्ता वाली कार्यकारणता यहाँ संभव है। यहाँ तो कारण में कार्य कारणव्यापार के पूर्व भी विद्यमान रहता है, कारणव्यापार के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। यहाँ कार्योत्पत्ति के बाद कारण नष्ट नहीं होता वरन् कार्य रूप में ही विद्यमान रहता है। अतः यहाँ वस्तु के स्वभाव का विप्रलोप नहीं होता, मात्र उसमें अवस्था, लक्षण व परिणामगत परिवर्तन आ जाते हैं। पर काश्मीरशिवाद्वयवादी चैतन्यविजृम्भात्मक कर्तृत्ववाद का समर्थन करते हुये इस मत को भी अनुपपन्न सिद्ध करता है। यहाँ कहा गया है कि यदि बीज का अङ्कुर स्वभाव है तो अङ्कुर ही न बीज हो जाये अथवा इसका उलटा हो कि मात्र बीज ही रहे, अङ्कुर न हो। इस प्रकार क्या कारण है, क्या कार्य है, यह भेद ही तब नहीं संभव होगा। यदि यह कहें कि अङ्कुर भिन्न है व बीज भिन्न तो उनमें परस्पर तादात्म्य नहीं होगा क्योंकि एक देश–विषयक भेदाभेद तो विरुद्ध ही है। पर इस सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि यह तो सर्वानुभूत तथ्य ही है कि बीज विविध अङ्कुरादि रूपों में प्रकट हुआ दूरदर्शी प्रमाता के द्वारा देखा जाता है और यह अनुभवविरुद्ध नहीं है। इसीलिये जब यह प्रश्न किया जाता है कि अब बीज कहाँ गया तब उत्तर है कि वह कहीं नहीं गया, मात्र अङ्कुर रूप से ही स्थित है। इसी प्रकार प्रकृति की स्थिति है। प्रकृति भी इसी प्रकार महत् तत्त्व से प्रारम्भ होकर धराभाव तक परिणमित होती हुई, यथोचित विस्तारभाव को प्राप्त होती है और अनन्त पदार्थों के सर्ग व प्रलय की परम्परा से तादात्म्य को प्राप्त करती है[1]। इन महदादि रूपों में उपलब्ध भेद के कारण ही इन तत्त्वों में कार्यकारणभाव की कल्पना होती है, जहाँ प्रधानादि में कारणतामात्र की कल्पना होती है वहीं महदादि में कार्य व कारण दोनों की कल्पना की जाती है। साथ ही प्रकृति तत्त्व में पूर्वापरीभूतावयवरूपा क्रिया रहती

1. यह यद्यपि अति विस्तृत धारणा है पर इसमें वस्तुयें कारण व कार्य रूप में तब कल्पित व प्रस्तुत की जाती हैं जबकि समग्र का केवल एक अंश विचार का विषय बनता है, अब जो पूर्ववर्ती है वह कारण बन जाता है तथा जो परवर्ती है वह कार्य। इस प्रकार कारणता का प्रत्यय इस एकता के विश्लेषण पर आधारित है। इसी को ध्यान में रख कर ही काश्मीर शिवाद्वयवाद के आचार्य उत्पल ने कहा है कि क्रिया एक एकता के द्वारा ही विविध आकारों की कल्पना है जो कि कालिक क्रम का अनुसरण करते हैं। सांख्य में भी प्रधानादि के उद्विकास की प्रकृति स्वाभाविक रूप से यही निर्दिष्ट करती है कि वह कारणमात्र न होकर कर्ता भी है।

है जिसके सहारे ही उसका परिणमन होता है[1]। पर शिवाद्वयवादी दृष्टि में प्रधानादि में इस प्रकार की क्रिया की संभावना उसकी कर्तृता की ही साधक है शुष्क (कर्तृता रहित) कारणता मात्र की नहीं। क्रियाविष्ट कारक कर्ता ही है।

यद्यपि इन तर्कों से प्रधान उद्विकास की क्रिया में कर्ता रूप ही सिद्ध होता है पर इससे कोई हानि नहीं है क्योंकि सांख्यमत में प्रधान पुरुषवत् क्रियाशून्य नहीं है पर शैव आक्षेप यह है कि यह उद्विकासात्मक क्रिया जड से सम्बद्ध नहीं हो सकती क्योंकि जड पदार्थ मात्र स्वात्मनिष्ठ है अतः वह भेदाभेदसह नहीं है जो कि क्रिया का अनिवार्य रूप है। इसलिये यह बात ही युक्तिसंगत है कि उद्विकासात्मक क्रिया चेतन से ही सम्बद्ध कही जाये। परिणामतः क्रिया स्वातन्त्र्यमय तत्त्व में ही स्थित हो सकती है जड में नहीं। शिवाद्वयवादी मत में तो दर्पणनगरन्याय[2] से प्रकाशपरमार्थवपु चित्तत्त्व में भेदाभेदसहिष्णुता भी सिद्ध हो जाती है साथ ही उसकी दर्पणवत् अविकृतता भी बनी रहती है भेद मात्र इतना है कि दर्पण को उन प्रतिबिम्बों का ज्ञान नहीं होता जबकि वह स्वतन्त्र चित् तत्त्व उनके विमर्शन, संयोजन, वियोजन, अनुसंधान सबमें समर्थ है। इस प्रकार चिद्रूप का ही कर्तृत्व उपपन्न है जो कि बिना अपनी एकता को प्रभावित किये अनेकतासहिष्णु है अतः क्रियाशक्ति के व्यापार के अनुकूल है। सांख्य सत्कार्यवाद व शैवों के सत्कार्यवाद में निम्न आधारों पर अन्तर किया जा सकता है–

(क) जहाँ सांख्य में सारी कारणता प्रकृति की है, पुरुष तो पूर्णतया निष्क्रिय रहता है वहीं शिवाद्वयवाद में सारी कारणता परमशिव की ही है। सांख्य में प्रकृति उपादान है व निमित्त है पुरुष का प्रकृति से संसर्ग पर शैव मत में परम शिव उपादान व निमित्त दोनों है।

(ख) काश्मीर शिवाद्वयवाद में सारा उद्विकास ज्ञानपरक है जबकि सांख्य में सत्तापरक।

(ग) जहाँ सांख्य–सम्मत प्रकृति के स्वात्मविभेदन में क्रियात्मक पक्ष का प्राधान्य है वहीं शिवाद्वयवादी पारतात्त्विक स्वात्मविभेदीकरण की प्रक्रिया में ज्ञानात्मक पक्ष का ही प्रामुख्य है। यही तथ्य इन दोनों सम्प्रदायों में इस विभेदीकरण के लिये प्रयुक्त संज्ञाओं–परिणाम व आभास से व्यञ्जित होता है।

वेदान्त मत की अनुपपन्नता–वेदान्त[3] मत निर्विमर्श प्रकाश रूप विज्ञान को ब्रह्म रूप कहता हुआ उसे ही विश्व वैचित्र्य का कारण मानता है पर यह शिवाद्वयवाद कूटस्थ ब्रह्म की सक्रियता का निषेध करता है क्योंकि चित्तत्व को ब्रह्म रूप में यथार्थ मान लेने पर भी उसमें विविध आभासों के सर्जन की क्रिया तब तक नहीं हो सकती जब तक कि

1. इसे निरन्तर, क्रमिक तथा भासनरूपपरिणामलक्षणाक्रिया रूप में भी परिभाषित करते हैं। परिणाम का वाचक यहाँ परिणमत्ता शब्द है जिसकी विशेष व्याख्या यहाँ की गयी है–परि + णमत्ता। परि है–परिवर्ज्य रूप का त्याग तथा व्यावर्त्य व अनुवर्तनीय रूप की व्यवस्था तथा णमत्ता है–निर्वर्त्यमान अर्थात् सम्पाद्यमान रूप अर्थात् तद्भाव से स्फुरण।
2. ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 9.
3. यहाँ वेदान्त मत से शांकर वेदान्त का ही ग्रहण है।

आत्मतत्त्व के साथ पदार्थों के तादात्म्य की विकल्पात्मक चेतना (परामर्श) न हो जो कि चिकीर्षा अर्थात् सर्जन की इच्छा का ही स्वभाव है।

शैव मत है कि यदि वेदान्ती कहे कि चिद्रूप वस्तुतः एक है और यह द्वैतारूपता माया या अविद्या के कारण है तो वेदान्ती यह नहीं बता पाता कि यह अविद्या किससे सम्बद्ध है। यह ब्रह्म से सम्बद्ध हो नहीं सकती क्योंकि वह शुद्ध बोध रूप है और परमार्थतः वहाँ कोई अन्य सीमित आत्मतत्त्व है नहीं जिससे कि वह सम्बद्ध हो सके। लेकिन यदि यह कहें कि 'अविद्या अनिर्वचनीय है' तो हम यह नहीं समझ पाते कि किसके प्रति अनिर्वचनीय है। इसके अतिरिक्त कुछ वेदान्ती यह भी कहते हैं कि वह स्वरूप से भासित होती है ऐसा मानने पर वह अनिर्वाच्य ही नहीं होगी। यदि वेदान्ती कहे कि अनिर्वाच्य का तात्पर्य है कि युक्तियों से इसका वर्णन नहीं किया जा सकता है तो प्रश्न उठता है कि वह युक्ति ही क्या जो हमारे संवेदन का तिरस्कार करती है अर्थात् अनुभव से बाहर की वस्तु को सिद्ध करने का प्रयास करती है। साथ ही भासमान को अनुपपन्न कहना भी अनुपयुक्त है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्म यहाँ निर्विकल्पक सत् ही माना गया है और द्वैतता विकल्प का ही परिणाम है तो प्रश्न है कि यह विकल्पन व्यापार किससे सम्बद्ध है। यदि ब्रह्म से सम्बद्ध है तो वह अविद्या से सम्बद्ध हो जायेगा और तब सर्वज्ञ नहीं हो सकेगा। उसके-अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं जिससे वह सम्बद्ध हो सके। साथ ही निर्विकल्प ज्ञान सत्य है व विकल्प ज्ञान भ्रान्त, यह मान्यता भी उपपन्न नहीं है[1]।

अतः स्वातन्त्र्यमण्डित चित् तत्त्व ही भेदाभासन में समर्थ संभव हो सकता है एक कूटस्थ तत्त्व नहीं। यह स्वातन्त्र्य ही यहाँ चिकीर्षा रूप इच्छा है। इस इच्छा से समस्त निर्मातव्य (निर्मेय पदार्थ) एक रूप रहते हैं[2] अतः वही स्वतन्त्र विश्वमय तत्त्व सारे जगत् का आभासन करने में सक्षम है। इस चिकीर्षा के बिना तो वह भासन, संयोजन, वियोजन, अनुसंधान रूप किसी भी कार्य में सक्षम नहीं है।

बौद्धमत की अनुपपन्नता—बौद्ध मत मात्र दो अपेक्षाहीन क्रमिक क्षणों में स्वभाव से ही कारण–कार्य का प्रतिपादन करता है। उसका प्रतिपाद्य है 'अस्मिन् सति इदं भवति'। पर काश्मीर शिवाद्वयवाद दो अपेक्षाविहीन स्वात्मनिष्ठ पदार्थों में अपेक्षानुप्राणित कार्यकारणभाव की संभावना का निषेध करता है। इसी सन्दर्भ में यहाँ काफी तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। बौद्ध मत अभूताकारभावन रूप में भी कारणता की व्याख्या करता है[3]

1. यहाँ कारण है कि जब दोनों भासमान हैं तो कैसे एक सत्य व दूसरा भ्रान्त हो सकता है। यदि कहें कि भासमान होने पर भी अभेद से भेद बाधित हो जाता है तो वैसे ही तो अभेद भी भेद से बाधित होगा क्योंकि मात्र विपरीत संवेदन का उदय ही बाध है, अन्य कुछ नहीं। बाध भी भासित होने से सत् ही है अतः भेद भी भासित होने से सत् ही होगा तब अविद्या रूप कैसे होगा। यदि यहाँ यह कहें कि यह भासन उसकी अविद्यारूपता का कारण नहीं है वरन् आगम ही इस विषय में प्रमाण है तो आगम भी तो भेदात्मक ही है क्योंकि उनमें भी प्रमाता, प्रमाण व प्रमेय का भेद रहता है अतः वह भी कुछ प्रामणिक नहीं है।
2. स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनं।
   अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते।। ई.प्र.का. 1/5/10
3. न अभूताकारभावनमन्तरेण अन्यत् किञ्चित् कार्यकारित्वम्..। त.आ भा. 6 पृ. 14

जिसके कि अनुसार अभूत–आकार की प्राप्ति कराना ही कारणता है जैसे बीज जो पहले अङ्कुर नहीं था उसे अङ्कुर रूपता की प्राप्ति कराना ही कारणता है। यहाँ भी कारण–कार्य के मध्य एक नियम संदर्शित है पर उसे पाणिनि के सूत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (2/3/37) के अर्थों में ही ज्ञापित किया गया है अतः यहाँ नियम का अभिप्राय मात्र इतने में पर्यवसित है कि धूम के बाद अग्नि अवश्य होगी। इन दोनों का स्वात्ममात्र में पर्यवसित अनन्यस्पर्शी विशिष्ट रूप ही कारणता व कार्यता है अतः अपेक्षा जैसा कोई पदार्थ नहीं है पर यह स्थिति उपपन्न नहीं है क्योंकि इस नियम का आधार यहाँ मात्र दर्शन है पर उसे दृश्य की कोई अपेक्षा नहीं है अतः इन दोनों पदार्थों के स्वरूप में सन्निविष्ट कोई ज्ञातेय स्वीकरणीय है जो कि दोनों की स्थिति को नियमित करता हो। यह ज्ञातेय ही अपेक्षा रूप है, मात्र पूर्वापरता रूप नहीं और यह अपेक्षा जड पदार्थों में संभव नहीं है। साथ ही कारण–कार्य की परिभाषा पूर्वता–परता के आधार पर कर उनकी व्याख्या प्रयोजक व प्रयोज्य रूप में करना[1] भी बिना अपेक्षा–सम्बन्ध को माने सिद्ध नहीं हो पाता है। अपेक्षा सम्बन्ध भी स्वात्मनिष्ठ, अनुसंधानसामर्थ्य रहित जड पदार्थों में नहीं हो सकता। यह अनुसंधान तो चेतन की ही सामर्थ्य है, वही अपेक्षा है जो कि चैतन्य का ही स्वरूप है, अन्यत्र तो यह उपचरित ही है। स्वात्मनिष्ठ पदार्थ तो परनिरपेक्ष ही है।

सारे सम्बन्ध अपेक्षानुप्राणित हैं अतः भावों का क्रिया कारण रूप समन्वय रूप सम्बन्ध तभी संभव है जबकि वे एक चेतन प्रमाता पर आश्रित हो। विकल्प का आश्रय लेकर भी इस सम्बन्ध को चेतन प्रमाता में विश्रान्ति के बिना नहीं सिद्ध किया जा सकता।

अन्ततः शिवाद्वयवादी कारणमीमांसा ही उपपन्न सिद्ध होती है जिसके कि अनुसार घटपटादि रूप नाना आभासों से मंडित विश्व रूप में अवस्थित रहने वाले परमेश्वर की इच्छा ही कारण, कर्ता व क्रिया रूप में सिद्ध होती है[2] क्योंकि न तो जड और न स्वातन्त्र्यशून्य चित् ही कारण या कर्ता कहा जा सकता है अतः यह परमेश्वर की इच्छा ही है जो बाह्यतया भासित होने पर क्रिया कही जाती है। वही कर्तृता है, वही हेतुता है। वह परमेश्वर ही विविध रूपों में आभासित होने की इच्छा करता हुआ नाना रूपों में आभासित होता है तथा वहाँ पञ्चकृत्यों का सतत सम्पादन करता है। यही उसका माहेश्वर्य है।

---

1. प्रयोजकता की प्रतीति बौद्ध कारणता सूत्र के 'अस्मिन् सति' अंश से होती है तथा प्रयोज्यता की प्रतीति 'इदम् भवति' अंश से होती है।
2. इत्थं तथा घटपटाद्याभासजगदात्मना।
   तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया। ई.प्र.का 2/4/21

9

काश्मीर शिवाद्वयवाद में कर्म सिद्धान्त

काश्मीर शिवाद्वयवाद अद्वैत का परिपोषक दर्शन है अतः यहाँ एक ही अद्वयतत्त्व का स्वातन्त्र्यवशात् नाना रूपों में प्ररोह कथित है। इसी कारण यहाँ कर्मसिद्धान्त की भी विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। एक अद्वयवादी दर्शन के लिये सर्वाधिक जटिल समस्या होती है, जागतिक बुराइयों की व्याख्या के साथ–साथ परम कारण की परतत्त्व रूपता की रक्षा की ओर इसी समस्या का समाधान करने के लिये वे परमकारणता की व्याख्या विविध ढंगों से करते हैं। इस सम्प्रदाय में इस समस्या के समाधान के लिये स्वातन्त्र्य का ही आश्रय लिया गया है। परतत्त्व स्वातन्त्र्य के कारण ही अपने यथार्थ स्वरूप का गोपन कर विविध प्रकार से क्रीडा करता है व कुत्सित–अकुत्सित[1] सभी का निर्माण करता है। पर यह कुत्सितता–अकुत्सितता उस अद्वय तत्त्व की दृष्टि से कुछ भी अर्थ नहीं रखती क्योंकि अच्छा–बुरा, कुत्सित–अकुत्सित पर के सन्दर्भ में ही संभव है, स्वयं अपने सन्दर्भ में नहीं[2]। इस प्रकार परमेश्वर में इस तरह के निर्माण से किसी प्रकार की विकृति की आशङ्का का परिहार हो जाता है पर परम प्रमाता के अपने सर्वमय रूप से अवरोह कर सीमित प्रमातृत्व को ग्रहण करने पर उसकी विकृति की आशङ्का निवृत्त नहीं हो पाती और वह उन अच्छाइयों, बुराइयों, कुत्सितता–अकुत्सितता आदि के उत्तरदायित्व का भागी होता है फलतः उसी से नियमित होकर विविध भोगों का भोक्ता बनता है। तब इसी प्रसंग में कर्म सिद्धान्त अपना सन्दर्भ प्राप्त करता है।

कर्म शब्द यहाँ भी अपने अभिधापरक दोनों अर्थों–क्रियापरक व व्यवस्थापरक में प्रयुक्त मिलता है। क्रियापरक अभिप्राय में तो यह स्वातन्त्र्य का ही वाचक है[3] पर यदि

---

1. वस्तुतः तो यहाँ कुत्सित अकुत्सित का अभिप्राय भी सामान्य अर्थों से भिन्न है। यहाँ कुत्सित का अभिप्राय है–भेद से परामर्श तथा अकुत्सित का अभिप्राय है–अभेद से परामर्श। द्र.शि.दृ.वृ. पृ. 14.
2. कुत्सितेऽकुत्सितस्य स्यान्कथमुन्मुखतेति चेत्।। 11।।
   रूपप्रसाररसतो गर्हितत्वमयुक्तिमत् ।
   पञ्चप्रकारकृत्योक्तिशिवत्वान्निजकर्मणे।। 12।।
   प्रवृत्तस्य निमित्तानामपरेषां क्व मार्गणम्। शि.दृ.,आ.।
3. प्रमातुः स्वातन्त्र्यरूपा क्रियाशक्तिरेव कर्म, सैव तु यत एनं परतन्त्री करोति नियतिशक्त्या येन विचित्रफलभागी अयमनिच्छुरपि जायते, ततो विपर्यासते...। ...ई.प्र.वि.वि., भा. 3 पृ. 318.

दृष्टि कुछ संकुचित करें तो यह उस परतत्त्व की क्रिया–शक्ति का ही अभिधायक होगा[1] पर वही व्यवस्थापरक अभिप्राय में स्वातन्त्र्य के 'तिरोधानकारी' पक्ष का ही एक स्फार सिद्ध होता है[2]। परमशिव स्वातन्त्र्यवश क्रीडा करने का इच्छुक होने पर अपने सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्वमय, सर्वाप्त व सर्वव्यापक रूप को सीमित करके नाना रूपों में भासित होता है पर इस सीमितीकरण के लिये यह तीन मलों की ही सहायता लेता है। इन मलों को नियति की अपेक्षा होती है[3] जो कि उसके स्वातन्त्र्य का ही विजृम्भण है[4]। ये मल उससे व्यतिरिक्त कुछ न होकर उसके तिरोधायक कृत्य के प्रथम स्फार हैं[5] तथा कोई द्रव्य रूप न होकर अज्ञान रूप है[6]। इन्हीं के माध्यम से वह अपने स्वरूप का तिरोधान करता है। ये तीन मल हैं–आणव, मायीय तथा कार्म[7]। आणव मल[8] के द्वारा वह सर्वज्ञता व सर्वकर्तृता का तिरोभाव करके सीमित ज्ञत्व व सीमित कर्तृत्व का आभासन करता है और अब मायीयमल उसके अन्य स्वरूपगत वैशिष्ट्यों को आवरित कर उसमें भेदात्मक चेतना को भी उत्पन्न कर देता है[9]। अब माया में सुप्त पड़े कर्म बीज[10] स्वत: आकर उससे संलग्न होते हैं और भोग वासना को उत्पन्न करते हैं[11]। यह भोगवासना ही अपूर्ण

---

1. सेयं पारमेश्वरी क्रियाशक्तिरिदमहं करोमि इत्यादि भेदावग्रहशालिनि पशौ वर्तमाना हानादानादिक्षोभमयत्वात् बन्धमेवाद त्त इति तत् स्वरूपलोपकारित्वात् सुखदु:खादिप्रदं कर्म उच्यते। तं.आ. भा. 8 पृ. 164
2. (अ) तिरोधान में कर्म या कर्माशय कारण नहीं है, मात्र परमेश्वर की इच्छा ही कारण है। वही, पृ. 223.
   (ब) कर्म का कारण मल नहीं वरन् स्वातन्त्र्य है क्योंकि कर्म क्रियात्मक है व क्रिया कर्तृतारूप है अत: वह स्वातन्त्र्य से ही संभव है, अकर्तृतात्मक अस्वातन्त्र्यरूप मल से नहीं। वही भा. 6 पृ. 82
3. तं.सा. पृ. 126.
4. नियत्यैव यदा चैव स्वरूपाच्छादनक्रमात्।
   भुङ्क्ते दु:खविमोहादि तदा कर्म–फलक्रम:।।
   त्यक्त्वा तु नियमं कार्मं दु:खमोहपरीतताम्।
   विभासयिषुरास्ते यं तिरोधानेऽनपेक्षक:।। वही पृ.126 पा.टि. 22
5. शि.दृ.वृ., शि.दृ.पृ. 31.
6. तं.आ.भा. 10 पृ. 6
7. (अ) परमशिव की अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति संकुचित होकर अपूर्णम्मन्यतारूप आणवमल बन जाती है, ज्ञान शक्ति क्रम से संकोच को प्राप्त करती हुई मायीयमल हो जाती है तथा क्रियाशक्ति क्रम से संकोच को प्राप्त करती हुई कार्ममल बनती है। प्र.हृ.पृ. 66, स्प.नि.पृ. 23, म.म.पृ.24.
   (ब) इन तीनों मलों के व्यापार में न कोई अनिवार्य क्रम निहित है न कोई निश्चित नियतता। यह अनिवार्य नहीं है कि एक मल की स्थिति अनिवार्यतया अन्य दो मलों द्वारा अनुसृत होगी उदाहरणार्थ विज्ञानाकल प्रमाता में केवल आणवमल की स्थिति है व प्रलयाकल में केवल दो मलों आणवमल तथा कार्ममल की। पर यह अनिवार्य है कि तीनों मलों में परवर्ती दोनों मलों को अपनी स्थिति के लिये पूर्व मल की अपेक्षा होती है तथा प्रथम के समाप्त होने पर बाकी दोनों भी स्वत: समाप्त हो जाते हैं।
8. इस दर्शन में द्विविध सृष्टियों का प्रतिपादन है–शुद्धा सृष्टि व अशुद्धा सृष्टि। यद्यपि आणवमल की स्थिति शुद्धा सृष्टि के प्रथम तत्त्व से प्रारम्भ हो जाती है पर उसका स्पष्ट अवभासन अशुद्धा स्तर में ही होता है। कार्ममल व मायीयमलों की स्थिति तो शुद्धासृष्टि के पञ्च स्तरों के बाद ही आती है। अत: उनका कर्तृत्व वहीं से शुरू होता है।
9. प.सा.वृ.पृ. 109, प्र.हृ.सू.वृ., प्र.हृ.पृ. 65–66
10. ये कर्मबीज प्रमाता के द्वारा सदेह अवस्था में किये गये पूर्वकर्मों के संस्कार हैं जो कि शाश्वत रूप से माया में सुप्त रहते हैं।
11. ...मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुष: पशु:। ई.प्र.का. 3/2/3, एष प्रमाता मायान्ध: संसारी कर्मबन्धन:...वही. 3/2/2.

इच्छा है जिसकी पूर्ति के लिये उसे देह की आवश्यकता होती है। यह भोगवासना ही भोगलोलिका कही जाती है और यही कार्ममल है[1]। इस प्रकार मल, माया व कर्म ही संसार के निमित्त सिद्ध होते हैं[2]। इस स्तर को प्राप्त हो जाने पर जागतिक सर्जन के विविध स्तर प्रारम्भ हो जाते हैं। तब चौबीस तत्त्वों के विकास से देह व भोग्य जगत् का निर्माण होता है[3]। इस जागतिक सर्जन में कार्ममल बीज का काम करता है[4] तथा जीव का देह के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है[5]। यह बीज ही संसार के अंकुरण का कारण है[6]। जीव अब अज्ञानवश अपनी तीव्र भोगेच्छा को शान्त करने की अपेक्षा अपनी सदेह स्थिति को बनाये रखने के लिये अधिक क्रियाशील रहता है फलतः कर्म बन्धनों में अधिक से अधिक बँधता जाता है और ऐसे कर्मों को करता है जिनका फल उसे निश्चिततः भोगना पड़ता है और जो उसके आवागमन का कारण बनते हैं[7]। इसी कारण अब वह संसारी कहा जाता है[8]।

कार्ममल कर्मसिद्धान्त का ही पूर्वपक्ष है। कर्मसिद्धान्त इसका अनुवर्ती है। यह कार्ममल वह सीमित इच्छा है जो कि सीमित स्वभाव के कर्मों की अनुप्रेरक है[9]। जीवों में भी इसी सीमित इच्छा के कारण विविध व्यापार किये गये उपलब्ध होते हैं और उनके द्वारा तदनुकूल जाति, आयु व भोग की प्राप्ति होती है[10]। परमेश्वर के सन्दर्भ में यह सीमित इच्छा विषयरहित है या इसे सीमित शक्तियों के प्रयोग की उत्कण्ठा मात्र कह सकते हैं पर जीवों के सन्दर्भ में यह सविषया है। यही आत्मा के विविध शरीरों के साथ अपने कर्मों (कर्मसंस्कारों) के फल भोग के लिये जुड़ने का कारण बनती है। यही उत्तरवर्ती सभी कर्मों का मूल है। इसको शरीर के समवाय की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि यह आत्मा का कार्य है, शरीर का नहीं।

कर्मसिद्धान्त रूप में प्रयुक्त कर्म शब्द का अभिप्राय कर्म संस्कारों से है जो कि उसके द्वारा कृत व्यापारों से उत्पन्न हैं, ये सीमित प्रमाता में ही उत्पन्न होते हैं[11]। इस

---

1. तत्र कर्तुरबोधरूपस्य देहादेर्भिन्नवेद्यप्रथने सति धर्माधर्मरूपं कार्ममलम, यतो जन्मभोगैश्च स च नियतावधिकः, इति जात्यायुर्भोगफलं कर्म इत्युक्तं भवति।
ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 249, ई.प्र.का. 3/2/4–5.
2. मलमायाकर्मणां संसारकारणत्वम्...प्रतिनियतकार्यकारित्वं, यन्मलस्य ज्ञानक्रियावरणमेव कार्यम्...सुखादीनां च वैषयिकत्वेन...सहकारितयैव कर्म निमित्तम्... कलादिक्षित्यन्तानां भावानामुपादानकारणं माया...। तं.आ., भा. 6 पृ. 139–140.
3. प.सा.श्लो. 24, प.सा.वृ., प.सा.पृ. 56.
4. ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 255, ई.प्र.का. 3/2/10.
5. तं0आ. 9/88, तं.आ.वि.भा. 6 पृ. 75, ई.प्र.का. 3/2/10, ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 254–255
6. तं0आ.भा. 1 पृ. 55, स्व.तं. 10/248, तं.आ.भा. 6 पृ. 76, शि.दृ. पृ. 27, पा.टि. 4.
7. प.सा.वृ., प.सा.पृ. 66, पृ. 125.
8. शि.सू. 3/1, शि.सू.वृ., शि.सू.पृ. 73.
9. तं.आ.वि., तं.आ.भा. 6, पृ. 57, तं.सा.पृ. 75.
10. तं.आ., भा. 2 पृ. 97
11. तं.आ. भा. 6 पृ. 85.

प्रकार ये कार्ममल व कर्मसंस्कार एक ही पदार्थ के दो पक्ष हैं[1]। यह कार्ममल जीवों के सन्दर्भ में अनन्त है। इसी के कारण जीवों के देह व व्यक्तित्व में भेद दृष्ट होता है[2] ईश्वर की स्वरूपतिरोधित्सा ही कार्ममल का निमित्त है अतः यह अनादि है[3]। जीवों के कर्मों के अनुरूप यहाँ तीन प्रकार की देह कोटियाँ निर्धारित की गयी हैं–(क) देव (ख) मानव (ग) तिर्यक्[4]। इनमें से देव व तिर्यक् देह भोगायतन या भोग देह हैं तथा मानव देह कर्मदेह है। इसके अतिरिक्त एक अन्य तरह से भी इसका विभाजन किया हुआ उपलब्ध होता है–जरायुज, अण्डज, उद्भिज तथा स्वेदज[5]। इस कार्ममल के द्वारा जीव विक्षेप व लय की अवस्थाओं में भ्रमित होता रहता है। विक्षेप वह अवस्था है जबकि जीव उपयुक्त देह से युक्त होकर विविध प्रकार के कर्म करता है जिनके कि संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं और संचित होकर अगले जन्मों में फल देते हैं। लय वह अवस्था है जिसमें उसकी मनोभौतिक देह (मन, बुद्धि, अहंकार व ज्ञानेन्द्रियों से युक्त) उपादान कारण प्रकृति में लीन हो जाती है फलतः वह बिना शरीर के रहता है अतः अकल कहा जाता है। जब उसके पूर्वजन्मों के संचित कर्म संस्कार कालशक्ति द्वारा परिपक्व हो जाते हैं तब वह पुनः अपने कर्मफलों के भोग के लिये अगले चक्र में सदेह स्थिति प्राप्त करता है।

इस प्रकार यहाँ कर्म शब्द के द्विविध सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं–(क) समष्टिपरक सन्दर्भ (ख) व्यष्टिपरक सन्दर्भ[6]। समष्टिपरक अभिप्राय में प्रयुक्त कर्म जहाँ सारी जागतिक व्यवस्था का नियामक है, विषय जगत् के पदार्थों की विविधता का निर्धारक है[7] वहीं व्यष्टिपरक अभिप्राय में प्रयुक्त कर्म मात्र वैयक्तिक सन्दर्भ में कर्मफलव्यवस्था का नियामक है[8]। समष्टि परक अभिप्राय में कर्म है विविध प्राणियों की अपूर्ण इच्छाओं का समग्र जिनकी कि तुष्टि के लिये ही अनन्त[9] विविध प्रकार की सृष्टि करता है[10] तथा व्यष्टिपरक अभिप्राय में यह व्यक्ति की अपूर्ण इच्छा[11] है जिसका कि परिणाम कर्म

---

1. (अ) सामान्य अभिप्राय में तो कर्म इस अर्थ का वाचक है कि यह वह अदृष्ट तत्त्व है जो कि जीव द्वारा किये गये कर्मों से उत्पन्न है तथा उसके द्वारा प्राप्य विविध फलों की विशिष्टता का नियामक है।
   (आ) कार्मोऽपि वासनासंस्काररूपो धर्माधर्मात्मास्त्येव।–ई.प्र.वि., भा.भा. 2, पृ. 252.
2. तं.आ. 9/99–100, तं.आ.वि, भा. 6 पृ. 82–83.
3. तं.आ., भा. 8 पृ. 74
4. शि.दृ.वृ., शि.दृ. पृ. 28.
5. ज.म.वि.पृ. 7
6. इन दोनों ही सन्दर्भों में कर्म संज्ञा का प्रयोग व्यवस्थापरक अभिप्राय में ही है।
7. शि.दृ. 1/34–36, शि.दृ., पृ. 27 पा.टि.
8. प.सा., 63, प.सा.वृ., प.सा.पृ. 121.
9. अनन्त को यहाँ अशुद्धा सृष्टि का ही कर्तृत्व सौंपा गया है। यह अनन्त परमशिव से व्यतिरिक्त कोई तत्त्व न होकर उसी के द्वारा स्वेच्छा से गृहीत संकुचित रूप है जिसको सर्जन के लिये जीवों के कर्मों की भी पूर्वापेक्षा होती है जबकि परमशिव स्वतन्त्र्य मात्र से सर्जन करता है।
10. तं.आ. भा. 6 पृ. 55–56.
11. इस अपूर्ण इच्छा को राग भी कह सकते हैं क्योंकि अपूर्ण इच्छा होने पर जीव उसको तुष्ट करने के लिये व्यापार करता है जिनमें कि आसक्तिभाव मिश्रित रहता है। इसी आसक्ति भाव के कारण वह उन कर्मों के उत्तरदायित्व का भागी बनता है फलतः उन कर्मों के संस्कार एकत्रित होते जाते हैं जो कि अनुकूल परिस्थितियाँ पाने पर फलित होते हैं।

संस्कार हैं जो कि भावी जाति, आयु व भोगों के निर्धारक हैं[1]।

इस प्रकार की यह कर्म की धारणा परतत्त्व के स्वातन्त्र्य का ही विजृम्भण है क्योंकि वहाँ सारा कर्तृत्व, सारा निमित्तत्व उसी स्वातन्त्र्य से ही अपना सन्दर्भ प्राप्त करता है अतः परतत्त्व की इच्छा से विविध जीवात्मायें विविध कर्मों का निष्पादन करती हैं[2]। वहाँ उनका कोई निजी कर्तृत्व नहीं है क्योंकि वे भी महेश्वर द्वारा ही सर्जित होने से विषय जगत् में ही अन्तर्भूत होती है अतः उनका कर्तृत्व उनका अपना न होकर आरोपित किया हुआ होता है। ठीक वैसे ही जैसे कि जमानत देने वाले को ऋण न लेने पर भी ऋणधारिता की अनुभूति होती है। सीमित प्रमाता अपने यथार्थ स्वरूप के अज्ञानवश देह, बुद्धि, प्राण आदि से मिथ्या तादात्म्य स्थापित कर विविध क्रियाओं को परमेश्वर की इच्छा से ही निष्पादित करता हुआ भी उनके कर्तृत्व को अपने पर ही आरोपित करता है[3]। वह भूल जाता है कि वह परमेश्वर की इच्छा का साधन मात्र है वरन् स्वयं को ही कर्ता समझने लगता है और यही अभिमान उसे कर्मों के फल–भोग का अधिकारी बना देता है[4]। वस्तुतः तो परमशिव ही अपनी इच्छा से जिससे जैसा चाहे कर्म करवाता है[5]। किसी को अनुग्रह का भागी बनाता है तो उसे सद्कर्मों में नियुक्त करता है और यदि किसी को मोहित किये रखना चाहता है तो उससे द्वैत बुद्धि प्ररूढ़ कृत्यों को कराता है। इसे दूसरे शब्दों में यूँ भी कह सकते हैं कि वह स्वयं ही कहीं बद्ध बनता है व कहीं मुक्त; कहीं साध्य बनता है व कहीं साधक। इस प्रकार वह नाना रूपों में अवतरित होता है। जागतिक पदार्थ भी अपने आप में अच्छे बुरे नहीं हैं, मात्र परमेश्वर की इच्छा ही उनमें अच्छे–बुरे की धारणायें जोड़ती हैं[6]।

कर्म संस्कारों को उद्‌बुद्ध होकर फलीभूत होने के लिये दो तथ्यों की अपेक्षा होती है–(क) अनुसंधान (ख) अन्य सहकारी परिस्थितियाँ। इस अनुसंधान का अभिप्राय है कृत कर्म का अपने में तादात्म्य। कर्ता जैसा अनुसंधान करता है वैसे ही फलों का भोक्ता

---

12. तं.आ. भा. 6 पृ. 82–83.

13. ईश्वरेच्छा कर्मवैचित्र्ये निमित्तम्...। वही.भा. 8 पृ. 56.

1. यही स्थिति बौद्ध अज्ञान की है जहाँ वह आत्म व अनात्म तत्त्वों का मिथ्या तादात्म्य कर लेता है। इसकी स्थिति देह के साथ सम्बन्ध होने पर ही होती है इसके विपरीत आणवमलकृत अज्ञान पौरुष अज्ञान है जिसका नाश मात्र परमशिव के अनुग्रह से ही संभव है। यह देह रहित जीवों में भी रहता है जैसे विज्ञानाकल में या प्रलयाकल में।

2. यही अभिमानकृत भेद विज्ञानाकल प्रमाता को प्रलयाकल से भिन्न करता है। विज्ञानाकल प्रमाता जहाँ अपने कार्यों का अपने में अभिमान नहीं करता अतः कार्ममल से मुक्त रहता है वहीं प्रलयाकल प्रमाता अभिमान करता है अतः कार्ममलमय है।

3. तं.आ., भा. 8 पृ. 56

4. वही 13/70

बनता है[1]। यदि उसका अनुसंधान[2] यह हो कि उसके द्वारा निष्पादित इस कर्म का फल अन्य को प्राप्त हो तो उसका फल अन्य को ही मिलता है[3] जैसे कि पुरोहित के द्वारा कृत पूजा, यागादि कर्मों का फल यजमान को प्राप्त होता है। इस प्रकार कोई भी कर्म अपने आप में किसी निश्चित फल को नहीं देता वरन् उससे संयुक्त प्रमाता का अनुसंधानात्मक व्यापार ही उसके लिये फल निश्चित करता है। कोई भी कर्म तब तक फलित नहीं होता जब तक कि उसे अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं प्राप्त होतीं और अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त हो जाने पर उस कर्मफल का भोग रोका नहीं जा सकता। इसी आधार पर कर्मों का यहाँ द्विविध विभाजन किया गया है–(क) फलोन्मुख (2) फलानुन्मुख[4]। जिन कर्मों को फलीभूत होने के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त हो गयी हैं वे फलोन्मुख तथा जिनको अभी नहीं प्राप्त हुई हैं, वे फलानुन्मुख कहलाते हैं। इनमें से द्वितीय फलानुन्मुख कर्मों का तो बिना भोग के ज्ञान, कर्म[5] आदि से क्षय किया जा सकता है पर फलोन्मुख का क्षय भोग के अनन्तर ही होता है[6]। इन्हीं फलोन्मुख कर्मों को अन्य दर्शन प्रारब्ध कहते हैं। इनका प्रारम्भ हो जाने पर इन्हें रोका नहीं जा सकता अतः स्वरूप प्रत्यभिज्ञान हो जाने पर भी इन्हीं के कारण प्रमाता देह धारण किये रहता है। यही स्थिति दार्शनिक शब्दावली में जीवन्मुक्ति कहलाती है।

कर्मों का अन्य प्रकार से भी वर्गीकरण यहाँ उपलब्ध होता है जैसे कि इन्हें शुभ, अशुभ व शबल रूप में विभक्त किया जाता है[7]। शुभ द अशुभ कर्म जहाँ प्रतिनियत रूप वाले हैं वहीं शबल कर्म अनियत रूप होने से मिश्रित स्वरूप के हैं। इनमें से तीसरे में मिश्रित स्वरूप होने से फलदान में क्रमिकता होती है। इसी प्रकार इन्हें सांसारिक व आत्म रूप दो वर्गों में भी वर्गीकृत किया गया है। सांसारिक कर्म वे हैं जो नाना जन्मों में संसरण का कारण हैं तथा आत्म कर्म वे हैं जो कर्मबन्धनों से मोक्ष का कारण है। इस प्रकार यहाँ कर्म–सम्पादन अनिवार्यतः एक ऐसी बुराई नहीं सिद्ध होता जिससे जीवों को बचना चाहिये वरन् ये उसकी मोक्ष प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं[8]। इस प्रकार यहाँ अन्य वैदिक दर्शनों की भाँति कर्म की ज्ञानप्राप्ति में व्यर्थता न होकर उसका एक अनिवार्य

1. तं.आ.भा. 6 पृ. 87–89.
2. सत्तया फलदाने कर्म न प्रयोजकं किन्तु अभिसंधानाद्...। वही पृ. 87.
3. वही पृ. 87–88.
4. वही पृ. 102
5. यह कर्म शब्द यहाँ कर्म योग का प्रतिनिधि है।
6. फलादानोन्मुखस्य वर्तमानस्य पुनः का गतिं...प्रारब्धेकं न शोधयेदिति तस्य भोगेनैव अतिवाहनात्। तं.आ.भा. 9, पृ. 18
7. इह हि त्रिविधानि कर्माणि शुभान्यशुभानि शदलानि च। तत्र शुभमशुभं च कर्म प्रतिनियतरूपत्वात् सशुद्धाकारं, शवलं पुनरनियतत्वाद् व्यामिश्राकारं तेषां क्रमिकत्वमेव न्याय्यम् . अतश्च क्रमेणैव स्वमपि फलं ददाति...। वही. भा. 8 पृ. 48.
8. म.मं.टी. पृ. 24 पर उद्धृत उद्धरण।

महत्त्व है। यहाँ बन्धनों में बद्ध जीव के पास कर्म ही एक ऐसा साधन है जो उसे इस संसार से मुक्ति दिला सकता है।

ये कर्म सीमित आत्मा से ही सम्बद्ध हैं, देह से नहीं अतः देह के साथ नष्ट नहीं होते वरन् आत्मा के साथ-साथ संसरित होते रहते हैं और आत्मा को भावी शरीर व इसकी परिस्थितियों से संयुक्त करते हैं[1]। ये कर्म-संस्कार पुर्यष्टक देह के मनस् बुद्धि व अहंकार रूप अंशों में रहते हैं। यह दर्शन तीन तरह के शरीरों की चर्चा करता है-कारण शरीर, पुर्यष्टक शरीर तथा स्थूल शरीर। सबसे ऊपर कारण शरीर की स्थिति है जिसे पर शरीर भी कहा जाता है[2]। यह माया व उसके पाँच कञ्चुकों द्वारा निर्मित है तथा जीव के मायीयमल से आवरित होने पर ही उत्पन्न होता है। यह प्रलय में भी नष्ट नहीं होता और संसरण काल में भी स्थित रहता है। यह अन्य दो शरीरों के लिये आधार है। इसके बाद पुर्यष्टक शरीर की स्थिति[3] है। जो वसुगुप्त[4] व क्षेमराज[5] के मत में आठ तत्त्वों-मन, बुद्धि, अहंकार व पञ्चतन्मात्रों का परिणाम है तथा अभिनवगुप्त[6] के मत में ग्यारह तत्त्वों-पञ्च प्राणवायुओं, बुद्धि व पञ्च कर्मेन्द्रियों से निर्मित है। पुर्यष्टक शरीर की प्राप्ति तभी होती है जबकि जीव मायीयमल से आवरित हो चुका हो तथा कार्ममल के नष्ट होने तक इसकी स्थिति बनी रहती है। यही शरीर एकदेह (स्थूल शरीर) के नाश के बाद दूसरी देह में संसरित होता है तथा कर्मानुकूल भोगों की प्राप्ति में निमित्त बनता है[7]। अब उसे इसी पुर्यष्टक शरीर के अनुकूल स्थूल शरीर की प्राप्ति होती है जो कि भोगायतन कहा जाता है[8]। यह पञ्च महाभूतों तथा दश इन्द्रियों से निर्मित है। इनसे युक्त होकर ही जीव विविध भोग्य पदार्थों के सम्पर्क में आता है व विविध क्रियायें करता है। यह स्थूल शरीर विशेष वासनाओं की पूर्ति का साधन है पर उस विशेष वासना की पूर्ति में वह अन्य नयी वासनाओं को जन्म देता है जो उसके अगले जन्मों व उनमें प्राप्त भोगों का कारण बनती हैं।

यहाँ प्रमाताओं की देह के अनुसार उन्हें द्विविध वर्गों में विभक्त किया गया है-कर्मदेहमय प्रमाता तथा भोगदेहमय प्रमाता। जहाँ कर्मदेहमय प्रमाताओं के पास कर्म स्वातन्त्र्य रहता है वहीं भोग देहमय प्रमाता किसी उच्चतर शक्ति के साधन मात्र हैं, उनके पास अपना कोई स्वातन्त्र्य नहीं है। कर्मदेहमय प्रमाता जहाँ मनुष्य वर्ग के हैं वहीं

---

1. स्प.नि.पृ. 73.
2. शि.सू. 3/4, शि.सू.वृ., शि.सू.पृ. 78
3. स्प.का. 4/19-20, स्प.का.वि., स्प.का.पृ. 155-156.
4. शि.सू.वृ., शि.सू. पृ. 75
5. स्प.नि.पृ. 73, स्प.का. 4/19, स्प.का.वि., स्प.का.पृ. 155
6. ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 263-264.
7. शि.सू.वृ. शि.सू. पृ. 90-91.
8. स्प.नि.पृ. 73.

भोगदेहमय प्रमाता देववर्ग के हैं। इस प्रकार यहाँ देवता भी परम शिव की इच्छा के ही करण सिद्ध होते हैं, स्वयं में स्वतन्त्र तत्त्व नहीं। वे भी भोगवासना के नाश के बाद मनुष्य देह (कर्मदेह) धारण करते हैं। देवता आठ लोकों में स्थित होकर वहाँ के प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार फल देते हैं और इस तरह अपनी भोगवासना शान्त करते हैं[1]। यहाँ नरक स्वर्ग की कल्पना के भी उदाहरण मिलते हैं[2]। पर ये सब मात्र परमेश्वर की क्रीडा हैं।

जागतिक सन्दर्भ में प्रलय की स्थिति में ये कर्मसंस्कार पुनः उत्तरकाल में परिपक्व होने के लिये तथा जागतिक सोद्देश्यता की पुष्टि के लिये अवशिष्ट रहते हैं तथा नवीन सृष्टि होने पर अनन्त इनकी सहायता लेता है। जीव के सन्दर्भ में प्रलय[3] का अर्थ है एक विशेष कर्म के फलभोग के उपरान्त विश्रमित हो जाना व नवीन कर्म–फल भोग के लिये तैयारी करना।

परमेश्वर के पञ्चकृत्यों में तिरोधान व अनुग्रह इस कर्म से स्वतन्त्र है[4] जबकि सृष्टि, स्थिति व लय इसी कर्म सिद्धान्त से सञ्चालित हैं[5]। इन तीनों में कार्ममल की स्थिति रहती है जो कि अनन्त जीवों की समग्रभूत अपूर्ण इच्छा है।

इन कर्मों का नाश मोक्ष के लिये अनिवार्य पूर्वदशा है[6]। इनमें से फलानुन्मुख कर्मों का क्षय तो ज्ञानकर्म आदि से होता है पर फलोन्मुख कर्मों का क्षय भोग से ही होता है। कर्मों का क्षय हो जाने पर आणवमल का क्रम से विनाश होता है और तब स्वरूपख्याति होती है[7]। मलों के नाश से ही आत्मस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान होता है पर इस मलनाश से मानवकर्म (आत्म कर्म) कार्ममल व मायीयमल का तो नाश कर सकते हैं, पर आणवमल

---

1. ई.प्र.वि., भा.भा. 2 पृ. 254
2. शास्त्रविरुद्धाचरणात् कृष्णं ये कर्म विदधते।। 28।।
   तत्र भीमैर्लोकपुरुषैः पीडयन्ते भोगपर्यन्तम्।
   ये सकृदपि परमेशं शिवमेकाग्रेण चेतसा शरणम्।। 29।।
   यान्ति न ते नरकयुजः कृष्णं तेषां सुखाल्पतादायि।।
3. इस प्रलय का अभिप्राय अनुग्रह के अंश रूप में भी स्वीकृत किया जा सकता है क्योंकि यहाँ अक्सर पञ्चकृत्य अनुग्रह का ही स्फार कहे गये हैं।
4. न ह्येवंविधं कर्म किञ्चिदस्ति यत्तिरोधानहेतुतां यायात्, तद्धि जात्यायुर्भोगप्रदम्। तं.आ.भा. 8 पृ. 223, तं.सा.पृ. 126, पा.टि.।
5. विसृष्टिस्थितिसंहारा एते कर्मबलाद्यतः।
   अतो नियतिकालादि–वैचित्र्यानुविधायिन।। तं.आ. 28/232
6. वही., भा. 8 पृ. 6–7
7. यहाँ इसका वेदान्त, पाञ्चरात्र, साख्य आदि से भेद है जो कि नैष्कर्म्य मात्र को मुक्ति मानते है पर यहाँ उससे भी ऊपर एक स्थिति और मानी जाती है–आणव मल–नाश की, तभी मुक्ति होती है।

का नहीं। उसका नाश तो ईश्वर के शक्तिपात[1] रूप अनुग्रह से ही होता है[2]।

अक्सर ईश्वर के शक्तिपात से साधक के आणवमल का नाश हो जाता है पर मायीय व कार्ममलों की स्थिति बनी रहती है क्योंकि उनके नाश हेतु साधक ने कोई प्रयास नहीं किया है। ईश्वर तो स्वतन्त्र है अतः मानव प्रयासों की अपेक्षा न करते हुये अपने जिस स्वरूप को चाहे, उसे शक्तिपात का अधिकारी बना सकता है। पर कार्ममल के नाश के लिये जीव को अपने में विवेक ज्ञान उत्पन्न करना आवश्यक है जिससे कि अज्ञान रूप में उसे आवरित किये हुये स्थित कार्ममल नष्ट हो जाता है फलतः उसकी संसरण से मुक्ति होती है। अब उसका मायीयमल भी नष्ट हो जाता है क्योंकि उसकी भेदात्मक चेतना समाप्त हो जाती है। इस विवेक ज्ञान से वह अकल स्थिति को प्राप्त करता है और तब प्रलय केवली या विज्ञानकेवली के रूप में स्थित होता है। यदि वह प्रकृति का क्षेत्र उत्तीर्ण करता है तो वह प्रलयकेवली कहलाता है तथा अनुद्विकसित प्रकृति में लीन रहता है और यदि माया का क्षेत्र पार कर लेता है तो वह विज्ञानकेवली कहलाता है व महामाया में लीन हो जाता है। वस्तुतः तो जीव जिस तत्त्व के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है उसी तत्त्व के स्तर पर उसकी स्थिति मानी जाती है और उसका क्रमविकास उसी स्तर से प्रारम्भ होता है। अब मलों के क्षय के साथ–साथ वह जीव (सकल) इन मलों से मुक्त होकर उस शुद्ध परमशिवरूपता की ओर बढ़ता जाता है पर इस स्थिति तक पहुँचने के मध्य कई अवान्तर दशायें आती हैं जिनमें इन क्षयोन्मुख मलों की क्रमिक स्थितियाँ रहती हैं। इसी आधार पर जीव की भी विविध स्थितियाँ बताई जाती हैं प्रलयाकल, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, शाक्तज व शांभव। जहाँ प्रलयाकल में आणवमल व कार्ममल दोनों रहते हैं, विज्ञानाकल में मात्र आणवमल रहता है, मंत्र प्रमाता में आणवमल व मायीयमल दोनों रहते हैं, मन्त्रेश्वर में केवल कार्ममल रहता है, मंत्रमहेश्वर में केवल मायीयमल रहता है तथा शाक्तज प्रमाता में स्वातन्त्र्य की अबोधता रूप आणव प्रकार तथा शांभव प्रमाता में स्वातन्त्र्य रूप में

---

1. शक्तिपात के तीन कार्य हैं–(क) पाशक्षय (पाश–आणव मल केवल) (ख) शिवत्वयोजन या प्रातिभज्ञानोदय (ग) शिवत्व प्राप्ति।
प्रतिभज्ञान का उदय सबमें समान मात्रा में नहीं होता है यह भेद शक्तिपात की मात्रा व व्यक्ति की शुद्धता पर निर्भर है। इसीलिये अक्सर एक बाह्य कर्ता रूप मध्यस्थ (गुरु/आचार्य) की आवश्यकता पड़ती है जो उपदेश श्रवण या शास्त्राध्ययन द्वारा प्रातिभज्ञान को उदित करता है। यही कार्य दीक्षा है। यह शक्तिपात अहेतुक है और परमेश्वर के अनर्गल स्वातन्त्र्य का ही परिणाम है। (तं.सा. पृ. 125, मा.वि.वा. 1/688–698 त.आ. 13/101, तं. आ.वि., तं.आ.भा. 8 पृ. 67, त.आ. 13/257); यद्यपि कहीं–कहीं मलपरिपाक की मात्रा को इसका हेतु बताया जाता है।
2. तं.सा., पृ. 118.

शक्ति का पृथक् कथन रूप आणवमल स्थित रहता है[2]। अन्ततः आणवमल का नाश होने पर शुद्धविद्या का उदय होता है और वह पूर्ण शिव हो जाता है। इस प्रकार से मोक्षप्राप्ति सम्बन्धी जीव की यात्रा तभी शुरू हो जाती है जब कि वह ईश्वरीय अनुग्रह का विषय बनता है।

इस प्रकार काश्मीर शिवाद्वयवाद में कर्म–सिद्धान्त महेश्वर के माहेश्वर्य का ही प्रतीक है तथा अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक व्यापक है क्योंकि यह मात्र जीवों के भोगादि की व्यवस्था करने वाला सिद्धान्त नहीं है वरन् जागतिक सर्जन का भी निमित्त है।

---

1. इसका एक अन्य तरह से भी वर्गीकरण किया जाता है–
संवेद्य सुषुप्त व अपवेद्य सुषुप्त। सवेद्य सुषुप्त सकल प्रमातावत् ही तीनों मलो से युक्त है, मात्र वहाँ भेदात्मक चेतना सुषुप्ति स्तर पर ही विद्यमान रहती है और अपवेद्य सुषुप्त में केवल आणव व कार्म रूप दो मलों की स्थिति रहती है।
2. भा.भा. 2 पृ. 254–256, इन तीनों मंत्रमहेश्वर, शाक्तज व शांभव प्रमातृस्तरों पर ये मल स्थूल रूप मे न रह कर संस्कार रूप में रहते हैं।

10

समापन

|| 1 ||

भारतीय तत्त्वमीमांसा में इच्छा–स्वातन्त्र्य तथा कारणता की धारणायें विशिष्ट माहात्म्य रखती हैं। यद्यपि पाश्चात्य दर्शनों की तरह यहाँ इन दोनों धारणाओं का परस्पर एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य में विस्तृत विवेचन उपलब्ध नहीं होता पर फिर भी कुछ दार्शनिक सरणियों में इनकी परस्पर सापेक्षता का विरुद्गान यहाँ भी उपलब्ध है। शंकर का अद्वैत वेदान्त, ईश्वरवादी वेदान्त के विविध सम्प्रदाय, न्याय वैशेषिक, सांख्य योग सभी एक स्वतन्त्र तत्त्व की कारणता का प्रतिपादन करते हैं, चाहें वे मात्र उसको निमित्त कारण स्वीकारें या उसकी उपादान कारणता का भी प्रतिपादन करें।

परम कारण के साथ स्वातन्त्र्य का सामंजस्य यूँ भी अनिवार्य है क्योंकि स्वतन्त्र तत्त्व वह है जिसमें नाना संभावनाओं की उच्छलत्ता सामर्थ्य है और परम कारणता उसी की संभव है जो कि समस्त कार्यों का कारण बन सके। अतः कारणता व स्वातन्त्र्य समस्त आपातिक विरोधों को त्याग कर परस्पर पर्याय बन जाते हैं। कारणता के सन्दर्भ में विविध मत प्रस्तुत किये जाते हैं जिनमें से इच्छा की कारणता का मत कारणमीमांसा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है और प्रायः स्वीकृत सभी कारणों में विशिष्ट है क्योंकि अन्य कारण तो अचेतन है अतः उन्हें क्रियाशील होनें के लिये किसी चेतन तत्त्व की आवश्यकता होती है जबकि इच्छा चिद्रूपिणी है अतः स्वयं विषयोत्पत्ति में कारण बनती है। यूँ तो मात्र प्रेरक होने से इसकी केवल निमित्तता बताई जाती है पर कुछ दर्शन जिनकी तत्त्वमीमांसा के अनुसार पदार्थों की विचारात्मक सत्ता है, इसे ही उपादान व निमित्त दोनों कहते हैं। इच्छा स्वतन्त्र है और एक स्वतन्त्र चित् तत्त्व को ही प्रथम कारण के रूप में बताया जा सकता है। कुछ अद्वैतवादी तत्त्वमीमांसक उसी की उपादानरूपता व निमित्तरूपता मानते हैं जबकि कुछ उसे मात्र निमित्त कारण मानकर माया आदि अन्य किसी तत्त्व को उपादान मानते हैं।

जहाँ जागतिक सृष्टि के सन्दर्भ में ये कारणता व इच्छा–स्वातन्त्र्य के प्रत्यय परस्पर अन्योन्याश्रित बन कर सम्मुख आते हैं, वहीं जागतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में प्रस्तुत कारणतापरक कर्म सिद्धान्त भी इसी स्वातन्त्र्य से नियमित होता है। इन दोनों ही स्तरों पर स्वातन्त्र्य व कारणता एक चेतन तत्त्व में ही विश्रमित होते हे, भेद मात्र इतना है कि जहाँ प्रथम में वह चेतन तत्त्व सर्वथा मुक्त परतत्त्व है (जिसे कि विविध संज्ञाओं से

अभिहित करते हैं) वहीं द्वितीय में बद्ध जीव ही है। जागतिक स्तर पर यह स्वातन्त्र्य से अनुप्रेरित कारणता सिद्धान्त सारे जागतिक विकास को नियमित करता है[1] तथा वैयक्तिक स्तर पर वही कारणता सिद्धान्त कर्म संज्ञा से वाच्य होकर सारे नैतिक जगत् की व्यवस्था को नियमित करता है।

यह कारणता सम्बन्ध की ही एक विधा है। प्रायः सम्बन्ध का अभिप्राय उस तथ्य से लिया जाता है जो दो या दो से अधिक सम्बन्धियों को परस्पर बाँधता है अथवा यह वह प्रभाव है जो एक पदार्थ दूसरे पर डालता है पर यह एक प्रत्यक्ष योग्य पदार्थ नहीं है क्योंकि इसका मात्र अनुभव किया जा सकता है अतः इसी कारण इसके सन्दर्भ में कई विकल्प प्रस्तुत किये जाते हैं जिनका कि सम्यक् विश्लेषण करने पर यही सिद्ध होता है कि यह सम्बन्ध तथ्यों के व्यवस्थितीकरण का ढंग है क्योंकि वह न तथ्य है, न कल्पना पर फिर भी उसका अनुभव तो होता ही है। इस प्रकार यह प्रत्यय ज्ञान की एक सापेक्ष कोटि सिद्ध होता है क्यों कि अनुभूयमान तथ्यों के मध्य ही इसके दर्शन होते हैं, स्वतन्त्रतया नहीं। यह ऐसी दशा की चेतना अथवा उस ढंग की अभिव्यक्ति है जिसमें कि एक पदार्थ दूसरे एक या अधिक पदार्थों के साथ प्रविष्ट होता है। सम्बन्धों की द्विविध विधायें संभव हैं–संरचनात्मक तथा असंरचनात्मक। इनमें से संरचनात्मक सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण है जिनमें कि दैशिक सम्बन्ध, कालिक सम्बन्ध व कारणता सम्बन्ध विशेषतः आते हैं। कारणता सम्बन्ध इन सबमें मूलभूत है। इसके द्विविध सन्दर्भ हैं–प्रथम तो परमार्थ सत्ता के साथ जगत् का सम्बन्ध व द्वितीय है जगत् के पदार्थों के मध्य का सम्बन्ध।

भारतीय तत्त्वमीमांसा में कारणता के सन्दर्भ में विविध आयाम उपलब्ध होते हैं –जहाँ चार्वाक कारणता को स्वभाव मात्र में पर्यवसित करता है तथा समस्त अनुभवातीत सत्ताओं का निषेध करता है (अतः यहाँ कर्म सिद्धान्त अस्वीकृत है), वहीं बौद्ध मत के अधिकांश सम्प्रदाय क्षणभंगवाद को ही परम प्रतिपाद्य मानने से कारणता को किसी स्थिर पृष्ठभूमि पर घटित न बताकर क्षणों में ही पर्यवसित करते हैं, इस प्रकार यहाँ कारणता 'अस्मिन् सति इदं भवति' रूप में ही घटित होती है व कर्मसिद्धान्त भी क्षणप्रवाह के द्वारा ही सिद्ध किया जाता है, जैन मत स्याद्वादी होने से कारणता के लिये एक निश्चित प्ररूप को न स्वीकृत कर एक मिश्रित प्रक्रिया को स्वीकारता है जिसके कि अनुसार कारणता पर्याय रूप में तो असत् की उत्पत्ति है व द्रव्य रूप में सत् की अभिव्यक्ति है अतः कर्म जो यहाँ पौद्गलिक है, भी ऐसे ही कारणात्मक नियम द्वारा नियमित होता है। सांख्य योग मत सत्कार्यवाद का पोषक होने से कारणता को अभिव्यक्ति रूप अभिप्राय में नियमित करता है तथा कर्म की व्याख्या भी उसी के अनुरूप प्रस्तुत करता है। न्याय वैशेषिक मत कारणता को उत्पत्तिपरक मानता है व कर्म को अदृष्ट रूप।

1. इसे विविध दर्शन उत्पत्ति, परिणाम, अभिव्यक्ति आदि विविध संज्ञाओं से अभिहित करते हैं जिसके कि मूल में उनकी विविध कारणमीमांसायें हैं।

मीमांसा दर्शन में एक वर्ग अभिव्यक्ति का पोषक है तो दूसरा उत्पत्ति का। गौडपाद कारणता की व्याख्या अजातिवाद की ही विशिष्ट शब्दावली में करते हैं। अद्वैतवेदान्त में कारणता की व्याख्या विविध स्तरों पर विविध ढंग से की गयी है। जहाँ कारण (ब्रह्म) की दृष्टि से विवर्तवाद का पोषण है वहीं कार्य (जगत्) की दृष्टि से सत्कार्यवाद का। ईश्वरवादी वेदान्तों में रामानुज, वल्लभ, मध्व तथा निम्बार्क सभी कारणता की व्याख्या सूक्ष्म दशा के स्थूलतया अभिव्यक्तीकरण रूप में ही करते हैं।

कारणता सिद्धान्तों में उपलब्ध इसी वैशिष्ट्य के कारण चार्वाक् मत सर्जन हेतु केवल चार परमाणुओं के स्वभावतः संयोग को निमित्त मानता है, बौद्धमत मात्र क्षणप्रवाह के द्वारा ही जागतिक सर्जन की व्याख्या करता है तथा जैन मत भौतिक जगत का स्रोत परमाणुओं को बताता है। उसके अनुसार एकजातीय पुद्‌गल समूह ही भिन्नताओं व गुणों द्वारा नियत होकर नानाविध अणुओं में विभक्त हो जाता है व नानाविध पदार्थों का सर्जन करता है। जीव तो नित्य ही है। न्याय वैशेषिक मत भी पाँच प्रकार के अणुओं को सारे जगत् का स्रोत मानता है यद्यपि ईश्वर की इच्छा, अदृष्ट आदि की भी यहाँ कारणता रहती है। सांख्य–योगमत प्रकृति पुरुष के संयोग से ही सारी सृष्टि का उद्‌भव बताता है व चौबीस तत्त्वों के रूप में सारे भावजात का वर्गीकरण करता है। मीमांसा मत प्रायः न्याय वैशेषिक मत का अनुकरण करता है तथा अद्वैत वेदान्त भी पाँच प्रकार के अणुओं के पञ्चीकरणादि क्रम से घटित समवाय के द्वारा जगत का विकास मानता है। ईश्वरवादी वेदान्त के सम्प्रदाय चित् अचित् तत्त्वों को कभी उस ईश्वर की शक्ति मानते हैं व कभी शरीर और इस प्रकार उस ईश्वर की लीला को ही सारी सृष्टि का निमित्त बताते हैं।

इसी प्रकार नैतिक जगत् में उपलब्ध सुख–दुःख आदि विषमतापरक स्थितियों का विवेचन कर्मसिद्धान्त करता है। इस सन्दर्भ में भारतीय दर्शनों में विविध दृष्टियाँ प्राप्त होती हैं, कुछ कर्म को पौद्‌गलिक मानते हैं, कुछ क्षणरूप, कुछ इसकी व्याख्या धर्माधर्म रूप में करते हैं तथा कुछ इसे परतत्त्व के स्वातन्त्र्य का स्फार कहते हैं।

यद्यपि इच्छा स्वातन्त्र्य व कारणता का समन्वय एक स्थिर चेतन तत्त्व में ही घटित हो सकता है पर कई भारतीय तत्त्व–मीमांसायें ऐसा कोई चेतन स्थिर आधार नहीं स्वीकृत करतीं अतः वहाँ सृष्टि के सन्दर्भ में इनका समन्वय संभव नहीं हो पाता पर लौकिक सन्दर्भ में एक चेतन प्रमाता की पृष्ठभूमि पर वे भी इच्छा–स्वातन्त्र्य व कर्म (कारणता का विशिष्ट प्ररूप) का समन्वय प्रस्तुत करती हैं, ऐसी तत्त्वमीमांसायें हैं बौद्ध व जैन। न्याय वैशेषिक मत में यह इच्छा–स्वातन्त्र्य सृष्टि के सन्दर्भ में नहीं सध पाता पर लौकिक सन्दर्भ में वहाँ भी यह स्वीकृत है। सांख्य–योग में भी सृष्टि के सन्दर्भ में चेतन तत्त्व के निष्क्रिय रहने से यह समन्वय सच्चे अर्थों में संभव नहीं होता। मीमांसा तो किसी नित्य चेतन कर्त्ता रूप आधार की स्वीकृति करता ही नहीं अतः वहाँ भी इनके समन्वय की स्थिति संभव नहीं हो पाती, मात्र वेदान्त सम्प्रदाय के अवान्तर उपवर्गों में एक नित्य,

स्थिर, चेतन आधार को मानने से इनका समन्वय विविध रूपों में किया हुआ उपलब्ध होता है। ये सभी सम्प्रदाय इसी समन्वय की स्थिति प्रस्तुत करने के लिये सृष्टि का निमित्त 'लीला' को कहते हैं पर वहाँ सर्जन कृत्य की विविध व्याख्याओं व विवेचनों के कारण उस 'लीला' के माध्यमों के स्वरूप का भेद उनके यहाँ के परतत्त्व के स्वातन्त्र्य की मात्रा को निर्धारित करता है। यद्यपि अद्वैत वेदान्त में सारा सर्जन परमेश्वर की लीला है पर परतत्व के सन्दर्भ को लेकर वह कभी घटित नहीं होती। वरन् वह मायोपहित ब्रह्म का ही कार्य है फलतः माया को माध्यम बनाने से यह स्वातन्त्र्य सीमित हो जाता है व सर्जन मात्र लीला का उच्छ्वास न रह कर मायाकृत लीला का उच्छ्वास बन जाता है। रामानुज भी सारी सृष्टि को ईश्वर (नारायण) की लीला कहते हैं पर वे चित् अचित् की उसके शरीर रूप में पृथक् सत्ता मानते हैं जिनका कि न कभी ईश्वर सर्जन करता है व न कभी विनाश ऐसा चिदचिद् शरीर रूप ब्रह्म अपनी प्रकृति रूप शक्ति के द्वारा विविध रूपों में परिणमित होता है, मध्व भेदवादी होने से जगत् को ईश्वर की लीला का परिणाम कहने पर भी लीला के यथार्थ अभिप्राय को सिद्ध नहीं कर पाते क्योंकि वहाँ ईश्वर अपने से पृथक् विविध माध्यमों से ही लीला करता है अतः उसका स्वातन्त्र्य विखण्डित हो जाता है। निम्बार्क भी लीला को ही निमित्त मानते हैं पर चिद्–अचिद् रूप शक्तियों के माध्यम से ही उसे घटित बताते हैं पर उन शक्तियों से उसका अभेद नहीं है अतः वह लीला यथार्थ स्वातन्त्र्य की प्रस्तोता नहीं बनती। वल्लभ भी लीला को सर्जन का निमित्त मानते हैं पर वे भी ईश्वर के द्वारा अपनी माया या अविद्या शक्ति के द्वारा ही अपने चित् आनन्दमय रूप के नानाविध भासन की शब्दावली में इसकी व्याख्या करते हैं।

अन्ततः हम यही कह सकते हैं कि इच्छा–स्वातन्त्र्य तथा कारणता दो परस्पर विरोधी प्रत्यय न होकर परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। कोई भी दार्शनिक तत्त्वमीमांसा इन्हीं दोनों प्रत्ययों का आश्रय लेकर समस्त समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा कर सकती है। यही दृष्टि भारतीय दर्शन की विविध विधाओं में दृष्टिगोचर होती है। अतः सभी दर्शन सम्प्रदाय इन दोनों प्रत्ययों को किसी न किसी रूप में स्वीकार अवश्य करते हैं, मात्र संज्ञायें व व्याख्यायें बदल जाती हैं पर सन्दर्भ वही रहते हैं।

॥ 2 ॥

काश्मीर शिवाद्वयवाद की पृष्ठभूमि में मानव बुद्धि की इन दो जटिलतम समस्याओं–इच्छास्वातन्त्र्य व कार्यकारणभाव की चर्चा अति महत्त्व रखती हैं क्योंकि यहाँ की सर्वानुवृत्तिमूलक मीमांसा इन दो मान्यताओं के पारस्परिक सन्दर्भ में उपलब्ध ऐतिहासिक विरोध के मार्ग को त्यागकर समन्वयवादी दृष्टि प्रस्तुत करती है। पूर्णता व समग्रता का मुक्त घोष करने वाली तत्त्वमीमांसा के लिये यह आवश्यक भी है कि वह समस्त विरोधों को आत्मसात कर ले, द्वैत की अग्नि का पूर्णतया शमन कर दे। अतः ये दो विरोधी विचारधाराओं के प्रेरक प्रत्यय यहाँ उतने भी विरोधी नहीं रह जाते जितने कि अन्यत्र पतीतिक रूप से भी दृष्ट होते हैं।

इन दोनों प्रत्ययों के मध्य समन्वय की उपकल्पना प्रारम्भ से ही पाश्चात्य व पौर्वात्य के मध्य विवाद का विषय रही है और अन्ततः ये दोनों ही विचारक इनके समन्वय की स्थिति अतिमानसिक क्षेत्रों में ही प्राप्त करते हैं, जहाँ कि मात्र स्वातन्त्र्य का स्पन्दन है, न कोई बन्धन है व न नियमन पर इतने पर भी वह समस्त बन्धनों व नियमों का स्रोत है। इसी दृष्टि को ही मूल रूप में लेकर चलने वाली शिवाद्वयवादी धारा परतत्त्व के स्वातन्त्र्य को सम्पूर्ण कारणता का अनुबन्धक, नियमों का सर्जक व समस्त व्यवस्थाओं का व्यवस्थापक सिद्ध करती है[1]।

जहाँ कारणता नियमनवाद की एक विधा है वहीं इच्छा–स्वातन्त्र्य सम्पूर्ण नियमों से राहित्य है। काश्मीर शिवाद्वयवाद नियमन को परमेश्वर की नियति शक्ति[2] का व्यापार मानता है जो उसके स्वातन्त्र्य का ही स्फार है। यह 'नियति' शब्द यहाँ किसी भी प्रकार के व्यवस्थापन अर्थ का द्योतक है और नियमन मात्र पूर्वापरता का निर्धारक न होकर सभी प्रकार की व्यवस्था का वाचक है। इस परिसीमनकारी नियति के प्रत्यय के विपरीत स्वातन्त्र्य का प्रत्यय समस्त संभाव्य संभावनाओं को गर्भस्थ कर अवस्थित है। फलतः यहाँ मान्य पर तत्त्व परम स्वातन्त्र्य का अधिकारी भी है व समस्त नियमों का निर्देशक हो परम कारण भी। यह परमता का कथन ही परतत्त्व की सर्वमयता व कारणता का निर्देशक है, उसकी सर्वसंचालिका शक्ति का द्योतन है फलतः परतत्त्व की स्वतन्त्र इच्छा ही सर्व नियति–बन्धों की उत्पादिका सिद्ध होती है[3]। इस दृष्टि से विचारने पर तो इन विवेच्य प्रत्ययों में प्रतीयमान विरोध की संभावना भी स्वातन्त्र्य की ही असीम संभावनाओं में सिमट आती है जिससे कि वह विरोध विरोध न रहकर स्वातन्त्र्य के ही प्रस्फुटन का एक प्ररूप हो जाता है।

परम स्वतन्त्र शिवाद्वयवादी परतत्त्व अपने स्वातन्त्र्य से उद्वेलित होकर आत्मरति हेतु उच्चता से निम्नता की ओर आने की क्रीडा करता है पर यह क्रीडा जो कि असीम स्वातन्त्र्य का उच्छ्वास है, भी एक व्यवस्थित प्ररूप में ही घटित होती है अन्यथा तो जागतिक विकास की असीम संभावनाओं को रखने से वह परतत्त्व किस क्रम से निम्नता की ओर अग्रसर होगा, यह समझना ही कठिन हो जायेगा। शिवाद्वयवादी ग्रंथों में एक निश्चित व्यवस्था का उल्लेख भी सर्वत्र यही द्योतित करता है कि परमशिव का कल्लोल एक निश्चित स्वरूप में ही स्पन्दित होता है पर मात्र स्वातन्त्र्य की स्थिति यहाँ इसलिये है कि उस निश्चित स्वरूप की निश्चायिका स्वयं उसकी स्वतन्त्र इच्छा (विमर्श) है[4]। यद्यपि स्वातन्त्र्य को सर्वस्व समर्पित करने वाला यह दार्शनिक सम्प्रदाय इस मान्यता को

---

1. स्वभावात् परमेशानो नियत्यनियतिक्रमम्।
   स्पृशन्प्रकाशते येन तत् स्वच्छन्द उच्यते।। तं आ. 14/1
2. नियति शब्द यहाँ नियमनवाद के अभिप्राय को ही व्यक्त करता है। कारणता व कर्म इसी के दो प्ररूप है।
3. ई.प्र.वि.वि., भा. 3 पृ. 96
4. वही, भा 1 पृ. 2 · ई.प्र.वि. भा.भा. 2 पृ. 206-209.

स्पष्ट शब्दों में स्वीकारने को कभी तैयार नहीं होता। इसी कारण तांत्रिक ग्रंथों में यत्र–तत्र उपलब्ध वाक्य कि वह किसी भी समय कर्तुं, अकर्तुं तथा अन्यथाकर्तुं की सामर्थ्य रखता है, अति दुर्घट–घटनापटु है[1], पुनः पुनः विचारक के मन में यह भ्रम उत्पन्न कर देते हैं कि सर्वस्वतन्त्र परतत्त्व के लिये एक व्यवस्था में बँध कर क्रीडा करना असंभव है पर तार्किक मन की यह विवशता है कि वह उन असीम संभावनाओं की अभिव्यक्ति को एक व्यवस्था में बाँधकर ही उनका सम्यक् अवगाहन करे।

फलतः यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि परमशिव अपनी स्वाभाविक स्वच्छन्दता से जिस तथ्य की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति करता है वह एक व्यवस्था ही है[2]। यद्यपि व्यवस्थापन ही परिसीमन है पर फिर भी यह सम्प्रदाय परिसीमन कृत्य का उत्तरदायित्व स्वातन्त्र्य के तिरोधान नामक पक्ष को व व्यवस्थापन के कर्तृत्व को, शुद्ध स्तर पर विमर्श शक्ति को व अशुद्ध स्तर पर नियति शक्ति को सौंपता है। इन दोनों प्रकार के परिसीमनों में मात्र सामान्य व विशेष का भेद है। जहाँ तिरोधानकृत परिसीमन सामान्य दृष्टि से संकोचन को उपस्थित करता है[3] वहीं विमर्श या नियति शक्ति कृत संकोचन उसे विशिष्ट स्वरूप में परिसीमित कर देते हैं। इस सम्प्रदाय में यह विमर्श का प्रत्यय अति व्यापक सामर्थ्यों से विभूषित है फलतः विशिष्ट सन्दर्भों में विशिष्ट संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। अतः इस विमर्श का व्यवस्थापनकारी पक्ष ही संभवतः इस दार्शनिक धारा में बहुलता से प्रयुक्त नियति शक्ति है[4] जो कि अपने स्फुट कर्तृत्व का प्रकाशन अशुद्धा सृष्टि में करता है अतः वही सर्वत्र इसका कार्य क्षेत्र कहा गया है। पर उससे ऊपर शुद्धा सृष्टि के स्तर पर भी इस व्यवस्थापन की स्थिति को स्वीकारना उपपन्न ही है अन्यथा तो एक अखण्ड प्रकाश तत्त्व का विविध प्ररूपों–शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या के नियत क्रम में आभासन किस आधार पर अभिधेय होगा। यहाँ या तो इस दर्शन धारा की शब्दावली में विमर्श शक्ति का ही कर्तृत्व स्वीकार करना होगा अथवा नियति शक्ति की ही दो स्थितियों को स्वीकार करना होगा क्योंकि नियतिशक्ति का व्यापार तो वहाँ स्पष्टतः विद्यमान रहता ही है[5]। फलतः हमें कहना होगा कि नियति शक्ति के व्यापार की ही दो विधायें हैं–(1) सामान्य व्यापार (2) विशिष्ट व्यापार। सामान्य व्यापार का अभिप्राय जहाँ मात्र व्यवस्थापन में निहित है वहीं विशिष्ट व्यापार

---

1. ...परमेश्वरस्यात्यन्तदुर्घटनप्रागल्भ्यलक्षण स्वातन्त्र्यम्...। म.म.पृ. 14.
2. ...तस्यैव स्वातन्त्र्यात् नियतिविजृम्भा...। ई.प्र.वि.वि., भा. 2 पृ.3.
3. तिरोधानमावरणं स्वरूपाप्रकाशनं...। वही.भा. 3 पृ. 278.
4. सन्निवेशस्तु नियतिरूपः, नियतिर्हि नियमः ..ई.प्र.वि., भा., भा.2 पृ. 128
   नियतरूपो भावावभासः सन्निवेशः। ई.प्र.वि.भा. 3 पृ. 157.
   सन्निवेशो हि नाम सजातीयविजातीयविभागोत्थापको...। ई.प्र.वि.वि. भा. 3 पृ. 192.
5. ...तत्त्वेनास्य अवभासो जायते इत्यर्थः तथैव विश्वाकृतित्त्वेऽपि चिद्धाम्नः पारमेश्वरी नियतिशक्तिमाहात्म्याद्...। तं आ.भा. 3, पृ. 230.

नियामकता व प्रतिबन्धकता का निर्देशक है। प्रथम का कार्यक्षेत्र वे पाँच अनुभव तत्त्व है जिनको कि शिवाद्वयवादी धारा शुद्धाध्व की संज्ञा से अभिहित करती है व द्वितीय का कार्यक्षेत्र इकत्तीस तत्त्व हैं जिन्हें अशुद्धाध्व कहा जाता है। यहाँ शुद्धता व अशुद्धता का अभिप्राय अभेदात्मक व भेदात्मक चेतना के प्राधान्य व गौण्य को ही अभिव्यञ्जित करना है। अभेदात्मक दृष्टि की प्रधानता से शुद्धाध्व में निर्विकल्पात्मकता का साम्राज्य रहता है व भेदात्मक दृष्टि की प्रधानता से अशुद्धाध्व में सविकल्परूपता का प्ररोह हो जाता है। अतः नियति शक्ति का व्यापार भी एक स्थल पर स्वरूप व्यवस्थापन है व अन्यत्र सविकल्प नियमन। शुद्धाध्व में यह निर्विकल्परूपता की मान्यता यद्यपि तर्क के आगे ठहर नहीं पाती क्योंकि इस सम्प्रदाय में द्वैतता की प्रतीति ही विकल्परूपता के लिये उत्तरदायी कही गयी है[1] और यह प्रतीति तो शुद्धाध्व के तत्त्वों में भी आ ही जाती है अतः यहाँ नियतिशक्ति या विमर्शशक्ति का व्यापार यद्यपि स्फुट विकल्प को आश्रय नहीं बनाता पर फिर भी उसके किञ्चित् संस्पर्श से बच नहीं पाता।

इसके अतिरिक्त शुद्ध तत्त्वों में इसकी स्पष्ट स्थिति न स्वीकारे जाने पर भी नियति का योजना व्यापार तो वहाँ भी स्वीकृत किया गया है क्योंकि सदाशिव स्तर से ही अहम्–इदम् की विशिष्ट प्ररूपों में योजना प्रारम्भ हो जाती है चाहें वह परमशिव के अन्दर ही क्यों न हो और शिव तथा शक्ति आचार्य सोमानन्द[2] व उत्पल[3] की दृष्टि में विलगततत्त्व है नहीं। फलतः चाहें इस सम्प्रदाय में इसकी स्पष्ट स्थिति न स्वीकृत हो पर परोक्षतया संकेतन तो है ही। संभवतः शिवाद्वयवादी विचारक यहाँ इसकी स्पष्ट स्थिति मानने से इसलिये इन्कार करते आये हैं कि परमशिव के स्वातन्त्र्य में कहीं कोई प्रातीतिक व्यतिक्रम न उत्पन्न होने पाये पर फिर भी कुछ ऐसे प्रयोग अनजाने में कर गये हैं[4] जो उनकी इस प्रच्छन्न मनोवृत्ति के संकेतक हैं। फिर भी यदि इस मान्यता को प्रश्रय न दें तो भी विमर्श शक्ति ही वहाँ इस नियमन के कर्तृत्व को निभा देती है फलतः उसकी स्थिति वहाँ भी स्वीकारना वांछनीय हो जाता है।

अब यह कहना आवश्यक हो जाता है कि स्वातन्त्रय का प्रथम स्फार नियमन ही है, हो वह चाहें जिस माध्यम से। इसी के विकास के साथ ही परतत्त्व की क्रीडा प्रारम्भ होती है। फलतः उसके स्वातन्त्र्य के विविध प्ररूपों सृष्टि स्थिति, संहार, तिरोधान तथा अनुग्रह का व्यापार प्रारम्भ हो जाता है[5]। इनमें व्यवस्था बनाये रखने का कार्य भी विमर्श शक्ति ही निभाती है अन्यथा तो यह सबकी सर्वमयता की उद्घोषक विचारधारा किसी भी प्रकार यह सिद्ध करने में सक्षम नहीं होती कि सृष्टि रूप कृत्य का अभिप्राय

---

1. ...नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चयः। ई.प्र.का. 1/6/1.
2. शि.दृ. 1/29–30.
3. ई.प्र.का. 3/1/1
4. नियतिशक्तिस्तु महाभाससारतया...ई.प्र.वि.वि., भा. 3 पृ. 99.
5. ध्व., उ.4, श्लो. 1.

मात्र अन्तःस्थ का बाह्य अभिव्यक्तीकरण ही है, अन्य कुछ नहीं अथवा स्थिति का अर्थ मात्र सृष्ट पदार्थों का किञ्चित् काल के लिये अवस्थान है, अन्य कुछ नहीं। इसी प्रकार संहार का अभिप्राय मात्र बहिःतया भासित के पुनः अन्तर्लीन होने में, तिरोधान का संस्कार नाश में तथा अनुग्रह का पुनः स्वस्वरूपलाभ में परिसीमित होना एक व्यवस्था का ही द्योतक है जिसका कि कर्तृत्व इसी नियतिवाद की अग्रसारिका विमर्श शक्ति के प्रत्यय को समर्पित होता है। अब यदि इनमें उपलब्ध क्रम जिसे पुनः पुनः दैशिक–कालिक क्रम से अतीत कह कर मात्र बोधक्रम का विषय बताया जाता है, की ओर दृष्टिपात् किया जाये तो यही उपलब्ध होता है कि पारमेश्वरी नियतिशक्ति बनाम विमर्श शक्ति ही उसके समस्त कृत्यों व व्यापारों के सम्यक् विभाग तथा तत्सम्बन्धी कर्तृत्व क्षेत्रों को निर्दिष्ट करती है। फलतः इन पाँचों में एक निश्चित क्रम दृष्ट होता है जिसके अनुसार सृष्टि के उपरान्त स्थिति ही आती है व संहार के बाद ही तिरोधान का कृत्य प्रारम्भ होता है। यदि इस प्रकार का कोई क्रम न माना जाये तो बिना सृष्टि के संहार कृत्य का या स्थिति का क्या कर्तृत्व होगा अथवा बिना तिरोधान के अनुग्रह कृत्य का विषय क्या बनेगा, यह समझ सकना अति दुष्कर है। यद्यपि तिरोधान की यहाँ दो स्थितियाँ मान्य हैं जिनमें से प्रथम स्थिति मात्र स्वरूपावरण को बताती है तथा द्वितीय संस्कार विलयन को। पर दोनों ही स्थितियों की संभावना के बिना अनुग्रह कृत्य की स्थिति अनुपपन्न है।

इसी प्रकार परमशिव की स्वभावभूत शक्तियों की व्यवस्था, उन शक्तियों के स्फार रूप छत्तीस तत्त्वों के व्यवस्थित विकास की प्रक्रिया व तदुपरान्त विविध प्रमाता–प्रमेय, कर्ता–कर्म आदि की निश्चित व्यवस्थिति आदि में इस नियमनवादी प्रक्रिया की झलक लगातार मिलती है, चाहें वह विमर्श शक्ति के कर्तृत्व से भासित हो रही हो अथवा नियतिशक्ति के कर्तृत्व से। यद्यपि शक्ति–शक्तिमान के अभेद की मान्यता की उद्घोषक इस दर्शन धारा में शक्तियों की व्यवस्था का निमित्त किसी अन्य तत्त्व को स्वीकारना अनुपयुक्त ही लगता है पर ऐसी दृष्टि रखने पर तो वस्तुतः नियतिवाद की प्रेरिका विमर्श शक्ति भी उन शक्तियों की तरह परतत्त्व से अभिन्न ही है तब वहाँ व्यतिरिक्तता की बात ही नहीं उठती। फिर भी विमर्श के इसी व्यवस्थापन कृत्य को प्रधानता देने से यह सम्प्रदाय अक्सर विमर्श शक्ति को सभी शक्तियों में प्रधान व सबकी अग्रसारिका सिद्ध करता है[1]। फलतः सर्वमय तत्त्व के विषय में कुछ भी कथन एक निश्चित व्यवस्था में बँधकर ही संभव है और इस व्यवस्था के व्यवस्थापन में जो निमित्तभूत है वह परतत्त्व का स्वरूप ही है।

इस प्रकार स्वातन्त्र्य व विमर्श (व्यवस्थाकारी) दोनों ही परतत्त्व के स्वरूपगत वैशिष्ट्यों के द्योतक हैं जो यहाँ की समन्वयवादी दृष्टि के पूर्ण अनुकूल है। अभेदात्मक चेतना की प्रधानता रहने तक इस व्यवस्था–कृत्य का सम्पादन करने वाली यह विमर्श

1. ई.प्र.वि.भा., भा. 1, पृ. 267.

शक्ति जब भेदात्मक चेतना की प्रधानता होने पर स्फुट नियमन–व्यापार की अग्रसारिका बन जाती है तब विमर्श संज्ञा से अभिहित न होकर नियति शक्ति कही जाती है। यहाँ इस नियति शक्ति की भी व्यापक सामर्थ्य प्रदर्शित की गयी है। यही अनन्त आभास वर्गों में कुछ को मिश्रित कर अन्यों से पृथक् एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है तथा उसे एक निश्चित संज्ञा का वाच्य व निश्चित अर्थक्रिया का साधक सिद्ध करती है[1]। यही पारमार्थिक कारणता में अन्तर्भूत अन्य अवान्तर सृष्टियों की नियामकता में एकमात्र निमित्त है[2]। यही एक नियत कर्म के सम्पादन से एक नियत फल प्राप्ति के नियम की निध ारिका है[3]। वस्तुतः तो नियति शक्ति के द्वारा जो जिस व्यापार में नियत कर दिया जाता है वह उसी में समर्थ होता है। यही कुछ आभासों को कारण, कुछ को कार्य तथा कुछ को क्रिया रूप से अभिहित कराती है, नियत शब्द से नियत अर्थ का द्योतन कराती है, एक नियत लिङ्ग से एक नियत लिङ्गी का ज्ञापन करा अनुमान को संभव बनाती है[4]। दो पदार्थों के मध्य के नियत सम्बन्ध की भी निर्धारिका यही है। वस्तुतः तो यही सर्वमयतावाद में विशिष्टता की विमर्शक होकर सबको सर्वविषयक अर्थक्रियाकारी होने से रोकती है[5]। यह अनन्त स्वलक्षणाभासों से मंडित शरीर, भुवनादि का सर्ग उसी के परिसीमन व्यापार का प्रतिफल है[6]।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि छत्तीस तत्त्वों में अभिगणित नियति तत्त्व और यह नियति शक्ति का प्रत्यय एक है या भिन्न तो वस्तुतः प्रथम दूसरे का अंश ही सिद्ध होता है जहाँ कि नियतिशक्ति का व्यापार और अधिक संकुचित हो जाता है। इस नियति तत्त्व का व्यापार तो हर घटना के कारणों की व्याख्या में निहित है[7]। फलतः वह मात्र 'अयं अस्माद् भवति' का निर्देशक बन जाता है पर दृष्टि थोड़ी विस्तृत करने पर हम पाते हैं कि यहाँ उपलब्ध कारण का प्रत्यय अधिक व्यापक सन्दर्भ को द्योतित करता है तथा मात्र उत्पादक नहीं वरन् ज्ञापक व भावक कारणों को भी आत्म संकुल कर लेता है। यों तो नियति शक्ति का व्यापक प्रत्यय पदार्थों के कारणों के नियमन के साथ ही नियमित स्वरूपस्थान के समस्त प्रकारों का भी निर्देशक है। नियति की स्थिति में भेदात्मक चेतना के प्राधान्यवश ही कहीं कहीं इसे माया रूप भी बताया गया है[8] क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का एक निश्चित स्वरूप में प्रतिष्ठापन अन्यों से उसके वैशिष्ट्य का ही संकेतन कराना है अतः मायात्मक नियति का अभिधान सम्यक् सिद्ध होता है।

---

1. ई.प्र.वि.वि., भा. 1., पृ. 139, ई.प्र.वि.वि.भा. 2, पृ. 28.
2. वही, भा. 2, पृ. 148–149
3. वही, भा. 3, पृ. 318.
4. वही, भा. 3, पृ. 121, 101, 205, 213, भा. 2, पृ. 172
5. वही, भा. 3, पृ. 160.
6. वही, भा. 3, पृ. 256.
7. त.आ.भा. 6, पृ. 160–161
8. शि.दृ.वृ., शि.दृ. पृ. 28

यद्यपि यहाँ विमर्श शब्द के व्यवस्थापन कर्तृत्व को अशुद्ध स्तर पर सम्पादित करने का कार्य नियति शक्ति का कहा गया है पर शिवाद्वयवादी ग्रंथों में अक्सर ऐसे उल्लेख मिलते हैं जहाँ शुद्धा सृष्टि में क्रियमाण अभेदप्रधान विमर्शगत व्यापार अशुद्धासृष्टि में भेदप्रधान विकल्प का दायित्व है फलतः विकल्प व नियति के प्रत्ययों में भेद करना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि विकल्प व्यापार जहाँ मात्र द्वैत का आक्षेप कर विमर्श गत स्वात्मचेतना प्रधान अनुभूति को द्वैत की भावना से पूर्ण करता है वहीं नियति शक्ति उस द्वैत की चेतना को संयोजन–वियोजन द्वारा व्यवस्थित आकार प्रदान करती है व नियत संज्ञाओं व अर्थक्रिया सामर्थ्यों से विभूषित करती है।

यद्यपि इस प्रकार के नियतिवाद का किसी परमस्वतन्त्र तत्त्व से लेश मात्र भी संस्पर्श उसके स्वातन्त्र्य की असीमता को सीमित बना सकता है पर यदि नियतिवाद का स्रोत ही वह स्वातन्त्र्य हो तो ऐसी कोई संभावना नहीं दीखती। फलतः इस प्रकार की स्वातन्त्र्य की क्रीडा प्रारम्भ करते ही शिवाद्वयवादी परम शिव विविध व्यवस्थित स्वरूपों में अपने परमार्थ स्वरूप से प्रच्युत होने की प्रतीति करता हुआ अन्ततः उस स्तर तक पहुँच जाता है जहाँ वह हर क्षेत्र को, अपनी हर क्षमता को अपने ही द्वारा सर्जित बन्धनों में बाँध लेता है। ये बन्धन उसी नियति शक्ति के विशिष्ट कर्तृत्व हैं। उसकी सर्वज्ञता अब विद्या रूप, सर्वकर्तृता कला रूप, सर्वाप्त राग रूप, सर्वव्यापकता काल रूप, सर्वैषयिता नियति तत्त्व रूप सीमित वैशिष्ट्यों में परिणत होकर उसकी सीमाओं का बोध कराते हैं[1]। इस प्रकार यद्यपि स्वातन्त्र्य का निमज्जन ही नियतिवाद का उद्भवन प्रतीत होता है पर वस्तुतः तो यह स्वातन्त्र्य नियमन के अभाव में पंगु ही है। जैसे मनुष्य को आत्म विमर्शन के अभाव में आत्म सत्ता का ज्ञान नहीं होता वैसे ही इस नियतिवाद के अभाव में परतत्त्व को उस आत्मस्वभाव स्वातन्त्र्य की प्रतीति हो सकना संभव नहीं दीखती। यों भी यह स्वातन्त्र्य एक सापेक्ष प्रत्यय है अतः इसकी संभावना का ज्ञान तभी हो सकता है जब कि इसकी विपरीत स्थिति का भी किञ्चित् बोध रहे। साथ ही यहाँ इस नियतिवाद की स्फुट निर्देशिका नियति को परमतत्त्व की शक्ति कह देना ही इनकी प्रतीतिक विरोधात्मता को समाप्त कर अन्तरंगता को निर्देशित करता हैं क्योंकि इस सम्प्रदाय में स्वीकृत शक्ति–शक्तिमान का अभेद इनके मध्य किसी प्रकार के द्वैत को स्वीकृत ही नहीं कर सकता।

इस प्रकार पञ्च कञ्चुकों से आबद्ध हुआ वही परतत्त्व सभी प्रकार से अणुभाव को प्राप्त कर अणु संज्ञा का वाच्य बन जाता है। वस्तुतः तो वह अपने स्वातन्त्र्य से बन्धनों में बँधता व मुक्त होता है फलतः इन बन्धनों की प्रेरिका नियति शक्ति का स्वामी ही है। अब इस नियति शक्ति के वशीभूत हुआ अणु रूप जीव यही समझनें लगता है कि संभवतः उसमें अब किसी प्रकार का चयन स्वातन्त्र्य नहीं है क्योंकि उसका सब

1. म.मं., पृ. 48

कुछ तो पूर्वनियत है[1]। हाँ, इस नियमन की कई दिशायें संभव हैं–बाह्य व आन्तरिक अथवा परिवेशकृत व अनुवांशिक आदि। पर वस्तुतः तो उस अणु (जीव) में भी इस स्वातन्त्र्यांश की विद्यमानता के सन्दर्भ में कई प्रमाण उपलब्ध होते हैं जो कि यह स्वीकारने को विवश कर देते हैं कि वह भी स्वातन्त्र्यमय है, यद्यपि परतत्त्व की इच्छा से ग्रहीत अणुता की चेतना भी वहाँ रहने से उस स्वातन्त्र्य का निमज्जित स्वरूपस्थान ही वहाँ उपलब्ध होता है। इस मान्यता की सबसे बड़ी समर्थक है इस दर्शन की अद्वैतवादी दृष्टि जिसके कि अनुसार सारा वैविध्यमय जगत् उसी अद्वयतत्त्व का विभव होने से अग्नि व अग्निचय के सदृश ही कहीं भी किसी भी अंश में पारतात्त्विक वैशिष्ट्यों से च्युत नहीं होता, मात्र वहाँ उनका न्यग्भाव हो जाता है[2] और इस न्यग्भाव का मात्राभेद ही पदार्थों की विविध कोटियों का निर्धारक है। इसके अतिरिक्त कवि व योगी जो कि जीवत्त्व से युक्त होने पर भी विशिष्ट सन्दर्भों में उस स्वातन्त्र्य के पूर्ण उच्छ्वास से स्पन्दित होते हैं, सभी अणुओं में इस स्वातन्त्र्य की स्थिति की संभावना को चरितार्थ करते हैं। मात्र उसके अभिव्यक्तीकरण हेतु अज्ञान के नाश व यथार्थ स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा रहती है। ज्यों–ज्यों अज्ञान का नाश होता है, स्वातन्त्र्य का अंश स्फुट होता जाता है व विज्ञानाकल प्रमाता के स्तर तक पहुँचते–पहुँचते उसे अपनी सर्वकर्तृत्व सामर्थ्य का ज्ञान तो हो ही जाता है पर अन्य सामर्थ्यों का विकास अन्य सोपानों को पार करते–करते जाकर पूर्ण रूप रूप से शिवस्वरूपता की प्राप्ति होने पर ही संभव हो पाता है। इस प्रकार यह नैतिक क्रमविकास ही उस स्वातन्त्र्यचेतना के अभिव्यक्त होने में हेतु है।

यद्यपि यहाँ यह भ्रम संभव है कि जब ईश्वर की नियति शक्ति ही सब कुछ व्यवस्थित व नियमित कर रही है तो वह जीव किस प्रकार बन्धनों में बँधकर भी स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हो सकता है। इसके प्रत्युत्तर में ही संभवतः यह सम्प्रदाय अनुग्रह व शक्तिपात के प्रत्ययों को प्रस्तुत करता है जो कि एक ओर तो परमेश्वर के स्वातन्त्र्य की ही सर्वकर्तृता को अक्षुण्ण बनाये रखते हुये अन्य किसी के स्वतन्त्र कर्तृत्व की मान्यता को अस्वीकृत सिद्ध करते हैं व दूसरी ओर नियति के निश्चित चक्र में फँसे मानव की मुक्ति के साधन का भी निर्देश करते हैं। परमशिव जब अपने जिस रूप की अवरोहात्मक क्रीडा से सन्तुष्ट हो जाता है तो उसी अंश पर से अपने तिरोधायक व्यापार को विरत करने के लिये उसे अनुग्रह नामक कृत्य का विषय बनाता है, फलतः वह जीव यथार्थ आत्मस्वरूप लाभ हेतु कथित मार्ग (ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा इन सबका समन्वय) की ओर अग्रसर होता है और अन्ततः बौद्ध अज्ञान का नाश कर कार्म व मायीय मलों से शुद्ध हो जाता है। तब पारतात्त्विकी शक्तिपात उसके पौरुष अज्ञान

---

1. ई.प्र.वि., भा.भा. 2, पृ. 168
2. ई.प्र.वि.वि., भा. 1 पृ. 273–274

(आणवमल) का भी नाश कर उसको अपने यथार्थ स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान करा देता है[1]। इस प्रकार इस पारतात्त्विकी अनुग्रह कृत्य के दो व्यापार सिद्ध होते हैं–प्रथम तो यथार्थ स्वरूप के ज्ञान हेतु उन्मुखीकरण तथा योग्यीकरण और द्वितीय है उसकी अणुरूपता के कारणभूत अपने स्वरूपाच्छादक तिरोधान व्यापार को विरमित करना। ऐसे ये अनुग्रह व शक्तिपात के प्रत्यय निर्निमित्तक ही हैं यद्यपि वे अपने अभिव्यक्तीकरण में गुरु, शास्त्र या जीवात्मा को माध्यम बना सकते हैं[2]।

इस अन्तिम स्थिति में उपलभ्य स्वातन्त्र्य की दशा तक पहुँचने से पूर्व जीव को होने वाली चयन स्वातन्त्र्य की प्रतीतियाँ तो वस्तुतः भ्रान्त ही हैं क्योंकि वह एक ऐसा बद्ध स्वातन्त्र्य है जिसे पिंजड़े में बन्द पक्षी के स्वातन्त्र्य कल्लोल से उपमित किया जा सकता है। पारतात्त्विकी स्वातन्त्र्य का प्रथम पक्ष तिरोधान अपनी अभिव्यक्ति के लिये तीन प्ररूपों को प्रस्तुत करता है–(1) आणव (2) मायीय (3) कार्म। वस्तुतः तो परमेश्वर स्वरूप के संघटक तीनों तत्त्व–इच्छा, ज्ञान, क्रिया ही क्रमशः आणव, मायीय व कार्ममलों के रूप में परिणत हो जाते हैं[3]। ये तीनों ही मल यद्यपि परिसीमन कर्तृत्व को सम्पादित करते हैं पर फिर भी स्वातन्त्र्य के ही अंश कहे जाते हैं और यह मान्यता इस सम्प्रदाय की इन दो प्रत्ययों (स्वातन्त्र्य व नियतिवाद) सम्बन्धी समन्वयवादी दृष्टि की ही संकेतक है। इन मलों को स्वातन्त्र्य का ही स्फार सिद्ध करने हेतु यह सम्प्रदाय इन तीनों मलों में कोई नियत कार्यकारणभाव मानने से इन्कार करता है पर फिर भी जिस व्यवस्था को स्वीकारता है उसमें आणव के बाद ही मायीय को व मायीय के बाद ही कार्म की स्थिति संभव हो पाती है। हाँ, पहला आणव उत्तरवर्ती दोनों के अभाव में भी रह सकता है जेसे कि विज्ञानाकल व इससे ऊर्ध्ववर्ती प्रमाताओं में, जबकि अन्य दो बिना आणव के कहीं भी नहीं रह सकते।

इन तीनों मलों में कार्ममल ही जीवों को प्राप्त जाति, आयु व भोग का निर्धारक है[4]। जीवों के कर्म संस्कार जीवात्मा में एकत्र होते जाते हैं। इन्हीं संस्कारों के संचय को ही समस्त मीमांसायें भाग्य या नियति कहती हैं। उसी के द्वारा उसका सारा भोग निर्धारित होता है। अतः कार्ममल में पूर्णतया बद्ध अणु के पास स्वातन्त्र्य का कोई स्पन्दन रहता नहीं प्रतीत होता। अब सब उसके द्वारा पूर्वकृत कर्मों से ही नियत होने लगता है। पर फिर भी यह कहा ही जाता है कि उसको कर्म–चयन की स्वतन्त्रता है। उसके सम्मुख दो विकल्प हैं जिनमें से इच्छानुसार एक को अपना कर वह पतन या उत्थान के मार्ग को अपना सकता है। नियतिवाद तो यहाँ यही कहेगा कि यह उनका

1. ई.प्र.वि.वि., भा. 3 पृ. 167, त.आ. 13/202-203.
2. तं.आ., भा. 8 पृ. 78.
3. म.मं., पृ. 24.
4. त.आ., भा. 6, पृ. 99-100.

विकल्प–चयन भी पूर्वनियमित ही है और संभवतः यही दृष्टि शिवाद्वयवादी नियतिवाद भी प्रस्तुत करेगा जो कि सर्व–नियामकता की सामर्थ्य पारमेश्वरी इच्छा को ही सौंप देता है पर अब समस्या यह उपस्थित होगी कि 'उत्तरदायित्व' के घेरे में कौन बँधे। इस प्रत्यय के बिना तो सारा जगत्–दर्शन ही निस्सार हो उठेगा क्योंकि उत्तरदायित्व का प्रत्यय ही तो आत्मीयता की प्रतीति का अग्रसारक है और जगत् में 'स्व' शब्द मानव को जितना आह्लादित करता है उतना 'पर' नहीं। संभवतः इसी दृष्टि से इस सम्प्रदाय में मलत्रयबद्ध सकल प्रमाता को दो कोटियों में विभक्त किया गया है जिनमें से एक वर्ग तो भोगदेह को ही रखने से मात्र उच्चतर शक्तियों, जिन्हें कि परतत्त्व ने एक सीमित क्षेत्र का स्वातन्त्र्य प्रदान किया है, के हाथ की कठपुतली बन कर ही रहता है जबकि द्वितीय के पास कर्म देह रहने से वह सीमित स्वतन्त्र इच्छा व क्रिया से सम्पन्न रहता है।

यह कर्मदेह से सम्पन्न सकल प्रमाता अपने कर्म संस्कारों के अनुसार ही भोगों को प्राप्त करने पर भी नवीन कर्मों को करने हेतु चयन करने में स्वतन्त्र है। फलतः वह सब कृत–अकृत को कर्म या किसी उच्चतर सत्ता की हेतुता को समर्पित कर उनके दायित्व से मुक्त नहीं हो पाता वरन् उनके अनुकूल पाप–पुण्य, सुख–दुःख आदि का भागी बनता ही है। यदि सब कुछ कर्म की ही एक डोर से बँधा हुआ हो तब व्यक्ति की किसी कार्य हेतु निन्दा या प्रशंसा करना व्यर्थ ही है और तब समस्त नैतिक विकास की संभावनाओं के प्रयास का वैफल्य भी सिद्ध होगा क्योंकि तब तो मनुष्य के लिये विधि के विधान को मिटा पाना संभव ही नहीं होगा। अतः उनमें कर्म–स्वातन्त्र्य की स्थिति मानना आवश्यक है। फलतः वे आत्मविकास के मार्ग को भी अपना सकते हैं व आत्मपतन के भी। यद्यपि यह दृष्टि यहाँ सांसारिक ही है जो कि यह सिद्ध करने को विवश कर देती है कि मनुष्य की अन्तरात्मा में स्वातन्त्र्य का वह परम प्रकाश प्रज्ज्वलित है जो कि अक्सर उसके चयन स्वातन्त्र्य आदि की स्थितियों में व्यक्त होता है पर वह अंश उस व्यतिरिक्त व्यष्टि का स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है वरन् समष्टिगत अंश से एकरूप है। फलतः यह मान्यता उस पारतात्त्विकी मान्यता के साथ विरोध नहीं समुपस्थित करती कि सारा द्वैत उस अद्वैत तत्त्व की ही अभिव्यक्ति है फलतः सब कुछ उसी की एक मात्र इच्छा से परिचालित है। जब कभी उसे किसी व्यष्टि के साथ प्रतीतिक द्वैत को विस्मृत करने की इच्छा होती है तभी वह उस व्यष्टि पर अनुग्रह कर उसे स्वरूप प्रत्यभिज्ञान करा देता है।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि जो जागतिक क्षेत्र में परिदृश्यमान है वह सब उसी पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य का ही प्रतिफलन है। अतः वैदिक ऋत या आगमिक नियति इसी स्वातन्त्र्य के ही स्पन्द सिद्ध होते हैं जो कि परतत्त्व को छोड़कर शेष सम्पूर्ण अभिव्यक्त प्रत्ययों को अपने सम्पुट में आबद्ध कर लेते हैं। इस प्रकार स्वातन्त्र्य मात्र पारतात्त्विकी भावना सिद्ध होती है, जागतिकी नहीं। वस्तुतः तो जब हम स्वातन्त्र्य की बात करते हैं तो हमें अवरोहात्मक प्रक्रिया का आश्रय लेकर उस सर्वोच्च तत्त्व से प्रारम्भ होना पड़ता है जो कि सर्वसंकुल है तथा पुनः स्वातन्त्र्य के द्वारा बन्धों की उत्पत्ति को

स्वीकारते हुये पूर्ण बद्धता की निम्नतर स्थिति तक पहुँचना होता है और जब नियतिवाद की बात करते हैं तो नियतिवाद की स्फुटतम अभिव्यक्ति से प्रारम्भ होकर उस अन्तिम स्रोत तक पहुँचना होता है जोकि समस्त नियमों का स्रोत है, समस्त कारणों का कारण है, असीम संभावनाओं का आगार है। अतः दोनों विरोधी प्रत्ययों का सम्मिलन एक ही बिन्दु पर जाकर हो सकता है जो कि शिवाद्वयवादी विचारधारा में परमशिव, महेश्वर व अनुत्तर आदि संज्ञाओं से वाच्य किया जाता है[1]। ऐसे तत्त्व की नियामकता का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह तो मूलोच्छेदक अनवस्था का ही आपादक होगा। यही अन्तिम स्वातन्त्र्य की स्थिति जीव के नैतिक क्रमविकास की संभावना को भी संभव बनाती है, अन्यथा तो नियति से कहीं भी मुक्त होना संभव ही नहीं था।

अन्ततः शिवाद्वयवादी शब्दावली में समन्वयवादी दृष्टि को प्रस्तुत करते हुये हम यही कह सकते हैं कि स्वातन्त्र्यमय परमशिव ही सभी बन्धों का सर्जक व उच्छेदक है। वही बद्ध है, बन्ध है व बाँधने की क्रिया है, वही नियम है, नियमन है व नियमित है; वही मुक्त है, मुक्ति है व मुक्त होने की क्रिया है[2]। फलतः समस्त त्रिपुटियों का लयस्थान वह अद्वैत तत्त्व नियमन के सुरों में बँधे स्वातन्त्र्य संगीत से प्रतिक्षण प्रतिछन्दित होता रहता है।



1. शि.दृ. 5/109-110.
2. तं.आ. 13/123-125.

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

मूल ग्रंथ

1. अजडप्रभातृसिद्धि – उत्पल, सिद्धित्रयी के अन्तर्गत हरभट्टशास्त्री की वृत्ति के साथ प्रकाशित, काश्मीरसंस्कृतग्रंथावली, 1921
2. अथर्ववेदसंहिता – विश्वबन्धु द्वारा सम्पादित, सायणभाष्य सहित, होशियारपुर
3. अनुमितिदीधितिप्रसारिणी – कृष्णदाससार्वभौम, (भाषापरिछेद के अनुमानखण्ड पर रघुनाथकृत दीधिति एवं कृष्णदाससार्वभौमकृत प्रसारिणी टीका के साथ प्रकाशित) एशियॉटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1911–12
4. अनेकान्तजयपताका – हरिभद्रसूरी, बडौदा ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, 1940
5. अभिधर्मकोशभाष्य – वसुबन्धु, बौद्ध भारती, वाराणसी, 1970
6. अभिधर्मसमुच्चय – असंग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, 1950
7. अहिर्बुध्न्यसंहिता – एम0डी0 रामानुजाचार्य द्वारा सम्पादित, अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार
8. आप्तमीमांसा – समन्तभद्र, (भट्ट अकलंककृत अष्टशती, विद्यानन्दकृत अष्टसाहस्त्री तथा यशोविजयकृत तात्पर्यविवरण के साथ प्रकाशित), अहमदाबाद, 1937
9. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका – उत्पल, (सिद्धित्रयी के अन्तर्गत उत्पलकृतवृत्ति के साथ प्रकाशित), काश्मीरसंस्कृतग्रंथावली, 1921
10. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी – अभिनवगुप्त, काश्मीरसंस्कृतग्रंथावली, काश्मीर, 1921
11. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी – अभिनवगुप्त, काश्मीरसंस्कृतग्रंथावली, काश्मीर
12. उपनिषद्भाष्य – ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य उपनिषद्, शांकरभाष्य सहित, गीताप्रेस गोरखपुर (तीन खण्ड)
13. ऋग्वेदसंहिता – मैक्समूलर द्वारा सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी
14. कर्मग्रंथ – देवेन्द्र सूरी, आत्मानन्द जैन ग्रंथ माला
15. कर्मप्रकृति – नेमिचन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
16. कारिकावलीमुक्तावली – श्री विश्वनाथ पञ्चानन, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस
17. छान्दोग्य उपनिषद् (उपनिषद्भाष्य, तृतीय खण्ड) – सानुवाद शंकरभाष्यसहित
18. जन्ममरणविचार – भट्टवामदेव, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर, 1918
19. तत्त्वसंग्रह – शान्तरक्षित, कमलशील कृत पञ्जिका सहित, बौद्ध भारती, वाराणसी
20. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र – उमास्वाति, जैन पुस्तकोद्धार फंड सीरीज़
21. तत्त्वार्थसूत्रभाष्य टीका – सिद्धसेनगर्निन्, जैन पुस्तकोद्धार फंड सीरीज़
22. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक – विद्यधानन्दस्वामिन्, निर्णयसागर प्रेस,
23. तत्त्वोपप्लवसिंह – जयराशिभट्ट, बडौदा ओरियन्टल स्टडीज़, 1940
24. तन्त्रसार – अभिनवगुप्त, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर, 1918
25. तन्त्रवट्धानिका – अभिनव गुप्त, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर, 1918
26. तन्त्रालोक – अभिनवगुप्त, जयरथकृत विवेक के साथ आठ भागों में प्रकाशित, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर; पुन: 1987 में मोतीलाल बनारसी दास
27. तन्त्रालोकविवेक – जयरथ, तन्त्रालोक के साथ प्रकाशित
28. तर्कभाषा – केशव मिश्र, (आचार्य विश्वेश्वरकृत व्याख्या सहित), चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, 1967
29. तर्कसंग्रह – अन्नभट्ट, पञ्चानन प्रेस, बनारस, 1937

30. तैत्तिरीय ब्राह्मण – मैसूर, 1908
31. दर्शनसर्वस्व – शंकरचैतन्य भारती, सरला प्रेस, वाराणसी, 1948
32. दर्शनोदय – लक्ष्मीपुरम श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, 1933
33. ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त कृत लोचनटीका के साथ (आचार्य विश्वेश्वरकृत व्याख्या सहित), दिल्ली, 1952
34. नैष्कर्म्यसिद्धि – सुरेश्वराचार्य, संस्कृत व प्राकृत सीरीज़ बाम्बे, 1925
35. न्यायकन्दली – श्रीधर, प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह के साथ प्रकाशित, विजियनग्राम संस्कृतसीरीज़, 1895
36. न्यायकुसुमाञ्जलि – उदयन, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस
37. न्यायकुसुमाञ्जलिबोधिनी – वरदराज, न्यायकुसुमाञ्जलि के साथ प्रकाशित
38. न्यायबिन्दुटीका – धर्मोत्तर, श्रीनिवासशास्त्रीकृत हिन्दी अनुवाद व व्याख्या सहित, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1975
39. न्यायमंजरी – जयन्त भट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी
40. न्यायलीलावती –वल्लभाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, 1920
41. न्यायवार्तिक – उद्योतकर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी
42. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका – वाचस्पति मिश्र, हरिदास संस्कृत ग्रथमाला, काशी, 1982
43. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली – श्रीविश्वनाथतर्कपञ्चानन, धर्मेन्द्रनाथशास्त्रीकृत व्याख्यासहित, मोतालाल बनारसादास, 1977
44. न्यायसुधा – सोमेश्वर भट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, 1901
45. न्यायसूत्रवृत्ति – गौतम, न्यायसूत्र के साथ प्रकाशित, एजुकेशन प्रेस, 1928
46. पदार्थधर्मसंग्रह (प्रशस्तपादभाष्य) प्रशस्तपाद, विज़ियनग्रामसंस्कृतसीरीज़, 1895
47. परमार्थसार – अभिनवगुप्त, डॉ0 वी0 राघवन द्वारा सम्पादित, एनल्स ऑफ ओरियन्टल रिसर्व, मद्रास, 1951
48. परमार्थचर्चा – अभिनवगुप्त, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर, 1947
49. पातञ्जलयोगदर्शन – स्वामी हरिहरानन्द आरण्यकृत व्याख्या के साथ प्रकाशित सम्पा. – रामशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–पटना–वाराणसी, 1974
50. प्रकरणपञ्जिका – शालिकनाथमिश्र, बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी, 1961
51. प्रत्यभिज्ञाहृदय – क्षेमराज, जयदेव सिंह द्वारा सम्पादित व अनूदित
52. प्रमाणचन्द्रिका – चलारिशेषाचार्य, कुम्बकोनम्, 1926
53. प्रमाणवार्तिक – धर्मकीर्ति, बौद्ध भारती, वाराणसी, 1968
54. प्रमेयकमलमार्तण्ड – प्रभाचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, 1941
55. पञ्चास्तिकायसार – कुन्दकुन्दाचार्य, सैक्रेड बुक्स ऑफ दि जैनाज़, आरा, 1920
56. बृहदारण्यकोपनिषत् – सानुवाद शाङ्करभाष्य सहित, गीताप्रेस गोरखपुर
57. बोधपञ्चदशिका – अभिनवगुप्त, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर, 1947
58. ब्रह्मसूत्रभाष्य – श्री भास्कराचार्य, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1903
59. श्रीब्रह्मसूत्रभाष्य – श्री मध्वाचार्य, गवर्नमेन्ट ब्रांच प्रेस, 1911
60. ब्रह्मसूत्र – (भाष्यत्रयसमन्वितं वेदान्तपारिजातसौरभ, वेदान्तकौस्तुभ, वेदान्तकौस्तुभप्रभा), वृन्दावन, सं0 1962
61. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य – भामतीकल्पतरुपरिमलसहितम्, निर्णय सागर प्रेस, 1938
62. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य – स्वामीसत्यानन्दसरस्वतीविरचित भाषानुवाद तथा सत्यानन्दीदीपिका

सहित, गोविन्दमठ, वाराणसी, सं0 2022
63. भगवद्गीता – राजानक रामकण्ठ कृत सर्वतोभद्र टीका सहित, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली
64. श्रीमद्भागवतमहापुराण – श्री भागवत विद्यापीठ, अहमदाबाद, 1968
65. भाट्टचिन्तामणि – गागाभट्ट, भाट्टदीपिका व्याख्या सहित, मद्रास, 1934
66. भास्करी –भास्कर, उत्पलकृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, अभिनवगुप्तकृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी के साथ प्रकाशित, सरस्वती भवन ग्रंथमाला, इलाहाबाद
67. भाषा परिच्छेद – विश्वनाथ न्यायपञ्चानन, स्वामी महादेवानन्द द्वारा अनूदित
68. मध्यमकशास्त्रम् – नागार्जुन, (चन्द्रकीर्तिकृत व्याख्यासहित) मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा
69. मनुस्मति – कुल्लूकभट्ट टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1929
70. महार्थमञ्जरी – महेश्वरानन्द, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1972
71. महाभारत – चित्रशाला प्रेस, पूना, 1929
72. माण्डूक्यकारिका – चित्रशाला प्रेस, पूना, 1929
73. मानमेयोदय – नारायणभट्ट, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़, 1912
74. मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक – लक्ष्मीपुरम् श्री निवासाचार्य, मैसूर, सं0 1925
75. श्रीमालिनीविजयोत्तरतंत्र – काश्मीरसंस्कृतग्रंथावली, काश्मीर, 1922
76. मालिनीविजयवार्तिक – अभिनवगुप्त, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर, 1921
77. मीमांसासूत्र – जैमिनि, शाबरभाष्य के साथ प्रकाशित, कलकत्ता, 1883 (दो भाग)
78. मीमांसाश्लोकवार्तिक – कुमारिलभट्ट, सुचरितमिश्रकृत काशिका के साथ प्रकाशित त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़, 1926, 1943 (तीन भाग)
79. यतीन्द्रमतदीपिका – श्रीनिवास दास, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना, 1934
80. योगसूत्र – व्यासभाष्य के साथ, पातञ्जलयोगदर्शनम् के अन्तर्गत प्रकाशित
81. श्री भगवद्रामानुजग्रंथमाला – काञ्चीपुरम, 1956
82. वाक्यवृत्ति – शंकराचार्य, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना, 1915
83. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिप्रकरणद्वयम् – वसुबन्धु, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
84. विज्ञानभैरव – ब्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा सम्पादित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
85. विंशतिका – देखें विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि
86. विष्णुमहापुराण – वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1967
87. विवेकचूडामणि – शंकर, चन्द्रशेखरभारती कृत टीका सहित, भारतीय विद्या भवन
88. वेदार्थसंग्रह – रामानुज, सुदर्शनकृत तात्पर्यदीपिका के साथ प्रकाशित, मद्रास, 1882
89. वेदान्तपरिभाषा – धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
90. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (विभक्त्यर्थप्रकरण) – श्रीधरानन्द घिडिल्याल द्वारा सम्पादित
91. हिन्दी वैशेषिक दर्शन – प्रशस्तपादभाष्य, व्याख्याकार पण्डितराज ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, 1966
92. सर्वदर्शनसंग्रह – माधवाचार्य, उमाशंकर शर्मा ऋषिकृत अनुवादसहित, चौखम्बा विद्याभवन
93. संक्षेपशारीरक – सर्वज्ञात्ममुनि, मधुसूदनसरस्वतीकृत सारसंग्रह के साथ प्रकाशित
94. सम्बन्धपरीक्षा – धर्मकीर्ति, बौद्ध भारती, वाराणसी
95. सांख्यप्रवचनभाष्य – विज्ञानभिक्षु, निर्णय सागर प्रेस
96. सांख्यकारिका – सारबोधिनी टीका, श्री शिवनारायण शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, 1940
97. सांख्यकारिका – विद्वत्तोषिणी टीका, श्री बालरामोदासीन, श्री रामा प्रेस, गया, 1930
98. सांख्यकारिका – सांख्यचन्द्रिका टीका, नारायणतीर्थ, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस

99. सांख्यकारिका – ज्योतिष्मती टीका, रमाशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास
100. सांख्यकारिका – तत्त्वकौमुदी व्याख्या, आद्याप्रसाद मिश्र, इलाहाबाद, 1973
101. सांख्यसूत्र – आचार्य कपिल, विज्ञानभिक्षुकृतभाष्य व रामशंकर भट्टाचार्यकृत अनुवाद के साथ प्रकाशित, वाराणसी, 1977
102. सिद्धान्तमुक्तावली – द्रष्टव्य न्याय सिद्धान्त मुक्तावली
103. सिद्धान्तलेशसंग्रह – अप्पयदीक्षित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, बनारस, 1916
104. सिद्धित्रयी – उत्पल, काश्मीर संस्कृत सीरीज़ ग्रंथावली, 1921
105. स्पन्दसन्दोह – क्षेमराज, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, 1917
106. स्पन्दकारिका – वसुगुप्त, रामकण्ठकृत विवृत्ति सहित, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली काश्मीर
107. स्पन्दकारिकाविवृत्रि – देखें स्पन्दकारिका
108. स्पन्दनिर्णय – क्षेमराज, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर, 1925
109. स्तवचिन्तामणि – भट्टनारायण, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर, 1918
111. स्वच्छन्दतन्त्र – क्षेमराजकृत उद्योत टीका के साथ प्रकाशित, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली
112. स्वच्छन्दतंत्रउद्योत – देखें स्वच्छन्दतंत्र
113. शाबरभाष्य – गंगानाथ झा द्वारा अनूदित, ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, बडौदा
114. शतपथ ब्राह्मण – अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी
115. शास्त्रदीपिका – पार्थसारथि मिश्र, लालबहादुर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
116. शिवदृष्टि – सोमानन्द, उत्पलकृत वृत्ति सहित, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर
117. शिवदृष्टिवृत्ति – देखें शिवदृष्टि
118. शिवसूत्रवार्तिक – वरदराज, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर, 1925
119. शिवसूत्रवार्तिक – वरदराज, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर, 1916
120. शिवसूत्रविमर्शिनी – क्षेमराज, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर, 1911
121. शिवस्तोत्रावली – राजानक लक्ष्मण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस
122. श्लोक वार्तिक – कुमारिलभट्ट, देखें मीमांसासूत्र।
123. हरिवंश पुराण – जिनसेन, चन्द्र जैन ग्रंथमाला, बम्बई

सहायक ग्रंथ

1. अद्वैत वेदान्त – डॉ. राममूर्त्ति शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
2. अभिनवगुप्तः ए हिस्टॉरिकल एण्ड फिलसॉफ़िकल स्टडी – डॉ. कान्ति चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत प्रकाशन, वाराणसी, 1963
3. आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफ़ी – एम0 हिरियन्ना, मोती लाल बनारसीदास
4. ऑस्पेक्ट्स ऑफ काश्मीर शैविज़्म – बलजिन्नाथ पंडित, उत्पल प्रकाशन, काश्मीर
5. एन ऑउटलाइन ऑफ मध्व फ़िलॉसफ़ी – के0 नारायण, उदयन पब्लिकेशन, इलाहाबाद
6. इण्डियन बुद्धिज़्म – टी0डब्लू0रीज़ डेविडस, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972
7. इण्डियन आइडियलिज़्म – एस0एन0दास गुप्ता, कैम्ब्रिज़ यूनीवर्सिटी प्रेस, 1933
8. इन्ट्रोडक्शन टु तन्त्रशास्त्र – सर जॉन वुडरफ़, गनेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1952
9. (एन) इन्क्वायरी इन टु दि फ्रीडम ऑफ डिसीज़न – हेराल्ड ऑफस्टॉड, नार्वीजियन यूनीवर्सिटी प्रेस, ओसलो, 1961
10. एक्शन एण्ड परपज़ – रिचर्ड टॉयलर, प्रेन्टिस हाल, न्यू जरसी
11. कर्म मीमांसा – कीथ, एसोसियेशन प्रेस, कलकत्ता
12. कर्म एण्ड रिबर्थ – क्रिसमस हम्फ्रेज़ – जॉन मुरे, अल्बीमर्ले स्ट्रीट, लन्दन

13. ए कम्पैरेटिव स्टडी ऑफ दि जैन थ्योरीज़ ऑफ रियलिटी एण्ड नालेज – वाई0 जे0 पद्मराजिअह्, जैन साहित्य विकास मण्डल, बाम्बे, 1963
14. ए कम्पैरेटिव स्टडी ऑफ दि कॉन्सेप्ट ऑफ लिबरेशन इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी – ए0के0 लाद, गिरधारीलाल केशवदास, बुरहानपुर, 1967
15. कॉज़ेशन इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी एम0सी0 भारतीय, विमल प्रकाशन, गाजियाबाद
16. कॉज़ैलिटी : दि सेन्ट्रल फ़िलॉसफ़ी ऑफ बुद्धिज़्म – डेविड जे0 कलुपहनु – यूनीवर्सिटी प्रेस ऑफ हवाई, होनोलूलू, 1975
17. कॉज़ैलिटी : ए लॉ ऑफ नेचर ऑर मैक्ज़िम ऑफ दि नैचुरैलिस्ट – लुडविक सिल्बर्स्टीन, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1933
18. कॉज़ेशन, फ्रीडम एण्ड डिटर्मिनिज़्म – मार्टिमर टैबे, जार्ज एलेन एण्ड उनविन लिमिटेड
19. कॉज़ेशन एण्ड दि टाइम्स ऑफ नेसेसिटी – कर्ट जॉन दुकैस, यूनीवर्सिटी ऑफ वाशिंगटन प्रेस, सीटिल, 1924
20. कॉज़ैलिटी एण्ड साइंस – एन0के0 ब्रह्मा, जार्ज एलेन एण्ड उनविन लिमिटेड, लन्दन
21. कॉज़ैलिटी इन साइंस एण्ड फ़िलॉसफ़ी – बी0के0 भट्टाचार्य, संस्कृत पुस्तक भंडार
22. काश्मीर शैविज़्म – ज़े0सी0 चटर्जी, काश्मीर संस्कृत सीरीज़, 1914
23. काश्मीर शैव दर्शन–बलजिन्नाथ पंडित, उत्पल पब्लिकेशन्स, श्रीनगर, 1977
24. काश्मीर शैविज्म – एल0एन0शर्मा, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1972
25. दि कॉन्सेप्चुवल फ्रेमवर्क ऑफ इण्डियन फ़िलॉसफी – बलबीर सिंह, मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, 1976
26. ए कॉन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फ़िलॉसफ़ी – आर0डी0 रानाडे, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे, 1960
27. ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ़ दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ रामानुज – अणिमासेन गुप्ता चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, 1967
28. ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी – चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास
29. क्रिटीक ऑफ इण्डियन रियलिज़्म – डी0एन0 शास्त्री, आगरा यूनीवर्सिटी, आगरा
30. क्रम तान्त्रिसिज़्म ऑफ काश्मीर (भा0 I) – नवजीवन रस्तोगी, मोतीलाल बनारसीदास
31. गॉरलैण्ड ऑफ लेटर्स – सर जॉन वुडरफ़, मद्रास, 1974
32. गुड, फ़्रीविल एण्ड गॉड–सन्तोष चन्द्र सेन गुप्त, प्रोगेसिव पब्लिशर्स, कलकत्ता
33. डर फ्रेई वील – शापेनहावर
34. डाक्ट्रिन ऑफ रिकग्नीशन – आर0के0 कॉ, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर
35. दि डाक्ट्रिन ऑफ कर्म इन जैन फ़िलॉसफ़ी – हेलमुथ वॉन ग्लासेनप जी0 बैरी ग्लिफर्ड
36. डिटर्मिनिज़्म एण्ड फ्रीडम इन दि एज़ ऑफ मॉडर्न साइंस – सिडनीहुक द्वारा सम्पादित
37. डिटर्मिनिज़्म, फ़्रीविल एण्ड मॉरल रिस्पॉन्सिबिलिटी – जैराल्ड ड्वार्किन, प्रेन्टिस हाल
38. डिटर्मिनिज़्म, फ़्रीविल एण्ड मॉरल रिसपॉन्सिबिलिटी – डेविड हॅयूम, मैकमिलन कम्पनी
39. द्वैव वेदान्त का तात्विक अनुशीलन – डॉ0 कृष्ण कान्त चतुर्वेदी, विद्या प्रकाशन मंदिर
40. नैचुरल फ़िलॉसफ़ी ऑफ कॉज़ एण्ड, चॉन्स – मैक्स बॉर्न, क्लैरेण्डन प्रेस, आक्सफोर्ड
41. स्टडीज़ इन न्याय वैशेषिक मेटाफ़िज़िक्स – सदानन्द भादुड़ी, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, 1974
42. प्रॉब्लम ऑफ रिबर्थ – श्री अरबिन्द, अरबिन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, 1952
43. दि प्राब्लम ऑफ ईविल एण्ड इण्डियन थॉट – ऑर्थर एल0हरमन, मोतीलाल बनारसीदास,

44. प्रिसपोज़ीशन्स ऑफ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी – कार्ल एच० पॉटर, प्रेन्टिस हाल
45. दि प्रिन्सिपल्स ऑफ फ़िलॉसफ़ी – हरिमोहन भट्टाचार्य, यूनीवर्सिटी ऑफ कलकत्ता
46. पुनर्जन्म और क्रमविकास – अरबिन्द, अरबिन्दसोसायटी, पाण्डिचेरी, 1972
47. पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेज़ – श्री गंगानाथ झा, बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी, 1942
48. सम फ़न्डामेन्टल प्राब्लम्स इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी – सी० कुन्हन रजा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1974
49. फ़न्डामेन्टल क्वेश्चन्स ऑफ फ़िलॉसफ़ी – ए०सी० ईविंग, लन्दन, 1951
50. फ़िलॉसफ़ी : एन इन्ट्रोडक्टरी स्टडी ऑफ़ फ़न्डामेन्टल प्राब्लम एण्ड एटीट्यूडस – क्लिफर्ड बैरेट, मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, 1935
51. फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ उपनिषद्स – राधाकृष्णन, मैकमिलन कम्पनी, लन्दन
52. फ़िलॉसफ़ी लॉज़िक एण्ड लैंग्वेज़ – कालिदास भट्टचार्य, एलाइड पब्लिशर्स, बाम्बे
53. दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ माण्डूक्य कारिका – सी०कीनियो, भारतीय विद्याभवन, वाराणसी
54. फ़्रीविल एण्ड डिटर्मिनिज़्म – एल०एन० मन,लन्दन, 1960
55. दि फ्रीडम ऑफ विल – जे०आर०लुकस, क्लैरेण्डन प्रेस, आक्सफोर्ड, 1970
56. फ्रीड़म ऑफ विल – एन०ओ०लॉक्सी, विलियम्स एण्ड नार्गेट लिमिटेड, 1932
57. दि बुद्धिस्ट फ़िलॉसफ़ी ऑफ यूनीवर्सल फ्लक्स – सत्करी मुखर्जी, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, 1975
58. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास – डॉ० गोविन्द्र चन्द्र पाण्डेय, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1963
59. बौद्ध धर्म दर्शन – आचार्य नरेन्द्रदेव, विहारराष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1971
60. बौद्ध न्याय – शेरबात्स्की, हिन्दी अनुवादक रामकुमार राय, चौखम्बा विद्या भवन
61. ब्रह्मसूत्र – राधाकृष्णन, जार्ज एलेन एण्ड उनविन लिमिटेड, लन्दन, 1960
62. श्रीभद्भगवत्गीतारहस्य – लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, तिलक मंदिर, पूना, 1978
63. भारतीय दर्शन – सर्वपल्ली राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1972, 1973
64. महामाया, पॉवर एज़ कान्शसनेस – जे० वुडरफ, गनेश एण्ड कम्पनी, मद्रास
65. मार्डर्न इन्ट्रोडक्शन टु फ़िलॉसफ़ी – पॉल एडवर्डस एण्ड आर्थर पेप द्वारा सम्पादित, फ्री प्रेस ऑफ ग्लेन्को, न्यूयार्क, 1962
66. योग फ़िलॉसफ़ी इन रिलेशन टु अदर सिस्टम्स ऑफ थॉट – एस०एन० दास गुप्ता, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1974
67. दि रिफ्यूटेशन ऑफ डिटर्मिनिज़्म – एम०आर० अय्यर द्वारा सम्पादित, मैथ्यू एण्ड कम्पनी लिमिटेड
68. दि लॉज़िक ऑफ मार्डर्न फ़िज़िक्स – पी०डब्ल्यू० ब्रिजमैन, मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क
69. लाइट्स ऑन वेदान्त – वीरमणि प्रसाद उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस
70. वर्ल्ड एज़ पॉवर – जॉन वुडरफ, गनेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1974
71. विश़ एण्ड विल : एन इन्ट्रोडक्शन टु दि साइकोलॉज़ी ऑफ डिज़ायर एण्ड वॉलीशन – जार्ज लियोन टर्नर, लागमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, लन्दन
72. व्याख्याकारों की दृष्टि से पातञ्जल योग का समीक्षात्मक अध्ययन – विमला कर्णाटक
73. स्टडीज़ इन जैन फ़िलॉसफ़ी – नथमल टाटिया, जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी
74. स्टडीज़ इन फ़िलॉसफ़ी – के०सी० भट्टावार्य, प्रोगेसिव पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1958
75. स्कूल्स ऑफ़ शैविज़्म – जदुनाथ सिन्हा, सिन्हा पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, 1970

76. स्कूल्स ऑफ इण्डियन फ़िलॉसफ़िकल थॉट – स्वामी प्रज्ञानन्द, फर्मा के0 एल0 मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1973
77. शक्ति एण्ड शावत – जॉन वुडरफ – गनेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1975
78. शक्ति कल्ट इन एन्शियेन्ट इण्डिया – डॉ0 पुष्पेन्दु कुमार, वाराणसी, 1974
79. शैविज़्म इन फ़िलॉसाफ़िकल पर्सपेक्टिव – के0 शिवरमन, मोतीलाल बनारसीदास
80. शंकराचार्य का आचार दर्शन – रामानन्द तिवारी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
81. हिस्ट्री ऑफ फ़िलॉसफ़ी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न – सम्पादक : सर्वपल्ली राधाकृष्णन, जार्ज एलेन एण्ड उनविन लिमिटेड, लन्दन, 1952, 1953 (दो भाग)
82. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफ़ी – सुरेन्द्रनाथदास गुप्ता, मोतीलाल बनारसीदास
83. ह्यूमन फ्रीडम एण्ड रिसपान्सिबिलिटी – फ्रेडरिक विवियन, लन्दन, 1964

कोश

1. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका – विलियम बेन्टन पब्लिशर्स, यूनीवर्सिटी ऑफ शिकागो
2. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ फ़िलॉसफ़ी – पॉल स्टवर्डस द्वारा सम्पादित, मैकमिलन कम्पनी
3. दि इन्साइक्लोपीडिया ऑफ फ़िलॉसफ़ी – कार्ल एच0 पॉटर द्वारा सम्पादित, मोतीलाल बनारसीदास, 1983, 1977 (प्रथम एवं द्वितीय भाग)
4. डिक्शनरी ऑफ फ़िलॉसफ़ी – रून्स, फ़िलासॉफ़िकल लाइब्रेरी, न्यूयार्क, 1942
5. न्यायकोश – भीमाचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1928
6. प्रैक्टिकल संस्कृत डिक्शनरी – वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, 1975
7. मीमांसाकोश् – केवलानन्द सरस्वती, प्रज्ञा पाठशाला ग्रंथमाला, वई, सतारा
8. संस्कृतहिन्दीकोश् – वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973
9. शब्दकल्पद्रुम – राजा राधाकान्तदेव, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी
10. वाचस्पत्यम् – श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य के द्वारा संकलित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी।

अप्रकाशित शोध प्रबन्ध एवं शोध पत्र

1. अद्वैत, कॉज़ैलिटी एण्ड ह्यूमन फ्रीडम – एस0एस0 सूर्यनारायण शास्त्री, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली 16,1940,333–369
2. ईश्वर एण्ड ह्यूमन फ्रीडम – के0एस0 अय्यर, वेदान्त केसरी 8,1921–22,295ff
3. कर्म एज़ ए थ्योरी ऑफ कॉज़ेशन – जे0एम0 कुमारप्पा, आर्यन् पथ 3,1932,181ff
4. कर्म एज़ ए थ्योरी ऑफ रिट्रीब्यूशन – जे0एम0 कुमारप्पा, वही, 729hh
5. कर्म एण्ड कॉज़ेशन – बी0एम0 बरुआ, बुद्धिस्ट रिव्यू 9,1917, 30–35
6. कर्म एण्ड फ्रीविल – मैसूर हिरियन्ना, पापुलर एसेज़ इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी मद्रास।
7. कर्म एण्ड फ्रीविल – एस0 राधाकृष्णन, माडर्न रिव्यू 3,1908, 424–428
8. कर्म एण्ड रिबर्थ : ए क्रिटीक – एस0के0 चट्टोपाध्याय, प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ इण्डियन फ़िलासॉफ़िकल कांग्रेस, 1965–66, 25–30
9. कॉन्सेप्ट ऑफ कॉज़ इन इण्डिया एण्ड दि वेस्ट – कालिदासभट्टाचार्य, अवरहेरिटेज 1.1 एव 2,1953, 30–45, 163–1954, 111–142
10. गुड एण्ड ईविल – एस0 सेन गुप्ता, विश्वभारती क्वार्टर्ली 2, 1956, 340–351
11. ग्रेस एण्ड लॉ ऑफ कर्म – एम हाफिज़ सैयद, वेदान्तकेसरी 34,1947–48,89–90
12. थ्योरी ऑफ कर्मन इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी – कौशल्या वल्ली, भारतमनीषा, वाराणसी
13. थ्योरीज़ ऑफ कॉज़ेशन इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी – सी0पी0ब्रह्मो, आगरा विश्वविद्यालय

पी0एच0डी0 थीसिस, 1946
14. न्याय दर्शन में कारणता सिद्धान्त–शान्ति चतुर्वेदी, उच्चानुशीलन दर्शन केन्द्र, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, पी0एच0डी0 थीसिस 1972
15. डिटर्मिनिज़्म एण्ड फ़्रीविल – मुख्यानन्द, प्रबुद्ध भारती 82,1977,218–224
16. डिटर्मिनिज़्म एण्ड मॉरल फ़्रीडम – के0 शेषाद्रि, आर्यन्पथ, 39,1968,515–520
17. प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रकाशविमर्श का स्वरूप – मीरा रस्तोगी, दार्शनिक त्रैमासिक
18. फ़ेट ऑर फ़्रीविल : द इण्डियन सॉल्यूशन – के0 आर0 श्रीनिवासायंगर, फिलासॉफ़िकल क्वार्टर्ली 5, 1929–30, 106–125
19. फ़ेट एण्ड फ़्रीविल – चन्द्रशेखर सरस्वती, हिन्दुत्व 6.1,1975, 1–4
20. फ़्रीडम एण्ड डिटर्मिनिज़्म इन इण्डियन थॉट – जे0पी0 आत्रेय, दर्शन 14–1, 1974
22. फ़्रीविल इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी – जी0आर0 मल्कानी, आर्यन्पथ 3,1932,387ff
23. मैन एण्ड हिज डेस्टिनी एकार्डिंग टू दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ काश्मीर – देवव्रत सेन शर्मा पी0एच0डी0 थीसिस, बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी, 1958
24. स्वतन्त्रता का स्वरूप – राजेन्द्रप्रसाद, दार्शनिक त्रैमासिक, जनवरी, 1969
25. ए स्टडी ऑफ दि डाक्ट्रिन ऑफ पतिच्चसमुप्पाद इन थेरावाद – प्रमह सैगंवुर्ज प्रोन्से सेंटर ऑफ एडवांस स्टडी, बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी, पी0एच0डी0 थीसिस, 1973

अतिरिक्त पठ्नीय सन्दर्भ सामग्री

1. अद्वैत थ्योरी ऑफ़ कॉज़ैलिटी – प्रीतिभूषण चटर्जी, प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ इण्डियन फ़िलासॉफ़िकल कांग्रेस, 1971, 121–138
2. अद्वैतिक एकॉउन्ट ऑफ़ दि थ्योरी ऑफ़ कर्म– एच0जी0नरहरि, जर्नल ऑफ गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट 3, 1945, 349–369
3. ऑन कॉज़ैलिटी – वी0 सुब्रह्मण्य अय्यर, दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ ट्रुथ (तत्त्वज्ञान), मद्रास
4. ऑन द विल इन बुद्धिज़्म – राइस डेविड्स, जर्नल ऑफ रायल एशियॉटिक सोसायटी
5. इज़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी डिटर्मिनिस्टिक – एस0के0 चट्टोपाध्याय
6. ईविल इन दि सिस्टम्स ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी – जी0 मुद्गल, इण्डियन फ़िलॉसफ़ी एण्ड कल्चर 15.2,1970, 39–46
7. ईश्वर एण्ड दि प्राब्लम ऑफ़ ईविल – के0एस0 अय्यर, वेदान्त केसरी
8. एन एकज़ॉमिनेशन ऑफ कर्मवाद – जानकी वल्लभ भट्टाचार्य, कलकत्ता रिव्यू
9. ओरिज़िन्स एण्ड सोशियोलॉजी ऑफ दि अर्ली बुद्धिस्ट फ़िलॉसफ़ी ऑफ मॉरल डिटर्मिनिज़्म – फ़िलॉसफ़ी : ईस्ट एण्ड वेस्ट 13,1963,25–47
10. कर्म : ए मेटाफ़िज़िकल हाइपोथिसिस ऑफ मॉरल कॉज़ेशन इन हिस्ट्री – कान्टेम्पोरैरी इण्डियन फ़िलॉसफ़र्स ऑफ हिस्ट्री, कलकत्ता, 1977
11. कर्म एण्ड काज़ैलिटी – फ्रांसिस स्टोरी, व्हील, 1975, 99–105
12. कर्म एण्ड फ़ेट – गेंजुन एच0 सासकी, इण्डो एशियन कल्चर 15, 1966,271–281
13. कर्म एण्ड फ़्रीडम–फ्रांसिस स्टोरी, व्हील, 1975, 221–224
14. कर्म एण्ड रिबर्थ – क्रिसमस हम्फ्रेज़, मिडिल वे 30, 1955, 8–15
15. कर्ममार्ग एण्ड टू मीमांसाज़ – गंगानाथ झा, कल्याण कल्पतरु, 1934, 282–3
16. कर्मयोग : ए हिस्टॉरिकल स्टडी – पी0एम0मोद, रिव्यू ऑफ फ़िलासॉफ़िकल रिसर्च
17. दि कॉन्सेप्ट ऑफ़ कॉज़ैलिटी इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी – जगदीश्वरानन्द, आर्यन्पथ
18. दि कॉन्सेप्ट ऑफ़ फ्रीडिम–अनन्यानन्द, बुलेटिन ऑफ रामकृष्णमिशन इंस्टीट्यूट ऑफ़ कल्चर



CLASSICAL PUBLISHING COMPANY
28, SHOPPING CENTRE, KARAMPURA, NEW DELHI-110 015
Ph.: (O) 55903449, 25465978 (R) 25542165
E-mail : classicalpublishing@yahoo.co.in



CLASSICAL
PUBLISHING COMPANY

28, SHOPPING CENTRE, KARAMPURA, NEW DELHI-110 015
Ph.: (O) 55903449, 25465978 (R) 25542165
E-mail : classicalpublishing@yahoo.co.in